ॐ

श्री परत्मामने नमः

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन

भाग - २

श्रीमद् स्वामी कार्तिकेय विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा २८४ से ४८९ तक)

हिन्दी अनुवाद, सम्पादन एवं प्रस्तावना :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग :

श्री भभूतमल भण्डारी, अध्यक्ष
श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बैंगलोर

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६, हाथरस (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
दिनाङ्क 03 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन के सप्तम वार्षिकोत्सव एवं मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में निर्माणाधीन श्री महावीर जिनमन्दिर के वेदी शिलान्यास के अवसर पर

ISBN No. :

न्योछावर राशि : रुपये 50.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर, जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य स्वामी कार्तिकेय द्वारा विरचित श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर हुए अध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वैराग्य एवं तत्त्वज्ञानपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसी प्रवचन ग्रन्थ के भाग-१ का प्रकाशन तीन वर्ष पूर्व किया गया था। इस प्रकार अब यह प्रवचन ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है, जिसका हमें अत्यन्त हर्ष है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में

भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत प्रकाशन किया जा रहा है। साथ ही हमारे द्वारा किये गये प्रकाशन एवं हमारे उपलब्ध महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की सूची इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दी गयी है। समस्त साधर्मीजन आवश्यकतानुसार साहित्य प्राप्त करने हेतु हमारे सत्साहित्य विक्रय केन्द्र से सम्पर्क कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें '**प्रकाशनकर्ता**' के रूप में **श्री भभूतमल भण्डारी, अध्यक्ष, दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बैंगलोर** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है - तदर्थ वह परिवार धन्यवाद का पात्र है। साथ ही जिन साधर्मीजनों ने प्रस्तुत ग्रन्थ को अल्प मूल्य में उपलब्ध कराने हेतु सहयोग प्रदान किया है, उनके भी हम विशेष आभारी हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ के इन गुजराती प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा सम्पन्न किया गया है, साथ ही इस विषय पर व्यापक स्पष्टीकरण करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है जो भाग-१ में प्रकाशित है। प्रकाशन से पूर्व मैंने भी इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा है। हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद पण्डित अभयकुमारजी जैन शास्त्री, देवलाली ने किया है, तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें — यही भावना है।

दिनाङ्क, ०३ फरबरी २०१०
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

परमपूज्य स्वामी कार्तिकेय मुनिराज विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर हुए परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन **कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन, भाग-२** समस्त साधर्मीजनों को स्वाध्याय हेतु समर्पित करते हुए, अत्यन्त हर्ष हो रहा है। साथ ही इस ग्रन्थ के प्रवचनों की पूर्णता से कृतकृत्यता का अनुभव हो रहा है।

श्री वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उद्घाटित त्रैकालिक सत्य वस्तुस्वरूप का अविरल प्रवाह भावलिङ्गी सन्तों एवं तद्मार्गानुसारी ज्ञानी धर्मात्माओं की पावन परम्परा से आज तक जीवन्त है और हमें निरन्तर भवताप से बचने की पावन प्रेरणा दे रहा है।

वीतरागी सन्तों की इसी परम्परा की एक कड़ी हैं स्वामी कार्तिकेय; जिनके द्वारा रचित वैराग्य एवं अध्यात्म सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, हमें संसार, शरीर एवं भोगों के विरक्त होकर निज शुद्धचैतन्यसत्ता में अवगाहन की पावन प्रेरणा दे रहा है।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वैराग्यजननी बारह भावनाएँ हैं, जिन्हें अनुप्रेक्षा नाम से भी जाना जाता है, अनुप्रेक्षा का अर्थ है किसी भी विषय का बारम्बार चिन्तन करना।

जैन पुराणों में वर्णित तीर्थङ्कर परमात्माओं के जीवनचरित्र, इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं, कि सभी तीर्थङ्करदेव, जिनदीक्षा से पूर्व इन बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

स्वामी कार्तिकेय के शब्दों में ये बारह भावनाएँ '**भवियजणाणंद जणणीयो**'[१] अर्थात् भव्य जीवों के लिए आनन्दजननी हैं।

अनुप्रेक्षा जिनागम का बहुचर्चित विषय है। इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा के समान ही परम पूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने भी बारसाणुवेक्खा नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना इस विषय पर की है। इनके अतिरिक्त मूलाचार, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव, मूलाचार प्रदीप, क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि, अनगार धर्मामृत इत्यादि ग्रन्थों में तथा लगभग सभी पुराण ग्रन्थों में इस विषय पर स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होते हैं। प्राचीन एवं वर्तमान कवियों ने भी इन वैराग्य अनुप्रक्षाओं को काव्यमय स्वर प्रदान किये हैं। यदि इन सबका सङ्कलन किया जाए तो सम्भवत: २००-३०० प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का सङ्कलन हो सकता है।

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार —

प्रस्तुत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा बारह भावनाओं का वर्णन करनेवाला अत्यधिक प्राचीन ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ में ४८९ गाथाएँ हैं। इनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म — इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसङ्गवश जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन सात तत्त्वों का स्वरूप भी वर्णित है। जीव समास तथा मार्गणा के निरूपण के साथ, द्वादशव्रत, पात्रों के भेद, दाता के सात गुण, दान की श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अङ्ग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। आचार्य का स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अध्रुवानुप्रेक्षा में ४-२२ गाथाएँ हैं। अशरणानुप्रेक्षा में २३-३१; संसारानुप्रेक्षा में ३२-७३; एकत्वानुप्रेक्षा में ७४-७९; अन्यत्वानुप्रेक्षा में ८०-८२; अशुचित्वानुप्रेक्षा में ८३-८७; आस्रवानुप्रेक्षा में ८८-९४; संवरानुप्रेक्षा में ९५-१०१; निर्जरानुप्रेक्षा में १०२-११४; लोकानुप्रेक्षा में ११५-२८३; बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा में २८४-३०१ एवं धर्मानुप्रेक्षा में ३०२-४३५ गाथाएँ है। ४३६ गाथा से अन्त तक द्वादशतपों का वर्णन आया है।

ग्रन्थ रचनाकार स्वामी कार्तिकेय विशेष प्रतिभा सम्पन्न बाल ब्रह्मचारी मुनि थे। ये अग्नि नामक राजा के पुत्र थे। इनकी बहिन का विवाह रोहेडनगर के राजा कोञ्च के साथ हुआ था और मुनिराज कार्तिकेय ने दारुण उपसर्ग सहन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त किया था।[१]

इनके जीवन के सन्दर्भ में इससे अधिक निश्चितरूप से कुछ ज्ञात नहीं है, पर इतना सत्य है कि ये आत्मसाधक, वैराग्यपरायण एवं तत्त्वदृष्टा सन्त थे। इन बारह भावनाओं के वर्णन में समागत कारण-कार्य व्यवस्था, द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि की विशद् चर्चा तथा वर्तमान युग में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा उद्घाटित क्रमबद्धपर्याय की चर्चा भी इस ग्रन्थ की ३२१ से ३२३ गाथाओं में उपलब्ध होती है। इन गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन परिशिष्टरूप में अलग से भी प्रस्तुत सङ्कलन में दिये जा रहे हैं।

प्रस्तुत संस्करण के सन्दर्भ में —

प्रस्तुत प्रकाशन कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर हुए **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रवचनों का सङ्कलन है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस ग्रन्थ में समागत वैराग्य एवं तत्त्वज्ञान को अपनी आध्यात्मिक शैली में प्रस्तुत कर सम्पूर्ण आत्मार्थियों पर अनुपम उपकार किया है। गुरुदेवश्री द्वारा सन् १९५२ में प्रदत्त ये प्रवचन सर्वप्रथम गुजराती सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में एवं तत्पश्चात् श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर से २ भाग में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत सङ्कलन में गाथा २८४ से ४८९ तक के प्रवचन प्रस्तुत किये गये हैं। इसी के साथ इस ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८-१०

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के सम्पादन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि गुरुदेवश्री के भाव भी सुरक्षित रहें एवं भाषा भी सरल व प्रवाहमयी रहे। तदर्थ गुजराती प्रवचन ग्रन्थ में समागत लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है। मूल ग्रन्थ में जहाँ-कहीं प्राचीन हिन्दी का प्रयोग था उसे आवश्यकतानुसार आधुनिक हिन्दी का रूप प्रदान किया गया है। प्रत्येक गाथा का प्रवचन नये पृष्ठ से प्रारम्भ किया गया है एवं रिक्त पृष्ठों पर पूज्य गुरुदेवश्री के मुनिदशा से सम्बन्धित विविध उद्‌गारों को स्थान दिया गया है, जिससे पाठक पूज्य गुरुदेवश्री के हृदय में विद्यमान मुनिदशा की उत्कृष्ट भावना एवं उनकी द्वारा प्रतिपादित मुनिदशा के स्वरूप से भी परिचित हो सकें।

आभार प्रदर्शन —

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्व प्रथम **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु** के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह सभी इन्हीं की वाणी का प्रसाद है।

इन प्रवचनों की अमूल्य भेंट देकर भव-पार होने की कला सिखानेवाले परम उपकारी तारणहार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस हिन्दी अनुवाद के मूलप्रेरक अपने विद्यागुरु **पण्डित कैलाशचन्दजी जैन,** अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आपश्री के प्रताप से ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभाव जागृत हुआ है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का अनुवाद करने की निरन्तर प्रेरणा देने के लिए बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद कर देने के लिए आदरणीय **पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री,** देवलाली के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रुफ संशोधन एवं समुचित मार्गदर्शन के लिए आदरणीय अग्रज **श्री पवनजी जैन,** अलीगढ़ एवं इस ग्रन्थ को शीघ्र तैयार कर देने की बारम्बार प्रेरणा के लिए **पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस प्रवचन ग्रन्थ की सुन्दर टाइप सैटिंग के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए हमारे कम्प्यूटर विभाग के सुदक्ष सञ्चालक, **विवेककुमार पाल** तथा मुद्रण कार्य के लिए **दिनेश जैन,** देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ को आप तक पहुँचाने के लिए ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के साथ-साथ **श्री भभूतमलजी भण्डारी बैंगलोर** का सहयोग भी विस्मरण करने योग्य नहीं है, तदर्थ आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर निज स्वभाव सन्मुख हों — यही भावना है।

दिनाङ्क
०३ फरबरी २०१०

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	गाथा से तक	पृष्ठ
१	**बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा**	२८४ से ३०१ तक	१-२४
२	**धर्म अनुप्रेक्षा**	३०२ से ३९१ तक	२६-२४४
	(I) श्रावक धर्म का निरूपण (श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, अणुव्रत, गुणव्रत, एवं शिक्षाव्रत तथा सल्लेखना का वर्णन)		
	(II) मुनिधर्म का निरूपण (दश धर्म एवं सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का वर्णन)	**३९२ से ४३५**	**२५२-३७४**
३	**द्वादश तप निरूपण**	**४३६ से ४८९**	**३७७-५१२**
४	**परिशिष्ट**		
	अनन्त पुरुषार्थ.....		**५१७**
	उपसर्गजयी....		**५४५**

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन

(भाग – २)

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

११

गाथा २८४

जीवो अणंतकालं, वसइ णिगोएसु आइपरिहोणो।
तत्तो णीस्सरिऊणं, पुढवीकायादिओ होदि॥

जीव रहता है अनादि से अनन्त काल निगोद में।
निकले वहाँ से और पृथ्वीकाय आदिक भव धरे॥

अन्वयार्थ : [जीवो आइपरिहीणो अणंतकालं णिगोएसु वसइ] यह जीव, अनादि काल से लेकर (संसार में) अनन्त काल तक तो निगोद में रहता है, **[तत्तो णीस्सरिऊणं पुढवीकायादिओ होदि]** वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायादिक पर्याय को धारण करता है।

भावार्थ : अनादि से अनन्त कालपर्यन्त तो नित्यनिगोद में जीव का निवास है। वहाँ एक शरीर में अनन्तानन्त जीवों का आहार, स्वासोच्छ्वास, जीवन, मरण समान है। श्वास के अठारहवें भाग आयु है। वहाँ से निकलकर कदाचित् पृथ्वी, अप, तेज, वायुकाय, वनस्पतिकाय पर्याय पाता है, सो यह पाना दुर्लभ है।

गाथा २८४ पर प्रवचन

यह जीव, संसार में अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक तो निगोद में रहता है। देखो! मनुष्यपना दुर्लभ है, उसमें सच्ची समझ अत्यन्त दुर्लभ है। 'मनुष्य देह का उत्तम अवसर तुझे फिर से नहीं मिलेगा, ऊँट के भव में तुझे काँटे खाने पड़ेंगे और मार सहनी पड़ेगी – इत्यादि।' तत्त्वज्ञान से रहित वैराग्य तो बहुत करते हैं, उसकी कोई कीमत नहीं है। मिथ्यात्वरहित ज्ञानगर्भित नित्यानन्द की महिमावाला वैराग्य अपूर्व है।

नित्य निगोद से निकलकर (यह जीव) पाँच स्थावर एकेन्द्रिय शरीर प्राप्त करता है। नित्य निगोद में एक शरीर में अनन्त जीव हैं। उनका आहार, श्वास, जीवन–मरण समान है। एक श्वास के अठारहवें भाग जितना अल्प आयुष्य है। महा–कठिनता से मनुष्य होवे तो वहाँ अभिमान में अन्धा हो जाता है। आगे कहेंगे कि अनन्त प्रकार से सर्वज्ञ कथित धर्म प्राप्त करना दुर्लभ है। ●●

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भाई! आत्मा को भूलकर, भव में भटकते हुए अनन्त काल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर!! शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर!!! और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा २८५-२८७

अब कहते हैं कि इससे निकलकर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है और त्रसपना प्राप्त करता है तो वहाँ भी पञ्चेन्द्रियपना प्राप्त करना दुर्लभ है —

तत्थ वि असंखकालं, बायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं।।
चिंतामणि व्व दुलहं, तसत्तणं लहदि कट्ठेण॥

वियलिंदिएसु जायदि, तत्थ वि अच्छेदि पुव्वकोडीओ।
तत्तो णीसरिदूणं, कहमवि पंचिंदिओ होदि॥

सो वि मणेण विहीणो, ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मणसहिदो होदि हु, तह वि तिरिक्खो हवे रुद्दो॥

सूक्ष्म-बादर भवों में भ्रमता असंख्यों काल तक।
प्राप्ति त्रस पर्याय दुर्लभ रत्न चिन्तामणि सम॥

दो-तीन, चौ इन्द्रिय बने तहाँ कोटि पूर्व समय रहे।
इनसे निकल पञ्चेन्द्रि होना महादुर्लभ जानिये॥

पञ्चेन्द्रि होवे मनरहित, नहिं भेद निज-पर जानता।
तिर्यञ्च यदि मनसहित हो तो क्रुर परिणामी हुआ॥

अन्वयार्थ : [तत्थ वि बायरसुहमेसु असंखकालं परियत्तं कुणइ] वहाँ पृथ्वीकाय आदि में सूक्ष्म तथा बादरों में असंख्यात काल तक भ्रमण करता है, **[तसत्तण चिंतामणि व्व कट्ठेण दुलहं लहदि]** वहाँ से निकलकर त्रसपर्याय पाना चिन्तामणि रत्न के समान बड़े कष्ट से दुर्लभ है।

[वियलिंदिएसु जायदि] स्थावर से निकल कर त्रस होता है, तब बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय शरीर पाता है, **[तत्थ वि पुव्वोकोडिओ अच्छेदि]** वहाँ भी कोटिपूर्व समय तक रहता है; **[तत्तो णीसरिदूणं कहमवि पंचिंदिओ होदि]** वहाँ से भी निकल कर पञ्चेन्द्रिय शरीर पाना बड़े कष्ट से दुर्लभ है।

[सो वि मणेण विहीणो] विकलत्रय से निकलकर पञ्चेन्द्रिय भी होवे तो असैनी (मनरहित) होता है, **[अप्पाणं परं पि ण य जाणेदि]** आप और पर का भेद नहीं जानता है। **[अह मणसहिदो होदि हु]** यदि मनसहित (सैनी) भी होवे तो **[तह वि तिरिक्खो हवे]** तिर्यञ्च होता है; **[रुद्दो]** रौद्र / क्रूरपरिणामी बिलाव, घूघू (उल्लू), सर्प, सिंह, मच्छ आदि होता है।

भावार्थ : पृथ्वी आदि स्थावरकाय से निकलकर चिन्तामणि रत्न के समान, त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है।

विकलत्रय से पञ्चेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है। यदि विकलत्रय से फिर स्थावरकाय में जा उत्पन्न हो तो फिर बहुत काल बिताता है; इसलिए पञ्चेन्द्रियपना पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

कदाचित् पञ्चेन्द्रिय भी होवे तो असैनी होता है, सैनी होना दुर्लभ है। यदि सैनी भी हो जाए तो क्रूर तिर्यञ्च होवे, जिसके परिणाम निरन्तर पापरूप ही रहते हैं।

गाथा २८५-२८७ पर प्रवचन

यह जीव, पृथ्वीकाय आदि में सूक्ष्म तथा बादर कायों में असंख्य काल तक परिभ्रमण करता है। वहाँ से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना दुर्लभ है। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न दुर्लभ है; उसी प्रकार हित-अहित का निर्णय करके, अन्तर में चैतन्य भगवानपना जागृत करने का अवसर प्राप्त होना दुर्लभ है। यह दुर्लभ अवसर आया है, उसमें पुरुषार्थ करे तो सुलभ है।

एकेन्द्रिय में से निकलकर त्रस विकलेन्द्रिय होता है। दो, तीन, चार इन्द्रियवाले को विकलत्रय कहते हैं। वहाँ करोड़ों पूर्व (काल तक) रहता है। वहाँ से निकलकर पञ्चेन्द्रियपना प्राप्त करना दुर्लभ है।

अहो! ऐसी दुर्लभता को जानकर स्वसन्मुख होने का उपदेश है।

कोई जीव, मनवाला (संज्ञी) पञ्चेन्द्रिय पशु होता है तो रौद्र-क्रूर परिणामी बिल्ली, घूघू (उल्लू), सर्प, सिंह, मच्छ आदि होता है।

सर्वज्ञ का धर्म, उसका श्रवण, ग्रहण, धारण, और अनुभवन दुर्लभ है - ऐसा समझकर, सत्यमार्ग की महिमा लाकर शीघ्र सम्यक्रत्नत्रय अङ्गीकार करो - ऐसा उपदेश है। चैतन्य हीरा चिदानन्द सुखराशि सिद्धस्वरूपी आत्मस्वभाव क्या है ? - उसका भान, क्रूर पशुओं को नहीं होता; इसलिए वह परम दुर्लभ है। ●●

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दुःखों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दुःख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या?

— पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

गाथा २८८

अब कहते हैं कि ऐसे क्रूरपरिणामी जीव नरक में जाते हैं —

सो तिव्वअसुहलेसो, णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुञ्जदि, सारीरं माणसं पउरं॥

वह तीव्र लेश्या अशुभ से गिरता भयानक नरक में।
वहाँ देहगत अरु मानसिक अति प्रचुर दुःख है भोगता॥

अन्वयार्थ : [सो तिव्वअसुहलेसो दुक्खदे भीमे णरये णिवडेइ] वह क्रूर तिर्यञ्च तीव्र अशुभपरिणाम और अशुभलेश्यासहित मरकर दुःखदायक भयानक नरक में गिरता है, **[तत्थ वि सारीरं माणसं पउरं दुक्खं भुंजदि]** वहाँ शरीरसम्बन्धी तथा मनसम्बन्धी, प्रचुर दुःख भोगता है।

गाथा २८८ पर प्रवचन

जो क्रूर पशु हैं, वे तीव्र पापभाव से मरकर नरक में पड़ते हैं। कैसा है वह नरक? महा-दुःखदायक और भयानक है। वहाँ शरीर-मन सम्बन्धी कठोर दुःख अरबों वर्षों तक भोगते हैं।

यहाँ मनुष्य हुआ, तब मद्य-मांस, मधु, अण्डा, कोडलीवर, हिंसा, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कुकर्म का सेवन करता है, वह (जीव) नरक में असंख्य वर्ष तक इस महापाप के फल को भोगता है। एकदम युवावस्था हो, चढ़ता खून हो; इसलिए कोई भली सीख दे तो भी नहीं मानता तथा कोई धर्म के सम्प्रदाय में आता है तो वहाँ कुगुरु के पक्ष में पड़कर कदाग्रह / मताग्रह में फँसकर, सत्य की निन्दा करता है। इस प्रकार अनन्त प्रकार से सत्य धर्म की दुर्लभता जानकर शीघ्र ही स्वसन्मुखता का उपाय करने का उपदेश है। ●●

गाथा २८९

अब कहते हैं कि उस नरक से निकल तिर्यञ्च होकर दुःख सहता है —

तत्तो णीसरिदूणं, पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो।
तत्थ वि दुक्खमणंतं, विसहदि जीवो अणेयविहं॥

उस नरक में से निकल कर फिर जन्म ले तिर्यञ्च में।
बहु भाँति दुःख अनन्त भोगे पापमय होकर अहो॥

अन्वयार्थ : [तत्तो णीसरिदूणं पुणरवि तिरिएसु जायदे] उस नरक से निकलकर फिर भी तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होता है, **[तत्थ वि पावो जीवो अयोयविहं अणंतं दुक्खं विसहदि]** वहाँ भी पापरूप जैसे हो, वैसे यह जीव अनेक प्रकार का अनन्त दुःख विशेषरूप से सहता है।

गाथा २८९ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव, धर्म की दुर्लभता का विचार करता है। सम्यग्दर्शन अनन्त काल में पूर्व में एक सैकेण्ड के लिये भी प्राप्त नहीं किया। उसे प्राप्त करना जीव के लिये महादुर्लभ है।

पहले तो निगोददशा में से निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त करना दुर्लभ है। कदाचित् त्रस हुआ तो उसमें पञ्चेन्द्रियपना तथा उसमें भी संज्ञीपना प्राप्त करना दुर्लभ है। पञ्चेन्द्रिय संज्ञीपने में भी नरक-तिर्यञ्च के भयानक दुःख भोगता है। उसमें मनुष्यपना तो बहुत दुर्लभ है। आत्मा क्या है और सम्यग्ज्ञान क्या है ? यह समझ जीव को अनन्त काल में दुर्लभ है। मनुष्यपना तो दुर्लभ है ही परन्तु सम्यग्दर्शन तो उससे भी परम दुर्लभ है। इसलिए (इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन से) पहले, मनुष्यपने की दुर्लभता बताते हैं।

देखो, नरक में से निकलकर फिर तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होता है, वहाँ भी जैसे पापरूप होता है। इस प्रकार यह जीव, अनेक प्रकार के दु:ख विशेषतापूर्वक सहन करता है।

नरक में से निकलकर तिर्यञ्च होता है, वहाँ माँस भक्षण इत्यादि महापाप करके फिर नरक में जाता है। जहाँ अनन्त काल में मनुष्य होता है, वहाँ भी यदि धर्म समझने की दरकार नहीं करे तो फिर से अनन्त काल तक नरक-निगोद में परिभ्रमण करता है। चूहा होता है और दूसरे लोग उस पर गरम पानी डालते हैं। इस प्रकार तिर्यञ्च इत्यादि गतियों में यह जीव, भयङ्कर दु:ख भोगता है। जब मनुष्यपना प्राप्त किया, तब (आत्मा की) दरकार नहीं की। मनुष्यपना प्राप्त करके सत्श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और उसमें भी सत्य का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना तो अपूर्व है। एक जगह सूअर के जीव को बाँधकर अग्नि में शकरकन्द की तरह भूनते थे। देखो, यह जीव की दशा! परन्तु जो मनुष्य होकर भी आत्मा की दरकार नहीं करता, उसे संसार में ऐसे अवतार होते हैं।

सम्यग्दृष्टि कहता है कि अब मुझे यह अवसर गँवाना नहीं है; मैं सम्यग्दर्शनपूर्वक, चारित्रदशा प्रगट करके वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त करनेवाला हूँ। अब इस संसार में ऐसे अवतार धारण करनेवाला नहीं हूँ। ●●

'अब मुझे भव नहीं चाहिए'

देखो! यह जीव, करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भवभ्रमण से थकान नहीं लगती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' - इस प्रकार यदि तुझे भवभ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा २९०

अब कहते हैं कि मनुष्यपना पाना दुर्लभ है, (उसे पाकर) भी मिथ्यात्वी होकर पाप उत्पन्न करता है —

रयणं चउप्पहे पिव, मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि॥

खोया हुआ ज्यों रत्न चौपथ पर मिले अति भाग्य से।
त्यों महादुर्लभ मनुज तन पा मूढ़ हो पापहि करे॥

अन्वयार्थ : [रयणं चउप्पहे पिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय] जैसे चौराहे में पड़ा हुआ रत्न बड़े भाग्य से हाथ लगता है; वैसे ही तिर्यञ्च से निकलकर मनुष्यगति पाना अत्यन्त दुर्लभ है – **[तत्थ वि जीवो मिच्छो हवेइ पावं समज्जेदि]** ऐसा दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर भी मिथ्यादृष्टि हो, पाप ही करता है।

भावार्थ : मनुष्य होकर भी, म्लेच्छखण्ड आदि में तथा मिथ्यादृष्टियों की सङ्गति में उत्पन्न होकर पाप ही करता है।

गाथा २९० पर प्रवचन

तिर्यञ्चगति में से निकलकर मनुष्यगति प्राप्त करना महा-दुर्लभ है। जिस प्रकार चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न, महाभाग्य से ही वापस प्राप्त होता है; इसी प्रकार मनुष्यपना महादुर्लभ है। ऐसी दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके भी यह जीव, मिथ्यादृष्टि बनकर पाप उत्पन्न करता है। बहुत से जीव मनुष्यपना प्राप्त करके धर्म को नहीं मानते हैं, परलोक को नहीं मानते हैं और धर्म का अनादर करके महापाप बाँधकर नरक-निगोद में परिभ्रमण करते हैं। मनुष्यपना प्राप्त करके अनार्य होते हैं, मिथ्यादृष्टि पापी जीवों के संग से पाप उत्पन्न करते हैं परन्तु आर्यपना और सत्सङ्ग मिलना दुर्लभ है।●●

गाथा २९१-२९४

अब कहते है कि मनुष्य भी होवे और आर्यखण्ड में भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुल आदि का पाना अत्यन्त दुर्लभ है —

अह लहदि अज्जवंतं, तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्तम कुले वि पत्ते, धणहीणो जायदे जीवो॥

अह धन सहिओ होदि हु, इंदियपरिपुण्णदा तदो दुलहा।
अह इंदिय संपुण्णो, तह वि सरोओ हवे देहो॥

अह णीरोओ होदि हु, तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं।
अह चिरकालं जीवदि, तो सीलं णेव पावेइ॥

अह होदि सीलजुत्तो, तह वि ण पावेइ साहुसंसग्गं।
अह तं पि कह वि पावदि, सम्मत्तं तह वि अइदुलहं॥

जन्में यदि कुल आर्य में पर गोत्र उत्तम नहिं लहे।
उच्च कुल भी पाए तो धनहीन होकर दुःख लहे॥

धनवान हो पर इन्द्रियों की पूर्णता पावे नहीं।
इन्द्रियाँ यदि पूर्ण हों तो रोगमय नरतन लहे॥

यदि हो निरोग शरीर किन्तु दीर्घ आयु मिले नहीं।
चिरकाल तक जीवे परन्तु शीलगुण पाए नहीं॥

यदि शीलयुत होवे तथापि साधु संगति नहिं लहे।
सत्संग भी यदि प्राप्त हो सम्यक्त्व दुर्लभ है अरे॥

अन्वयार्थ : [अह लहदि अज्जवंतं] मनुष्य पर्याय पाकर यदि आर्यखण्ड में भी जन्म पावे तो **[तह वि उत्तमं गोत्तं ण पावेइ]** उत्तम गौत्र (ऊँचे कुल)नहीं पाता है; **[उत्तम कुले वि पत्ते]** यदि ऊँचा कुल भी प्राप्त हो जाए तो **[जीवो धणहीणो जायदे]** यह जीव धनहीन दरिद्री हो जाता है, उससे कुछ सुकृत नहीं बनता है; पाप ही में लीन रहता है।

[अह धनसहिओ होदि हु] यदि धनसहित भी होवे **[तदो इन्दियपरिपुण्णदा दुलहा]** तो इन्द्रियों की परिपूर्णता पाना अत्यन्त दुर्लभ है; **[अह इन्दिय संपुण्णो]** यदि इन्द्रियों की सम्पूर्णता भी पावे **[तह वि देहो सरोओ हवे]** तो देह, रोगसहित पाता है; निरोग होना दुर्लभ है।

[अह णीरोओ होदि हु] यदि निरोग भी हो जाए **[तह वि सुइरं जीवियं ण पावेइ]** तो दीर्घ जीवन (आयु) नहीं पाता है, इसका पाना दुर्लभ है; **[अह चिरकालं जीवदि]** यदि चिरकाल तक जीता है **[तो सीलं णेव पावेइ]** तो शील (उत्तम प्रकृति-भद्रपरिणाम) नहीं पाता है क्योंकि उत्तम स्वभाव पाना दुर्लभ है।

[अह सीलजुत्तो होदि] यदि शील (उत्तम) स्वभावसहित भी हो जाता है **[तह वि साहुसंसग्गं ण पावेइ]** तो साधु पुरुषों का संसर्ग (सङ्गति) नहीं पाता है; **[अह तं पि कह वि पावदि]** यदि वह भी पा जाता है **[तह वि सम्मत्तं अइदुलहं]** तो सम्यक्त्व पाना (श्रद्धान होना) अत्यन्त दुर्लभ होता है।

गाथा २९१-२९४ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि मनुष्य भी होता हो और वह आर्यखण्ड में उत्पन्न होवे तो भी वहाँ उत्तम कुल आदि प्राप्त करना महादुर्लभ है।

कदाचित् आर्यखण्ड में जन्में तो वहाँ भी उत्तम कुल प्राप्त करना दुर्लभ है। खानदानी, कुल, अच्छे माता-पिता, तथा धर्म की लगनवाले जीवों का सङ्ग प्राप्त होना दुर्लभ है। खानदानी जीव को पाप की वृत्ति होने पर भी शर्म-शर्म लगती है। उच्च कुल में अवतरित होकर भी धर्म की वृत्ति होना दुर्लभ है। ऊँचे कुल में अवतरित हो, वहाँ भी सम्पूर्ण जिन्दगी पाप में लीन रहता है, धर्म की वृत्ति उत्पन्न होना भी दुर्लभ है। पापभाव में से निवृत्त हो, तब कुछ अच्छा

काम करे न ? पैसावाला, पैसे की ममता के पापभाव में मग्न है और दरिद्री जीव, पैसा कमाने के पापभाव में मग्न है। उसमें से निवृत्त होकर अन्दर धर्म की वृत्ति उत्पन्न होना दुर्लभ है। आत्मा का कुछ हित करने की वृत्ति भी बहुत कम जीवों में उत्पन्न होती है।

उत्तमकुल और धनवानपना प्राप्त करता है तो वहाँ पाँच इन्द्रियों की पूर्णता प्राप्त करना अति दुर्लभ है। इन्द्रियों इत्यादि की पूर्णता होवे तो वहाँ शरीर, रोगी होकर नष्ट होता है। यहाँ यह सब बताने का हेतु पैसा अथवा शरीर इत्यादि की महिमा बतलाना नहीं है परन्तु ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके अन्दर आत्मा की समझ करने के लिए यह वर्णन है।

भाई! ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त किया तो अब वह कर कि इस संसारभ्रमण का अन्त आ जाए। बोधि, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दुर्लभता है; इसलिए उसका प्रयत्न कर। दूसरा सब तो अनन्त बार प्राप्त हुआ है; मनुष्यपना और स्वर्ग भी अनन्त बार प्राप्त हुआ है परन्तु अन्दर में चिदानन्दस्वभाव का भान पूर्व में कभी नहीं किया; इसलिए वही वास्तव में महा-दुर्लभ है; अत: वही करनेयोग्य है।

अरे जीव! मनुष्यभव का अवसर फिर से नहीं मिलेगा; इसलिए आत्मा की दरकार करके तत्त्व की समझ कर। अभी **सब अवसर आ चुका है।** इसलिए जिस प्रकार आत्मा का कल्याण हो, वैसा कर।

देखो तो सही, मनुष्यपने में धर्मश्रवण की भी कैसी दुर्लभता है!

मनुष्यपर्याय में खानदानी, कुल, धनवानपना, निरोग शरीर, तथा दीर्घ आयुष्य - यह सब प्राप्त करके भी, अन्तर में उत्तम, सरल स्वभाव प्राप्त करना दुर्लभ है। परिणाम में तीव्र वक्रता हो, महासंक्लिष्ट परिणाम हों, क्रोध-मान-माया-लोभ तीव्र हो, वहाँ धर्म का विचार ही कैसे करेगा ? विषय-कषाय का लम्पटी हो और सरल मन्द कषाय के परिणाम भी न हों, उसे तो धर्म की पात्रता भी नहीं है; अत: मन्द कषाय के सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है। अभी धर्म तो बहुत अलग वस्तु है। सरल परिणाम होना, वह कहीं धर्म नहीं है परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है तो फिर धर्म की दुर्लभता की तो क्या बात! बहुत से जीवों को सरल परिणाम होने पर भी सत्समागम की प्राप्ति दुर्लभ है। कोई लौकिक मनुष्य भी मन्दकषायवाले होते हैं परन्तु वीतरागी सर्वज्ञ शासन का तत्त्व समझानेवालों का सत्समागम

प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। मन्दकषाय करे, परन्तु कुदेव-कुगुरु के सङ्ग में रहकर विपरीतश्रद्धा का पोषण करके मनुष्यभव हार जाता है।

वीतरागी देव-गुरु का समागम प्राप्त होना महा-दुर्लभ है। धर्म का यथार्थ स्वरूप समझानेवाले ज्ञानी पुरुषों का समागम महाभाग्य से मिलता है। सत् समझने की योग्यता हो, तब ऐसी वाणी सुनने को मिलती है और सत्समागम प्राप्त करके भी अन्तर में सम्यग्दर्शन प्राप्त करना तो परम दुर्लभ है।

अहो! जङ्गल में विचरते हुए, आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले वीतरागी सन्त-मुनियों के दर्शन प्राप्त होना भी दुर्लभ है। किसी महाभाग्य से ऐसा समागम प्राप्त हुआ तो वहाँ सत् समझकर अन्तर में ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि करना दुर्लभ है। ऐसे सम्यग्दर्शन बिना, सब एक बिना की बिन्दियाँ हैं। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होने के पश्चात् भी अन्दर सम्यग्दर्शन होना तो अपूर्व पुरुषार्थ सापेक्ष है। मनुष्यपना, सरल परिणाम, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, दुर्लभ होने पर भी, वह तो पूर्व में अनन्त बार प्राप्त कर गया है परन्तु सम्यग्दर्शन अपूर्व वस्तु है।

देखो, अभी सब अवसर आ गया है। इसलिए सत्य समझकर आत्मा का कल्याण कर लेना - ऐसा उपदेश है। अहो! मैं परिपूर्ण भगवान हूँ, मेरा आत्मा ही परमात्मा है; रागादिक की वृत्ति उत्पन्न हो, उतना ही मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसी आत्मश्रद्धा होना दुर्लभ है।

देखो, दुर्लभता का वर्णन करते-करते ठेठ स्वभाव की श्रद्धा तक लाये हैं। स्वभाव की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन ही पूर्व में कभी प्राप्त नहीं किया - ऐसा अपूर्व दुर्लभ है। तीर्थङ्कर के समवसरण में गया, परन्तु भगवान ने जिस प्रकार कहा, वैसा आत्मस्वरूप इसको अन्तर में नहीं जँचा; इसलिए संसारपरिभ्रमण का अन्त नहीं आया। ●●

गाथा २९५

सम्मत्ते वि य लद्धे, चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो।
अह कह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुं ण सक्केदि॥

सम्यकत्व भी यदि प्राप्त हो तो ग्रहे नहिं चरित्र को।
चारित्र भी यदि ग्रहण हो पर पाल नहिं सकता उसे॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्ते वि य लद्धे] यदि सम्यक्त्व भी प्राप्त हो जाए तो **[जीवो चारित्तं गिण्हदे]** यह जीव, चारित्र ग्रहण नहीं करता है। **[अह कह वि तं पि गिण्हदि]** यदि चारित्र भी ग्रहण करले **[तो पालेदूं ण सक्कदि]** तो उसको पाल नहीं सकता है।

गाथा २९५ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन के पश्चात्, चारित्र की भी दुर्लभता है, वह कहते हैं।

अहो! सम्यग्दर्शन हुआ, वह महा-अपूर्व चीज है परन्तु उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी वीतरागी चारित्ररूप मुनिदशा होना दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन के बाद सम्यक्चारित्र की दुर्लभता है। पहले सम्यग्दर्शन की बात करके फिर चारित्र की बात ली है (क्योंकि) सम्यग्दर्शन के बिना तो चारित्र होता ही नहीं है।

अहो! चारित्रदशा तो अलौकिक है, उसमें अन्दर रोम-रोम में वैराग्य छा गया होता है। (वे चारित्रवन्त सन्त) अन्दर में सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर अनुभव करते हैं। जैसे जङ्गल में घूमते हुए सिंह-बाघ गर्जना करते हैं; उसी प्रकार जङ्गल में आत्मानन्द में झूलते हुए सन्त केवलज्ञान के लिए अन्दर में पुरुषार्थ की गर्जना करते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिये ऐसी मुनिदशा प्रगट करना चाहिए। मुनिदशा हठ से नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर अनन्त संसार

तो परिमित हो गया है परन्तु अन्दर में चैतन्य की लीनता से केवलज्ञान हो – ऐसी जो उग्र चारित्रदशा, वह दुर्लभ है।

प्रश्न – समझ के बाद सब सरल है – ऐसा कहा है न?

उत्तर – वहाँ तो समझ सरल है, उसकी बात की है। सम्यग्दर्शन के बाद क्रम-क्रम से राग का अभाव करके अल्प काल में चारित्र का पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहेगा – इस अपेक्षा से ज्ञानी को सब सहज कहा जाता है। ज्ञानी को स्वभाव के अवलम्बन से सत्समाधान वर्तता है।●●

सिर पर मौत मंडरा रही है

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' – ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस-पास खड़े हुए अनेक सगे -सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रही है' – ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

— बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क ४१२

गाथा २९६

रयणत्तये वि लद्धे, तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि, पणट्ठरयणत्तओ होऊ॥

यदि जीव रत्नत्रय लहे पर तीव्र राग करे अहो।
तो रत्नत्रय का नाश करके दुर्गति को प्राप्त हो॥

अन्वयार्थ : [जइ जीवो] यदि यह जीव **[रयणत्तये वि लद्धे]** रत्नत्रय भी पाता है **[तिव्वकसायं करेदि]** और तीव्रकषाय करता है **[तो]** तो **[पणट्ठरयणत्तओ होऊ]** रत्नत्रय का नाश करके, **[दुग्गईसु गच्छदि]** दुर्गतियों में जाता है।

गाथा २९६ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शनसहित सम्यक्चारित्र ग्रहण करे तो उस चारित्रदशा का निर्दोषरूप से पालन करना दुर्लभ है – ऐसा अब कहते हैं।

कोई भावलिङ्गी साधु हो और कभी शत्रु इत्यादि के प्रति तीव्र क्रोध करे तो चारित्र का नाश हो जाता है और सम्यग्दर्शन का भी नाश हो जाता है। राजा इत्यादि पर क्रोध होने पर उन्हें कषाय से जला दे तो रत्नत्रय से भ्रष्ट होकर नरकगति में परिभ्रमण करता है। यह दुर्लभता बताने के लिये उक्त बात की है। ●●

गाथा २९७

अब कहते हैं कि ऐसा मनुष्यपना दुर्लभ है, जिससे रत्नत्रय की प्राप्ति हो —

रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं।
एवं सुणिच्छइत्ता, मिच्छकसाये य वज्जेह॥

अति महादुर्लभ मनुजतन ज्यों प्राप्त हो मणि उदाधि से।
यह जानकर हे भव्य! तज मिथ्यात्व और कषाय सब॥

अन्वयार्थ : [जलहि पडियं रयणु व्व मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं होइ] समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान, मनुष्यत्व की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है **[एवं सुणिच्छइत्ता]** – ऐसा निश्चय करके, हे भव्यजीवो! **[मिच्छाकसाये य वज्जेह]** मिथ्यात्व और कषायों को छोड़ो, ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा २९७ पर प्रवचन

अहो! ऐसा मनुष्यपना और उसमें रत्नत्रयरूप बोधि की दुर्लभता है। इसलिए जीव को रत्नत्रय की प्राप्ति होओ – ऐसा अब कहते हैं।

विशाल समुद्र में लहरें उछलती हों और अन्दर रत्न गिर जाए तो वह हाथ आना जैसे दुर्लभ है, वैसे ही संसारसमुद्र में अनन्त काल से मनुष्यपना हाथ आया है, वह बारम्बार प्राप्त होना दुर्लभ है। इसलिए हे भव्य जीवो! इस दुर्लभ मनुष्यपने में सत्समागम से मिथ्यात्व और कषायभावों को छोड़ो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को अखण्डरूप से आराधो – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है। ●●

गाथा २९८

अब कहते हैं कि यदि ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभपरिणामों से देवत्व पावे तो वहाँ चारित्र नहीं पाता है —

अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं।
तो तवचरणं ण लहदि, देसजमं सील लेसं पि॥

यदि देव होकर भी कदाचित् प्राप्त हो सम्यकत्व को।
तो लेश भी पाता नहीं अणुव्रत तथा तप शील व्रत॥

अन्वयार्थ : [अहवा देवो होदि हु] अथवा मनुष्यत्व में कदाचित् शुभपरिणाम होने से देव भी हो जाए **[तत्थ वि कह व सम्मत्तं पावेदि]** और वहाँ कदाचित् सम्यक्त्व भी पा लेवे **[तो तवचरणं ण लहदि]** तो वहाँ तपश्चरण / चारित्र नहीं पाता है; **[देसजमं सीललेसं पि]** देशव्रत (श्रावकव्रत) शीलव्रत (ब्रह्मचर्य अथवा सप्तशील) का लेश भी नहीं पाता है।

गाथा २९८ पर प्रवचन

मनुष्य होकर शुभपरिणाम किये और अनन्त बार देव हुआ। उस देवलोक में कदाचित् सम्यग्दर्शन प्राप्त करे, परन्तु वहाँ चारित्रदशा नहीं होती। देवों को व्रतादि नहीं होते हैं। इन्द्र–इन्द्राणी सम्यग्दृष्टि एकावतारी हैं, वे भगवान के जन्म इत्यादि प्रसङ्गों पर आकर भक्ति करते हैं। उन्हें आत्मा का भान होता है परन्तु वहाँ चारित्रदशा नहीं होती। लोकान्तिकदेव, सम्यग्दृष्टि होते हैं, ब्रह्मचारी ही होते हैं परन्तु वहाँ व्रतरूप ब्रह्मचर्य नहीं होता। देशव्रत–श्रावकव्रत तथा शीलव्रत, ऐसे पञ्चम गुणस्थान के योग्य संयम वहाँ नहीं होता; इसलिए रत्नत्रय की महादुर्लभता

है। रत्नत्रय, मनुष्यपने में ही होता है; इसलिए मनुष्यपना प्राप्त करके रत्नत्रय की आराधना का उपदेश है।

ज्ञानी जीव, आत्मा के भानपूर्वक वस्तुस्वरूप के अनुसार बारह वैराग्य भावनाएँ भाता है। उसमें राग टूटकर ज्ञान की एकाग्रता बढ़ती जाती है, उसका नाम धर्म और संवर है। यहाँ ग्यारहवीं बोधिदुर्लभभावना का वर्णन चल रहा है।

जीव को चिदानन्द आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वह अनन्त काल में दुर्लभ है। सर्वज्ञ परमात्माओं द्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है ? उसका श्रवण भी अनन्त काल में प्राप्त होना कठिन है और श्रवण के पश्चात् भी अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होना, वह तो परम-दुर्लभ है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी सम्यक्चारित्र की दुर्लभता है। सम्यग्दर्शन तो चारों गतियों में होता है किन्तु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाली चारित्रदशा (मुनिदशा) तो मनुष्यगति में ही होती है; इसलिए उसकी दुर्लभता है - ऐसा यहाँ कहा गया है।●●

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है ? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा २९९

अब कहते हैं कि इस मनुष्यगति में ही तपश्चरणादिक हैं, ऐसा नियम है —

मणुवुगईए वि तओ, मणुवुगईए महव्वदं सयलं।
मणुवगईए झाणं, मणुवगईए वि णिव्वाणं॥

इस मनुजगति में ही महाव्रत इसी में हो तप अहो।
ध्यान होता मनुजगति में इसी में निर्वाण हो॥

अन्वयार्थ : [मणुवगईए वि तओ] हे भव्यजीवों! इस मनुष्यगति में ही तप का आचरण होता है; **[मणुवगईए सयलं महव्वदं]** इस मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं; **[मणुवर्गइए झाणं]** इस मनुष्यगति में ही धर्म, शुक्लध्यान होते हैं; **[मणुवर्गइए वि णिव्वाणं]** और इस मनुष्यगति में ही निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

गाथा २९९ पर प्रवचन

ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान करके उसमें लीन होना और इच्छा की उत्पत्ति ही नहीं होना, उसका नाम तप है। बाहर से रोटियाँ छूट जाना, वह कहीं वास्तव में तप नहीं है। देखो! मैं शुद्ध ज्ञानमूर्ति हूँ; देह से भिन्न और राग से पार हूँ – ऐसा सम्यक् आत्मभान तो तिर्यञ्च और नारकी को भी होता है; स्वर्ग के देवों को भी होता है परन्तु फिर विशेष चारित्रदशा तो मनुष्यगति में ही होती है। तिर्यञ्च में पाँचवाँ गुणस्थान होता है परन्तु वहाँ मुनिदशा नहीं होती। देह की क्रिया तो जड़ है, उसमें कहीं चारित्र अथवा तप नहीं है। अन्दर राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी विकार है; वह वास्तव में तप अथवा चारित्र नहीं है परन्तु देह से और राग से पार चैतन्यस्वभाव का भान करके उसमें विशेष लीनता होने पर वीतरागभाव होता है,

उसका नाम चारित्र और तप है। ऐसा चारित्र और तप मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता। इसलिए हे जीव! ऐसी दुर्लभता जानकर, तू आत्मा की आराधना कर! मनुष्यपना प्राप्त करके ऐसे रत्नत्रय की आराधना करनेवाले का मनुष्यपना सफल है।

समस्त महाव्रत, मनुष्यपने में ही होते हैं। अहो! महाव्रतधारी मुनिवरों को रोम-रोम में वैराग्य छा गया होता है। अन्दर चिदानन्दस्वरूप में लीन होकर बहुत वीतरागता हो गयी है। मनुष्यपने में सम्यग्दर्शनपूर्वक की ऐसी मुनिदशा प्राप्त करना ही सफलता है। विषय-कषाय में गृद्धि होकर काल गँवाएँ और आत्मा की दरकार नहीं करे, वह तो मनुष्यभव हार जाता है। उसने मनुष्यभव की दुर्लभता को नहीं जाना है।

धर्म-शुक्लध्यान और मुक्ति भी इस मनुष्यभव में ही होती है; इसलिए मनुष्यपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करना, वही (मनुष्यपने की) सफलता है।

जो जीव, धर्म की दरकार नहीं करता और विषय-कषाय में जीवन गँवाता है, वह जीव, चिन्तामणि जैसा मानवभव हार जाता है। यह बात दृष्टान्त से अब कहते हैं।●●

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा ३००

इय दुलहं मणुयत्तं, लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति॥

दुर्लभ मनुजगति प्राप्त कर भी विषय में ही जो रमें।
दिव्य मणि को जलाते वे भस्म पाने के लिए॥

अन्वयार्थ : [इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे विसएसु रमन्ति] ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियों के विषयों में रमण करते हैं, **[ते दिव्वरयणं लहिय भूइणिमित्तं पजालंति]** वे दिव्य (अमूल्य) रत्न को पाकर, भस्म के लिये दग्ध करते हैं – जलाते हैं।

भावार्थ : अत्यन्त कठिनाई से पाने योग्य यह मनुष्यपर्याय, अमूल्य रत्न के समान है, उसको विषयों में रमणकर वृथा खोना उचित (योग्य)नहीं है।

गाथा ३०० पर प्रवचन

जो जीव, ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके इन्द्रिय–विषयों में रमते हैं, वे दिव्य अमूल्य रत्न को प्राप्त करके भस्म के लिए उसे जला देते हैं। घर में बाजरा खराब नहीं हो जाए, उसके लिए उसमें राख डालना हो, वहाँ कोई रत्न को जलाकर उसकी राख करे तो वह मूर्ख कहलाता है। इसी प्रकार महामूल्यवान मनुष्यभव अनन्त काल में प्राप्त हुआ है, वह रत्न जैसा है। जो जीव विषय–कषाय के लिए उस मनुष्यपने को गँवाता है और आत्मा का भान नहीं करता, वह जीव राख के लिए रत्न जलाता है।

एक मनुष्य के पास कीमती रत्न का हार था। उसे धागे की आवश्यकता हुई, इस

कारण उसने धागे के लिए रत्न का हार तोड़ दिया। उसी प्रकार यहाँ मनुष्यभव प्राप्त करके जो अज्ञानी जीव, चैतन्यरत्न को नहीं पहचानता और विषयों में सुख मानकर उसमें ही रमता है, वह जीव मनुष्यपना हार कर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

यहाँ मनुष्यपने की दुर्लभता का वर्णन किसलिए किया है? धर्म समझने के लिए। यदि धर्म नहीं समझे तो मनुष्यपना हार जाता है। अनन्त बार मनुष्यपना प्राप्त हुआ है परन्तु आत्मा की दरकार नहीं की, इस कारण वापिस संसार में ही परिभ्रमण किया है; इसलिए आत्मा की समझ कर लेने योग्य है। सत्समागम में साधु-सन्त पुरुषों से चैतन्यस्वभाव का श्रवण करके, उसका निर्णय करना चाहिए।

अहो! मनुष्यपने की ऐसी दुर्लभता समझकर तो चैतन्य को ही ध्येय बनाने योग्य है। जिसने चैतन्य को ध्येय नहीं बनाया और अकेले पर को ही ध्येय बनाया है, वह जीव, स्व-विषय को चूककर पर-विषयों में ही रमता है। वह कैसा है? राख के लिए रत्न को जला देता है।

देखो! विषयों को तो राख की उपमा दी है। अज्ञानी जीव, विषयों में सुख मानता है परन्तु वह चैतन्य को नहीं जानता। विषय तो राख के समान हैं और आत्मा अमूल्य चिन्तामणि रत्न है। कोई समुद्र के मध्य जहाज में बैठा हो और कील की आवश्यकता पड़े, तब वहाँ जहाज की कील निकाले तो वह मूर्ख कहलाता है; उसी प्रकार मनुष्यपना तो संसार के समुद्र के बीच जहाजवत् प्राप्त हुआ है, उसे विषय-भोग में गँवावे और आत्मा की दरकार न करे तो वह मूढ़ है। अरे जीव! आत्मा की ओर सन्मुखता कर! आत्मा की महिमा करके मनुष्यपने की सफलता कर!!

देखो, देव भी 'कब मनुष्यपना प्राप्त करेंगे' - ऐसी भावना करते हैं। वह किसलिए? क्या वे विषयों के लिए मनुष्यपना चाहते हैं? नहीं; देवों को विषय-भोग तो बहुत प्राप्त हैं परन्तु आत्मा का पूर्ण कल्याण मनुष्यपने में ही होता है; इसलिए वे मनुष्यपने की भावना करते हैं। अहो! ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके आत्मा के कल्याण का उपाय करना ही कर्तव्य है।●●

गाथा ३०१

अब कहते हैं कि इस मनुष्यपर्याय में रत्नत्रय को पाकर बड़ा आदर करो —

इय सव्वदुलहदुलहं, दंसण णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिउण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि॥

हैं दुर्लभों में महादुर्लभ ज्ञान दृग चारित्र ये।
संसार में यों मानकर इनका महा आदर करें॥

अन्वयार्थ : [इय] इस प्रकार **[संसारे]** संसार में **[दंसण णाणं तहा चरित्तं च]** दर्शन, ज्ञान और चारित्र को **[सव्वदुलहदुलहं]** अति दुर्लभ से भी दुर्लभ (अत्यन्त दुर्लभ) **[मुणिउण य]** जानकर, **[तिण्हं पि]** दर्शन, ज्ञान, चारित्र — इन तीन का, हे भव्यजीवो! **[महायरं कुणह]** बड़ा आदर करो।

भावार्थ : निगोद से निकलकर, पहिले कहे अनुक्रम से (मनुष्यभव को) दुर्लभ से दुर्लभ जानो, उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जानो। उसे पाकर भव्यजीवों को महान् आदर करना योग्य है।

गाथा ३०१ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि इस मनुष्यपने में रत्नत्रय को प्राप्त करके, उसका बहुत आदर करो।

अहो! संसार में मनुष्यपना और सत्समागम महादुर्लभ तो है परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो दुर्लभ से भी दुर्लभ है। अरे जीवों! ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचानकर, उनका महा आदर करो। कुदेव-कुगुरु का आदर छोड़ो और महाप्रयत्नपूर्वक आदर से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो। हे भव्य जीवों! मनुष्यपना प्राप्त करके, आत्मा के स्वभाव का आदर करो।

निगोद में से निकलकर ऊपर कहे गये अनुक्रम से मनुष्यभव को अति दुर्लभ से भी दुर्लभ जानो। उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ समझो। उसे प्राप्त करके भव्य जीवों को उसका महान् आदर करना योग्य है।

छप्पय

वसि निगोद चिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु।
पवनवोद जल अगि निगोद लहि जरन मरन सहु॥
लट गिंडोल उटकण मकोड तन भमर भमणकर।
जलविलोलपशु तन सुकोल, नभचर सर उरपर।
फिरि नरकपात अति कष्टसहि, कष्टकष्ट नरतन महत।
तहँ पाय रत्नत्रय चिगद जे, ते दुर्लभ अवसर लहत॥ ११॥

निगोद में से निकलकर, त्रसपना प्राप्त करना दुर्लभ है; उसमें भी पञ्चेन्द्रियपना, संज्ञीपना, मनुष्यपना, दीर्घ आयु, पञ्चेन्द्रियों की पूर्णता, उच्चकुल, धर्म की बुद्धि, सत्समागम - ये सब प्राप्त होना दुर्लभ है, तथापि ये अपूर्व नहीं हैं; ये सब तो पूर्व में मिल गये हैं परन्तु आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना, वह 'अपूर्व है।' अनन्त काल के भवभ्रमण से उभरने का काल, इस मनुष्यभव में है। यदि इसमें आत्मा की दरकार नहीं करें तो फिर ऐसा अवसर प्राप्त होना महादुर्लभ है। इसलिए ऐसी दुर्लभता समझकर, इस मनुष्यपने में चैतन्यस्वभाव आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की महा-आदरपूर्वक आराधना करना - ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

इस प्रकार बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा समाप्त हुई।●●

१२

धर्म अनुप्रेक्षा

इस धर्म अनुप्रेक्षा में जैनदर्शन का सार भर दिया है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूप का कैसा विचार करता है ? – वह भी इसमें वर्णन किया है। धर्म अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए पहले सर्वज्ञदेव का स्वरूप बतलाते हैं क्योंकि धर्म का मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञता, वह आत्मा का पूर्ण स्वरूप है। ज्ञान, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसमें से ही ज्ञान की परिपूर्णदशा प्रगट होती है, उसका नाम सर्वज्ञता है; सर्वज्ञता बाहर से नहीं आती है। जिसने सर्वज्ञ को नहीं माना, उसने आत्मा को नहीं माना; ज्ञानगुण को नहीं माना; पर्याय का परिपूर्ण सामर्थ्य नहीं माना; सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों को नहीं माना। आत्मा के ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से राग और अल्पज्ञता का नाश करके सर्वज्ञदशा प्रगट हुई, वे सर्वज्ञदेव धर्म का मूल हैं। जिसे सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं है, उसे आत्मा की प्रतीति नहीं होती और उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। सर्वज्ञ को जानने पर, ज्ञान होता है कि अल्पज्ञता अथवा राग-द्वेष, सर्वज्ञ को नहीं हैं; इसलिए वह मेरे आत्मा का स्वरूप भी नहीं है। इस प्रकार राग और अल्पज्ञता में हेयबुद्धि होकर, परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव में उपादेयबुद्धि हुई, उसका नाम धर्म है।

धर्म का मूल, सम्यग्दर्शन है परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ की प्रतीति के बिना नहीं होता; इसलिए यहाँ यह कहा है कि धर्म का मूल सर्वज्ञ है। जिसने सर्वज्ञ को जाना, उसने आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव जाना। सर्वज्ञ होने की प्रतीति हुई, अर्थात् अल्पज्ञता और राग का ज्ञाता रहा; परन्तु उनकी रुचि नहीं रही।

सर्वज्ञदेव कुछ नहीं जानें – ऐसा होता ही नहीं। कोई कहता है कि अमुक अपेक्षित धर्मों को सर्वज्ञ नहीं जानते... – तो ऐसा नहीं होता है। **जो धर्म, श्रुतज्ञान में ज्ञात हों, वे केवलज्ञान में ज्ञात न हों – ऐसा कैसे हो सकता है ?** अहो! सर्वज्ञता तो आत्मा का स्वभाव है। वह क्या नहीं जानेगा ? सर्वज्ञता का निर्णय करे तो पदार्थों में तीन काल की पर्यायें क्रमबद्ध होती है – यह भी निश्चित हो जाता है; इसलिए स्वयं ज्ञाता–दृष्टा रह जाता है। अतः पहले यहाँ धर्म के मूलरूप से सर्वज्ञता का वर्णन करते हैं।

गाथा ३०२

अब, धर्मानुप्रेक्षा का निरुपण करते हैं। पहले, धर्म के मूल सर्वज्ञदेव हैं, उनको प्रगट करते हैं —

जो जाणदि पच्चक्खं, तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं, सो सव्वणहू हवे देओ॥

लोक और अलोक को, तिहुँ काल गुण–पर्याय युत।
प्रत्यक्ष से जो जानते, वे देव ही सर्वज्ञ हैं॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[सयलं]** समस्त **[लोयालोयं]** लोक और अलोक को **[तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं]** तीन काल गोचर समस्त गुण–पर्यायों से संयुक्त **[पच्चक्खं]** प्रत्यक्ष **[जाणदि]** जानते हैं, **[सो सव्वण्हू देओ हवे]** वे सर्वज्ञदेव हैं।

भावार्थ : इस लोक में जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं। उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्‌गलद्रव्य हैं। एक–एक आकाश, धर्म, अधर्मद्रव्य हैं। असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं। लोक के बाहर अनन्त प्रदेशी आकाशद्रव्य अलोक है। इन सब द्रव्यों के अनन्त समयरूप अतीत काल से, आगामी काल अनन्तगुणा समयरूप है। उस काल के समय–समयवर्ती एक द्रव्य की अनन्त–अनन्त पर्यायें हैं। उन सब द्रव्य–पर्यायों को युगपत् एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न

-भिन्न जैसे हैं, वैसे जाननेवाला ज्ञान जिसके है, वह सर्वज्ञ है, वह ही देव है। औरों को देव कहते हैं, सो कहनेमात्र है।

यहाँ कहने का तात्पर्य ऐसा है कि अब जो धर्म का स्वरूप कहेंगे, सो धर्म का स्वरूप यथार्थ इन्द्रियगोचर नहीं; अतीन्द्रिय है। उसका फल, स्वर्ग-मोक्ष है, वह भी अतीन्द्रिय है। छद्मस्थ के इन्द्रियज्ञान होता है; परोक्ष, इसके गोचर नहीं होता है। जो सब पदार्थों को प्रत्यक्ष देखता है, वह धर्म के स्वरूप को भी प्रत्यक्ष देखता है; इसलिए धर्म का स्वरूप, सर्वज्ञ के वचन ही से प्रमाण है; अन्य छद्मस्थ का कहा हुआ प्रमाण नहीं है। अत: सर्वज्ञ के वचन की परम्परा से जो छद्मस्थ कहता है, सो प्रमाण है; इसलिए धर्म का स्वरूप कहने के लिए प्रारम्भ में सर्वज्ञ को स्थापन किया गया।

गाथा ३०२ पर प्रवचन

जो त्रिकाल गोचर समस्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण लोक-अलोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, वे सर्वज्ञदेव हैं। अनन्त द्रव्यों, अनन्त गुणों; उनमें प्रत्येक गुण की तीन काल की अनन्त पर्यायें; एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद - इन सबको केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञान में दूसरे अनन्त सिद्ध भगवन्त ज्ञात होते हैं। ज्ञानगुण की एक पर्याय की कितनी सामर्थ्य! अपूर्ण जाने - ऐसी सर्वज्ञदशा नहीं होती। सर्वज्ञ भगवान तो एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानते हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि भविष्य की पर्याय होगी, तब जानेंगे! भविष्य में किस समय, कौन सी पर्याय होगी? - वह सब अभी ही सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात हो रहा है। ऐसे सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करने में ही अपूर्व पुरुषार्थ है।

'केवली भगवान ने देखे होंगे, उतने भव होंगे, फिर पुरुषार्थ करना कहाँ रहा?' - ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं कि अरे भाई! क्या तूने सर्वज्ञ की प्रतीति की है? जो सर्वज्ञ की प्रतीति करता है तो उसमें ज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है और उसे अनन्त भव होते ही नहीं; भगवान ने उसके अनन्त भव देखे ही नहीं। सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को राग और अल्पज्ञता की दृष्टि छूटकर, स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ हो जाता है।

इस लोक में जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं; उससे अनन्तानन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं; एक-एक आकाश, धर्म और अधर्मद्रव्य हैं तथा असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं। लोकाकाश के पार (आस

-पास) अनन्त प्रदेशी जो आकाशद्रव्य है, वह अलोक है। उन समस्त द्रव्यों का अनन्त समयरूप भूत काल तथा उनसे अनन्तगुने समयरूप भविष्य काल है। उस काल के समय -समयवर्ती एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें हैं। उन सभी द्रव्य-पर्यायों को युगपत् / एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष-स्पष्ट भिन्न-भिन्न जैसे हैं, वैसे जिनका ज्ञान जानता है, वे सर्वज्ञदेव हैं।

तीन काल के समयों से भी अलोक के प्रदेश अनन्तगुने हैं। काल के समय में भी भूत काल से, भविष्य काल का समय अनन्तगुना है। वस्तु के ऐसे स्वभाव को जानने का तेरे ज्ञान का स्वभाव है। बस! ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके दृष्टि को स्वसन्मुख कर, यही धर्म है। जगत् में अनन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और एक साथ अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें (प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय) हैं और उस प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद पड़ते हैं, उन सबको केवलज्ञान भिन्न-भिन्न जानता है। ऐसे केवलज्ञान के सामर्थ्य की स्वीकृति करनेवाले के ज्ञान में भी अनन्त सामर्थ्य आती है। उसमें प्रतीति आयी, पुरुषार्थ आया। सर्वज्ञता में सब भिन्न-भिन्न ज्ञात हुआ और सर्वदर्शितपना तो सब सामान्यरूप देखता है।

जिसे सर्वज्ञता प्रगट हुई है, वही देव हैं। उनके अतिरिक्त, दूसरे देव तो कथनमात्र हैं। जिन्हें दिव्यज्ञान होता है, वही देव हैं। अहो! तीन काल-तीन लोक के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जाने, तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा? जिसे सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं है, उसे धर्म की ही प्रतीति नहीं है। उसे किञ्चित् धर्म नहीं होता। सर्वज्ञता, वह ज्ञान की एक पर्याय का स्वभाव है। उस सर्वज्ञता को नहीं माननेवाले ने आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं माना है। वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव ने तीन काल-तीन लोक को जाना है और उसमें जिस काल में जो पर्याय देखी है, वही पर्याय होती है; उसमें फेरफार नहीं होता। इस प्रकार जो नहीं मानता है, वह जीव प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है - यह बात आगे ३२१-३२२-३२३ गाथा में आयेगी।

वस्तु की अमुक पर्याय, नियत और अमुक पर्याय, अनियत - ऐसा नहीं है। प्रत्येक समय की पर्याय तो नियत है। अनियतपना कहना हो तो इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि

नियतस्वभाव के अतिरिक्त, दूसरे पुरुषार्थ आदि धर्म, वे अनियत हैं। 'नियत' के अतिरिक्त दूसरे धर्म, वे 'अनियत' हैं। नियत के अतिरिक्त, दूसरे चार समवाय हैं, वे 'नियत' धर्मरूप नहीं हैं; इसलिए उन्हें 'अनियत' कहा जाता है।

वस्तु में तीन काल की अवस्थाएँ क्रमबद्ध ही होती हैं। कोई अवस्था उलटी-सीधी नहीं होती – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। वस्तुस्वभाव के इस महासिद्धान्त का रहस्य नहीं समझनेवाले अज्ञानी कहते हैं कि यह एकान्तवाद हो जाता है... परन्तु वस्तुतः तो इसमें ही अनेकान्तवाद है क्योंकि नियत के साथ पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा आदि धर्म भी रहे हुए ही हैं। नियतस्वभाव के निर्णय के साथ रहे हुए सम्यक्पुरुषार्थ को, सम्यक्श्रद्धा को, सम्यक्ज्ञान को स्वभाव इत्यादि को स्वीकार न करे तो ही एकान्तवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में आ जानेवाले ज्ञान के पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि को स्वीकार किये बिना ही, नियत की, अर्थात् जैसा होना होगा, वैसा होगा – ऐसी बातें करता है; इसलिए उसे तो एकान्त मिथ्यात्व कहा जाता है; जबकि ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में साथ ही रहनेवाले सम्यक्पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान को, श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त इत्यादि को स्वीकार करता है; इसलिए वह मिथ्यानियत नहीं, परन्तु सम्यक्नियतवाद है; उसमें ही अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियत और उसके साथ नियत के अतिरिक्त दूसरे अनियत को; अर्थात्, पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्त इत्यादि को भी ज्ञानी स्वीकार करता है; इसलिए उसे नियत-अनियत का मेल हुआ है। **यहाँ अनियत का अर्थ अक्रमबद्ध नहीं समझना, परन्तु नियत के साथ रहनेवाले, नियत के अतिरिक्त पुरुषार्थ इत्यादि धर्मों को यहाँ अनियत कहा है – ऐसा समझना।** इस प्रकार वस्तु में नियत-अनियत दोनों धर्म एक समय में एक साथ हैं; इसलिए अनेकान्तस्वभाव है और उसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ इत्यादि का क्रम भी साथ ही है; इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में पुरुषार्थ इत्यादि की प्रतीति आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्याय से पृथक् नहीं रह जाता; इस कारण नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता, अपितु साथ ही आ जाता

है; अत: नियतस्वभाव की श्रद्धा, वह अनेकान्तवाद है – ऐसा समझना। **जो वस्तु की पर्यायों को नियत/क्रमबद्ध होती हुई नहीं मानता अथवा क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में रहनेवाले सम्यक्पुरुषार्थ को नहीं मानता, उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभाव का पता नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है।**

जिसने सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक **नियत** का निर्णय किया है, उसने अपने **पुरुषार्थ** से **स्वभाव** में रहकर वह निर्णय किया है; उसने अपनी पर्याय के **स्वकाल** में निर्णय किया है और **परनिमित्तों** के अभावपने रहकर वह निर्णय किया है; इसलिए नियत के निर्णय में एक समय में पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं और स्वभावसन्मुख दृष्टि होकर, पर्यायबुद्धि छूट जाती है; इसलिए मोक्षमार्ग हो गया।

सर्वज्ञदेव एक समय में समस्त पदार्थों को और तीन काल को जानते हैं – ऐसे सर्वज्ञ हैं, वे ही देव हैं और ऐसे **सर्वज्ञदेव, धर्म का मूल हैं।**

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि जो धर्म का स्वरूप कहा जाएगा, उस धर्म का यथार्थस्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं, किन्तु अतीन्द्रिय है और उसका फल, स्वर्ग-मोक्ष है, वह भी अतीन्द्रिय है।

छहों द्रव्यों तथा उनके गुण-पर्याय भी अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होने योग्य हैं। जीव इत्यादि पाँच अरूपी द्रव्य हैं, वे तो इन्द्रियगम्य नहीं हैं और पुद्गलपरमाणु भी इन्द्रियगम्य नहीं है। इन्द्रिय से दिखाई देना, वे स्थूल पर्यायें हैं, वह मूलद्रव्य नहीं है। मूलद्रव्य तो इन्द्रियगोचर नहीं है। छहों द्रव्य अतीन्द्रियगम्य हैं, उनके गुण और उनकी पर्यायें भी अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होने योग्य हैं तथा जीव की गुणस्थान इत्यादि पर्यायें; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मुनिदशा इत्यादि इन्द्रियगम्य नहीं हैं; वे सब अतीन्द्रियज्ञान का विषय हैं और उन्हें जाननेवाला ज्ञान, अतीन्द्रिय है।

धर्म के फलरूप जो स्वर्ग-मोक्ष इत्यादि हैं, वे भी इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होते; वे भी अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होते हैं। वे स्वर्गादिक अनुमान से ज्ञात अवश्य होते हैं परन्तु वह अनुमान सच्चा कब कहलाता है कि आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ हो तो उस अंश प्रत्यक्षपूर्वक का अनुमान, सत्य कहलाता है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि धर्म और धर्म का फल

अतीन्द्रियज्ञान से ही गम्य है और वैसा अतीन्द्रियज्ञान, सर्वज्ञ को ही होता है; इसलिए अतीन्द्रिय सर्वज्ञ को पहचाने बिना, धर्म नहीं हो सकता।

भविष्य की स्वर्ग–मोक्ष इत्यादि पर्यायें, इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं हैं अपितु अतीन्द्रियज्ञान का विषय है। सर्वज्ञता का निर्णय किये बिना, धर्म का एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। अहो! केवलज्ञान तो 'सर्वचक्षु' है। 'आगमचक्षु', वह परोक्ष है। अज्ञानी जीव, 'इन्द्रियचक्षु' है। छद्मस्थ जीवों को आंशिक प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान हुआ है परन्तु अभी पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेश तथा तीन काल–तीन लोक उसमें प्रत्यक्ष नहीं दिखते। (छद्मस्थ ज्ञानी को) स्वसंवेदन अपेक्षा से प्रत्यक्षपना है और केवली भगवान को तो सब कुछ पूर्ण प्रत्यक्ष है। उन्हें सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव विकसित हो गया है। उस ज्ञान की सामर्थ्य अनन्त–अनन्त है। आकाश की अनन्तता से भी उसकी सामर्थ्य की अनन्तता है। सर्वज्ञशक्ति, वह पर्याय की परिपूर्ण सामर्थ्य बतलाती है, उसका वर्णन समयसार की सैंतालीस शक्तियों में किया गया है। सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन होता है। वास्तव में आत्मा, अकेली क्षयोपशमपर्याय के अवलम्बन से ज्ञात नहीं होता; स्वभाव के अवलम्बन से आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा, एक समय की क्षयोपशमपर्याय जितना ही नहीं है।

सर्वज्ञदेव की आज्ञा, वह धर्म है। सर्वज्ञदेव की आज्ञा, अर्थात् क्या? सर्वज्ञ जैसे परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना और अल्पज्ञता व राग की रुचि छोड़ना तथा उस स्वभाव के सन्मुख एकाग्र होकर सर्वज्ञता प्रगट करना, इसका नाम सर्वज्ञदेव की आज्ञा है। जिसने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं माना है, उस जीव ने वास्तव में सर्वज्ञ की आज्ञा नहीं मानी है। सर्वज्ञ की आज्ञानुसार जो कथन होता है, वही प्रमाण है।

केवली भगवान की दिव्यध्वनि में सब रहस्य एक साथ आता है। उत्कृष्ट श्रोता की जितना समझने की योग्यता हो, वह सब भगवान की वाणी में एक समय में एक साथ आता है। श्रोतारूप से कहीं केवलज्ञानी तो होते नहीं; छठवें गुणस्थान तक के जीव श्रोता होते हैं और उन्हें तो क्षयोपशमिकज्ञान ही होता है और उसे जितनी समझने की ताकत हो, वह सब सर्वज्ञ की वाणी में आता है। सर्वज्ञ के ज्ञान में तो सब एक साथ ज्ञात होता है – ऐसे सर्वज्ञ की वाणी प्रमाणरूप है और उस सर्वज्ञ की परम्परा में सन्तों ने जो षट्खण्डागम, समयसारादि शास्त्रों की

रचना की है, वे भी प्रमाण हैं। वाच्य को समझनेवाले जीव, सर्वज्ञ की परम्परा में हुए, उनकी वाणी भी आगम है। आगम का आशय समझनेवाले जीव भी परम्परा से होते आये हैं। समझनेवाले बिना, अकेली वाणी को आगम नहीं कहते। आगम का आशय समझनेवाले पुरुषों की परम्परा सर्वज्ञ से चली आ रही है; इसलिए वह आगम, प्रमाण है। ज्ञान की परम्परा के बिना वाणी की परम्परा नहीं कही जाती है। इसलिए मूल कहनेवाले सर्वज्ञ होने चाहिए और उनकी परम्परा में उनका आशय झेलनेवाले सन्त हों, उनकी वाणी भी प्रमाण है परन्तु जिसमें सर्वज्ञ की परम्परा न हो, वह वाणी प्रमाण नहीं है।

एक सर्वज्ञ का निर्णय करे तो उसमें अनन्त सर्वज्ञों का निर्णय हो जाता है। अनन्त सर्वज्ञ हैं; उनका क्षेत्र, सिद्धलोक है। सदेह विचरण करनेवाले सर्वज्ञ हैं; उनका क्षेत्र, महाविदेह इत्यादि हैं। इस प्रकार सबका निर्णय, सर्वज्ञ के निर्णय में आ जाता है। सर्वज्ञ के सामर्थ्य का निर्णय करने पर अल्पज्ञता में आदरबुद्धि नहीं रहती, परन्तु स्वभाव की दृष्टि हो जाती है। इस प्रकार सर्वज्ञ का निर्णय करने पर दृष्टि, ज्ञानस्वभाव के सन्मुख जाती है और धर्म होता है। इसलिए धर्म करनेवाले को पहले सर्वज्ञ का निर्णय करना चाहिए। सर्वज्ञ के निर्णय के बिना, धर्म नहीं हो सकता।

यह धर्म अनुप्रेक्षा चल रही है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख रुचि रखकर धर्मी जीव, बारह भावनाओं का चिन्तन करके, अन्तर में एकाग्रता बढ़ाता है, वह संवर है। अन्तरदृष्टि के बिना, ऐसी भावना यथार्थ नहीं होती। यहाँ धर्मभावना में पहले सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं। सर्वज्ञ को नहीं माननेवाले को धर्मभावना नहीं होती क्योंकि **धर्म का मूल, सर्वज्ञ हैं।●●**

गाथा ३०३

अब, जो सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं —

जदि ण हवदि सव्वण्हू, ता को जाणदि अदिदियं अत्थं।
इन्दियणाणं ण मुणदि, थूलं पि असेस पज्जायं॥

कौन जाने अतीन्द्रिय को, यदि न हों सर्वज्ञ तो।
स्थूल जाने ज्ञान-इन्द्रिय, जानता नहिं सर्व को॥

अन्वयार्थ : [जदि सव्वण्हू ण हवदि] हे सर्वज्ञ के अभाववादियों! यदि सर्वज्ञ नहीं होवे **[ता अदिदियं अत्थं को जाणदि]** तो अतीन्द्रिय पदार्थ, अर्थात् जो इन्द्रियगोचर नहीं हैं, को कौन जानता है? **[इंदियणाणं]** इन्द्रियज्ञान तो **[थूलं]** स्थूलपदार्थ, अर्थात् इन्द्रियों से सम्बन्धरूप वर्तमान को जानता है; **[असेस पज्जायं पि ण मुणदि]** उसकी समस्त पर्यायों को भी नहीं जानता।

भावार्थ : सर्वज्ञ का अभाव, मीमांसक और नास्तिक कहते हैं; उनका निषेध किया है कि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जाने? क्योंकि धर्म और अधर्म का फल अतीन्द्रिय है, उसको सर्वज्ञ के बिना कोई नहीं जानता; इसलिए धर्म-अधर्म के फल को चाहनेवाले पुरुष, सर्वज्ञ को मानकर, उसके वचन से धर्म के स्वरूप का निश्चय कर, अङ्गीकार करो।

गाथा ३०३ पर प्रवचन

जो जीव, सर्वज्ञ को नहीं मानता, उससे कहते हैं कि हे सर्वज्ञ के अभाववादी! यदि सर्वज्ञ नहीं हों तो अतीन्द्रिय पदार्थों, अर्थात् जो इन्द्रियगोचर नहीं हैं – ऐसे पदार्थों को कौन

जानेगा ? इन्द्रियज्ञान तो इन्द्रियों के सम्बन्ध में आये हुए वर्तमान स्थूल पदार्थों को ही जानता है। उनकी भी समस्त पर्यायों को वह नहीं जानता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके, उसमें एकाग्र होने पर ऐसा परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है कि वह सर्व पर्यायों को जानता है। जिस जीव को ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है, उसे सर्वज्ञ की प्रतीति होती ही है। छहों पदार्थ / द्रव्य, अतीन्द्रियज्ञान का विषय हैं। यदि सर्वज्ञ न हों तो उन अतीन्द्रिय पदार्थों को कौन जानेगा ? आत्मा, अमूर्त अतीन्द्रिय है तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि चारों द्रव्य भी अरूपी अतीन्द्रिय हैं और मूल पुद्गलद्रव्य भी सूक्ष्म अतीन्द्रिय है। इस प्रकार छहों पदार्थ, अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियज्ञान से वे ज्ञात नहीं होते। यदि सर्वज्ञ नहीं हों तो इन छह पदार्थों को कौन जानेगा ? छहों द्रव्य, जगत् में सत् हैं तो उनका ज्ञान भी होना ही चाहिए – ऐसा ज्ञान, सर्वज्ञ को है।

देखो ! बहुत से लोग कहते हैं कि संसारदशा में आत्मा, मूर्त हो गया है.... तो उनकी यह बात मिथ्या है। आत्मा, तीनों काल अमूर्त ही है। यदि अभी आत्मा, कर्म के संग से मूर्त हो गया हो, तब तो मोक्ष भी मूर्तद्रव्य का ही होगा; अत: मोक्ष में आत्मा तो नहीं रहा। आत्मा तो अमूर्तस्वभावी अतीन्द्रियज्ञान का ही विषय है तथा भूत–भविष्य के पदार्थ और दूर क्षेत्र में स्थित पदार्थ, उस इन्द्रियज्ञान से ज्ञात नहीं होते तो उन्हें जाननेवाला कोई तो होना चाहिए ? वे सर्वज्ञ के ज्ञान से ज्ञात होते हैं। यदि सर्वज्ञ न हों तो जगत् में अतीन्द्रिय पदार्थ हैं – ऐसा कैसे ज्ञात होगा ? सर्वज्ञ के बिना उन्हें कौन जानेगा ? धर्म और अधर्म तथा उनके फलरूप मोक्ष –स्वर्ग या नरक, वे सब भी अतीन्द्रिय हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप वीतराग पर्याय, वह अतीन्द्रिय है तथा पुण्य–पाप का भाव भी अतीन्द्रिय है, उसे सर्वज्ञ के बिना कौन जानेगा ? इसलिए जगत् में सर्वज्ञ है – ऐसा निर्णय करना चाहिए। सर्वज्ञ का निर्णय करके, फिर उनके द्वारा कथित तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। ●●

गाथा ३०४-३०६

सर्वज्ञदेव द्वारा कथित धर्म का वर्णन करते हुए, गृहस्थधर्म के बारह भेदों का नाम कहते हैं —

तेणुवइट्ठो धम्मो, संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारहभेओ, दसभेओ भासिओ बिदिओ॥

सम्मदंसणसुद्धो, रहिओ मज्जाइथूलदोसेहिं।
वयधारी सामइउ, पव्ववई पासुयाहारी॥

राईभोयणविरओ, मेहुणसारंभसंगचत्तो य।
कज्जाणुमोयविरदो, उद्दिट्ठारविरदो॥

जिन कहें द्वव विधि धर्म यह सागार अरु अनगार है।
है प्रथम बारह भेदमय दस भेद दुजे के कहे॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टि अरु मद्यादि दोषों से रहित।
व्रती, सामायिक व्रती प्रासुकाहारी पर्वव्रती[1]॥

रात्रि भोज विरत कामारम्भ संग विरत[2] तथा।
कार्यानुमोदन विरत अरु उदिष्ट भोजन त्यागता॥

अन्वयार्थ : [तेणुवइट्ठो धम्मो] सर्वज्ञ के द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म, दो प्रकार का है **[संगासत्ताण तह असगाणं]** (१) सङ्गासक्त (गृहस्थ) का, और (२) असङ्ग (मुनि)

---

१. पर्वव्रती, प्रासुकाहारी - यह क्रम ग्रहण करें।

२. आरम्भ-संग = मैथुन त्यागी, आरम्भ त्यागी, परिग्रह त्यागी।

का **[पढमो बारहभेओ]** पहला गृहस्थ का धर्म तो बारह भेदरूप है; **[विदिओ दसभेओ]** दूसरा मुनि का धर्म, दस भेदरूप है।

(१) **[सम्मदंसणसुद्धो]** शुद्ध सम्यग्दृष्टि, (२) **[मज्जाइथूलदोसेहिं रहिओ]** मद्य आदि स्थूल दोषों से रहित दर्शनप्रतिमा का धारी, (३) **[वयधारी]** व्रतधारी (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतसहित), (४) **[सामइउ]** सामायिक व्रती, (५) **[पव्वई]** पर्वव्रती, (६) **[पासुयाहारी]** प्रासुकाहारी, (७) **[राईभोयणविरओ]** रात्रिभोजन त्यागी; (८) **[मेहुणसारंभगंचत्तो य]** मैथुनत्यागी, (९) आरम्भत्यागी, और (१०) परिग्रहत्यागी, (११) **[कज्जाणुमोयविरदो]** कार्यानुमोदविरत, और (१२) **[उद्दिट्ठाहारविरदो य]** उद्दिष्टाहारविरत; इस प्रकार श्रावकधर्म के बारह भेद हैं।

भावार्थ : पहला भेद तो पच्चीत मल-दोषरहित शुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि है और ग्यारह भेद व्रतसहित प्रतिमाओं के होते हैं, वह व्रती श्रावक है।

गाथा ३०४-३०६ पर प्रवचन

सर्वज्ञदेव द्वारा उपदेशित धर्म, दो प्रकार से है - एक तो संग से आसक्त गृहस्थ का और दूसरा असंग मुनि का। वहाँ प्रथम, गृहस्थ का धर्म तो बाहर भेदरूप है तथा मुनि का धर्म, दश भेदरूप है। उसमें गृहस्थधर्म के बारह भेद हैं, वह कहते हैं।

देखो! सबसे पहले तो शुद्ध सम्यग्दर्शन ही गृहस्थों का धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना तो किसी प्रकार का धर्म नहीं होता। यहाँ निश्चयश्रद्धा को ही शुद्ध सम्यग्दर्शन कहा है। देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहारश्रद्धा, वह शुभराग है; वह वस्तुतः शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं है। इसलिए यहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन कहकर, शुद्धात्मा की श्रद्धारूप निश्चयसम्यग्दर्शन की बात ली गयी है। धर्म का सबसे पहला भेद, ऐसा शुद्ध सम्यग्दर्शन है। चारित्र, वह धर्म है और सम्यग्दर्शन, उस धर्म का मूल है। यहाँ उस सम्यग्दर्शन को भी धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन, वह पहला धर्म है और फिर ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं। इस प्रकार कुल बारह भेद, गृहस्थधर्म के हैं। गृहस्थ के लिए कोई दूसरा धर्म नहीं है, उसे प्रथम सम्यग्दर्शन होना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बाद ही पञ्चम गुणस्थान की प्रतिमाएँ होती हैं।

पहली **दर्शनप्रतिमा** है। उसमें मद्य-माँस आदि स्थूल दोषों का त्याग होता है। कोई

ऐसा कुतर्क करे कि दर्शनप्रतिमावाले को मद्यादिक का त्याग कहा है तो उससे पहले चौथे गुणस्थान में वे होते हैं ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी मद्य-माँस इत्यादि के भक्षण का भाव नहीं होता। अरे! पहले गुणस्थान में रहनेवाले पात्र जीव को भी मद्य-माँस आदि का भाव नहीं होता। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि जिसे मद्य-माँसादि का त्याग नहीं है, वह जीव तो देशना का भी पात्र नहीं है परन्तु चौथे गुणस्थान तक कोई सूक्ष्म अतिचार लग जाते हैं और दर्शनप्रतिमावाले श्रावक को तो निरतिचाररूप से मद्य-माँसादि का त्याग होता है। माँसादिक का साक्षात् आहार तो सम्यग्दृष्टि को होता ही नहीं और पञ्चम गुणस्थान में तो दो कषाय चौकड़ी का नाश हो गया है।

दूसरी **व्रतप्रतिमा** है। वहाँ स्वभाव के आश्रय से शुद्धता बढ़ने पर, राग अत्यन्त मन्द हो जाता है। द्रव्य के आश्रय से शुद्धता बढ़ती है, तद्नुसार प्रतिमा होती है। पाँचवें गुणस्थान में शुद्धता के भी असंख्य प्रकार पड़ते हैं। सूक्ष्मता से अनन्त प्रकार पड़ते हैं परन्तु वह सब शुद्धता, अन्तर में द्रव्य के अवलम्बन से है। पाँचवें गुणस्थान में प्रतिमा होती हैं, उसमें दूसरी व्रतप्रतिमा है। वहाँ बारह व्रत होते हैं।

तीसरी **सामायिकप्रतिमा** है। श्रावक धर्मात्मा, अन्तरस्वरूप में एकाग्रता का अभ्यास करता है, उसमें किसी-किसी समय तो श्रावक को सामायिक के समय अन्तर में निर्विकल्पदशा हो जाती है; अन्तर में ज्ञायकस्वरूप में निर्विकल्प लीनता जम जाती है।

चौथी **प्रौषध-उपवासप्रतिमा** है। उसमें स्वभाव के आश्रय से विशेष शुद्धता प्रगट हुई है। जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती है, वैसे-वैसे स्वभाव का अनुभव बढ़ता जाता है और प्रत्याख्यानावरण का अनुभाग घटता जाता है। जैसे-जैसे चैतन्य का अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे जड़ का अनुभाग घटता जाता है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का तो अभाव ही है और जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी घटती जाती है।

सामायिक हमेशा होती है। प्रौषध-उपवास, पर्व तिथि में होते हैं और अन्त में समाधि होती है। इस प्रकार श्रावक को चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है। व्रत और प्रतिमा, वह तो अन्तर स्वभाव की शुद्धता के प्रकार हैं; उसके बदले अज्ञानी, शुद्धि को भूलकर बाह्य त्याग

में और राग में ही प्रतिमा इत्यादि मान बैठे हैं। जैसे, एक बाई चावल कूट रही थी, वहाँ चावल नीचे थे और ऊपर छिलके दिखते थे। वह देखकर दूसरी मूर्ख बाई ने विचार किया कि यह बाई छिलके कूटती लगती है। ऐसा जानकर स्वयं भी अपने घर जाकर छिलके कूटने लगी। इसी प्रकार धर्मी जीव को तो अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक भक्ति इत्यादि का भाव आता है। भगवान का जन्म होने पर इन्द्र आकर भक्ति से ताण्डव नृत्य करते हैं परन्तु उन्हें उस समय भी अन्तरस्वभाव में दृष्टि पड़ी है। वहाँ अज्ञानी, अकेली बाह्य क्रिया और राग को देखता है और स्वयं भक्ति करके उसे धर्म मानता है परन्तु उसे अन्दर का भान नहीं है। ज्ञानी को तो अन्दर की दृष्टि पड़ी है, उसके कारण धर्म होता है; कहीं राग के कारण या नृत्य आदि के कारण उसे धर्म नहीं हुआ है। चौथे गुणस्थान में ऐसी भक्ति-पूजा का भाव आता अवश्य है परन्तु धर्म तो अन्तरस्वभाव की रुचि और एकाग्रता में है। अज्ञानी, बाह्य से धर्म मान लेता है; वह वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है।

पाँचवीं प्रतिमा में प्रासुक आहार है, अर्थात् वहाँ सचित्त आहार का भाव नहीं होता। अन्तरस्वभाव में इतना वीतरागभाव प्रगट हुआ है कि वहाँ सदोष आहार का विकल्प भी नहीं आता। इसलिए सचित्त आहार का त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। प्रासुक आहारी – ऐसा कहने में आहार करने पर वजन नहीं है परन्तु सचित्त आहार का भाव उसे नहीं होता, यह बताना है। गृहस्थ के धर्म अपेक्षा से यह **सचित्तत्यागप्रतिमा,** वह छठवाँ धर्म है। पहला धर्म, शुद्ध सम्यग्दर्शन है, उसके बिना तो दूसरा कोई भी धर्म नहीं होता। आहार तो जड़ है, उसे आत्मा तीन काल में ग्रहण नहीं कर सकता अथवा छोड़ नहीं सकता। अज्ञानी कहता है कि अनादि काल से आत्मा कभी कर्म से छूटा नहीं। यहाँ कहते हैं कि निश्चय से अनादि काल से आत्मा कभी कर्म को छूता नहीं। आत्मा, कभी भी जड़ पदार्थ का स्पर्श नहीं करता तो वह आहार को ग्रहण करे अथवा छोड़े – यह बात कहाँ रही?

छठवीं प्रतिमा में **रात्रिभोजन त्याग** है। सातवीं प्रतिमा में **मैथुन त्याग** है। आठवीं प्रतिमा में **आरम्भ त्याग** है। नौवीं प्रतिमा में **परिग्रह त्याग** है। दशवीं प्रतिमा में **अनुमति त्याग** है और ग्यारहवीं प्रतिमा में **उद्दिष्ठ त्याग** है। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन की ग्यारह प्रतिमाएँ मिलकर कुल बारह भेद गृहस्थधर्म के हैं। देखो! ये सब भेद, अन्तरस्वभाव के अवलम्बन

और शुद्धतापूर्वक के हैं। स्वभाव के भान बिना, अकेला शुभराग करने को प्रतिमा नहीं कहा जाता है।

पहले कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु की मान्यता छूट जाए; सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन तो प्रथम होना चाहिए। ज्ञानमद, कुलमद इत्यादि दोष सम्यग्दृष्टि को नहीं होते हैं। आत्मा, केवलज्ञान का पिण्ड है, जिसे उसकी दृष्टि हुई, उसे अल्पज्ञान का अथवा कुल इत्यादि का गर्व आता ही नहीं। अन्तरस्वभाव में चैतन्य का निधान देखा हो, वह जीव बाह्य पदार्थों से अपना बड़प्पन नहीं मानता है। नियमसार में कहते हैं कि —

हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।
अतएव ही निज-पर समय के साथ वर्जित वाद भी॥ १५६॥

अर्थात्, नाना प्रकार के जीव हैं; नाना प्रकार का कर्म है; नाना प्रकार की लब्धि हैं; इसलिए स्वसमयों तथा परसमयों के साथ, अर्थात् स्वधर्मियों तथा परधर्मियों के साथ वचन -विवाद वर्जने योग्य है।

निधि पा... मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता।
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी, ज्ञान निधि को भोगता॥ १५७॥

जैसे, कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को पाकर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है; उसी प्रकार ज्ञानी, परजनों के समूह को छोड़कर, ज्ञाननिधि को भोगता है।

चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ही बारह धर्म होते हैं। उनमें सबसे पहला, सम्यग्दर्शन धर्म है।●●

गाथा ३०७

अब, इन बारह धर्मों के स्वरूप आदि का व्याख्यान करेंगे। पहले, अविरतसम्यग्दृष्टि को कहेंगे। उसमें भी पहले, सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता का निरूपण करते हैं —

चउगदिभव्वो सण्णी, सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो।
संसारतडे, नियडो, णाणी पावेइ सम्मत्तं॥

चार गति में भव्य, संज्ञि, विशुद्ध, जागृत ज्ञानी को।
संसार तट हो निकट अरु पर्याप्त को सम्यकत्व हो॥

अन्वयार्थ : [चउगदिभव्वो सण्णी] पहिले तो भव्यजीव होवे, क्योंकि अभव्य के सम्यक्त्व नहीं होता है। चारों ही गतियों में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है परन्तु मनसहित (सैनी) के ही उत्पन्न हो सकता है; असैनी के उत्पन्न नहीं होता है। **[सुविसुद्धो]** उसमें भी विशुद्ध परिणामी हो, शुभलेश्यासहित हो; अशुभलेश्या में भी शुभलेश्या के समान, कषायों के स्थान होते हैं, उनको उपचार से विशुद्ध कहते हैं; संक्लेशपरिणामों में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। **[जग्गमाण]** जगते हुए के होता है, सोये हुए के नहीं होता है। **[पज्जत्तो]** पर्याप्त (पूर्ण) के होता है; अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है। **[संसारतडे नियडो]** संसार का तट जिसके निकट आ गया हो; जिसका अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन काल से अधिक संसारभ्रमण शेष हो, उसको सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। **[णाणी]** ज्ञानी हो, अर्थात् साकार उपयोगवान् हो; निराकार दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है **[सम्मत्तं पावेइ]** ऐसे जीव के सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

गाथा ३०७ पर प्रवचन

इन सम्यग्दर्शन इत्यादि धर्मों का वर्णन करते हैं, उनमें पहले अविरतसम्यग्दृष्टि का

वर्णन करते हुए, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला जीव कैसा होता है ? – उसकी योग्यता का वर्णन करते हैं।

– ऐसा जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है —

* जो प्रथम तो, भव्य जीव हो क्योंकि अभव्य को सम्यक्त्व नहीं होता।

* सम्यक्त्व, चारों गति में उत्पन्न होता है, वहाँ भी मनसहित संज्ञी को ही उत्पन्न होता है; असंज्ञी को उत्पन्न नहीं होता।

* उनमें भी विशुद्ध (शुभ) परिणामी और शुभलेश्यासहित हो; अशुभलेश्या में भी शुभलेश्या समान, कषाय स्थानकों में हो, उसे भी उपचार से विशुद्ध कहा जाता है; संक्लेश–परिणामों में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता।

* सम्यक्त्व, जागृत अवस्था में उत्पन्न होता है; निद्रा अवस्था में नहीं होता।

* पूर्ण पर्याप्तिवाले को होता है; अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता।

* जिसका संसार का किनारा निकट हो, अर्थात् जो निकट भव्य हो, (उसे ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है); अर्द्ध पुद्‌गलपरावर्तन काल से अधिकवाले को सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता।

* ज्ञानी हो, अर्थात् साकार उपयोगवान हो; निराकार दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व नहीं होता।

सम्यग्दर्शन, निद्रा में उत्पन्न नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात है, सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् निद्रा इत्यादि होती है किन्तु नींद में हो और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाए – ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद तो नींद के समय भी उसका नाश नहीं हो जाता; नींद के समय भी सम्यग्दर्शन रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, प्रगट तो पर्याप्तदशा में होता है परन्तु फिर तो अपर्याप्तदशा में भी क्षायिकसम्यक्त्व रहता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के समय ज्ञानोपयोग होता है; दर्शनोपयोग नहीं होता। इस प्रकार सभी बोल समझ लेना चाहिए। ऐसी योग्यता हो तो वह जीव, सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और तत्पश्चात् ही व्रतप्रतिमा इत्यादि होते हैं। ●●

गाथा ३०८

अब, सम्यक्त्व तीन प्रकार का है, उनमें उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे है ? सो कहते हैं —

सत्तण्हं पयडीणं, उवसमदो होदि उवसमं सम्मं।
खयदो य होदि खइयं, केवलिमूले मणूसस्स॥

उपशमित हो सात प्रकृति औपशम सम्यक्त्व हो।
जो क्षय करे नर लहे क्षायिक केवली के मूल में॥

अन्वयार्थ : [सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो उवसमं सम्मं होदि] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ — इन सात मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है; **[य खयदो खइयं होदि]** और इन सातों मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है, **[केवलिमूले मणूसस्स]** यह क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानी अथवा श्रुतकेवली के निकट, कर्मभूमि के मनुष्य के ही उत्पन्न होता है।

भावार्थ : यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि क्षायिकसम्यक्त्व का प्रारम्भ तो केवली –श्रुतकेवली के निकट, मनुष्य के ही होता है और निष्ठापन अन्य गति में भी होता है।

गाथा ३०८ पर प्रवचन

धर्म, अर्थात् वस्तु का स्वरूप; उसे अनुसरण करके विचार चले, उसका नाम धर्म अनुप्रेक्षा है। सम्यग्दृष्टि को ही यथार्थ धर्म अनुप्रेक्षा होती है। सम्यग्दर्शन भी आत्मा का धर्म है, यह उसकी व्याख्या चलती है।

धर्म, अर्थात् आत्मा की वीतरागीपर्याय। सम्यग्दर्शन भी वीतरागीपर्याय है। चौथे गुणस्थान का सम्यग्दर्शन, वह भी वास्तव में वीतराग है। चौथे गुणस्थान में भी निश्चय –सम्यग्दर्शन है, उस सम्यग्दर्शन के तीन प्रकार हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक। उनमें उपशम और क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? – वह कहते हैं।

मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ – इन सात मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशम होने पर उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है तथा इन सातों प्रकृतियों का क्षय होने पर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यह क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानी अथवा श्रुतकेवली के निकटपने में, कर्मभूमि के मनुष्य को ही उत्पन्न होता है।

अन्तरस्वभाव का अवलम्बन लेने पर मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को पाँच प्रकृतियाँ ही होती हैं। सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, ये दो प्रकृति उसे नहीं होती। इसलिए प्रथम उपशमसम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव को पाँच प्रकृतियों का ही उपशम होता है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि होने पर, उपशम अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन प्रगट होता है और वहाँ दर्शनमोहनीयकर्म की प्रकृति का उपशम अथवा क्षय, स्वयं के कारण से हो जाता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यतावाले जीव को केवली अथवा श्रुतकेवली की निकटता में ही क्षायिकसम्यग्दर्शन होता है। देखो, यहाँ निमित्त कैसा होता है? – उसका ज्ञान कराया है। केवली भगवान के पास तो लाखों समकिती बैठे होते हैं, वे सब कहीं क्षायिकसमकिती नहीं होते; जिसकी योग्यता होती है, उसे ही क्षायिकसमकित होता है और उसे ही केवली–श्रुतकेवली निमित्त कहलाते हैं। दूसरे बहुत जीव, क्षयोपशमसमकिती हैं; इसलिए केवली–श्रुतकेवली के कारण क्षायिकसमकित नहीं होता, परन्तु क्षायिकसमकित प्रगट करने की योग्यतावाला जीव, केवली–श्रुतकेवली की निकटता में ही उसका प्रारम्भ करता है। कर्मभूमि के मनुष्य को ही उसका प्रारम्भ होता है फिर उसकी पूर्णता, स्वर्गादि चारों गतियों में होती है।●●

गाथा ३०९

अब, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कैसे होता है ? सो कहते हैं —

अणउदयादो छण्हं, सजाइरूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्तकम्मउदए, खयउवसमियं हवे सम्मं॥

नहिं उदय हो छह प्रकृति का अरु उदय हो सम जाति का।
समकित प्रकृति के उदय में, समकित क्षयोपशम है कहा॥

अन्वयार्थ : [अणउदयादो छण्हं] पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से छह प्रकृतियों का उदय न हो, **[सजाइरूवेण उदयमाणाणं]** सजाति (समानजातीय) प्रकृति से उदयरूप हो, **[सम्मत्तकम्मउदए]** सम्यक्कर्मप्रकृति का उदय होने पर **[खयउवसमियं सम्मं हवे]** क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होता है।

भावार्थ : मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो, सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव हो अथवा उनका विसंयोजन* करके अप्रत्याख्यानावरण आदिकरूप से उदयमान हो, तब क्षायोपशमिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। *(इन तीनों ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विशेष कथन गोम्मटसार, लब्धिसार से जानना।)*

गाथा ३०९ पर प्रवचन

अब, क्षयोपशमसम्यक्त्व किस प्रकार होता है ? – यह कहते हैं। पूर्ववत् सात प्रकृतियों में से छह प्रकृतियों का उदय न हो, किन्तु सजातीय प्रकृतिरूप से उनका उदय हो तथा सम्यक्

---

* जो तीन करण द्वारा अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को अन्य चारित्रमोहनीय की प्रकृतिरूप परिणमित करके उसकी (अनन्तानुबन्धी की) सत्ता का नाश करे, उसका नाम विसंयोजन है। *- मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-९, पृष्ठ-३३६*

कर्मप्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह, दोनों सजातीय हैं। उनमें अनन्तानुबन्धी की प्रकृतियों का उदय नहीं होता, परन्तु वे अप्रत्याख्यान इत्यादिरूप होकर उदय में आती हैं।

देखो, आत्मा में क्षयोपशमसम्यक्त्व परिणाम होता है, वहाँ सामने छह कर्मप्रकृतियों में उसके कारण से ऐसी अनुदयरूप दशा होती है। कोई आत्मा उसका कर्ता नहीं है। दोनों का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है परन्तु आत्मा के कारण कर्म की दशा हुई – ऐसा नहीं है तथा कर्म का उदय रुका; इसलिए आत्मा में सम्यक्त्व हुआ – ऐसा भी नहीं है। अन्तरङ्ग में अपनी सामग्री परिपूर्ण हुई, वहाँ सामने अनुकूल निमित्त ही होता है। यहाँ आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है और सामने कर्म में अनन्तानुबन्धी का उदय भी रहा करे – ऐसा नहीं होता। यहाँ सम्यग्दर्शन होने पर, कर्म में अनन्तानुबन्धी का उदय भी होता ही नहीं – ऐसा सुमेल है परन्तु आत्मा कहीं कर्म का कर्ता नहीं है।

चौथे, पाँचवें इत्यादि गुणस्थानों में समकित मोहनीय का उदय होने पर भी उसका नया बन्धन नहीं होता – ऐसी ही जीव के परिणाम की योग्यता है। देखो, एकेन्द्रिय जीव को एक सागर की ही उत्कृष्ट स्थिति होती है; विशेष नहीं होती परन्तु जहाँ एकेन्द्रिय में से पञ्चेन्द्रिय होता है, वहाँ पहले ही समय में अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति बाँधता है.... तो वह कहाँ से बाँधी ? सामने निमित्तरूप तो एक सागर से अधिक स्थिति है ही नहीं, तथापि अन्तः –कोड़ाकोड़ी सागर का बन्धन किस प्रकार किया ? क्योंकि जीव का स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। प्रत्येक समय की पर्याय स्वतन्त्र है। उदय के प्रमाण में ही परिणाम होते हों – ऐसा नहीं है।

बारहवें गुणस्थान में भावबन्ध है परन्तु द्रव्यबन्ध नहीं होता। पूर्व में बँधे हुए कर्म हैं परन्तु नये कर्म नहीं बँधते। अभी बारहवें गुणस्थान में भावमोक्ष नहीं हुआ है, ज्ञानादि गुण हीनरूप परिणमते हैं; इसलिए भावबन्ध है परन्तु वहाँ ज्ञानावरणीय आदि जड़कर्म का बन्ध नहीं होता। इसलिए जीव के कारण पुद्गलकर्म हुए – ऐसा नहीं है तथा पुद्गलकर्म के कारण जीव के परिणाम हुए – ऐसा भी नहीं है। जीव–पुद्गल, दोनों की समय–समय की पर्याय स्वतन्त्र है।

भावार्थ यह है कि (क्षयोपशम सम्यक्त्व में) —

* मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व के उदय का अभाव होता है।

* सम्यक्प्रकृति का उदय होता है।

* अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव होता है, तथा

* विसंयोजना करके अप्रत्याख्यानावरणादिरूप से उदयमान होता है, उस समय क्षयोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

आगे औपशमिक, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन तथा देशव्रत – इन तीनों का प्राप्त होना तथा छूट जाना, उत्कृष्टता से कहते हैं। ●●

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है। — ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी***

गाथा ३१०

अब, औपशमिक–क्षायोपशमिकसम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और देशव्रत – इनका पाना और छूट जाना, उत्कृष्टता से कहते हैं —

गिण्हदि मुञ्चदि जीवो, वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं, देसवय कुणदि उक्किट्ठं॥

असंख्य बार ग्रहे तजे, उत्कृष्टता से जिन कहा।
प्रथम दो सम्यकत्व, प्रथम कषाय अणुव्रत को अहा॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] यह जीव [**वे सम्मत्ते**] औपशमिक, क्षायोपशमिक, ये दो तो सम्यक्त्व [**पढमकसायविणासं**] अनन्तानुबन्धी का विनाश, अर्थात् विसंयोजनरूप, अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना [**देसवयं**] और देशव्रत इन चारों को [**असंखवाराओ**] असंख्यात बार [**गिण्हदि मुंचदि**] ग्रहण करता है और छोड़ता है, [**उक्किट्ठं**] यह उत्कृष्टता से कहा है।

भावार्थ : पल्य के असंख्यातवें भाग परिमाण जो असंख्यात, उतनी बार उत्कृष्टता से ग्रहण करता है और छोड़ता है, बाद में भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेष : भव्यजीव उक्त चारों को अधिक से अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग बार ग्रहण करता और छोड़ता है, अर्थात् पल्य के असंख्यातवें भाग बार उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ग्रहण करता है; पल्य के असंख्यातवें भाग बार अनन्तानुबन्धी कषाय को अप्रत्याख्यानावरण आदि रूप करता है और अधिक से अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग बार देशव्रत धारण करता है। इसके बाद मुक्त हो जाता है। *(शुभचन्द्राचार्य विरचित संस्कृत टीका से)*

गाथा ३१० का प्रवचन

किसी जीव को उपशमसम्यग्दर्शन असंख्य बार आता है और असंख्य बार छूटता है। किसी को क्षयोपशमसम्यक्त्व भी असंख्य बार आता है। किसी जीव को क्षयोपशम में से क्षायिक हो जाता है। असंख्य बार उपशमसम्यक्त्व इत्यादि आने का कहा है, वह तो उत्कृष्टता की अपेक्षा से कथन है। ●●

दुःख के कारणों से दूर हट जा

भाई! तेरे दुःख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दुःखी हुए? — यह बात सुनो! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्वभाव से ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दुःख के कारण हैं। राग, अशुभ हो या शुभ, दोनों में दुःख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दुःख है। शुभराग से स्वर्ग मिल जाए, किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण, शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग, स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है, वह दुःख है — ऐसा जानकर, हे जीव! दुःख के कारणों से तू दूर हट जा और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन

गाथा ३११-३१२

अब, सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व किस प्रकार जाना जाता है ? ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान को नौ गाथाओं में कहते हैं —

जो तच्चमणेयंतं, णियमा, सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो, ववहारपवत्तणट्ठं च॥
जो आयरेण मण्णदि, जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य, सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो॥

तत्त्व अन्-एकान्त की श्रद्धा करे भंग सप्त से।
लोक प्रश्न वशात् जो व्यवहार वर्तन के लिए॥
श्रुतज्ञान या नय से ग्रहे जीवादि नव विध तत्त्व को।
आदरसहित जो मानता, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है॥

अन्वयार्थ : [जो सत्तभंगेहिं अणेयंतं तच्चं णियमा सद्दहदि] जो पुरुष, सात भङ्गों से अनेकान्त तत्त्वों का नियम से श्रद्धान करता है, **[लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च]** क्योंकि लोगों के प्रश्न के वश से विधिनिषेध वचन के सात ही भङ्ग होते हैं; इसलिए व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए भी सात भङ्गों के वचन की प्रवृत्ति होती है। **[जो जीवाजीवादि णविहं अत्थं]** जो, जीव-अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को **[सुदणाणेण णएहि य]** श्रुतज्ञानप्रमाण से तथा उसके भेदरूप नयों से **[आयरेण मण्णदि]** अपने आदर-यत्न-उद्यम से मानता है - श्रद्धान करता है, **[सो सुद्धो साद्दिट्ठी हवे]** वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ : वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अन्त (धर्म) होते हैं, उसको अनेकान्त कहते हैं। वे धर्म, अस्तित्व; नास्तित्व, एकत्व; अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व,

भेदत्व-अभेदत्व, अपेक्षत्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अन्तरङ्गत्व-बहिरङ्गत्व इत्यादि तो सामान्य हैं और द्रव्यत्व, पर्यायत्व, जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहनत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेषधर्म हैं। सो उनके प्रश्न के वश से विधिनिषेधरूप बचन के सात भङ्ग होते हैं। उनके '**स्यात्**' पद लगाना चाहिए। स्यात् पद, कथञ्चित् (कोई प्रकार) ऐसे अर्थ में आता है। उससे वस्तु को अनेकान्तरूप सिद्ध करना चाहिए।

वस्तु '**स्यात् अस्तित्वरूप**' है - ऐसे किसी तरह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्वरूप है।

वही वस्तु '**स्यात् नास्तित्वरूप**' है - ऐसे परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तित्वरूप है।

वही वस्तु '**स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप**' है, इस तरह वस्तु में दोनों ही धर्म पाये जाते हैं और वचन से क्रमपूर्वक कहे जाते हैं।

वस्तु '**स्यात् अवक्तव्य**' है, इस तरह वस्तु में दोनों ही धर्म, एक काल में पाये जाते हैं, तथापि एक काल में वचन से नहीं कहे जाते हैं; इसलिए किसी प्रकार अवक्तव्य है।

अस्तित्व से कहा जाता है, दोनों एक काल हैं; इसलिए एक साथ कहा नहीं जाता है, इस तरह वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है; इसलिए '**स्यात् अस्तित्व अवक्तव्य**' है।

ऐसे ही **नास्तित्व अवक्तव्य** है।

दोनों धर्म, क्रम से कहे जाते हैं; एक साथ नहीं कहे जाते हैं, इसलिए '**स्यात् अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य**' है। ऐसे सात ही भङ्ग किसी तरह सम्भव होते हैं। ऐसे ही एकत्व, अनेकत्व आदि सामान्य धर्मों पर सात भङ्ग विधिनिषेध से लगा लेना चाहिए। जैसी-जैसी जहाँ अपेक्षा सम्भव हो, सो लगा लेना चाहिए। ऐसे ही विशेषत्वधर्म, जीवत्व आदि में लगा लेना चाहिए। जैसे, जीव नामक वस्तु हैं, उसमें स्यात् जीवत्व, स्यात् अजीवत्व इत्यादि लगा लेना चाहिए। यहाँ अपेक्षा ऐसे - जो अपना जीवत्वधर्म आपमें है, इसलिए जीवत्व है; पर

अजीव का अजीवत्वधर्म इसमें नहीं है तथा अपने अन्य धर्म को मुख्य कर कहता है, उसकी अपेक्षा अजीवत्व है इत्यादि लगा लेना चाहिए। जीव, अनन्त हैं, उसकी अपेक्षा अपना जीवत्व आप में है, पर का जीवत्व इसमें नहीं है; इसलिए उसकी अपेक्षा अजीवत्व है – ऐसे भी सिद्ध होता है। इत्यादि अनादि-निधन अनन्त जीव-अजीव वस्तुएँ हैं, उनमें अपने-अपने द्रव्यत्व -पर्यायत्व अनन्त धर्म हैं, उन सहित सात भङ्ग से सिद्ध कर लेना चाहिए तथा उनकी स्थूल पर्यायें हैं, वे भी चिरकालस्थायी अनेक धर्मरूप होती हैं। जैसे जीव, संसारी-सिद्ध; संसारी में त्रस-स्थावर, उनमें मनुष्य-तिर्यञ्च इत्यादि। पुद्गल में अणु-स्कन्ध तथा घट-पट आदि। सो इनके भी कथञ्चित् वस्तुत्व सम्भव है, वह भी वैसे ही सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। ऐसे ही जीव-पुद्गल के संयोग से हुए आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप -मोक्ष आदि भाव, उनमें भी बहु धर्मत्व की अपेक्षा तथा परस्पर विधिनिषेध से अनेक धर्मरूप कथञ्चित् वस्तुत्व सम्भव है, सो सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए।

जैसे, एक पुरुष में पिता, पुत्र, मामा, भानजा, काका, भतीजापना आदि धर्म सम्भवते हैं, उनको अपनी-अपनी अपेक्षा से विधिनिषेध द्वारा सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। ऐसा नियम से जानना कि वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है, सो सबको अनेकान्त जानकर श्रद्धान करता है और वैसे ही लोक में व्यवहार प्रवर्ताता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष — ये नौ पदार्थ हैं, उनको वैसे सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। उनका साधन, श्रुतज्ञानप्रमाण है और उसके भेद, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक हैं। उनके भी भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय हैं। उनके भी उत्तरोत्तर भेद जितने वचन के प्रकार हैं, उतने हैं। उनको प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गी के विधान से सिद्ध करते हैं। उनका वर्णन पहिले लोकभावना में कर चुके हैं। उनका विशेष वर्णन तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए। ऐसे प्रमाण और नयों से जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धान करना है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिए कि जो नय हैं, वे वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करनेवाले हैं, वे अपने-अपने विषयरूप धर्म को ग्रहण करने में समान हैं तो भी पुरुष अपने प्रयोजन के वश से उनको मुख्य-गौण कर कहते हैं। जैसे, जीव नामक वस्तु है, उसमें अनेक

धर्म हैं, तो भी चेतनत्व आदि प्राणधारणत्व अजीवों से असाधारण देख, उन अजीवों से भिन्न दिखाने के प्रयोजन के वश से मुख्यकर वस्तु का जीव नाम रखा, ऐसे ही मुख्य-गौण करने का सब धर्मों के प्रयोजन के वश से जानना चाहिए।

यहाँ इस ही आशय से अध्यात्म प्रकरण में मुख्य को तो निश्चय कहा है और गौण को व्यवहार कहा है। उसमें अभेदधर्म तो प्रधानता से निश्चय का विषय कहा है और भेदनय को गौणता से व्यवहार कहा है, सो द्रव्य तो अभेद है; इसलिए निश्चय का आश्रय द्रव्य है और पर्याय भेदरूप है, इसलिए व्यवहार का आश्रय पर्याय है। यहाँ प्रयोजन यह है कि भेदरूप वस्तु को सब लोक (संसार) जानता है, इसलिए जो जानता है, वह ही प्रसिद्ध है; इसी कारण लोक पर्यायबुद्धि है। जीव के नर-नारक आदि पर्यायें हैं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्यायें हैं तथा ज्ञान के भेदरूप मतिज्ञानादिक पर्यायें हैं। इन पर्यायों ही को लोक, जीव जानता है; इसलिए इन पर्यायों में अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भाव जो चेतनाधर्म, उसको ग्रहण कर, निश्चयनय का विषय कहकर जीवद्रव्य का ज्ञान कराया है; पर्यायाश्रित जो भेदनय उसको गौण किया है तथा अभेददृष्टि में यह दिखाई नहीं देता; इसलिए अभेदनय का दृढ़ श्रद्धान कराने के लिए कहा है कि जो पर्यायनय है, वह व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। सो भेदबुद्धि का एकान्त निराकरण करने के लिए यह कथन जानना। ऐसा नहीं कि यह भेद है, सो असत्यार्थ कहा है, यह वस्तु का स्वरूप नहीं है। जो ऐसा सर्वथा मानता है, वह अनेकान्त में समझा नहीं; सर्वथा एकान्त श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि होता है। जहाँ अध्यात्मशास्त्रों में निश्चय -व्यवहारनय कहे हैं, वहाँ भी उन दोनों के परस्पर विधिनिषेध से सात भङ्गों से वस्तु सिद्ध कर लेना चाहिए। एक को सर्वथा सत्यार्थ माने और एक को सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्याश्रद्धान होता है; इसलिए वहाँ भी कथञ्चित् जानना चहिए।

अन्य वस्तु का, अन्य वस्तु में आरोपण करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वहाँ उपचारनय कहलाता है, यह भी व्यवहार में ही गर्भित है - ऐसे कहा है। जहाँ जो प्रयोजन निमित्त होता है, वहाँ उपचार प्रवर्तता है। जैसे, घृत का घट - यहाँ मिट्टी के घड़े के आश्रित घृत भरा हुआ होता है, सो व्यवहारी लोगों को आधार-आधेयभाव दिखाई देता है, उसको प्रधान करके कहते हैं। घृत का घट (घड़ा) कहने पर ही लोग समझते हैं और घृत का

घड़ा मँगाने पर उसको ले आते हैं; इसलिए उपचार में भी प्रयोजन सम्भवता है। इसी तरह अभेदनय को मुख्य करने पर अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता, तब उसमें ही भेद कहता है सो असत्यार्थ है, वहाँ भी उपचार सिद्ध होता है। इस मुख्य-गौण के भेद को सम्यग्दृष्टि जानता है।

मिथ्यादृष्टि, अनेकान्त वस्तु को नहीं जानता है और सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है, तब उस ही को सर्वथा वस्तु मानकर, अन्य धर्म को या तो सर्वथा गौण कर असत्यार्थ मानता है, या सर्वथा अन्य धर्म का अभाव ही मानता है। उससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है, सो यह मिथ्यात्व नामक कर्म की प्रकृति के उदय में यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है; इसलिए उस प्रकृति का कार्य भी मिथ्यात्व ही कहलाता है। उस प्रकृति का अभाव होने पर तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होता है, सो यह अनेकान्त वस्तु में प्रमाण-नय से सात भङ्गों के द्वारा सिद्ध किया हुआ सम्यक्त्व का कार्य है; इसलिए इसको भी सम्यक्त्व ही कहते हैं — ऐसा जानना चाहिए। जैनमत में कथन अनेक प्रकार का है, सो अनेकान्तरूप समझना और इसका फल, अज्ञान का नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति है। इस कथन का मर्म (रहस्य) जानना बड़े भाग्य से होता है। इस पञ्चम काल में इस समय इस कथनी के गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है; इसलिए शास्त्र समझने का निरन्तर उद्यम रखकर समझना योग्य है क्योंकि इसके आश्रय से मुख्यतया सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यद्यपि जिनेन्द्र की प्रतिमा के दर्शन तथा प्रभावना अङ्ग का देखना इत्यादि सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण हैं, तथापि शास्त्र का श्रवण करना, पढ़ना, भावना करना, धारणा हेतु-युक्ति से स्वमत-परमत का भेद जानकर नयविवक्षा को समझना, वस्तु का अनेकान्तस्वरूप निश्चय करना, मुख्य कारण हैं; इसलिए भव्यजीवों को इसका उपाय निरन्तर रखना योग्य है।

गाथा ३११-३१२ पर प्रवचन

देखो, यह गाथा बहुत अलौकिक है। इसमें अध्यात्म का रहस्य भर दिया है।

तत्त्व अनेकान्तस्वरूप है, अर्थात् जीव, जीवरूप है; जीव, अजीवरूप नहीं है - ऐसी अस्ति-नास्ति आदि सप्तभङ्गी द्वारा अनेकान्ततत्त्व की नियम से श्रद्धा करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है और उसमें भूल होवे तो वह मिथ्यादृष्टि है तथा धर्मी की वाणी में भी अनेकान्तस्वरूप

तत्त्व ही आता है। आत्मा, आत्मारूप से है और आत्मा, कर्मरूप से नहीं है। राग, रागरूप से है और कर्मरूप से नहीं है। इस प्रकार समस्त तत्त्वों को जैसा है, वैसा प्रतीति में ले तथा लोक व्यवहार में भी इसी प्रकार कहे।

प्रश्नवश जीवादि तत्त्वों में सप्तभङ्गी द्वारा कथन करता है, वह स्याद्वाद है। अनेकान्तस्वरूप का प्रतिपादन करे, वहाँ प्रत्येक जीव, अनन्त गुणरूप, ध्रुव, पर्याय से अभेद, त्रिकाल अन्तःतत्त्व है। उसमें पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षरूप क्षणिकपर्याय का अभाव है और पुण्य-पाप, आस्रव इत्यादि पर्याय उस काल में उसरूप हैं परन्तु उतना ही जीव नहीं है। इस प्रकार जीवादिक को श्रुतज्ञानप्रमाण से तथा उसके भेद जो निश्चय, व्यवहारनय हैं, उनके द्वारा अपने आदर-यत्न से जानता-मानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

जीव-अजीव, पुण्यादि नव पदार्थों को पृथक्-पृथक् जाने, एक तत्त्व को दूसरे में नहीं मिलावे, पृथक्-पृथक् लक्षण से अनेकान्त से जाने तो यथार्थ जाना कहलाता है।

भावआश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष - ये जीव की एक समय की पर्याय हैं तथा द्रव्यआश्रव, बन्ध इत्यादि निमित्तरूप पुद्गल की एक समय की पर्याय हैं।

वस्तु का स्वरूप, अनेकान्त है। एक द्रव्य है, वह एक गुणरूप नहीं है; एक गुण, वह दूसरे गुणरूप नहीं है। स्व-रूप से है, अन्यरूप से नहीं है। एक पर्याय है, वह पूर्व की और बाद की अन्य पर्यायरूप नहीं है। है, वह दूसरे से नहीं है। इस प्रकार जिसमें अनेक अन्त, अर्थात् धर्म होते हैं, उसे अनेकान्त कहते हैं, वह धर्म है। अस्तित्व-नास्तित्व, एकत्व -अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेदत्व-अभेदत्व इत्यादिरूप से है। जो धर्म जिस अपेक्षा से है, वही धर्म दूसरी अपेक्षा से नहीं है। द्रव्य, सामान्यरूप से नित्य, अभेद, शुद्ध है। वह पर्याय से भी ऐसा ही है - ऐसा नहीं है। प्रत्येक धर्म, स्व से है, पर से नहीं।

प्रश्न - आस्रव है, वह जीव से भिन्न है या अभिन्न है ?

उत्तर - पर्याय अपेक्षा से जीव से अभिन्न है, द्रव्य अपेक्षा से भिन्न है। जीव, स्वाधीन है या पराधीन? इसका उत्तर समझे बिना लोग कहते हैं कि जीव कथञ्चित् स्वाधीन, कथञ्चित् पराधीन है तो ऐसा उसका अर्थ नहीं है परन्तु पर्याय-अपेक्षा से जीव, स्वयं

पराश्रयरूप-पराधीनरूप परिणमता है। स्वयं द्रव्यस्वभाव का आश्रय चूककर पराश्रय करे तो पर्याय में पराधीन कहलाता है, कोई पराधीन करता नहीं है। परसन्मुख दृष्टि करे तो पराधीन और स्वद्रव्यसन्मुख दृष्टि करे तो स्वाधीन - ऐसा प्रमाणज्ञान करना चाहिए।

वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, उसे समझे तो 'कर्म परिभ्रमण कराते हैं' - ऐसी मान्यता नहीं रहती। कर्म ने परिभ्रमण नहीं कराया है परन्तु जीव अपनी भूल से परिभ्रमण करता है। तथापि पर्यायबुद्धिवाला जीव यह मानता है कि मुझे पर (कर्म) परिभ्रमण कराता है। जिसे द्रव्यदृष्टि है, उसे द्रव्यदृष्टि में शुद्धता की धारा प्रवाहित रहती है और जिसे पर्यायदृष्टि है, उस जीव की दृष्टि निमित्त पर चली जाती है। अनेकान्तस्वरूप को जाने तो पर्यायबुद्धि छूटकर, स्वभाव की ओर दृष्टि गये बिना नहीं रहती है।

यहाँ सम्यग्दर्शन किस प्रकार जाना जा सकता है ? - ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान को कहते हैं। जीव-अजीवादि नव प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञानप्रमाण से और उनके भेद जो नय हैं, उनके द्वारा अपने आदर-यत्न-उद्यम से मानें-श्रद्धान करे, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

देखो, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष - इन नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करना, सम्यग्दर्शन है। जीव-अजीवादि नव पदार्थ स्वतन्त्र हैं। पृथक्-पृथक् हैं। जीव, जीवरूप से है; अजीवरूप से नहीं। अजीव, अजीवरूप से है; (जीवरूप से नहीं) संवर, संवररूप से है; आस्रवादिरूप से नहीं। निर्जरा, निर्जरारूप से है; अन्य आठ रूप से नहीं - ऐसा जानना, ज्ञान का कारण है। उस ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है परन्तु यहाँ कार्य को कारण का आरोप देकर ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है।

जीव, जीवरूप से है; दूसरे अजीवादि आठ तत्त्वोंरूप नहीं है। कर्म की पर्याय और उसके द्रव्य-गुण, पुद्‌गल हैं - अजीव है; वे जीव में नहीं हैं। पुण्य-पापादि आस्रवतत्त्व हैं; संवरतत्त्व नहीं है - ऐसा अनेकान्त है और वाणी में भी ऐसा अनेकान्तमय व्यवहार होता है और सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही प्रतीति में आता है। एक-एक तत्त्व में सप्तभङ्गी उतरती है। पर्याय, पर्याय में स्वतन्त्रता की सिद्धि करते हैं। इन नव पदार्थों का सप्तभङ्गी द्वारा प्रमाणज्ञान होता है। वह सम्यक्त्व का कार्य है। यहाँ कार्य में कारण का आरोप देकर उसे शुद्ध सम्यक्त्व कहा है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन को अविनाभावसम्बन्ध है। यह विषय बहुत उत्कृष्ट और अद्‌भुत

है परन्तु जीव समझने की दरकार नहीं करते। इसके भावार्थ में श्री पण्डित जयचन्दजी ने तो बहुत सरस बात की है। अनेकान्त का स्वरूप यथार्थरूप से जानना चाहिए और जैसा है, वैसा यथार्थरूप से स्वतन्त्रता का निर्णय करना चाहिए।

वस्तु का स्वरूप, अनेकान्त है। नव पदार्थ हैं, वे वस्तु हैं। पर्याय भी कथञ्चित् वस्तु है; इसलिए नव पदार्थ अनेकान्तस्वरूप हैं। उस वस्तु के सामान्यधर्म कहते हैं :—

अस्तित्व-नास्तित्व : आत्मा, स्व-रूप से है; पर-रूप से नहीं। अजीव, अजीवरूप से है और जीवरूप से नहीं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ - संवरादि अपने रूप से हैं और आस्रवादि रूप से नहीं।

एकत्व-अनेकत्व : आत्मा, द्रव्य से एक है और गुण-पर्याय से अनेक भी है। इसी प्रकार अजीव में भी एक-अनेकपना है।

नित्यत्व-अनित्यत्व : आत्मा, द्रव्य अपेक्षा से नित्य है और पर्याय अपेक्षा से अनित्य भी है।

भेदत्व-अभेदत्व : प्रत्येक आत्मा और पुद्गल में द्रव्य अपेक्षा से अभेदत्व है और पर्याय अपेक्षा से भेदत्व है।

अपेक्षत्व-अनअपेक्षत्व : आत्मा और प्रत्येक पदार्थ, निरपेक्षस्वरूप है - ऐसा निर्णय करने के पश्चात् उसे अपेक्षा लागू पड़ती है। जीव, अजीवादि नव पदार्थ निरपेक्ष हैं। जैसे कि मनुष्य है, ऐसा निरपेक्ष निर्णय करने के बाद, यह बनिया है या ब्राह्मण है - ऐसा सापेक्षपना लागू पड़ता है।

'आत्मा में कथञ्चित् उपादान से कार्य होता है, वह निरपेक्षपना है और कथञ्चित् निमित्त से कार्य होता है - ऐसा मानना, वह सापेक्षपना है।' - ऐसा कोई कहे तो यह बात मिथ्या है। यह अनेकान्त नहीं है। कार्य तो उपादान से ही होता है परन्तु उस समय जो निमित्त हो, उससे भी होता है - ऐसा कहना, वह सापेक्षपना है किन्तु निमित्त से उपादान में कार्य नहीं होता। सम्यग्दर्शन है, वह निरपेक्ष है; वह द्रव्य के आश्रय से होता है - ऐसा कहना सापेक्षपना है। इस प्रकार संवर-निर्जरा है, वे निरपेक्ष हैं। वे द्रव्य के आश्रय से होते हैं - ऐसा कहना

सापेक्ष है परन्तु उपवासादि पर के कारण होते हैं, यह सापेक्षपना नहीं है। इस प्रकार नव पदार्थों में समझ लेना चाहिए।

दैवसाध्यत्व-पौरुषसाध्यत्व : यह सामान्यधर्म है। इसे समझे बिना लोग बहुत गड़बड़ करते हैं। आत्मा में कर्म के कारण से (विकार) होता है और पर में आत्मा के पुरुषार्थ से कार्य होता है – ऐसा मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। पैसा आदि जो संयोग प्राप्त होते हैं, वे तो वस्तु की अपनी योग्यता से आते हैं। उसमें पूर्व का कर्म और आत्मा का विकल्प निमित्तमात्र है। विकल्प के कारण अथवा कर्म के कारण वह वस्तु नहीं आती। दैव और पुरुषार्थ के स्वरूप को नहीं समझनेवाले लोग कहते हैं कि धर्म से धन मिलता है और धन से धर्म होता है। इस प्रकार दैव और पुरुषार्थ को लगाते हैं परन्तु यह बात मिथ्या है। कोई लड्डू का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि पुरुषार्थ से लड्डू प्राप्त किये वे दैववादी को भी मिले, यह बात भी मिथ्या है। क्योंकि पुरुषार्थ से लड्डू नहीं मिलते। आत्मा की इच्छा के कारण पैसा नहीं मिलता और कर्म के कारण भी पैसा नहीं आता। पैसा, पैसे की योग्यता से आता है, उसमें कर्म और विकल्प निमित्त है। वर्तमान इच्छा, वह पुरुषार्थसाध्यत्व और कर्म का निमित्त, वह दैवसाध्यत्व है। आत्मा में मोक्षदशा होती है, वह पुरुषार्थ से ही होती है। उसमें कर्म का अभाव निमित्त है और संहनन आदि भी निमित्त है; इस प्रकार दोनों स्वतन्त्र हैं। पर का जो संयोग आना है, वह आना है और जो जाना है, वह जाना है, उसमें फेरफार नहीं हो सकता है। भोजन मिलना है, वह मिलना है, वह मिलेगा। 'दाने-दाने पर खानेवाले का नाम लिखा है' – ऐसा (लोक में) कहते हैं – इसका अर्थ यह है कि जो-जो अनाज मिलना है, उसका मिलना निश्चित है; उसमें पुरुषार्थ अथवा कर्म कुछ नहीं करता; इच्छा और कर्म निमित्तमात्र है।

निमित्त दृष्टिवाला जीव कहता है कि आत्मा खाता है, तब उसे सन्तोष होता है। वस्तुतः आत्मा खा ही नहीं सकता, यह बात उसे नहीं जँचती। वह कहता है कि कर्म, प्रेरकनिमित्त है, उसका उदय आता है, तब आत्मा को विकार करना ही पड़ता है – ऐसा वह मानता है। उन जीवों को समझाने में कोई तीर्थङ्कर अथवा केवली भी निमित्तरूप से समर्थ नहीं हैं, वैसी उनकी स्वतन्त्र पर्याय है।

अहो! पानी की बूँद या अनाज का दाना जब मुँह में आना हो, तब आता है और गले

उतरना हो, तब उतरता है, पेट में रहना हो तो रहता है। उसमें आत्मा की इच्छा कुछ नहीं कर सकती। घर में सब्जी आती है, वह आत्मा की इच्छा से या पैसे के कारण आती है – ऐसा नहीं है परन्तु अज्ञानी को यह बात अन्दर में नहीं बैठती। प्रत्येक पदार्थ का परिणाम उसके स्वयं के कारण है। मैंने वस्त्र का त्याग किया और त्यागी हुआ – ऐसा माननेवाला अपने स्वधर्मत्यागरूपी मोह को करता है क्योंकि वस्त्र, आत्मा की इच्छा के कारण नहीं छूटा है परन्तु स्वयं के कारण छूटा है। इस प्रकार जो नहीं मानता, उसे पुरुषार्थसाध्य और दैवसाध्य का पता नहीं है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

हेतुसाध्यत्व-आगमसाध्यत्व : हेतु और तर्क द्वारा वस्तु की सिद्धि की जाती है, उसे हेतुसाध्यत्व कहते हैं। आगम में तो सर्वज्ञकथित परम्परा होती है। जैसे कि छह महीने, आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्त होते हैं तो इसमें तर्क-दलील काम नहीं आती, वह आगम से सिद्ध होता है। कोई कहता है कि आत्मा में ही ज्ञानस्वभाव है और दूसरे में क्यों नहीं है ? तो उसमें तर्क का काम नहीं है। एक-एक पर्याय में अनन्त सप्तभङ्गी उतरती हैं। असंख्य द्वीप समुद्र हैं, असंख्य श्रावक-श्राविका हैं, असंख्य चन्द्र-सूर्य है – यह सब आगम से सिद्ध होता है, इसमें हेतु लागू नहीं पड़ता। जो इन्हें आगमानुसार नहीं मानता, वह देव-शास्त्र-गुरु को भी नहीं मानता।

अन्तरङ्गत्व-बहिरङ्गत्व : प्रत्येक पदार्थ में अपनी अपेक्षा से अन्तरङ्गत्व है और पर पदार्थ की अपेक्षा से बहिरङ्गत्व है।

द्रव्यत्व-पर्यायत्व : यह धर्म भी सामान्य है।

इस प्रकार सामान्यधर्मों की व्याख्या हुई। अब, विशेषधर्मों की बात करते हैं।

जीवत्व : यह धर्म, जीव में ही होता है; अजीव में नहीं होता।

अजीवत्व : अजीव में ही होता है, इसलिए ये विशेषधर्म हैं। **स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व** – ये गुण, पुद्गलद्रव्य में ही होते हैं। **शुद्धत्व-अशुद्धत्व** अमुक जीव-पुद्गलों में ही होते हैं; समस्त जीव-पुद्गलों में नहीं होते हैं। **मूर्तत्त्व,** पुद्गलद्रव्य का ही विशेषधर्म है। **अमूर्तत्व,** पुद्गल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों का विशेषधर्म है। कहीं आत्मा

को मूर्तत्व कहा हो, वह तो मूर्त के संयोग से उपचार से कहा है; वास्तव में जीव, मूर्त नहीं होता है। यदि मूर्त हो तो जीव का नाश हो जाएगा। **संसारित्व-सिद्धत्व,** ये दोनों प्रकार जीव के हैं, दोनों प्रकारों में जीव तो अमूर्तिक ही है। संसारपर्याय, चौदहवें गुणस्थान तक होती है क्योंकि वहाँ तक असिद्धत्व है। संसारित्व, जीव का स्वतत्त्व है परन्तु वह सब जीवों में नहीं है; इसलिए विशेषगुण है।

अवगाहनत्व, आकाशद्रव्य का विशेषगुण है। **गतिहेतुत्व,** धर्मास्तिकाय का; **स्थितिहेतुत्व,** अधर्मास्तिकाय का (और) **वर्तनाहेतुत्व,** काल का विशेष धर्म है।

अब, प्रश्नकार के प्रश्नवशात् विधि-निषेधरूप वचन के सात भङ्ग होते हैं। सामान्य-धर्म के सात भङ्ग और विशेषधर्म के भी सात भङ्ग होते हैं। उसे स्यात्पद लगाना। स्यात्, अर्थात् कथञ्चित्; किसी अपेक्षा से – इस अर्थ में है; इसके द्वारा वस्तु को अनेकान्तरूप साधना।

यह धर्मभावना की व्याख्या चल रही है। वस्तु अनेकान्तमय है, उसे सप्तभङ्ग द्वारा जानकर यथार्थ श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है। जीवादि नव पदार्थ भी वस्तु है, उसमें भी सप्तभङ्गी उतरती है।

१. वस्तु स्यात अस्तिरूप है। जीव और पुद्गल प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, यह स्यात् अस्तिरूप धर्म है। इस प्रकार किसी प्रकार से अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वस्तु को अस्तित्वरूप कहता है।

२. वस्तु स्यात नास्तिरूप है। प्रत्येक जीव और पुद्गल, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं हैं। यह स्यात नास्तिरूप धर्म है। इस प्रकार परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वरूप कहता है।

३. वस्तु स्यात् अस्तिनास्तिरूप है। प्रत्येक पदार्थ अस्तिरूप है, उसे सर्वथा अस्तिरूप माना जाए तो वे पदार्थ पृथक्-पृथक् नहीं रहकर, एकरूप हो जाते हैं परन्तु अपने से अस्तिरूप हैं और पर से नास्तिरूप हैं। एक पुद्गल के स्कन्ध में अनेक पुद्गल परमाणु पृथक्-पृथक् अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप हैं और दूसरे परमाणु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप हैं। इस प्रकार जीव-अजीवादि नव पदार्थ हैं, उनमें स्यात् अस्ति, नास्तिरूप भङ्ग

पड़ता है। उससे वस्तु स्वतन्त्र सिद्ध होती है। इस प्रकार वस्तु में दोनों धर्म होते हैं और दोनों क्रम से कहे जा सकते हैं।

४. वस्तु स्यात् अवक्तव्य है। वस्तु में अस्ति-नास्तिरूप दोनों धर्म, एक साथ होने पर भी, एक साथ कहे नहीं जा सकते; इसलिए किसी अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

५. वस्तु स्यात् अस्ति अवक्तव्य है। आत्मा स्व-रूप से है - ऐसा कहा जा सकता है परन्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते।

६. वस्तु स्यात् नास्ति अवक्तव्य है। आत्मा और प्रत्येक द्रव्य, पर से नास्तिरूप है परन्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते।

७. वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। पदार्थ के दोनों धर्म, क्रमपूर्वक कहे जा सकते हैं परन्तु एक साथ नहीं कहे जा सकते। इस अपेक्षा से आत्मा कथञ्चित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। यह सात भङ्ग स्वतन्त्र हैं, इनसे वस्तु का स्वरूप यथार्थ जाना जा सकता है।

इस प्रकार अस्ति-नास्ति के सात भङ्ग हुए। तद्नुसार दूसरे एकत्व-अनेकत्व इत्यादि सामान्यधर्मों पर सप्त भङ्ग विधि-निषेधपूर्वक लगाना। जैसे कि - (१) जीव स्यात् एकत्वरूप है। (२) स्यात् अनेकरूप है। (३) स्यात् एक-अनेक रूप है। (४) स्यात् अवक्तव्य है क्योंकि दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। (५) स्यात् एकत्व अवक्तव्य है। (६) स्यात् अनेकत्व अवक्तव्य है। (७) स्यात् एक-अनेक अवक्तव्य है। इस प्रकार समस्त धर्मों में सप्त भङ्ग उतरते हैं।

इसी प्रकार जीवत्व आदि विशेषधर्मों में भी सप्त भङ्ग लगाना चाहिए। जैसे, जीव नामक वस्तु पर स्यात् जीवत्व, स्यात् अजीवत्व इत्यादि प्रकार से लगाना। वहाँ अपेक्षा इस प्रकार है कि अपना जीवत्वधर्म अपने में है; इसलिए जीवत्व है परन्तु अजीव का अजीवत्वधर्म उसमें नहीं है; इसलिए जीव नाम की वस्तु में अजीवत्व है और जीवत्वधर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों को मुख्य करें तो उनकी अपेक्षा से भी अजीवत्व है। इस प्रकार जीव नामक पदार्थ में जीवत्व और अजीवत्व लागू पड़ता है, यह अनेकान्त है। इसी प्रकार स्यात् जीवत्व-अजीवत्व है; स्यात् अवक्तव्य है; स्यात् जीवत्व अवक्तव्य है; स्यात् अजीवत्व अवक्तव्य है; स्यात् जीवत्व-अजीवत्व अवक्तव्य है।

जीव अनन्त हैं, उनकी अपेक्षा से अपना जीवत्व अपने में है और पर का जीवत्व उसमें नहीं है; इसलिए इस अपेक्षा से अजीवत्व है – ऐसा भी साध सकते हैं। इस आत्मा की अपेक्षा से समस्त दुनिया अनात्मा है। इस जीव की अपेक्षा से सिद्ध और केवली का जीव, वह अजीव है – ऐसी अनेकान्त वस्तु की स्थिति है। कोई यह कहता है कि जगत् के समस्त एकान्त धर्मों को मिलाकर भगवान ने अनेकान्त किया है.... परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वभाव ही अनेकान्तस्वरूप है, भगवान ने कुछ नया नहीं किया है। महावीर भगवान ने हिंसक यज्ञ बन्द कराये और अनन्त जीवों का उद्धार किया – ऐसा कोई कहे तो यह बात मिथ्या है। भगवान ने पर में कुछ नहीं किया है। वे तो अपने में पुरुषार्थपूर्वक वीतरागदशा प्रगट करके मुक्तदशा को प्राप्त हुए हैं। इस जीव की अपेक्षा से, तीर्थङ्कर का जीव, वह अजीव है – ऐसा नहीं जाननेवाले को अनेकान्तस्वरूप का पता नहीं है।

शास्त्र में महासत्ता का वर्णन आता है, वह महासत्ता 'है' पना बताती है; 'नहीं' ऐसा नहीं बताती और उसे जानने का हेतु वीतरागता है क्योंकि 'है' उसमें फेरफार करना नहीं रहता; 'है' – उसमें यह ऐसा ? ऐसा प्रश्न नहीं रहता, उसमें विकल्प का अवकाश ही नहीं है; इसलिए वीतरागदृष्टि होती है। राग है, वीतरागता है, बन्ध है, मोक्ष है, अस्तिरूप धर्म है, नास्तिरूप धर्म भी है – ऐसा 'है' – पने में अकेला ज्ञान ही रहता है; ज्ञान के अतिरिक्त विकल्प या निमित्त को उसमें अवकाश ही नहीं है। शास्त्र की वाणी मर्मवाली है, ज्ञान उस मर्म को यथार्थ जान लेता है, अज्ञानी को आशय ख्याल में नहीं आता। पञ्चास्तिकाय में अर्थसमय, ज्ञानसमय, और शब्दसमय की बात आती है। पदार्थ का जो स्वभाव है, उसे ज्ञान जानता है, और शब्द भी ऐसा ही होता है। मिश्री पदार्थ है, ज्ञान भी मिश्री का होता है और मिश्री, ऐसा शब्द भी है। ज्ञान कहीं उल्टा-सीधा जाने तो वह मिथ्यात्व है। ज्ञान जैसा है, वैसा जानता है; इसलिए वह सम्यक् है और उसमें ही वीतरागता है।

इस प्रकार अनादि-निधन अनन्त जीव-अजीव वस्तुएँ हैं, उन सर्व में अपने-अपने द्रव्यत्व-पर्यायत्व आदि अनन्त धर्म हैं। उन सर्व सहित सप्त भङ्ग साधना। जीव और पुद्गल अनन्तानन्त हैं, वे सब अपने-अपने द्रव्यत्व, पर्यायत्व धर्म से हैं और पर के द्रव्यत्व, पर्यायत्व धर्म से नहीं; इसलिए अद्रव्यत्व, अपर्यायत्वस्वरूप है। ऐसी वस्तु अपने स्ववीर्य से है और पर

के वीर्य से नहीं, ऐसे सभी विशेषधर्मों में सप्तभङ्गी उतरती है। वह सब भङ्ग स्वतन्त्र हैं, पर की अपेक्षा नहीं रखते; इसलिए वे भङ्ग, पर के कारण नहीं हैं। एक भङ्ग, दूसरे भङ्ग की अपेक्षा नहीं रखता – ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह स्वतन्त्रता को निश्चित करता है। तथा —

(१) जीव, और (२) पुद्गलद्रव्य की स्थूल पर्याय हैं, वे भी चिर काल स्थायी अनेक धर्मरूप होती है, जैसे कि जीव-संसारी, सिद्ध। संसारदशा अनादि सान्त है और सिद्धदशा सादि-अनन्त है, इस प्रकार चिर काल स्थायी हैं। संसारी में त्रस और स्थावर, ऐसे दो भेद हैं। उनमें मनुष्य, तिर्यञ्चादिक के भेद हैं, वह जीव की पर्यायें हैं। मनुष्यादि की पर्याय एक-एक समय की होने पर भी स्थूलरूप से बहुत काल ऐसी की ऐसी रहती है; इसलिए वे चिर काल स्थायी कहलाती हैं। इस कारण उसमें भी कथञ्चित्पना सम्भावित है। इसलिए उसके भी सात भङ्ग पड़ते हैं और पुद्गल में भी अणु-स्कन्ध घटपट आदि की पर्यायें हैं, उनमें भी कथञ्चित् वस्तुपना सम्भावित है; इसलिए उसमें भी सप्तभङ्गी उतरती है।

इसी प्रकार जीव-पुद्गल के संयोग से हुए आस्रव आदि भावों में भी बहुधर्मपने की अपेक्षा से तथा परस्पर विधि-निषेध से, अनेक धर्मरूप कथञ्चित् वस्तुपना सम्भवित है। इसलिए उसमें भी सप्तभङ्ग पड़ते हैं, वह अब कहते हैं।

(३) आस्रव : दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के परिणाम, आस्रव हैं। वह आस्रव, आस्रव से है; जीव-अजीवादि से नहीं। आस्रव, जड़कर्म के कारण नहीं हैं क्योंकि वह स्व से है और पर से नहीं। इस प्रकार आस्रव का अस्ति-नास्तिधर्म है। नैमित्तिक की पर्याय, निमित्त से नहीं, परन्तु स्वयं से है – ऐसा अनेकान्त है परन्तु किसी अपेक्षा से आस्रव अपने कारण है और किसी अपेक्षा से कर्म के कारण है – ऐसा अनेकान्त नहीं है। आत्मा कथञ्चित् अपने कारण से ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है और कथञ्चित् कर्म के उदय की बलजोरी से गिरता है – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। आस्रव के परिणाम स्वयं से हुए हैं परन्तु कर्म के कारण से अथवा पूर्व की पर्याय के कारण से नहीं हुए हैं – ऐसा अस्ति-नास्तिरूप धर्म, आस्रव का है, वह अनेकान्त है और इस प्रकार आस्रव की सप्तभङ्गी है।

पूर्व के संस्कार के कारण वर्तमान पर्याय नहीं होती। अज्ञानी, संसार की पर्याय प्रत्येक समय नयी-नयी अपने विपरीत पुरुषार्थ से करता है, तब पूर्व के संस्कार के कारण हुई – ऐसा

कहा जाता है परन्तु पूर्व के कारण से वर्तमान पर्याय नहीं हुई है क्योंकि पूर्व पर्याय का तो व्यय हो गया है; वह पर्याय, वर्तमान पर्याय में नहीं आती। वर्तमान आस्रवपर्याय स्वपने है और पूर्व पर्यायपने नहीं। आस्रवपर्याय, स्व से अस्तिरूप है, वह निश्चय है और वह पर्याय, पर से नास्तिरूप है, वह व्यवहार है। वर्तमान आस्रवभाव करे तो पूर्व की वासना को उपचार लागू पड़ता है परन्तु वस्तुतः तो आस्रवपर्याय स्वतन्त्र है। इस प्रकार जो ज्ञान जानता है, वह प्रमाणज्ञान है और उसे यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है।

(४) बन्धतत्त्व : बन्ध, आत्मा की विकारी अवस्था है, वह द्रव्यबन्ध के कारण से नहीं है क्योंकि बन्ध स्वयं से है और कर्म से नहीं है - ऐसा बन्ध का अस्ति-नास्तिरूप धर्म है। बन्ध, बन्ध से है और जीव से नहीं; बन्ध, बन्ध से है और संवर-निर्जरा आदि से नहीं - ऐसा बन्धतत्त्व का स्वतन्त्रस्वरूप है। नौ पदार्थ स्वतन्त्र हैं, आत्मवस्तु अस्तिरूप है, उसमें राग की त्रिकाल नास्ति है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि होने पर राग का त्याग हो जाता है, राग का त्याग करना नहीं पड़ता; राग को पृथक् करना, वह व्यवहारनय का कथन है, वह उपचार है। उपचार को यथार्थ मान लेना, मिथ्यात्व है। स्व की एकाग्रता होने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती। स्व का आदर होने से, पर का आदर छूट जाता है। स्व का लक्ष्य छूटकर, पर का लक्ष्य करे तो आस्रव और बन्ध होता है परन्तु पर ने राग कराया नहीं है; राग, राग से है और पर से नहीं, यह अनेकान्त का स्वरूप है।

अब, संवर-निर्जरा, पुण्य-पाप, मोक्ष का स्वतन्त्रपना अनेकान्त द्वारा समझायेंगे।

यह धर्मभावना चल रही है। धर्म (स्वभाव), एक-एक द्रव्य-गुण और पर्याय में है। प्रत्येक धर्म, स्वतन्त्र है - ऐसा जाने तो पर्याय स्वसन्मुख ढल कर स्वतन्त्रदशा प्रगट होती है परन्तु पर्याय को स्वतन्त्र नहीं मानकर, कर्म की बलजोरी से होती है - ऐसा मानने से उसे परसन्मुखता से हटकर स्वसन्मुख होने का अवसर नहीं रहता; इसलिए उस जीव को धर्म नहीं होता। यहाँ समय-समय की पर्याय स्वतन्त्र है, वह सिद्ध करते हैं। पर्याय का स्वतन्त्रपना माननेवाले को परसन्मुखता छूटकर, स्वसन्मुखता हुए बिना नहीं रहती। उसे सम्यग्ज्ञान -दर्शनरूपी धर्म होता है, उसकी बात चल रही है।

नौ पदार्थ हैं, वे प्रत्येक स्वतन्त्र हैं। जीव, अजीव, पदार्थ स्वयं से हैं, पर से नहीं। जीव

-पुद्गल के संयोग से आस्रव-बन्ध की पर्याय होती है, वह भी स्वयं से है और पर से नहीं। इस प्रकार चार पदार्थों की बात हो गयी है। आस्रव या बन्ध में किसी परपदार्थ का प्रभाव नहीं पड़ता। निमित्त की प्रधानता से आस्रव होता है - ऐसा माना जाए तो अनेकान्तपना नहीं रहता; इसलिए भावबन्ध, द्रव्यबन्ध के अनुसार होता है, यह बात मिथ्या है। द्रव्यबन्ध में भावबन्ध की नास्ति है और भावबन्ध में द्रव्यबन्ध की नास्ति है; दोनों अपनी-अपनी अस्तिरूप से है - ऐसा अनेकान्तस्वरूप दोनों की स्वतन्त्रता बताता है। इस प्रकार पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकार करने को यहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन कहा गया है।

जैनदर्शन में तो स्थान-स्थान पर स्वतन्त्रता बतलाते हैं, उसके बदले अभी के कोई पण्डित, शास्त्र का आधार देकर कहते हैं कि जैनदर्शन में जगह-जगह छायावाद चल रहा है, अर्थात् जहाँ-तहाँ निमित्त का प्रभाव पड़ता है - ऐसा बताते हैं.... परन्तु जैनदर्शन का स्वरूप ऐसा नहीं है। अनेकान्त तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की स्वतन्त्रता बताता है, और जब तक स्वतन्त्र वस्तु है, ऐसा ख्याल में नहीं आता, तब तक स्वतन्त्ररूप से धर्म की पर्याय प्रगट नहीं होती।

(५) संवरतत्त्व : आत्मा में निर्विकल्प शान्ति होती है, वह संवरदशा है। वह संवर स्व से है, पर से नहीं। संवर एक समय की पर्याय, स्वयं से है और वह आस्रव, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष, जीव अथवा अजीव से नहीं है; इस प्रकार अनेकान्त मानना, वह संवरतत्त्व की स्वतन्त्रता है। कर्म के रुकने से तो संवरदशा नहीं हुई परन्तु जीवसामान्य है, उसके कारण भी संवरदशा नहीं है, क्योंकि सामान्य के कारण से विशेष माना जाए तो विशेष, स्वतन्त्र नहीं रहता। द्रव्य का सामान्यपना तो एकरूप है; पर्याय में एकपना नहीं होता। यदि सर्वथा द्रव्य के आश्रय से पर्याय मानी जाए तो पर्याय का अनेकपना सिद्ध नहीं होता; इसलिए संवर, संवर के आश्रित है और जीव के आश्रित नहीं है, यह अनेकान्त है। निरपेक्ष संवरपर्याय सिद्ध होने के बाद द्रव्य के आश्रय से हुई - ऐसा कहना, वह सापेक्षपना है। इस प्रकार संवरतत्त्व की स्वतन्त्रता, अनेकान्त से सिद्ध होती है और उसे वैसा मानना, वह सम्यग्दर्शन है।

(६) निर्जरातत्त्व : आत्मा में पहले समय जो शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय विशेष शुद्धि होती है, उसे निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा, निर्जरा से है और आस्रव, बन्ध

या कर्मों के अभाव से नहीं तथा वह निर्जरा, संवर से अथवा जीव से भी नहीं है – इसका नाम निर्जरातत्त्व का अनेकान्तपना है। सामान्यजीव तो एक प्रकार से है और निर्जरा, अनेक प्रकारवाली है; एकरूप नहीं है। यदि सामान्यजीव के आश्रय से सर्वथा निर्जरा होवे तो एकरूप ही होनी चाहिए, परन्तु सामान्य की तरह विशेष में एक प्रकार नहीं है; इसलिए कथञ्चित् सामान्य में विशेष की नास्ति है, और विशेष में सामान्य की नास्ति है। यदि ऐसा नहीं होवे तो विशेष में जो विविधता है, वह नहीं रहती। इस प्रकार पर्याय की स्वतन्त्रता निश्चित होती है। पर्याय, पर्याय की स्वतन्त्र योग्यतानुसार होती है, इस प्रकार प्रथम निरपेक्षरूप से मानना चाहिए।

पुद्गल, सामान्यद्रव्य है, उसकी पर्याय भी स्वतन्त्र निरपेक्ष है। पुद्गल की पर्याय किसी निमित्त या स्वद्रव्य की भी अपेक्षा नहीं रखती। एक परमाणु की पर्याय, एक अंश सफेद हो तो वह दूसरे समय अनन्त अंश काली अथवा तो सफेद होती है। उसमें कोई परद्रव्य निमित्त नहीं है तथा वह पर्याय, सामान्य की भी अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि सामान्य की अपेक्षा सर्वथा रखे तो सामान्य तो एकरूप है और पर्याय में तो अनेकरूप विविधता हुई है, वह नहीं होती। इसलिए कथञ्चित् पर्याय स्वतन्त्र है – ऐसा निर्णय करना, सम्यग्दर्शन है। निर्जरा, स्व से है और पर से नहीं – ऐसी वस्तुस्थिति है। उसे नहीं समझनेवाले को तीन काल में द्रव्यदृष्टि नहीं होती। पर्याय को परतन्त्र–पर के कारण से माननेवाले को स्वसन्मुखता नहीं होती।

घड़े की पर्याय है, वह घड़े से है; वह पर्याय, कुम्हार से तो नहीं हुई परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वह घड़े की पर्याय, मिट्टी से भी नहीं... 'घड़ा है', वह घड़े से है, वह स्वतन्त्र है; मिट्टी से है – ऐसा माना जाए तो मिट्टी तो सामान्य एक प्रकार से है तो विशेष घड़ा, रामपात्र इत्यादि की अनेकता नहीं हो सकती। मिट्टी से घड़ा कहना, वह अपेक्षित कथन है – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। सामान्य–विशेष दोनों कथञ्चित् भिन्न हैं। इस प्रकार सामान्य–विशेष की स्वतन्त्रता स्वीकार करे तो सम्यग्दर्शन होता है।

पर्याय की ऐसी स्वतन्त्रता है। इस बात को गुप्त नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इस बात को समझे बिना तीन काल में धर्म नहीं हो सकता है। एक समय की पर्याय स्वतन्त्र है – ऐसा सिद्ध न हो तो त्रिकाल द्रव्य, स्वतन्त्र है, वह सिद्ध नहीं हो सकेगा। अस्ति–नास्तिरूप दोनों परस्पर विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त का स्वरूप है – ऐसा वस्तु का स्वभाव

है। आत्मा में निर्जरा की पर्याय का उत्पाद होता है, उस समय कर्म की पर्याय भी बदलती है, कर्मरूप पर्याय का व्यय होकर दूसरा परिणमन होता है, वह परिणमन भी द्रव्य के कारण नहीं है – ऐसा निरपेक्ष सिद्ध करने के बाद, वह किस द्रव्य की पर्याय है – ऐसा सापेक्षपना लागू पड़ता है। पर्याय भी अकारणीय है – ऐसा माने बिना, किस कारण से हुई – ऐसी अपेक्षा लागू नहीं पड़ती है। यह पुस्तक ऊँची हुई है, इसका आधार हाथ या अंगुली तो नहीं, परन्तु पुस्तक के द्रव्य के आधार से भी यह पर्याय हुई है – ऐसा भी नहीं है क्योंकि पर्याय, पर्याय के कारण से है, यह निरपेक्ष अस्तिपना है और द्रव्य के कारण से नहीं है, वह नास्तिरूप उस पर्याय का धर्म है। इस प्रकार ज्ञान, सामान्य को सामान्य और विशेष को विशेषरूप स्वीकारता है। जैसा है, वैसा स्वतन्त्ररूप से स्वीकारना, वह अनेकान्त है। एक-दूसरे में घालमेल / मिलावट नहीं करे, उस ज्ञाता का परिणमन सम्यग्ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है। सम्यक्दृष्टि हुई, उस कारण का कार्य सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन तो परम पारिणामिकभाव के आश्रय से हुआ है परन्तु उसके साथ रहा हुआ ज्ञान, समस्त पदार्थों को स्वतन्त्र जानता है।

यह अनेकान्तस्वरूप की बात शान्ति से समझने योग्य है, ऐसी की ऐसी निकाल देने योग्य नहीं है। मूल गाथा में आचार्य भगवान ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे अद्‌भुत हैं। चौदह पूर्व का सार उनमें रखा है। नौ पदार्थों को अनेकान्त से यथार्थ जानें, वह शुद्ध सम्यग्दर्शन है। उसमें प्रत्येक पदार्थ को स्वतन्त्र बता दिया है। इस बात को नहीं समझनेवाले अज्ञानी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को राग होता है, वह चारित्रमोह के उदय के कारण से होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि, विकार का कर्ता नहीं है.... – तो (ऐसा कहनेवाला) इस अनेकान्त को नहीं समझा है। सम्यग्दृष्टि को जो राग होता है, वह स्वयं की कमजोरी से स्वतन्त्र होता है परन्तु उसे स्वभावदृष्टि होने से उस राग को अपना कर्तव्य नहीं मानता; इसलिए उसका कर्ता नहीं है – ऐसा कहा है परन्तु वह विकार स्वयं की कमजोरी के कारण हुआ है – ऐसा जाने तो वह अनेकान्त है, ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

देखो, यहाँ तो कहते हैं कि निर्जरा, स्वयं के कारण है, वह संवर या द्रव्यसामान्य के कारण नहीं है, तो फिर वह निर्जरा, कर्म के अभाव के कारण से है, यह बात तो रहती नहीं है। निर्जरा, वह पर्याय में शुद्धि की वृद्धि के अंश हैं, वे स्व से हैं। संवर, निर्जरा दोनों अपने-अपने

से हैं और दोनों में अस्ति–नास्तिरूप धर्म है। पर का प्रभाव पड़ता है, ऐसा मानना वह तो दो द्रव्य की खिचड़ी करने जैसा हुआ, अर्थात् श्रद्धा में अनेकान्तपना नहीं रहकर, एकान्तपने की खिचड़ी हो गयी। सामान्य है, वह विशेष का स्पर्श नहीं करता और विशेष है, वह सामान्य का स्पर्श नहीं करता – दोनों स्वतन्त्र हैं। निर्जरा, द्रव्य का स्पर्श नहीं करती; पर्याय, द्रव्य के सन्मुख होती है; इसलिए द्रव्य के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट होती है – ऐसा कहा जाता है, तथापि पर्याय भी स्वतन्त्र है। इस प्रकार निरपेक्ष निश्चित किये बिना, द्रव्य के आश्रय से होती है – यह अपेक्षा भी नहीं कही जा सकती। इस प्रकार वस्तुस्थिति समझे बिना, साधुपना या श्रावकपना नहीं हो सकता। धर्म तो स्वतन्त्रपर्याय है। धर्म, धर्मी के आश्रय से होता है, यह तो अपेक्षा लगानी हो तब कहा जाता है परन्तु धर्म की निरपेक्ष पर्याय को स्व के सिवाय, किसी पर का आधार नहीं है। निर्जरातत्त्व की सप्तभङ्गी इस प्रकार पर्याय का स्वतन्त्रपना बतलाती है।

(७) पुण्यतत्त्व : आत्मा में दया, दान, भक्ति, पूजा आदि का शुभपरिणाम होता है, वह पुण्य है। वह परिणाम, कर्म से नहीं, पाप से नहीं, द्रव्य से नहीं, परक्षेत्र से नहीं है। पुण्य, पुण्य से है – ऐसा निश्चित करने के बाद वह कैसे हुआ ? यह अपेक्षा लागू पड़ती है। पुण्य को पुण्यरूप जानना, पाप को पापरूप जानना, कर्म को कर्मरूप जानना; प्रत्येक को भिन्न–भिन्न जानना, वह अनेकान्त है। भगवान के दर्शन करने से या सम्मेदशिखर से पुण्य नहीं है तथा पुण्य, जीव से भी नहीं है; दोनों तत्त्व भिन्न हैं। पुण्य, पुण्यरूप है, वह उसका अस्तिधर्म है और पुण्य है, वह जीव–अजीव, पापादिरूप से नहीं है, वह पुण्य का नास्तिरूप धर्म है। इसलिए पुण्य, जीव से नहीं है, यह अनेकान्त है – ऐसा जानना, वह सम्यग्दर्शन है।

(८) पापतत्त्व : आत्मा में हिंसा, क्रोधादि के परिणाम होते हैं, वह पाप है। मिथ्यात्व आदि को भी पाप कहते हैं। वह पाप के परिणाम, पाप से हैं; वह परिणाम, कर्म से या निमित्त से तो नहीं, परन्तु पाप के अतिरिक्त पुण्य, बन्ध, आस्रव या जीव से भी नहीं हैं; संवर, निर्जरा, मोक्ष से भी नहीं हैं। पाप, पापरूप से है और पररूप से नहीं है – यह अनेकान्त है। ऐसे अनेकान्त को समझे बिना, आत्मा में पाप के परिणाम होते हैं, वे कथञ्चित् कर्म के उदय के कारण होते हैं, यह स्याद्वाद है – ऐसा अज्ञानी मानता है। इस प्रकार स्याद्वाद में घोटाला करता है; इसलिए वह श्रद्धा से भ्रष्ट है। यहाँ तो कहते हैं कि पापतत्त्व, स्वयं से है, पर से नहीं।

मिथ्यात्व के परिणाम, मिथ्यात्व से हैं परन्तु दर्शनमोह के उदय के कारण से नहीं – यह अनेकान्त है।

आत्मा में मिथ्यात्वादि पाप के परिणाम होते हैं, उनका शास्त्र में तीन प्रकार से कथन है, उनका अनेकान्तपूर्वक भलीभाँति अर्थ समझना चाहिए।

(१) गोम्मटसारादि व्यवहारग्रन्थों में आत्मा में जो मिथ्यात्वादि के परिणाम होते हैं अथवा ज्ञान की हीनता होती है, वह कर्म के निमित्त के कारण होती है – ऐसा कहा है। वहाँ तो निमित्त की प्रधानता से कथन किया है परन्तु वस्तुतः कर्म के कारण से वे परिणाम नहीं हैं। यहाँ आत्मा की अवस्था पापपरिणाम की होती है, तब कौन निमित्त था, उसका ज्ञान कराया है।

(२) समयसारादि में, ज्ञानी को राग होता है, वह चारित्रमोह के उदय के कारण से होता है, ज्ञानी उसका कर्ता नहीं है – ऐसा कहा है, तो वहाँ वे पाप के परिणाम, पाप से हैं; कर्म से या दूसरे से नहीं हैं – ऐसा निर्णय करने के बाद, ज्ञानी को जो अव्रतादि के परिणाम हैं, वे संयोग सम्बन्धरूप हैं; इसलिए उन्हें कर्म के कारण से है – ऐसा कहा गया है। ज्ञानी को विकार का लक्ष्य छूट गया है, और स्वभावदृष्टि हुई है; इसलिए वे विकार, कर्मजन्य है – ऐसा वहाँ कहा गया है।

(३) यहाँ नौ पदार्थों का अनेकान्तपूर्वक ज्ञान कराते हुए पापपरिणाम, पाप से है, पर से या कर्म से नहीं; जीव से भी नहीं – ऐसा निरपेक्ष स्वतन्त्र परिणाम को अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त से सिद्ध किया है।

इस प्रकार एक-एक समय की राग की पर्याय को तीन प्रकार से सिद्ध किया है, उसमें विरोध नहीं आता। अज्ञानी को इस बात की समझ नहीं है; इसलिए विरोध लगता है।

रामचन्द्रजी क्षायिकसम्यग्दृष्टि थे... उसी भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाले थे, उनको छह माह तक राग के परिणाम रहे हैं, वे चारित्रमोह के उदय के कारण से नहीं, पूर्व की वासना के कारण से भी नहीं... पहले समय की वासना, दूसरे समय में नहीं रहती... वे राग के परिणाम हैं, वे स्वयं से हैं, पूर्व पर्याय के कारण से तो नहीं, परन्तु द्रव्य के कारण से भी नहीं। राग, राग के कारण से है; पर के कारण से नहीं – ऐसा मानना, वह अनेकान्त है। हरितकाय जीव का शरीर कटता है, वह तो जड़ की क्रिया है; उस कटने की क्रिया से पाप का परिणाम नहीं है।

निमित्त के कारण से कहना तो उपचार कथनमात्र है। यह आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय, जीव-पुद्गल के संयोग से हुई है - ऐसी बात ऊपर आयी है और प्रत्येक पर्याय का अनेकान्तस्वरूप बताने के लिए यहाँ वे पर्यायें जीव-पुद्गल के संयोग से नहीं हुईं, परन्तु स्वयं से है - ऐसा कहा है। इस बात को भलीभाँति समझना चाहिए।

आत्मा में जब आस्त्रवादि की पर्याय होती है, तब निमित्त का सद्भाव या अभावरूप उपस्थिति कैसी होती है, उसका ज्ञान कराने के लिए जीव-पुद्गल के संयोग से हुई पर्यायें हैं - ऐसा कहा है। वस्तुतः तो पर्याय में पर सम्बन्ध का अभाव है; इसलिए पाप, पाप से है; संयोग से नहीं, कर्म से नहीं, और जीव, त्रिकाल ध्रुवस्वभाव है, उससे भी नहीं। इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप है, उसे यथार्थ जानना चाहिए।

आत्मा, स्वयं विभावभावरूप परिणमित होता है तो कर्म में आरोप देकर निमित्त से कहा जाता है कि कर्म के उदय से विभाव हुआ है परन्तु वस्तुतः पाप के परिणाम स्वयं से हैं, कर्म से नहीं - यह अनेकान्त है और ऐसे अनेकान्त को जो यथार्थ जानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

द्रव्य-गुण-पर्याय में अनेक धर्म हैं। जैसे, द्रव्य में अनेक स्वभाव हैं, वैसे ही पर्याय में भी अनेक स्वभाव / धर्म हैं। एक-एक समय की पर्याय है, वह अपना अस्तित्व अपने से टिका रखती है, उसमें पर से नास्तित्व का धर्म है। ऐसा न होवे तो पर्याय का अस्तित्व नहीं रह सकता। यह द्रव्य-गुण और पर्याय के धर्मों का विचार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावसन्मुख रहकर करता है; उसमें जितना राग घटता है, वह धर्म है।

(९) मोक्षतत्त्व : आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा, वह मोक्ष है। यह मोक्षपर्याय स्व से है और पर से नहीं है; अर्थात्, कर्मों के अभाव के कारण नहीं है और मोक्षमार्ग से भी नहीं है। इस प्रकार अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य आदि सात भङ्ग मोक्ष की पर्याय में भी पड़ते हैं। मोक्ष आदि शब्द प्रयोग किया है। आदि में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, प्रमाद, कषाय इत्यादि के जितने अन्तरभेद हैं, उन प्रत्येक में भी सात भङ्ग उतारना। मिथ्यात्व स्व से है, पर से नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन से है, पर से नहीं। चारित्र, चारित्र से है, सम्यग्दर्शन से नहीं।

समयसार गाथा २७३ में कहा है कि अज्ञानी, चारित्ररहित है क्योंकि वह निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान, श्रद्धा से रहित है, वहाँ दूसरी बात समझाना है। वस्तुतः तो चारित्र, चारित्र

से है; सम्यग्दर्शन से नहीं, परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन हो, उसे सम्यक्‌चारित्र होता है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिका के बिना, सम्यक्‌चारित्ररूपी वृक्ष नहीं होता – ऐसा कहकर वहाँ सम्यग्दर्शन की प्रधानता बतलाना है और यहाँ तो चारित्र, चारित्र से है; सम्यग्दर्शन से नहीं – ऐसा अनेकान्त बतलाना है। शुद्ध क्षायिकसम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्र नहीं है; इसलिए दर्शन से चारित्र नहीं है परन्तु चारित्र, चारित्र से है। इस प्रकार विधि-निषेध से वस्तु सिद्ध होती है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में बहुधर्मपने की अपेक्षा से तथा परस्पर विधि-निषेध से अनेक धर्मरूप कथञ्चित् वस्तुपना सम्भवित है। पर्याय भी कथञ्चित् सत् है; इसलिए उसमें भी वस्तुपना सम्भवित है तथा उस वस्तु में अस्ति-नास्तिरूप अनन्त धर्म हैं, वे अनेकान्त द्वारा सिद्ध होते हैं।

जैसे, एक पुरुष में पितापना, मामापना, भानेजपना, काकापना और भतीजापना आदि धर्म होते हैं, वे अपनी-अपनी अपेक्षा से विधि-निषेधपूर्वक सात भङ्ग द्वारा जानना। पहले तो पुरुष में अपने धर्म अपने से है – ऐसा निश्चित करने के बाद अपेक्षा लागू करना और वे धर्म अस्ति-नास्ति से अनेकान्त द्वारा सिद्ध होते हैं। इस नियम से जानना कि वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है। उन सर्व को जो अनेकान्तरूप जानकर, श्रद्धान करता है तथा उसी अनुसार लोक में व्यवहार प्रवर्तित करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। आत्मा, स्व से है और पर से नहीं तथा पर्याय भी स्व से है, पर से नहीं – ऐसा अनेकान्त द्वारा वस्तु को समझकर श्रद्धा करता है, वह वाणी में भी वैसी ही प्ररूपणा करता है; उसका व्यवहार भी ऐसा ही होता है तो वह सम्यग्दृष्टि है। जो अनेकान्त के स्वरूप में गड़बड़ करता है और जिसकी प्ररूपणा भी यथार्थ नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये नौ पदार्थ हैं। इन्हें उपरोक्तानुसार सात भङ्ग से साधना। इसका साधन श्रुतज्ञानप्रमाण है क्योंकि श्रुतज्ञान में नय पड़ते हैं। उसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, ऐसे दो भेद हैं। सामान्य त्रिकाल ध्रुव को विषय करे, वह द्रव्यार्थिकनय है; एक समय की पर्याय को विषय करे, वह पर्यायार्थिकनय है। इन दोनों नयों को यहाँ निश्चय में लिया है।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकनय के भी भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द,

सम्भिरूढ़ और एवंभूत हैं तथा उनके भी उत्तरोत्तर जितने वचन के प्रकार हैं, उतने भेद हैं। उन्हें प्रमाण सप्तभङ्गी तथा नय सप्तभङ्गी के विधान द्वारा साधा जा सकता है। एक धर्म की प्रधानता से सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान होवे, वह प्रमाण सप्तभङ्गी है और एक धर्म द्वारा उस-उस धर्म का ही ज्ञान होवे, वह नय सप्तभङ्गी है अथवा तो कहनेवाले का आशय एक धर्म द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य को बताना होवे तो वह प्रमाण सप्तभङ्गी है और एक धर्म द्वारा एक धर्म को ही बताना हो, वह नय सप्तभङ्गी है - ऐसा कथन प्रथम लोकभावना में किया है तथा उसका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए। इस प्रकार जो प्रमाण-नय द्वारा जीवादि पदार्थों को जानकर, श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि को ऐसा ज्ञान होता है और सम्यग्दृष्टि न हो तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होता है।

जिस काल में जो अवस्था हुई है, वह स्व से हुई है और पर से नहीं हुई - यह अनेकान्त है और वह ज्ञाता-दृष्टारूप वीतरागता का हेतु है। (जीव) स्वयं अपने अज्ञान से परिभ्रमण करता है; पर से परिभ्रमण नहीं करता, क्योंकि परिभ्रमण का भाव, वह आत्मा की पर्याय है; स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर वह परिणमन हुआ है। वह परिणमन पर से नहीं हुआ है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'कर्म के कारण से संसार में भ्रमण होता है - ऐसा नहीं कहते, इसलिए गोम्मटसार की और चरणानुयोग की बात इसमें नहीं रहती।' भाई! गोम्मटसार और चरणानुयोग में निमित्त का कथन है, वहाँ भी पर के कारण (परिणमन है) - ऐसा नहीं कहते हैं। जैसा है, वैसा निमित्त-उपादान का ज्ञान करना चाहिए। किसी शास्त्र में ऐसा कथन नहीं होता कि कोई वस्तु, स्व से है और पर से भी है। पर से हो और स्व से न हो - ऐसा भी नहीं होता। स्व से है और पर से नहीं है, यही अनेकान्त है और वह वीतरागता का हेतु है।

तीर्थङ्कर भगवान को वाणी खिरती है, वह केवलज्ञान है, इसलिए खिरती है - ऐसा नहीं है। महावीर भगवान को केवलज्ञान था परन्तु छियासठ दिन तक वाणी नहीं खिरी तथा गौतम गणधर आये, इसलिए वाणी खिरी - ऐसा भी नहीं है। वाणी, वाणी के कारण से है; पर के कारण से नहीं - यह अनेकान्त है। गौतम गणधर की स्वकाललब्धि पक गयी थी, इसलिए इन्द्र उन्हें लाने में निमित्त कहलाये। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, इन्द्र या गणधर प्रश्न पूछते हैं तो भगवान की वाणी निकलती है, दूसरा प्रश्न करे तो नहीं निकलती; इसलिए निमित्त की

प्रधानता है – ऐसा कोई कहे तो वह सत्य नहीं है। वाणी के काल में वाणी निकलती है, पर के कारण वाणी नहीं है। गणधर आये, तब वाणी निकली – यह निमित्त का कथन है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक-प्रत्येक पर्याय में अनेकान्त है — स्व से है और पर से नहीं, ऐसा श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन है।

कोई यह कहता है कि 'निमित्त की प्रधानता न हो तो तुम समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थ क्यों पढ़ते हो; पद्मपुराण, आदिपुराण क्यों नहीं पढ़ते? क्या यह निमित्त की प्रधानता नहीं है?'

उससे कहते हैं कि शास्त्र के कारण, ज्ञान नहीं है और शास्त्र, विकल्प के कारण नहीं है। शास्त्र, शास्त्र से है, विकल्प से नहीं; विकल्प, विकल्प से है, शास्त्र से नहीं और ज्ञान, ज्ञान से है, शास्त्र से नहीं। ज्ञान की पर्याय होनी थी, इसलिए समयसार आया – ऐसा नहीं है और समयसार आया, इसलिए ज्ञान की पर्याय हुई – ऐसा भी नहीं है। ज्ञान, ज्ञान के कारण से है, इच्छा और शास्त्र के कारण से नहीं – ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। जीवों ने यह सुना नहीं है, इसलिए उन्हें एकान्त लगता है परन्तु वास्तविक अनेकान्त ही यह है और यह वीतरागता का कारण है।

पण्डित बनारसीदासजी निमित्त-उपादान के दोहे में कहते हैं कि – **उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश** – यहाँ निर्वचन का अर्थ यह है कि उपादान में एक ही प्रकार है कि प्रत्येक ही पर्याय अपनी योग्यता से ही होती है; जैसे कि वाणी, वाणी की योग्यता से होती है, भगवान के कारण नहीं होती। गर्म पानी अपनी योग्यता से होता है, अग्नि के कारण नहीं। लकड़ी, लकड़ी की योग्यता से ऊँची हुई है, हाथ के कारण नहीं। पैसा, पैसे की योग्यता से आता है, चतुराई के कारण नहीं आता, पुण्य के कारण भी नहीं आता। रुपये के एक-एक परमाणु की पर्याय स्वयं की योग्यता से है और दूसरे परमाणु की पर्याय से नहीं है – यह वीतरागी विज्ञान है। इसे समझे बिना वीतरागता हो – ऐसा नहीं है।

यहाँ यह विशेष जानना कि नय, वस्तु के एक-एक धर्म का ग्राहक है, और वह अपने -अपने विषयरूप धर्म को ग्रहण करने में समान है, अर्थात् आत्मा में जो नयज्ञान है, वह एक -एक धर्म को ग्रहण करता है। निश्चयनय का विषय त्रिकाल को ग्रहण करता है और

व्यवहारनय का विषय वर्तमान को ग्रहण करता है। अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं, इस अपेक्षा से दोनों नय, समान हैं। व्यवहारनय ने एक ही धर्म को ग्रहण किया है, वैसे ही निश्चयनय ने भी एक ही धर्म को ग्रहण किया है - इस अपेक्षा से दोनों नय, समान हैं, तथापि पुरुष अपने प्रयोजनवश उन्हें मुख्य-गौण करके कहता है। अपना हित साधने के लिए किसी नय को मुख्य करता है और किसी नय को गौण करता है।

जैसे, जीव नामक वस्तु में अनेक धर्म हैं, तो भी चैतन्यपना आदि प्राण-धारणपना अजीवों से असाधारण देखकर, उन अजीवों से (जीव को) पृथक् बतलाने के लिए प्रयोजनवश मुख्य करके चेतनवस्तु का नाम जीव रखा। जीव में सामान्य-विशेष, अनन्त गुण हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, प्रभुत्व आदि अनन्त धर्म हैं तो भी उनमें से चेतनत्वधर्म को, एक को मुख्य करके, अजीव से पृथक् पहचान कराने के लिए 'प्राणधारण करता है, वह जीव है' - इस प्रकार चेतनत्वधर्म को मुख्य करके जीव कहा है। चेतनत्व के अतिरिक्त दूसरे गुणों को गौण करके, अजीव में जो गुण नहीं हैं, उसे मुख्य करके जीव कहा है। यह तो दृष्टान्त है, इसी अनुसार समस्त धर्मों को प्रयोजनवश मुख्य-गौण करने की विधि जानना चाहिए।

सिद्धपरमात्मा आनन्दमूर्ति हैं। ऐसा कहने में प्रयोजन यह है कि जगत के प्राणी दुःखी हो रहे हैं, उन्हें सुखी होना है, उन्हें समझाने के लिए सुख और आनन्दगुण की प्रधानता से सिद्ध का वर्णन किया है। सिद्ध में अनन्त गुण होने पर भी आनन्द, संसार की पर्याय में अथवा जड़ में नहीं है, उनसे पृथक् बतलाने के लिए सिद्ध को आनन्द होता है, उसकी मुख्यता से सिद्ध आनन्दमूर्ति हैं - यह कहा है। तदनुसार मुख्य-गौणता करना चाहिए। लौकिक में भी मुख्यता -गौणता करते हैं - छोटे भाई का विवाह हो, तब उसमें दूसरे गुण न होने पर भी तीन दिन के लिए बड़ा ठहरा कर वरराजा कहते हैं और दूसरी बातें गौण कर डालते हैं। यह दृष्टान्त है। अब सिद्धान्तानुसार अध्यात्म में बात करते हैं। मूल बात करने के लिए दृष्टान्त देकर यह भूमिका बाँधी है। अब, महासिद्धान्त कहते हैं, अध्यात्मशास्त्र का मर्म कहते हैं।

यहाँ इसी आशय से अध्यात्म कथनों में मुख्य को तो निश्चय कहा है तथा गौण को व्यवहार कहा है। मुख्य को निश्चय कहा, उसमें सिद्धान्त है। निश्चय को मुख्य नहीं कहा क्योंकि अध्यात्म में निश्चयनय का विषय ही मुख्य रहता है; इसलिए मुख्य को निश्चय और

निश्चय को मुख्य कहने में बहुत अन्तर है। गौण को व्यवहार कहा है। अध्यात्म में व्यवहार कभी मुख्य नहीं होता। एक आत्मा में निश्चय और व्यवहार दोनों साथ हैं। उसमें आत्मा अखण्ड ध्रुव एकरूप है, उसकी मुख्यता, वही निश्चय है क्योंकि द्रव्यस्वभाव के आश्रय से धर्म प्रगट होता है, टिकता है, बढ़ता है - यह प्रयोजन, द्रव्य से सधता है; इसलिए अध्यात्म में मुख्य को निश्चय कहा है। व्यवहार से अथवा निमित्त से धर्म की पर्याय प्रगट नहीं होती, टिकती नहीं है और बढ़ती भी नहीं है; इसलिए अध्यात्म में व्यवहार की मुख्यता कभी नहीं होती। अध्यात्म में आत्मा के आश्रय से साधकपना है, व्यवहार से साधकपना नहीं है; इसलिए उसमें कभी व्यवहार का मुख्यपना नहीं होता है, अपितु गौणपना ही रहता है। निश्चय का गौणपना कभी नहीं होता, क्योंकि प्रयोजन तो अखण्डद्रव्य के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट करने का है। इसलिए मुख्य, वह निश्चय है और गौण, वह व्यवहार है। इसलिए निश्चय को भूतार्थ कहा है और व्यवहार को गौण करके अभूतार्थ कहा है।

अब, अध्यात्मशैली का वर्णन करते हैं, उसमें मुख्य-गौण की बात अलौकिक रीति से समझाते हैं।

अजीव से पृथक् बतलाने के लिए चैतन्यप्राण को मुख्य करके आत्मा को जीव कहा है। जीव में तो अनन्त धर्म हैं परन्तु उन्हें अजीव से भिन्न बतलाने के लिए जीवत्वधर्म को मुख्य करके बतलाया है।

अध्यात्मप्रकरण में मुख्य को निश्चय कहा जाता है और गौण को व्यवहार कहा जाता है। देखो, यहाँ निश्चय सो मुख्य - ऐसा नहीं कहा, परन्तु मुख्य सो निश्चय - ऐसा कहा है क्योंकि अध्यात्मदृष्टि में तो सदा ही अभेद की ही मुख्यता रहती है और वही निश्चय है। अभेद, वह मुख्य है और वही निश्चय का विषय है तथा भेद है, वह अध्यात्म में सदा गौण है; इसलिए भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। देखो! व्यवहार, पर के कारण है - ऐसा नहीं है परन्तु वह गौण है, इसलिए उसे व्यवहार कहा है। भेद, पर्याय या विकल्प, वह स्व का अंश है; वह कहीं पर के कारण नहीं है परन्तु उस अंश के आश्रय से धर्म नहीं होता; इसलिए उसे गौण करके व्यवहार कहा है, और अभेद को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है परन्तु यदि पर्याय का अंश, पर के कारण है - ऐसा मानें तो एकान्त निश्चय हो जाता है, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है।

द्रव्य और पर्याय, दोनों वस्तु के ही अंश हैं। उनमें द्रव्य को प्रधान करके निश्चय का विषय कहा है और पर्याय को गौण करके व्यवहार का विषय कहा है परन्तु पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा; उसका यह अर्थ नहीं है कि पर्याय, पर के कारण होती है। राग, वह आत्मा नहीं है; राग तो पुद्गल का परिणाम है – ऐसा अध्यात्मदृष्टि से कहा। वहाँ उसका अर्थ उस पर्याय को गौण करके अभेद को प्रधान बतलाने का था परन्तु पर के कारण पर्याय होती है – ऐसा कहने का आशय वहाँ नहीं था... जीव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अभेदद्रव्य को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है। सामान्यद्रव्य अभेदरूप है, वह निश्चय का आश्रय है और पर्याय भेदरूप है, इसलिए वह व्यवहार का आश्रय है; वह द्रव्य और पर्याय दोनों निश्चय से तो अपने ही हैं। क्षयोपशम इत्यादि भाव या रागादिभाव भी निश्चय से जीव की ही पर्याय है परन्तु यहाँ अध्यात्म में अभेद बतलाने का प्रयोजन होने से भेद को गौण कहा गया है। 'वहाँ प्रयोजन यह है कि वस्तु को भेदरूप तो सर्व लोक जानता है और जो जानता है, वही प्रसिद्ध है, उससे तो लोक पर्यायबुद्धि है।' देखो! पर्याय, पर से होती है – यह बात तो यहाँ नहीं ली है... परन्तु क्षयोपशम, वह मैं हूँ — ऐसी क्षणिकपर्याय जितना अपने को लोग मानते हैं – ऐसी अपनी पर्याय की बात ली है। पर से मेरी पर्याय होती है (– ऐसा मानना) तो स्थूल मिथ्यात्व है, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं की है। यहाँ तो अध्यात्म की सूक्ष्म बात लेना है; इसलिए कहा कि लोग क्षणिकपर्याय को ही अपना स्वरूप मान रहे हैं; इसलिए पर्यायबुद्धि है। त्रिकाली तत्त्व को भूलकर क्षणिक व्यक्त अंश को ही लोग अपना स्वरूप मान रहे हैं।

लोगों को पर्याय तो प्रसिद्ध है परन्तु वे त्रिकाली द्रव्य को नहीं जानते; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं। इस कारण यहाँ सामान्यद्रव्य को प्रधान करके, उसे निश्चय कहा है और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहते हैं। जो जीव यह मानता है कि पर से मेरी पर्याय होती है, उसने तो पर्याय के अंश को भी स्वीकार नहीं किया। पर को अपना जानता है, यह बात तो नहीं ली है। लोग भी अपनी पर्याय के अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु जानते हैं – ऐसा कहा है। अजीव से पृथक् कराने के लिए जीवतत्त्व को उसके विशेषधर्म से बतलाया है परन्तु अब तो जीवतत्त्व में ही मुख्य–गौण की बात लेते हैं। अभी तो जो जीव अपनी पर्याय, पर से मानता है, उसने तो अपनी भेदरूप वस्तु को भी नहीं माना है। भेदरूप वस्तु को तो सब लोग जानते हैं। पर्याय

तो भेदरूप है, इसलिए उसके आश्रय व्यवहार है और अभेदवस्तु मुख्य है, इसलिए वह निश्चयनय का विषय है। अभेदरूप द्रव्यस्वभाव को अज्ञानी जीव नहीं जानते और मात्र रागादि पर्याय को ही जीव जानते हैं; इसलिए उन्हें अभेद वस्तु की प्रसिद्धि कराने के लिए अखण्ड को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है और भेद को-पर्याय को गौण करके व्यवहार कहा है।

देखो! पर्याय में विकार होता है, वह स्वयं से ही होता है परन्तु उस अंश की बुद्धि छुड़ाने के लिए अध्यात्म में उसे अभूतार्थ कह दिया है परन्तु पर के कारण वह विकार हुआ है - ऐसा कहने का आशय है ही नहीं। अनेकान्त वस्तु है, उसमें भी आत्मा को साधक बनाने के लिए मुख्य-गौण होता है, वह यहाँ समझाया है। अध्यात्म में, अर्थात् आत्मा की साधकदशा प्रगट करके उसे टिकाये रखने के लिए अभेदवस्तु को प्रधान करके निश्चय कहा जाता है। देखो, कई बार पर्याय को भी निश्चय कहते हैं परन्तु अध्यात्म में उस पर्याय की कभी मुख्यता नहीं होती; अध्यात्म में अभेद की प्रधानता रहती है। पर्याय के अंश को तो लोग जानते हैं परन्तु उसमें जीव के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती; अर्थात्, पर्याय के आश्रय से शान्ति नहीं होती, कल्याण नहीं होता। अभेदद्रव्य के आश्रय से ही शान्ति होती है; इसलिए अध्यात्म में जीव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अभेद को ही प्रधान करके उसे निश्चय कहा है और भेद को गौण करके व्यवहार कहा है।

लोग, पर्याय के अंश को ही सम्पूर्ण स्वरूप मान रहे हैं; इसलिए लोग पर्यायबुद्धि हैं। जीव को नर-नारकादि पर्याय हैं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि पर्याय हैं तथा ज्ञान के भेदरूप मतिज्ञानादि भी पर्याय हैं, इन सर्व पर्यायों को भी लोग जीव मानते हैं; इसलिए इन पर्यायों में अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भावरूप चेतनाधर्म को ग्रहण करके, उसे निश्चयनय का विषय कहकर, जीवद्रव्य का ज्ञान कराया और पर्यायाश्रित भेदनय को गौण किया है।

देखो! तीन बातें ली हैं —

(१) नर-नारकादि पर्याय;

(२) राग-द्वेषादि पर्याय;

(३) ज्ञान के क्षयोपशमभावरूप मति-श्रुत इत्यादि पर्यायें।

इन्हें तो साधारण जनता भी जानती है परन्तु इन पर्यायों में अभेदभावरूप जो अनादि –अनन्त एकरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उसे लोग नहीं जानते। मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं रागी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ – इस प्रकार वर्तमान अंशरूप भाव को तो जीव जानते हैं परन्तु अनादि अनन्त एकरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु है, वह मैं हूँ – ऐसी अभेदरूप वस्तु को नहीं जानते। इसलिए अभेदरूप वस्तु की पहचान कराने के लिए भेद को गौण करके, उन्हें व्यवहार कहा है। देखो! यहाँ भेद को 'गौण' किया है परन्तु उनका कहीं 'अभाव' नहीं है। जैसे, आत्मा में कर्म का और पर का अभाव है, वैसे कहीं भेद का और पर्याय का आत्मा में अभाव नहीं है परन्तु वे क्षणिक अंश हैं, उन्हें ही लोग जीव जानते हैं; इसलिए त्रिकाली अभेदवस्तु की पहचान कराने के लिए अनादि–अनन्त एकरूप चैतन्यधर्म को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है। देखो! समयसार में उसे 'ज्ञायकभाव' कहकर निश्चय का विषय बतलाया है।

समयसार की छठवी गाथा में कहते हैं कि —

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥ ६॥

देखो! यहाँ उसे अनादि–अनन्त एकरूप चेतनाभाव कहकर बतलाया है। अध्यात्म में अभेदरूप वस्तु को ही प्रधान कहा है क्योंकि उसके ही आश्रय से साधकभाव प्रगट होता है, टिकता है, बढ़ता है। भेदरूप पर्याय के आश्रय से साधकभाव प्रगट नहीं होता, टिकता नहीं और बढ़ता भी नहीं है – यह प्रयोजन बतलाने के लिए ही समयसार में गुणस्थान इत्यादि को भी जड़ का कहा है। सामान्यरूप से स्वयं, वह निश्चय और पर, वह व्यवहार – ऐसा कहा जाता है परन्तु यहाँ अध्यात्म में तो भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। पर्याय भी है तो अपनी, और वह क्रमबद्ध होती है परन्तु उस पर्याय की बुद्धि से कल्याण नहीं होता; इसलिए पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा है परन्तु पर्याय अपनी है, ऐसा तो जाना है।

समयसार पढ़कर ऐसा मानें कि 'विकार, कर्मकृत है और कर्म ही विकार कराते हैं' तो यह बात मिथ्या है। अरे भाई! समयसार में तो पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए उसे गौण करके व्यवहार कहा है परन्तु वह पर्याय, पर से होती है – ऐसा कहने का वहाँ आशय है ही नहीं। पहले तो यह मानता था कि विकार होता है, वह मेरा अपराध है। ऐसा मानकर विकार हो,

उसका खेद करता था और समयसार पढ़कर यह कहे कि 'विकार तो कर्म कराते हैं' तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। अध्यात्म में तो अभेदवस्तु की पहचान कराने के लिए भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। सम्यग्दर्शन तो अभेदवस्तु की मुख्यता से होता है। कर्म ही विकार कराते हैं - ऐसा माने, तब तो उसे विकार का भय ही नहीं रहा; वह तो स्वच्छन्दी हो गया।

अभेदरूप वस्तु का ज्ञान कराने के लिए पर्यायाश्रित भेद को गौण किया है। अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए अभेदनय का दृढ़ श्रद्धान कराने के लिए कहा कि पर्यायनय है, वह व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। जैसे, वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्रूप है; इसी प्रकार कहीं अपनी पर्याय से वह अभावरूप नहीं है परन्तु अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसे गौण करके अभूतार्थ कहा है, वह तो अभेददृष्टि कराने के लिए कहा है परन्तु अभेदस्वभाव की दृष्टि नहीं करे और यह माने कि पर्याय है ही नहीं तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। भेदबुद्धि के एकान्त का निराकरण करने के लिए अभेददृष्टि को प्रधान करके भेद को अभूतार्थ कहा है परन्तु 'भेद, वह वस्तु का स्वरूप ही नहीं है' - ऐसा नहीं है।

प्रत्येक समय की पर्याय का उत्पाद, स्वयं से होता है, वह भी निश्चय से अपना अंश है परन्तु उस एक अंशमात्र को ही लोग जीव मानते हैं; इसलिए पर्यायबुद्धि है। पर्याय के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं सधता; अभेद वस्तु के आश्रय से ही मोक्षमार्ग सधता है, इसलिए मोक्षमार्ग का प्रयोजन सिद्ध कराने के लिए ही अध्यात्म में अभेद को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है और भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। यहाँ तो एकान्त पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व छुड़ाने के लिए यह कथन है।

मेरी पर्याय पर से होती है - ऐसा माननेवाला तो स्व के अंश को भी अपना नहीं मानता; इसलिए वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। भेदरूप पर्याय एक समयमात्र की है, उसे ही जो वस्तु मान लेता है, वह एकान्तबुद्धि है। उस एकान्त पर्यायबुद्धि का यहाँ निराकरण किया है तो फिर कर्म, जीव की नर-नारकादि पर्याय को करता है - ऐसा माननेवाले को तो स्व-पर की एकत्व बुद्धि का मिथ्यात्व है।

नरकगति नामकर्म के उदय से जीव, नरक में जाता है – ऐसा कहा, वहाँ तो नरक-पर्याय, वह जीव का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है, यह बतलाने को कहा है; अर्थात्, 'नारकी, वही मैं हूँ' – ऐसी पर्यायबुद्धि छोड़कर, शुद्ध चैतन्यवस्तु की दृष्टि कराने के लिए यह कथन था परन्तु पर्याय, पर के कारण होती है – ऐसा बतलाने के लिए यह नहीं कहा था। प्रत्येक समय की पर्याय भी तुझ से होती है। नरकगति में जाए, वहाँ उस समय की जीव की योग्यता है; कर्म के कारण वह पर्याय नहीं हुई है। केवलीभगवान तेरहवें गुणस्थान में रहे हैं, वह उनके अशुद्ध पारिणामिकभाव के कारण वहाँ रहे हैं; अघातिकर्म के कारण नहीं रहे हैं। पर्यायबुद्धि छुड़ाकर अभेदवस्तु की दृष्टि कराने के लिए उसे प्रधान करके निश्चय कहा है, और पर्याय को गौण करके, उसे व्यवहार कहा है। अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसे अभूतार्थ कहा है परन्तु वह अपनी पर्याय में होता है; इसलिए वह निश्चय से अपना अंश है, उसे पर का अंश मानें तो सर्वथा एकान्तश्रद्धा से मिथ्यात्व हो जाता है। उपशमभाव, नरकादि पर्याय इत्यादि अपने भाव हैं। यदि उन्हें पर के कारण मान ले तो वह सर्वथा एकान्तश्रद्धा है; इसलिए मिथ्यात्व है। पर्याय का अंश स्वयं का है परन्तु अज्ञानी जीव, उस पर्याय जितना ही अपने को मानकर पर्यायबुद्धि हो रहा है और अभेदरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु को नहीं पहचानता; इसलिए उसे अभेदरूप शुद्धवस्तु की पहचान कराने के लिए पर्याय को गौण करके, उसे अभूतार्थ कहा है।

सामान्य-विशेषरूप अनेकान्त वस्तु है। उसमें अभेदरूप वस्तु की पहचान कराने के लिए अभेद को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है, और भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है परन्तु उसमें पर्याय को सर्वथा असत्यार्थ माने, अर्थात् पर्याय पर से हुई है – ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; इसलिए अनेकान्त द्वारा वस्तु को जैसा है, वैसा साधना चाहिए।

'अध्यात्मशास्त्र में जहाँ निश्चय-व्यवहारनय कहे हैं, वहाँ भी उन दोनों के परस्पर विधि-निषेधपूर्वक सप्तभङ्गी से वस्तु को साधना। यदि एक को सर्वथा सत्यार्थ माना जाए और एक को सर्वथा असत्यार्थ माना जाए तो वहाँ मिथ्याश्रद्धान होता है; इसलिए वहाँ भी कथञ्चित् समझना।'

अनेकान्त, वह वस्तु का स्वरूप है। जो जीव, नौ तत्त्वों को अनेकान्त से जानता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अध्यात्मकथनी में अभेद को मुख्य करके, उसे निश्चय कहा है और

भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है और निश्चय की दृष्टि में उसे अभूतार्थ कहा है परन्तु वह व्यवहार सर्वथा है ही नहीं अथवा तो वह पर के कारण है – ऐसा नहीं है।

'तथा अन्य वस्तु को अन्य वस्तु में आरोपण करके प्रयोजन साधा जाता है, उसे उपचारनय कहा जाता है और वह भी व्यवहारनय में ही गर्भित है – ऐसा कहा है। जहाँ प्रयोजन निमित्त हो, वहाँ उपचार प्रवर्तता है।'

अध्यात्मदृष्टि में तो अकेले स्वद्रव्य की ही बात है। स्वद्रव्य में अभेद को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है और भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा – अभूतार्थ कहा है और परवस्तु का आरोप करके कथन करना, वह भी उपचार है, वह भी व्यवहार में गर्भित है।

जैसे, 'घी का घड़ा' कहते हैं, वहाँ मिट्टी के घड़े के आश्रय घी भरा हो, वहाँ व्यवहारिकजनों को आधार-आधेयभाव दिखता है, उसे प्रधान करके कहा जाता है कि 'घी का घड़ा है'। लोग भी ऐसा ही कहने से समझते हैं और घी का घड़ा मँगावे तो उसे लाते हैं; इसलिए उपचार में भी प्रयोजन सम्भवित है। घड़ा तो मिट्टी का है परन्तु उसमें घी के संयोग से उसे 'घी का घड़ा' रूप से लोग पहचानते हैं; इसलिए घी का उपचार करके, मिट्टी के घड़े को भी घी का घड़ा कहा है। वहाँ उपचार में भी प्रयोजन सम्भवित है। किस प्रकार ? जिसे अकेले घड़े का पता नहीं है और घड़े के आधार से घी रहा है; इसलिए घी का घड़ा कहने से लोग झट पहचानते हैं और 'घी का घड़ा' कहने से वह घड़ा लाने का समझ जाते हैं – इतनी अपेक्षा से उपचार में भी प्रयोजन है परन्तु उपचार, वही वस्तुस्वरूप नहीं है; इस प्रकार से उसे अप्रयोजनभूत कहा जाता है परन्तु यदि सर्वथा अप्रयोजनभूत हो, कुछ भी प्रयोजन न हो तो उपचार का कथन किसलिए करें ? इसलिए उपचार में भी प्रयोजन होता है।

इसी प्रकार अभेदनय को मुख्य किया जाए, वहाँ अभेददृष्टि में भेद नहीं दिखता, तब उसमें ही भेद कहना, वह असत्यार्थ है; इसलिए वहाँ भी उपचार सिद्ध होता है।

भेद है, वह अभेदवस्तु में नहीं है; अभेद की मुख्यदृष्टि में भेद नहीं दिखते, क्योंकि अभेद, वह अभेद है; उसमें भेद नहीं है और भेद में अभेद नहीं है। जैसे, घी, वह घड़ा नहीं है और घड़ा, वह घी नहीं है; दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। उसी प्रकार अभेद में भेद नहीं है और भेद में अभेद नहीं है परन्तु उन्हें सर्वथा वस्तुभेद या प्रदेशभेद नहीं है। भेदरूप पर्याय, वह वस्तु का

अंश है परन्तु अभेदरूप द्रव्य की दृष्टि में वह भेद नहीं दिखता; इसलिए अभेद ज्ञायकस्वरूप में भेद कहना, वह असत्यार्थ है-उपचार है। पर्याय है, वह सामान्यद्रव्य की है; भेद है, वह अभेद का है; विशेष है, वह सामान्य का है - ऐसा कहना भी असत्यार्थ है-उपचार है। अभेद में अभेद ही है और भेद नहीं; सामान्य, वह सामान्य ही है और विशेष नहीं। इस प्रकार अभेद में भेद नहीं है, तथापि अभेद में भेद कहना, वह उपचार है। आत्मा को केवलज्ञानपर्याय प्रगट हुई, आत्मा को क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट हुआ - ऐसा कहना, वह भी अभेददृष्टि में उपचार है। पर के कारण जीव की पर्याय होती है - ऐसा माननेवाले को तो पर्याय के साथ एकत्वबुद्धि हुई है। वह तो मिथ्यादृष्टि है।

प्रति समय क्षेत्रान्तर अपनी योग्यता से होता है; इच्छा से या कर्म के उदय से क्षेत्रान्तर नहीं होता। यहाँ घी के घड़े का दृष्टान्त लेकर उपचार का प्रयोजन बतलाते हैं। पर से तो आत्मा पृथक ही है; इसलिए पर के कारण उसकी पर्याय होती है - ऐसा माननेवाला तो अज्ञानी है परन्तु सामान्यरूप अभेदद्रव्य है और एक समय की विशेषरूप पर्याय है, वहाँ अभेद की दृष्टि में भेद, वह उपचार है। कर्म, निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिए निमित्त से कथन किया कि 'इस कर्म के उदय से ऐसा हुआ' - यह कथन घी के घड़े की तरह उपचार का है; अतः अभेद की दृष्टि में भेद नहीं है; इसलिए अभेद में भेद कहना, वह भी उपचार है। पर की तो बात नहीं है परन्तु अपने ही अपने में अभेद में भेद कहना, वह उपचार है। सामान्य का विशेष है - ऐसा कहना, वह उपचार है। द्रव्य की पर्याय है - ऐसा कहना भी उपचार है।

निश्चयनय का विषय, द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय, पर्याय है। निश्चय के विषय में व्यवहार का विषय नहीं है, तथापि अभेद में भेद कहना, वह उपचारकथन है। जैसे, घी का घड़ा कहने में घड़े की पहचान कराने का प्रयोजन है; उसी प्रकार यहाँ भेद को अभेद कहना, उसमें तो प्रयोजन है ही नहीं। अभेददृष्टि में भेद नहीं है; अभेददृष्टि करने में तो लाभ है क्योंकि अभेद के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं परन्तु भेद के आश्रय में तो कुछ प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता; इसलिए भेद को अभेद कहने में तो कुछ प्रयोजन नहीं है। निर्मलपर्याय होकर जितनी अभेद हुई, उतनी तो अभेद में मिल गयी; पृथक् विषय नहीं रहा। अध्यात्मदृष्टि के अभेदविषय में भेद नहीं है।

देखो! यह अन्तर की दृष्टि का विषय है, यह मूल वस्तु है। चारित्र, वह धर्म है और उसका मूल, सम्यग्दर्शन है परन्तु उस सम्यग्दर्शन का मूल 'अभेद' है। भेद, निमित्त या व्यवहार, वह कोई सम्यग्दर्शन का मूल नहीं है। अभेद के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है। शास्त्र का ज्ञान भी सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं है, जिनप्रतिमा के दर्शन - इत्यादि को सम्यग्दर्शन का कारण कहा है, वह तो मात्र निमित्त है।

- केवलज्ञान का मूल, चारित्र है;
- चारित्र का मूल, सम्यग्दर्शन है, और
- सम्यग्दर्शन का मूल, अभेदवस्तु है।

जिसे केवलज्ञान करना हो, उसे सम्यक्चारित्र चाहिए; सम्यक्चारित्र करना हो, उसे प्रथम सम्यग्दर्शन चाहिए और सम्यग्दर्शन के लिए ऐसी अभेदवस्तु समझना चाहिए। इसलिए जीव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अध्यात्मदृष्टि में अभेद को मुख्य करके निश्चय कहा है और उसमें भेद का अभाव है; इसलिए अभेददृष्टि में भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। इस मुख्य-गौण के भेद के रहस्य को सम्यग्दृष्टि जानता है। अभेददृष्टि में पर के साथ तो सम्बन्ध है ही नहीं, परन्तु अभेद में गुण-गुणी का भेद भी नहीं है; केवलज्ञानपर्याय का भेद भी नहीं है। ऐसी अभेदवस्तु को अन्दर की दृष्टि में जब तक नहीं ले, तब तक सम्यग्दर्शन, चारित्र-वीतरागता या केवलज्ञान नहीं होता।

अहो! अन्दर में वस्तु को दृष्टि में लेना चाहिए। चौदह गुणस्थान, ज्ञान के पाँच भेद, मार्गणास्थान इत्यादि भी मेरे अभेदस्वरूप की दृष्टि में अभूतार्थ है। भेद है, उनके लक्ष्य से राग होता है और अभेदद्रव्य की दृष्टि में वीतरागता होती है; इसलिए अध्यात्म में अभेद की ही मुख्यता करके, अभेद में भेद को असत्यार्थ कहा है। देखो, यह व्यवहार को अभूतार्थ कहा उसमें रहस्य है। अभेदस्वभाव की दृष्टि करके, वहाँ गुण-गुणी का भेद भी नहीं दिखता। अध्यात्म की यह बात समझना ही मूल चीज है। इसके अतिरिक्त पर से राग मानें, निमित्त से विकार होना मानें, उसे तो मिथ्यात्व की गहरी जड़ है। यहाँ तो अध्यात्म की सूक्ष्म बात है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि —

ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ ११॥

अभेद में भेद नहीं है – ऐसे अभेदस्वभाव की दृष्टि ही भूतार्थदृष्टि है। अभेद की मुख्यता की ऐसी कथनपद्धति सनातन दिगम्बर जैनधर्म के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। यह कथन सर्वज्ञ की परम्परा के अतिरिक्त दूसरे किसी स्थान में है ही नहीं। दिगम्बर जैनमार्ग कहो या वीतरागता का मार्ग कहो, वह एकार्थ है। वह वीतरागता कैसे प्रगट हो? उसकी यह बात है।

वीतरागता तात्पर्य है परन्तु वह वीतरागता कैसे प्रगट हो? अभेदस्वभाव की दृष्टि करे तो...। वीतरागता स्वयं पर्याय है। अभेददृष्टि में उस वीतरागपर्याय की भी गौणता है; अभेदवस्तु में वीतरागपर्याय भी अभूतार्थ है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह अभेददृष्टि में अभूतार्थ है। अभेददृष्टि में एकाकार अभेद चैतन्यद्रव्य ही मुख्य है, वही उसका विषय है।

देखो, यह अभेद की मुख्यता की बात बहुत गम्भीर है। शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है; इसलिए निमित्त, राग, पर्याय और भेद की दृष्टि छोड़कर, अखण्ड अभेदवस्तु का अवलम्बन लिया, वहाँ वीतरागता प्रगट हुई, वह वीतरागपर्याय भी व्यवहार का विषय है। अभेददृष्टि में वीतरागपर्याय कहना, वह उपचार है। अभेद में से वीतरागपर्याय प्रगट हुई – ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। जो व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग है, उसे मोक्षमार्ग कहना, वह तो उपचार है। निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलपर्याय को मोक्ष का कारण कहना, वह भी व्यवहार है और अभेद के आश्रय से वीतरागपर्याय प्रगट हुई, उसे भेद करके कहना भी व्यवहार है। वस्तुतः वीतरागपर्याय प्रगट हुई – ऐसा भी अभेददृष्टि में नहीं है। सम्यग्दर्शनादि पर्याय तो अभेद में मिल गयी, वहाँ भेद करके कहना कि 'अभेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन–पर्याय प्रगट हुई' वह भी व्यवहार है। अभेददृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। चाहे जितना ज्ञान का क्षयोपशमभाव हुआ हो, चाहे जितना शुभराग हो परन्तु ऐसी अभेददृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिए अध्यात्मदृष्टि में मुख्य–गौण की यह बात समझने जैसी है। किसी को एकान्त न हो जाए तथा अभेददृष्टि भी न छूटे – ऐसी यह बात की है।

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही।
वहाँ-वहाँ वह-वह आचरे, आत्मार्थीजन सही॥

देखो, समयसार में चौदह गुणस्थान इत्यादि को पुद्गल का परिणाम कहा है। वहाँ अभेदज्ञायक की दृष्टि कराने के लिए कहा है परन्तु कर्म के कारण जीव के परिणाम होते हैं – ऐसा नहीं समझना। क्षायिकभाव को भी पुद्गल का परिणाम कहा, क्यों? इसलिए कि क्षायिकभाव पर लक्ष्य करने से राग होता है और राग से कर्म बँधते हैं, उससे आत्मा में एकता नहीं होती; इसलिए उस क्षायिकभाव का लक्ष्य छुड़ाकर, अभेद की दृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा है कि क्षायिकभाव भी पुद्गल का परिणाम है। क्षायिकभाव है तो अपनी पर्याय, परन्तु उस पर्याय की दृष्टि से राग होता है; इसलिए अभेद की दृष्टि कराने के लिए अभेद की मुख्यता करके, उस भेद का भी लक्ष्य छुड़ाया है। ऐसी अध्यात्मशैली को सम्यग्दृष्टि ही जानता है अथवा ऐसी अध्यात्मशैली को जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्यादृष्टि, अनेकान्त वस्तु को नहीं जानता, परन्तु सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ने से उसे ही सर्वथारूप वस्तु मानकर, अन्य धर्मों को या तो सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है या अन्य धर्मों का सर्वथा अभाव ही मानता है, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा को दृढ़ करता है।

अज्ञानी या तो अभेद को ही पकड़कर भेद को मानता ही नहीं अथवा भेदरूप पर्याय, पर के कारण होती है – ऐसा मानता है – तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। पर्याय को अपनी माने ही नहीं और एकान्त अभेद पकड़े तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। अभेददृष्टि में भेद को गौण कहा है परन्तु कहीं भेद को सर्वथा असत्यार्थ नहीं कहा है। ज्ञानी तो अभेदद्रव्य की दृष्टि रखकर पर्याय को जानता है।

अज्ञानी को अनादि का अगृहीतमिथ्यात्व तो है और एकान्त पकड़कर फिर उस मिथ्यात्व को दृढ़ करता है। अहो! अध्यात्म का रहस्य तो देखो! अभेद की मुख्यता से ही सम्यग्दर्शन होता है; अभेद की मुख्यता से ही सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, वीतरागता और केवलज्ञान होता है।

मैं सर्व सामर्थ्यधर हूँ; केवलज्ञान मेरी सर्व सामर्थ्यरूप पर्याय है परन्तु वह पर्याय, एक समयमात्र की है; अभेदद्रव्य की दृष्टि में वह पर्याय भी गौण है। क्षायिकभाव, वह तो जीव का

स्वभावभाव है, वह कहीं विभावभाव नहीं है परन्तु साधक जीव को क्षायिकभाव के लक्ष्य से विभाव की उत्पत्ति होती है; इसलिए साधक को अभेद की दृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा कि 'क्षायिकभाव भी विभाव है।' भेद को गौण कराकर, साधक को अभेद की दृष्टि कराने का है क्योंकि मुख्य-गौण साधक को होते हैं; केवली को कहीं मुख्य-गौण करना नहीं रहा, वे तो पूर्ण हो गये हैं। जिन्हें अभी साधकदशा है, उन्हें अभेदस्वभाव का अवलम्बन कराने के लिए अध्यात्मदृष्टि में अभेद को मुख्य कहा है और भेद को गौण करके व्यवहार कहा है।

अहो! आत्मा के आनन्दसागर में झूलते सन्तों ने अलौकिक बात की है! अभेदस्वरूप की दृष्टि कराने के लिए क्षायिकभाव को भी विभाव कहा है। वहाँ क्षायिकभाव को सर्वथा पर का मान ले तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है। जीव ने अपनी पर्याय में अनेकान्त का स्वरूप चूककर एकान्त की मिथ्या मान्यता की, तब सामने (निमित्तरूप) मिथ्यात्वप्रकृति के उदय को उसका निमित्त कहा जाता है। जीव ने मिथ्यात्व का कार्य स्वयं में किया, तब स्वभाव का आश्रय नहीं लिया, परन्तु मिथ्यात्वप्रकृति का आश्रय लिया; इसलिए मिथ्यात्वप्रकृति निमित्त है, उसके आरोप से विपरीत श्रद्धा को भी मिथ्यात्व कहा। उसी प्रकार अनेकान्तरूप तत्त्वार्थश्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन का कार्य है। वस्तुतः तत्त्वार्थश्रद्धान तो ज्ञान की पर्याय है परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन निमित्त है; इसलिए उस तत्त्वार्थश्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कह दिया है। अनेकान्त का ज्ञान, वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार कारण में कार्य का उपचार करके कहा जाता है क्योंकि जहाँ अनेकान्त का ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है; इसलिए उस ज्ञान को भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जैनदर्शन की कथनपद्धति अनेक प्रकार से है, उसे अनेकान्तरूप समझना चाहिए। पदार्थ स्वयंसिद्ध है, वह पर की अपेक्षा नहीं रखता - ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि हुई, वह अनेकान्त है। उसका फल, अज्ञान का नाश होकर उपादेय की बुद्धि तथा वीतरागता की प्राप्ति है। अनेकान्त में सर्वज्ञ की प्रतीति भी आ जाती है। सर्वज्ञ ने वस्तु का स्वभाव अनेकान्तरूप देखा है और जैसा सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा ही होता है। मेरा स्वभाव भी सर्वज्ञपने का है, इस प्रकार अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ का निर्णय होता है, वह पुरुषार्थ है। यह धर्मभावना का अधिकार शुरु करने पर पहली गाथा में ही सर्वज्ञपने की सिद्धि की थी। अल्पज्ञता में सर्वज्ञता नहीं है और

सर्वज्ञता में अल्पज्ञता नहीं है, अर्थात् एक समय की अल्पज्ञ पर्याय में आत्मा की त्रिकाल सर्वज्ञशक्ति का अभाव है और सर्वज्ञशक्ति में पर्याय और निमित्त का तीनों काल अभाव है। इस प्रकार समझ कर अन्तर्मुखदृष्टि हुई, वही पुरुषार्थ है।

आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में विकार नहीं है तथा परपदार्थ, आत्मा में नास्तिरूप हैं; इसलिए पर के कारण से आत्मा को रुकना होता है – ऐसा है ही नहीं। ज्ञायकस्वभाव में दृष्टि जम गयी, वह अनेकान्त का फल है और वही वीतरागदशा की प्राप्ति है। त्रिकाल स्वभाव ज्ञायक मैं हूँ, उसकी उपादेयबुद्धि, वह अनेकान्त का फल है। स्याद्वाद, वह फुदड़ीवाद नहीं है। अभी स्याद्वाद को फुदड़ीवाद बना दिया है। आत्मा की एकाग्रता से धर्म होता है ? तो कहते हैं, हाँ; और शुभराग से धर्म होता है ? तो कहते हैं कि हाँ... गुरु की कृपा से होता है तो कहते हैं कि हाँ ! ऐसा कहे वह तो मिथ्यावाद हुआ। आत्मा के अवलम्बन के अतिरिक्त राग से या निमित्त से तीन काल में धर्म नहीं होता, यह अनेकान्त का स्वरूप है।

श्री गोम्मटसार गाथा ४२६ में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं —

जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिदणंदिवच्छो णमामि तं अभयपांदिगुरुं॥ ४२६॥

अहो ! गुरु के चरण कमल के प्रसाद से मैं संसार का पार पा गया हूँ... परन्तु यह तो निमित्त का कथन है; आत्मा को पर से लाभ होता है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते हैं। अपने द्रव्य के आश्रय से संसार का अभाव होता है; पर्याय, विकार, या निमित्त के आश्रय से नहीं होता। आत्मा में भव नहीं है; इसलिए आत्मा के आश्रय से भव का नाश होता है – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। वह पर से नहीं हुआ है। शास्त्र में कथन तो अनेक प्रकार से आते हैं। व्यवहार के ग्रन्थ में कहते हैं कि रूखा आहार लेने से वीर्य नष्ट होता है तो वहाँ आहार के कारण वीर्य नष्ट नहीं होता, परन्तु वीर्य नष्ट होता है, तब रूखे आहार का निमित्त होता है; इसलिए आरोप से कथन किया है। प्रत्येक शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है; इसलिए स्वभाव की अपेक्षा और पर्याय, विकार तथा निमित्त की उपेक्षा करना, वह अनेकान्त का फल है।

यह अनेकान्त का मर्म प्राप्त करना, महाभाग्य से बनता है, अर्थात् शास्त्र के कथन का रहस्य, महान पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है। भाग्य से, अर्थात् पूर्व कर्म के कारण प्राप्त होता है

– ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु ऐसा है नहीं। इस पञ्चम काल में अभी इन कथनों के वक्ता गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है, अर्थात् पञ्चम काल की शुरुआत में तो आचार्य, मुनि, सन्त थे परन्तु वर्तमान काल में, अर्थात् १५० वर्ष पहले पण्डित श्री जयचन्दजी ने यह लिखा है, उस समय की बात है कि गुरु का निमित्त दुर्लभ है – ऐसा कहा है। अभाव है – ऐसा नहीं कहा; इसलिए शास्त्र को समझने का निरन्तर उद्यम रखकर समझना योग्य है।

श्री नियमसार शास्त्र में कहा है कि अहो प्रभु! यह आपका नयचक्र मानो इन्द्रजाल है। कभी कहते हैं कि आत्मा से धर्म होता है और कभी कहते हैं कि गुरु के प्रसाद से होता है। केवलज्ञान, स्वभाव के अवलम्बन से होता है और वज्रकाय से भी होता है – ऐसी दो बातें शास्त्र में आवें तो उसका अर्थ गुरुगम से समझ में आता है। स्वभाव से होता है और पर से नहीं होता, यह यथार्थ बात है। निमित्त से होता है, यह तो उपचार का कथन है। इस प्रकार शास्त्र को यथार्थ समझना योग्य है। अत्यन्त तटस्थ होकर अपूर्व धर्म को प्राप्त करने के लिए अन्दर विचार करो, गुरुगम प्राप्त करो। अभी तो त्यागी नाम धराकर और मात्र शास्त्र का अभ्यास करके पण्डित नाम धराकर निमित्त से और राग से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा मानते हैं। इसलिए स्वयं सच्चा पुरुषार्थ करके समझना योग्य है। कर्म का क्षयोपशम होता है तो समझ में आता है – ऐसा नहीं है और वर्तमान में समझ में नहीं आवे – ऐसा भी नहीं है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार का प्रारम्भ करते हुए पहली ही गाथा में कहा है कि —

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥ १॥

जिसने आत्मा में सिद्ध की स्थापना की, अर्थात् उनका आदर किया, उसे अल्पज्ञता, विकार और निमित्त का आदर नहीं रहता; इसलिए मेरा आत्मा, सिद्धसमान है – ऐसी दृष्टि करके शास्त्र का श्रवण करो, तो यथार्थ समझ में आयेगा। सिद्ध की उपादेयबुद्धि हुई, उसे सिद्ध के अतिरिक्त सबकी हेयबुद्धि रहेगी। अहो! आचार्य भगवान तो कहते हैं कि मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध है। **सिद्ध समान सदा पद मेरौ** – ऐसे सिद्ध के अन्दर में अन्तरस्वभाव का आदर आ गया। स्वभाव को समझे बिना सिद्ध को सच्चा वन्दन नहीं होता। सिद्धदशा प्रगट होती है,

वह अन्तर के आश्रय से प्रगट होती है; बाहर से नहीं आती। मेरा स्वभाव, ज्ञायक है; उसमें राग और निमित्त त्रिकाल नहीं हैं – ऐसी बुद्धि जम गयी है, उसकी अल्प काल में मुक्ति होती है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशति में एकत्व अधिकार, गाथा २३ वीं में कहा है —

तत्प्रति प्रीतिचितेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

जो अन्तररुचिपूर्वक आत्मा की बात भी सुनता है, वह मुक्तदशा प्राप्त करने के योग्य हो गया है, अर्थात् उसे संसार नहीं होता। अनन्त बार भगवान के समवसरण में जा आया, परन्तु रुचिपूर्वक नहीं सुना। अन्तर में स्वभाव का अवलम्बन करे, वस्तु के स्वभाव को यथार्थ जाने तो सुना कहलाये; समझे नहीं तो सुना भी नहीं।

यहाँ जिसने प्रथम गुरुगम द्वारा सुना है, उसे शास्त्र के अभ्यास की मुख्यता से बात की है कि उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। दूसरे निमित्तों की तुलना में उसकी विशेषता बताने के लिए शास्त्र के अभ्यास की मुख्यता कही है परन्तु जिसने प्रथम गुरुगम द्वारा श्रवण किया हो, उसकी बात समझना। आत्मा, स्वयं पात्रता प्रगट करे तो गुरु आदि का निमित्त स्वयं स्वत: प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। जीव की पात्रता के आधीन होकर निमित्त को आना पड़ता है – ऐसा नहीं है। नियमसार, गाथा ५३ में सम्यग्दर्शन प्रगट होने में निमित्तकारण के दो प्रकार बतलाये हैं, उनमें ज्ञानी पुरुष को उपचार से अभ्यन्तर हेतु कहा है और वाणी को बाह्य निमित्त कहा है, वह भी उपचार है। वहाँ शास्त्र की मुख्यता नहीं ली है। यहाँ तो दूसरे निमित्तों की अपेक्षा से शास्त्रअभ्यास की मुख्यता कही है। यद्यपि जिनेन्द्रप्रतिमा का दर्शन तथा प्रभावनाअङ्ग का देखना इत्यादि सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण हैं, तथापि शास्त्र –श्रवण करना, पढ़ना, उसका चिन्तवन करना, धारण करना, तथा हेतु–युक्तिपूर्वक स्वमत –परमत के भेद को जानकर, नयविवक्षा समझकर वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का निश्चय करना, यह मुख्य कारण है।

आत्मा, ज्ञायक है। उसकी रुचिपूर्वक शास्त्र अध्ययन कार्यकारी है। यहाँ शास्त्र का श्रवण करना – ऐसा कहा है परन्तु अकेले शास्त्र पढ़ने से आत्मा का कल्याण नहीं हो जाता। इस सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि —

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लयौ;
वनवास लियौ मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियौ।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयौ;
जप भेद जपे तप त्यों ही तपे, उससे ही उदासी लहि सबपै।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मण्डन-खण्डन भेद किये;
यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू ने परयौ॥

अहो! अज्ञानदशा में अनन्त काल में जीव ने पञ्च महाव्रत अनन्त बार पालन किये, मौन रहा, भगवान का स्मरण किया, सम्पूर्ण दुनिया से उदासीनभाव किया - ऐसे साधन अनन्त बार किये, परन्तु चैतन्य आत्मा को गुरुगम से नहीं समझा; इसलिए हेतु-युक्तिपूर्वक तुलना करना। स्वमत और परमत के अन्तर को जानकर, अनेकान्तपूर्वक स्वरूप का निर्णय करना, उससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए भव्य जीवों को आगम के अभ्यास का उपाय निरन्तर रखना योग्य है।

अब, आगे सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होकर, उसके कैसे परिणाम होते हैं? - वह कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपने को शक्ति अपेक्षा से प्रभु मानता है परन्तु अभी पर्याय पूर्ण नहीं हुई; इसलिए पर्याय में पामर हूँ - ऐसा जानता है। ऐसे अनेकान्त का यथार्थ ज्ञान, ज्ञानी को होता है।●●

गाथा ३१३

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है, उसके निर्मद–मृदुपरिणाम कैसे होते हैं ? —

जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्त कलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि, अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं॥

जो गर्व नहिं करता कभी सुत नारि आदि पदार्थ में।
भाव उपशम सदा भावे स्वयं को तृणवत् लखे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह **[पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु]** पुत्र कलत्र आदि सब परद्रव्य तथा परद्रव्यों के भावों में **[गव्वं ण य कुव्वदि]** गर्व नहीं करता है, परद्रव्यों से आपके बड़प्पन माने तो सम्यक्त्व कैसा? **[उवसमभावे भावदि]** उपशमभावों को भाता है, अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी तीव्र राग–द्वेष परिणाम के अभाव से उपशमभावों की भावना रिरन्तर रखता है। **[अप्पाणं तिणमित्तं मुणदि]** अपनी आत्मा को तृण के समान हीन मानता है क्योंकि अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञानादिरूप है; इसलिए जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती है, तब तक अपने को वर्तमान पर्याय में तृणतुल्य मानता है; किसी में गर्व नहीं करता है।

गाथा ३१३ पर प्रवचन

जो सम्यग्दृष्टि है, वह पुत्र–कलत्र आदि सर्व परद्रव्यों में तथा परद्रव्य के भावों में गर्व नहीं करता। ज्ञानी को, सर्वज्ञशक्ति मेरी है – ऐसा सामान्य भासित हुआ है परन्तु विशेष, अर्थात् पर्याय में अनन्त गुनी पर्याय प्रगट करना बाकी है; इसलिए अपने को तृणसमान जानता है, इस कारण पर में गर्व नहीं करता। यह चौथे गुणस्थान की दशा की बात है। पाँचवें, छठवें, सातवें

गुणस्थान की और केवलज्ञानदशा की भूमिका की तुलना में अनन्तवें भाग यह दशा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि, आत्मा को तृण जैसा भी मानता है, यह अनेकान्त है और इसलिए ज्ञानी को अभिमान नहीं होता।

श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञानी थे। उन्होंने कहा है कि 'हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन ही स्वरूपानुसन्धान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं; इसलिए मैं आपको अत्यन्त भक्ति से नमस्कार करता हूँ।' ऐसा कहकर, अपनी पर्याय में पामरता है, वह बताते हैं तथा कहा है कि 'अधमाधम अधिकोपतित, सकल जगत में हुक' — त्रिकाली तत्त्व तो प्रभु है परन्तु पर्याय में पामरता है - ऐसा जानता है; इसलिए ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। अस्थिरता के कारण जरा मान आ जाता है, उसे अपनी कमजोरी समझता है। पर के कारण ज्ञानी को कभी अभिमान नहीं होता। चौदह पूर्व के ज्ञान का विकास हो तो भी केवलज्ञान के सामने तो वह अनन्तवें भाग है - ऐसा ज्ञानी जानता है; इसलिए उसे गर्व नहीं होता।

परद्रव्य के कारण अपने को बड़ा माने तो उसे सम्यक्त्व कैसा? इसलिए ज्ञानी पर के कारण अपने को बड़ा नहीं मानता। पर की महत्ता आये तो स्व की महत्ता नहीं रहती। बहुत शिष्य हुए और बहुत से धर्म को प्राप्त हुए, इससे कहीं आत्मा की महत्ता नहीं है। समन्तभद्र आचार्य ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि हे भगवान! आपने धर्म की प्ररूपणा की परन्तु उसका फल आया या नहीं? - यह देखने के लिए भी नहीं रहे। इस प्रकार ज्ञानी को भी गर्व नहीं है। स्वयं उपशमभाव का चिन्तवन करता है, अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी तीव्र राग-द्वेष परिणामों के अभाव से उपशमभावों की निरन्तर भावना रखता है तथा अपने आत्मा को तृणसमान हलका मानता है। सन्त, मुनि की नग्न-दिगम्बरदशा होती है, वे छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, राग-द्वेष के विकल्परहित विचरते हैं, कर्म के वैरी हैं, आनन्दकुञ्ज में स्थिर होते हैं - ऐसा उपशमभाव तो मुनि को होता है परन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि के उपशमभाव की बात है। ज्ञानी को राग होता है, वह स्वयं की निर्बलता मानता है, उसे गर्व नहीं होता; इसलिए अपने को तृणसमान जानता है।

अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञान-दर्शन, वीर्य और सुखरूप है; इसलिए जब तक उसकी प्राप्ति न हो, तब तक वह अपने को तृणसमान मानता है, किसी पदार्थ में गर्व नहीं करता।

देखो ! गाथा ३११-३१२ में अनेकान्त का स्वरूप बतलाने के बाद इस गाथा में ज्ञानी को गर्व नहीं होता - ऐसा लिया है क्योंकि अनेकान्त यह बतलाता है कि यह आत्मा, शक्ति से प्रभु है परन्तु वर्तमान पर्याय में पामरता है - ऐसा जानता है, उसे गर्व नहीं होता। द्रव्यस्वभाव में दृष्टि लेकर पर्याय का ज्ञान कराया है। ●●

अपने हित को मत भूलना

भाई ! संसार तो असार है। संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं। चैतन्यतत्त्व, राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है। हे जीव ! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके तू ऐसे शान्तरस का पान कर। कदाचित् कोई दुःखद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना। अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना।

— *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा ३१४

अब, द्रव्यदृष्टि का बल दिखाते हैं —

विसयासत्तो वि सया, सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि।
मोहविलासो एसो, इदि सव्वं मण्णदे हेयं॥*

विषय में आसक्त है अरु वर्तता आरम्भ में।
यह मोह लीला जानकर वह हेय सबको मानता॥

अन्वयार्थ : [विसयासत्तो वि सया] अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, **[सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि]** त्रस-स्थावर जीवों का घात जिनमें होता है - ऐसे सब आरम्भों में वर्तता है, अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के तीव्र उदय से विरक्त नहीं हुआ है **[इदि सव्वं हेयं मण्णदे]** तो भी सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा

---

* **णोमो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।**
जो सद्दहदि जिणुत्त सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ *(गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २९)*

जीवा चोद्दसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेदव्वा॥ *(गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७७)*

अर्थ - जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं हैं परन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। संयम दो प्रकार का है, एक इन्द्रियसंयम तथा दूसरा प्राणसंयम। इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होने को इन्द्रियसंयम कहते हैं, तथा स्व-पर जीव के प्राणों की रक्षा को प्राणसंयम कहते हैं। यह चौथे गुणस्थान में इन दोनों संयमों में से कोई भी संयम नहीं होता; इसलिए उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रयोजन बिना किसी भी हिंसा में वह प्रवर्त भी नहीं होता।

चौदह प्रकार के जीवसमास में और अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रिय-विषयों में जो विरक्त नहीं होना, उसे असंयम कहते हैं।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, और एक मन, यह इन्द्रियों के अट्ठाईस विषय हैं।
(गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४७८)

जानता है कि **[एसो मोहविलासो]** यह मोह का विलास है; मेरे स्वभाव में नहीं है, उपाधि है, रोगवत् है, त्यागने योग्य है। वर्तमान कषायों की पीड़ा सही नहीं जाती है; इसलिए असमर्थ होकर विषयों के सेवन तथा बहु आरम्भ में प्रवृत्ति होती है — ऐसा मानता है।

गाथा ३१४ पर प्रवचन

यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, चौथे गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियों के विषय छूटे नहीं हैं। तीर्थङ्कर भगवान, संसार में होते हैं, उन्हें राज्यवैभव होता है और चक्रवर्ती होवे तो छियानवे हजार रानियाँ भी होती हैं, तथापि स्वयं समझते हैं कि यह राग, मेरी निर्बलता के कारण है परन्तु कर्म के कारण नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव, त्रस-स्थावर जीवों का घात जिसमें हो - ऐसे सर्व आरम्भ में वर्त रहा है। देखो, यहाँ ज्ञानी को पाँच इन्द्रियों के विषय और सर्व प्रकार का आरम्भ होता है - ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शराब, मांसादि भी होते हैं। अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के तीव्र उदयों से विरक्त नहीं हुआ है, तथापि वह यह जानता है कि यह मोहकर्म के उदय का विलास है, अर्थात् मेरी निर्बलता से राग होता है, उसमें मोहकर्म निमित्त है, उसका ज्ञान करता है परन्तु मेरे स्वभाव में वह नहीं है। वे कषाय के परिणाम, उपाधि हैं-रोगवत् हैं, त्यागने योग्य हैं; वर्तमान कषायों की पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिए असमर्थ बनकर इन विषयों का सेवन तथा बहुत आरम्भ में प्रवर्तना होता है - ऐसा वह मानता है। सम्यग्दृष्टि को विषयभोग, युद्ध आदि के परिणाम होते हैं परन्तु उन्हें वह अपना स्वरूप नहीं मानता और पर के कारण वे परिणाम होते हैं - ऐसा भी नहीं मानता। ●●

गाथा ३१५

उत्तमगुणगहणरओ, उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो।
साहम्मियअणुराई, सो सद्दिट्ठी हवे परमो॥

उत्तम गुणों के ग्रहण में रत विनय उत्तम साधु की।
साधर्मि अनुरक्त जो वह परम सम्यग्दृष्टि है॥

अन्वयार्थ : [उत्तमगुणहणरओ] सम्यग्दृष्टि कैसा होता है — उत्तम गुण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आदि के ग्रहण करने में अनुरागी होता है, **[उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो]** उन गुणों के धारक उत्तम साधुओं में विनय संयुक्त होता है, **[साहम्मियअणुराई]** अपने समान सम्यग्दृष्टि साधर्मियों में अनुरागी होता है, वात्सल्यगुणसहित होता है, **[सो परमो सद्दिट्ठी हवे]** वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है। यदि ये तीनों भाव नहीं होते हैं तो जाना जाता कि इसके सम्यक्त्व का यथार्थपना नहीं है।

गाथा ३१५ पर प्रवचन

यह धर्म अनुप्रेक्षा चल रही है। धर्म, अर्थात् वस्तु का स्वभाव। यह भावना करने से सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धि बढ़ती है। विकल्प, वह भावना नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव, उत्तम गुण - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि को ग्रहण करने में अनुरागी होता है तथा चारित्रवन्त उत्तम भावलिङ्गी सन्तों के प्रति विनय-आदरभावसहित होता है; अनादर नहीं करता, क्योंकि उसे वीतरागभाव की रुचि है; इसलिए वीतरागता के धारक जीवों के प्रति उसे आदर आता ही है। अपने स्वभाव का आदर बहुमान आया है, वहाँ विकल्प होने पर गुणी / धर्मी के प्रति आदरभाव आता है। वह स्वयं के कारण है। सन्तों को देखने से

वैसा धर्मानुराग आया है – ऐसा नहीं है तथा अपने समान साधर्मी सम्यग्दृष्टि जीवों के प्रति वात्सल्य आता है। ऐसे गुण जिसे होते हैं, वह उत्तम सम्यग्दृष्टि जीव है, उसे —

(१) वीतरागभाव का आदर होता है,

(२) वीतरागभाव के धारक सन्तों के प्रति बहुमान होता है, तथा

(३) सम्यग्दृष्टि साधर्मी जीवों के प्रति स्वयं को वात्सल्य होता है। ऐसे तीन गुण सम्यग्दृष्टि को होते हैं। ●●

......आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्त:स्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा ३१६

देहमिलियं पि जीवं, णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं, कंचुवसरिसं वियाणोई॥

देह से चेतन मिला, पर ज्ञान से जाने जुदा।
तन भी मिला है जीव से, पर भिन्न जाने वस्त्र सा॥

अन्वयार्थ : [देहमिलियं पि जीवं] यह जीव, देह से मिला हुआ है **[णियणाणगुणेण जो भिण्णं मुणदि]** तो भी अपना ज्ञानगुण है; इसलिए अपने को देह से भिन्न ही जानता है। **[जीवमिलियं पि देहं]** देह, जीव से मिला हुआ है **[कंचुवसरिसं वियाणोई]** तो भी उसको कंचुक (कपड़े का जामा) समान जानता है। जैसे, देह से वस्त्र भिन्न है, वैसे जीव से देह भिन्न है — ऐसे जानता है।

गाथा ३१६ पर प्रवचन

यह जीव, देह के साथ मिल रहा है, एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध में है तो भी अपने ज्ञानगुण से स्वयं को जड़ देह से भिन्न मानता है। शरीर को वस्त्र की तरह अपने से भिन्न मानता है – ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि जानता है। वह शरीरादि क्रिया का कर्ता या प्रेरक अपने को नहीं मानता। ऐसा भान जिसे नहीं होता, उसे कोई धर्म या सच्चे व्रत आदि होते ही नहीं।●●

गाथा ३१७

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी॥

निर्दोष ही है देव, सबकी दया ही उत्तम धरम।
निर्ग्रन्थ को ही गुरु माने, वही सम्यग्दृष्टि है॥

अन्वयार्थ : [जो] जो जीव **[णिज्जियदोसं देवं]** दोषरहित को तो देव, **[सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं]** सब जीवों की दया को श्रेष्ठ धर्म, और **[वज्जियगंथं च गुरुं]** निर्ग्रन्थ को ही गुरु **[मण्णदि]** मानता है, **[सो हु सद्दिट्ठी]** वही प्रगटरूप से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोषरहित देव को माने; अन्य दोषसहित देवों को संसारी जाने; वे मोक्षमार्गी नहीं हैं – ऐसा जानकर उनकी वन्दना-पूजा नहीं करे। अहिंसारूप धर्म जाने, जो यज्ञादि देवताओं के लिए पशुघात कर, बलि चढ़ाने को धर्म मानते हैं, उसको पाप ही जानकर आप उसमें प्रवृत्ति नहीं करे। जो ग्रन्थ, अर्थात् परिग्रहसहित, अनेक भेष अन्य मतवालों के हैं तथा कालदोष से जैनमत में भी भेष हो गये हैं, उन सबको भेषी-पाखण्डी जाने; उनकी वन्दना पूजा नहीं करे। सब परिग्रह से रहित हों, उन ही को गुरु मानकर, वन्दना-पूजा करे क्योंकि देव-गुरु-धर्म के आश्रय से ही मिथ्या-सम्यक् उपदेश प्रवर्तता है; इसलिए कुदेव -कुधर्म-कुगुरु को वन्दना-पूजना तो दूर ही रहो; उनके संसर्ग ही से श्रद्धान बिगड़ता है। इस कारण समयग्दृष्टि उनकी सङ्गति भी नहीं करता है। स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसे कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि, कुदेव-कुत्सित आगम, और कुलिङ्गी भेषी को

भय से, आशा से, तथा लोभ से भी प्रणाम और उनकी विनय नहीं करता है' – इनके संसर्ग से श्रद्धान बिगड़ता है; धर्म की प्राप्ति तो दूर ही रही – ऐसा जानना चाहिए।

गाथा ३१७ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोषरहित देव को देव मानता है। भगवान को क्षुधा–तृषा, रोगादिक नहीं होते। तीर्थङ्कर को तो जन्म से ही निहार नहीं होता। ऐसे देव को जो नहीं जानता, वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है; मोक्षमार्गी नहीं है। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव, अन्य संसारी देव को नहीं मानता अथवा उनकी पूजादि नहीं करता।

धर्म तो अहिंसास्वरूप जानो। परजीव को नहीं मारना, वह अहिंसा नहीं है। किसी भी जीव को मारने का या जिलाने का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होना, वह अहिंसा है। अरागी स्वभाव में श्रद्धा–ज्ञान–रमणता ही अहिंसा है। पर को जिलाऊँ, पर की दया पालन करूँ – ऐसा माननेवाला जैन नहीं, परन्तु अजैन मिथ्यादृष्टि है क्योंकि पर का कुछ भी कर सकने की ताकत किसी परद्रव्य में नहीं है।

वह निष्परिग्रह गुरु को ही मानता है। जैनदर्शन–वीतरागमार्ग में मुनि, आत्मा के भानसहित नग्न–दिगम्बर होते हैं। एक धागा रखकर मुनिपना मनवानेवाला निगोद में जाता है। जैनदर्शन में भी कालदोष से विकृति आयी है। सम्यग्दृष्टि जीव, कुलिङ्गी–वेषधारी –मिथ्यादृष्टि को जानता है; उसे धर्म गुरु नहीं जानता, उसकी किसी प्रकार से वन्दना, पूजन आदर नहीं करता।

समस्त परिग्रहरहित भावलिङ्गी नग्न–दिगम्बर सन्त हों, उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव, गुरुरूप से स्वीकार करके आदरपूर्वक वन्दन–पूजनादि करता है।

देव–गुरु–धर्म के आश्रय से तो उपदेश वर्तता है। यदि देव–शास्त्र–गुरु ही मिथ्या हों तो उनका उपदेश भी मिथ्या होगा। देव–शास्त्र–गुरु सच्चे हों तो उनका उपदेश भी सच्चा होगा। जो जीव, मिथ्यादेव–शास्त्र–गुरु का आदर–बहुमान करता है, वह जीव सम्यक्श्रद्धा से भ्रष्ट है। कुदेव–कुगुरु को वन्दन–पूजन तो दूर रहो, परन्तु उनके संसर्ग से भी श्रद्धा बिगड़ती है। सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की प्रीति–बहुमान जिसे नहीं आता और मिथ्यादेव–शास्त्र–गुरु का

बहुमान जो नहीं छोड़ता, वह जीव स्थूल मिथ्यादृष्टि है। जो सच्ची श्रद्धावाला होता है, उसे सच्चे श्रद्धा-ज्ञानवाले के प्रति आदरभाव आये बिना नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी धर्मबुद्धि से कुदेवादिक का संसर्ग नहीं करता। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह कहा है कि भय से, आशा से, स्नेह से या लोभ से इन कुदेव, कुआगम तथा कुलिङ्गी वेषधारी को प्रणाम या उनका विनय, जो सम्यग्दृष्टि है, वह नहीं करता।

केवली भगवान को आहार-पानी रोग माने; स्त्री को अरहन्त पद या मुनिपद माने; मुनि को वस्त्रादिक परिग्रह माने और पुण्य से-निमित्त से धर्म होता है, पर का कुछ किया जा सकता है – ऐसा माने, वह कुगुरु है।

छह द्रव्य, नव तत्त्व, तथा देवादिक का स्वरूप जिसमें विपरीत है – ऐसे शास्त्र, वे कुआगम हैं। पञ्चम काल है; इसलिए आजीविका, पूज्यता इत्यादि कारण से उनका आदर करना पड़ता है – ऐसे माननेवाले को तो पुण्यतत्त्व की भी प्रतीति नहीं है; वह मूढ़ है, आत्मार्थी नहीं है।

जिसे तत्त्व में विरोध है, जिसकी निमित्ताधीन दृष्टि है, शास्त्र में से भी पराधीनता और राग की स्थापना करता है, वह कुगुरु है। धर्मी जीव, सच्चे देवादिक की ही वन्दन-विनय करता है; दूसरे कुलिङ्गी-कुदेव को वन्दन नहीं करता। ●●

देखो, आत्मार्थी जीव की पात्रता!

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

— *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा ३१८

अब, मिथ्यादृष्टि कैसा होता है, सो कहते हैं —

दोससहियं पि देवं, जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥

जो दोष युक्त को देव माने, जीव-हिंसा में धरम।
परिग्रही को गुरु माने, वही मिथ्यादृष्टि है॥

अन्वयार्थ : [जो] जो जीव, **[दोससहियं पि देवं]** दोषसहित देव को तो देव; **[जीवहिंसाइसंजुद धम्मं]** जीव-हिंसादि सहित को धर्म; **[गंथासत्तं च गुरुं]** परिग्रह में आसक्त को गुरु **[मण्णदि]** मानता है, **[सो हु कुद्दिट्ठी]** वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ : भाव मिथ्यादृष्टि तो अदृष्ट छिपा हुआ मिथ्यात्वी है। जो कुदेव - राग-द्वेष -मोह आदि अठारह दोषसहित को देव मानकर पूजा-वन्दना करता है; हिंसा-जीवघात से धर्म मानता है और परिग्रह में आसक्त भेषियों को (पाखण्डियों को) गुरु मानता है, वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

गाथा ३१८ पर प्रवचन

जो जीव, दोषसहित देवों को तो देव मानता है और वस्त्र-पात्र रखते हैं, उसे साधुपना मानता-मनवाता है, वह मूढ़ है; वह क्रमशः निगोद में जाता है क्योंकि **सनातन सत्यमार्ग के विरोध का फल निगोद है और आराधना का फल मोक्ष है** - ऐसा तीनों काल में नियम है।

जिसके आगम, गुरु, उपदेश मिथ्या हैं, वह प्रगट स्थूल मिथ्यादृष्टि है और उसे माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

आशय यह है कि जिसके भाव में सूक्ष्म मिथ्यात्व है, वह छुपा मिथ्यादृष्टि है परन्तु जो अठारह दोषवान् कुदेव को मानता है, वन्दन करता है; जीव-घातादि में धर्म मानता है; पुण्य से, निमित्त से, शरीर की क्रिया से धर्म मानता है, वही हिंसाधर्मी है।

जो वस्त्रादि परिग्रह में आसक्त है - ऐसे वेषधारी को गुरु मानता है, वह भी प्रगट मिथ्यादृष्टि है।

कोई कहता है कि व्यन्तरदेव, धनादिक देते हैं, रोग मिटाते हैं, उपकार करते हैं तो उनकी पूजन, वन्दना करना चाहिए या नहीं ? उसका उत्तर आगामी गाथा में देते हैं। ●●

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अत: जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-82)*

गाथा ३१९

अब, कोई प्रश्न करता है कि व्यन्तर आदि देव, लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते हैं; उनकी पूजा-वन्दना करें या नहीं ? उसको उत्तर देते हैं —

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥

लक्ष्मी देता न कोई, करे-नहिं उपकार रे।
उपकार या अपकार करते, कर्म शुभ या अशुभ रे॥

अन्वयार्थ : [को वि लच्छी ण य देदि] इस जीव को कोई व्यन्तर आदि देव, लक्ष्मी नहीं देते हैं, **[जीवस्स को वि उवयारं ण कुणदि]** इस जीव का कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है; **[सुहासुहं कम्मं पि उवयारं अवयारं कुणदि]** जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभकर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।

भावार्थ : कोई ऐसा मानते हैं कि व्यन्तर आदि देव हमको लक्ष्मी देते हैं, हमारा उपकार करते हैं; इसलिए हम उनकी पूजा-वन्दना करते हैं, सो वह मिथ्याबुद्धि है। पहले तो इस पञ्चम काल में प्रत्यक्ष कोई व्यन्तर आदि लक्ष्मी आदि देता हुआ देखा नहीं, उपकार करता हुआ भी दिखाई नहीं देता। यदि ऐसा होता तो पूजनेवाले दरिद्री, रोगी, दुःखी क्यों रहते ? इसलिए वृथा कल्पना करते हैं। परोक्ष में भी ऐसा नियमरूप सम्बन्ध दिखाई नहीं देता है कि उनकी पूजा करते हैं, उनके अवश्य उपकारादिक होवें ही; इसलिए यह मोही जीव, वृथा ही विकल्प उत्पन्न करता है। जो पूर्व सञ्चित शुभाशुभ कर्म हैं, वे ही इस प्राणी के सुख-दुःख, धन-दरिद्र, जीवन, मरण को करते हैं।

गाथा ३१९ पर प्रवचन

किसी को कोई व्यन्तर आदि देव, लक्ष्मी देते हुए, उपकार करते हुए दिखाई नहीं देता। वह कुछ कर ही नहीं सकता; मात्र पूर्व के पुण्य-पापकर्म जिस प्रकार के हों, वही उपकार -अपकार का निमित्त बनता है। पुद्गलपरावर्तन के नियमानुसार सब स्वतन्त्र, क्रमबद्ध, व्यवस्थित है। अभी तो भूत-व्यन्तर के नाम से ढोंग चलते हैं। व्यन्तर को पूजनेवाला भिखारी है; इसलिए व्यर्थ कल्पना करके अज्ञानी चाहे जो चेष्ठा करके, केवल पाप बाँधता है।

कोई अनुकूलता दिखती है, वह पूर्व कर्म के निमित्त से होती है। पुण्योदय होवे तो भूल से प्रतिकूल दवा से भी रोग मिटने के दृष्टान्त हैं। इसलिए शुभाशुभकर्म हैं, वही इस जीव को सुख-दुःख, दरिद्रता, रोग-निरोग, जीवन-मरण, संयोग-वियोग आदि करता है। सुख-दुःख तो मोही जीव, माने तो होते हैं।

आज भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का दिन है। आज से २५०८ वर्ष पहले भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि खिरी और शासन की उत्पत्ति हुई। भगवान को केवलज्ञान तो वैशाख शुक्ल दसवीं को हुआ था परन्तु दिव्यध्वनि आज खिरी है। भगवान की दिव्यध्वनि खिरे और उसे झेलनेवाले गणधर आदि न हों - ऐसा होता ही नहीं। भगवान की देशना खाली जाए - ऐसा नहीं होता, क्योंकि पूर्व में आत्मा के भानसहित धर्मवृद्धि के विकल्प से तीर्थङ्करनामकर्म बँधा है, उसके उदयकाल के समय दिव्यध्वनि खिरती है। उस दिव्यध्वनि के समय सामने धर्म समझनेवाले जीव होते ही हैं। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसे न्याय आते हैं कि समझनेवाले को स्वयं में धर्मवृद्धि का ही निमित्त होते हैं। धर्मवृद्धि के विकल्प से वाणी के परमाणु बँधे, वह वाणी, सामनेवाले जीवों को भी धर्म की वृद्धि का ही निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन से गिरकर भी अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार में भटकता है; जगत् में अभव्य जीव हैं - इत्यादि सब बात दिव्यध्वनि में आती हैं परन्तु सुननेवाले को तो वह वाणी, धर्म की वृद्धि के पुरुषार्थ का ही निमित्त है। वाणी तो धर्म की वृद्धि का और धर्म की उत्पत्ति का ही निमित्त है। भगवान की वाणी झेलकर बारह सभा के पात्र जीव, स्वभावसन्मुख झुकते हैं। उसमें कहीं पुरुषार्थहीनता की बात निकालें - ऐसा वाणी का निमित्तपना नहीं है।

आज भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है। गौतमस्वामी को आज गणधर पद प्राप्त हुआ

और आज ही द्वादशाङ्ग की रचना भी हुई है। उस ध्वनि को झेलकर जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं था, उन्होंने सम्यग्दर्शन प्रगट किया। गौतमस्वामी गणधर हुए। यह वीतराग की वाणी, धर्म की वृद्धि का कारण है।

अहो! मेरे आत्मा की पूर्णता पाऊँ! और जगत के जीव, धर्म प्राप्त करें - ऐसे भाव से पूर्व में वाणी के परमाणु बँधे थे। उनके उदय से जो वाणी खिरती है, वह वाणी शिथिलता में या वापस गिरने में निमित्त नहीं होती, परन्तु धर्म की वृद्धि में ही निमित्त है। ऐसी दिव्यध्वनि का प्रवाह आज निकला है।

अहो! वह काल, वह क्षेत्र, वह दिव्यध्वनि, और ऐसे श्रोताओं को धन्य है!

उस दिव्यध्वनि में वीतरागता का वर्णन है। प्रतिक्षण वीतरागता और शुद्धता बढ़े - ऐसी भावना का यह वर्णन चल रहा है। उसमें यहाँ धर्मभावना का वर्णन चलता है।●●

देखो, वीतराग के भक्त की अन्दर की पुकार!

हे जिनेन्द्र! आपके गुणवैभव की कीर्ति के समक्ष इन्द्र या चक्रवर्ती का वैभव तथा कीर्ति भी तुच्छ लगते हैं। वे चक्रवर्ती और इन्द्र भी आपकी सेवा करते हैं और आपकी सेवा के फल से ही उन्हें इन्द्रपना और चक्रवर्तीपना मिला है; इसलिए वहाँ भी हमें तो आपके गुणों की ही महिमा दिखायी देती है। जगत् में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ आपके गुणों का गुणगान न होता हो। हम भी जहाँ जाएँगे, वहाँ आपके गुणों के ही गीत गायेंगे और गाते-गाते मोक्ष में आयेंगे। हमारे पास दोष का नामो -निशान भी नहीं रहेगा। देखो, वीतराग के भक्त की अन्दर की पुकार! प्रभो! हम सर्व गुणसम्पन्न आपके उपासक बन गये.... अब हमारे में कोई दोष कैसे रह सकता है? हमारे गुणों के विस्तार को रोकने के लिए जगत् में कोई समर्थ नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ-१३

गाथा ३२०

भत्तीए पुज्जमाणो, विंतरदेवों वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥

भक्ति करने से यदि व्यन्तर धनादिक दें हमें।
तो क्यों करे हम धर्म ऐसा, ज्ञानिजन चिन्तन करें॥

अन्वयार्थ : [सद्दिट्ठी एवं चिंतेइ] सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि **[जदि भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि लच्छी देदि]** यदि भक्ति से पूजा हुआ व्यन्तरदेव ही लक्ष्मी को देता है **[तो धम्मं किं कीरदि]** तो धर्म क्यों किया जाता है ?

भावार्थ : कार्य तो लक्ष्मी से है, सो व्यन्तरदेव ही पूजा करने से लक्ष्मी दे देवे तो धर्म सेवन क्यों करना ? मोक्षमार्ग के प्रकरण में संसार की लक्ष्मी का अधिकार भी नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि तो मोक्षमार्गी है; संसार की लक्ष्मी को हेय जानता है, उसकी वाँछा ही नहीं करता है। यदि पुण्य के उदय से मिले तो मिलो और न मिले तो मत मिलो; मोक्षसिद्धि की ही भावना करता है; इसलिए संसारी देवादिक को पूजा-वन्दना क्यों करें ? कभी भी पूजा-वन्दना नहीं करता है।

गाथा ३२० पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि यदि व्यन्तरदेव को ही भक्तिपूर्वक पूजने से वह लक्ष्मी देता है तो धर्म करने का प्रयोजन क्या है ?

सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घट मैं प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छि सौं अजाची लच्छपती हैं।

दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥ *(नाटक-समयसार)*

देखो, यह अन्तर की लक्ष्मी! अहो ज्ञानानन्दस्वरूप मेरी लक्ष्मी है। विषयों में-जड़ में मेरा सुख नहीं है – इस प्रकार स्वरूपलक्ष्मी को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव, जड़ लक्ष्मी को अपनी नहीं गिनता और उसकी भावना नहीं करता।

अहो! जड़ लक्ष्मी के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है; मेरी अरागी चैतन्यदशा के साथ मेरा सम्बन्ध है। मेरी चैतन्यलक्ष्मी ही मेरी है; इसके अतिरिक्त जड़ लक्ष्मी आओ या जाओ – वह मेरी चीज नहीं है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ होवे तो भी उसे लक्ष्मी इत्यादि की दीनता नहीं होती। सम्यग्दृष्टि, प्रभु है। पर्याय में पामरता है परन्तु स्वभाव की प्रभुता का भान है। इन्द्र आये तो भी उसके समक्ष याचना नहीं करता। अरे! मैं तो चैतन्यलक्ष्मी का स्वामी! मुझे जड़ लक्ष्मी के साथ सम्बन्ध नहीं है – ऐसा भान होने से धर्मी जीव कभी दीनता नहीं करता। अहो! मेरी परिपूर्ण रिद्धि-समृद्धि मेरे पास है। राग भी मेरी लक्ष्मी नहीं है तो जड़-लक्ष्मी तो कहीं दूर रही। इसलिए धर्मी जीव, लक्ष्मी इत्यादि के लिए भी कुदेवादिक का सेवन कभी नहीं करता।

अब, सम्यग्दृष्टि जीव कैसा वस्तुस्वरूप विचार करता है, वह कहते हैं।●●

सम्यक्त्व के सन्मुख जीव

हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अतः वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अतः वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है। *—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-९७*

गाथा ३२१-३२३

अब कहते हैं कि ऐसा निश्चय करते हैं, वे तो सम्यग्दृष्टि हैं और इसमें संशय करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं —

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं, जम्मंवा अहव मरणं वा॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदिवारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा॥
एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥

जिस जीव के जिस देश में जिस विधि से जिस काल में।
जन्म अथवा मरण जाने, नियत जिन भगवान ने॥
उस जीव के उस देश में, उस विधि से उस समय ही।
कौन कर सकता निवारण, इन्द्र या जिनराज ही॥
इस तरह जाने नियत, सब द्रव्य की पर्याय सब।
वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जो, शङ्कित वही कुदृष्टि है॥

अन्वयार्थ : [जं जस्स जम्मिदेसे] जो जिस जीव के, जिस देश में, **[जम्मि कालम्मि]** जिस काल में, **[जेण विहाणेण]** जिस विधान से **[जम्मं वा अहव मरणं वा]** जन्म तथा मरण, उपलक्षण से दुःख-सुख, रोग-दारिद्र्य आदि **[जिणेण]** सर्वज्ञदेव के द्वारा **[णादं]** जाना गया है, **[णियदं]** वह वैसे ही नियम से होगा। **[तं तस्स तम्मि देसे]**

वह ही उस प्राणी के, उस ही देश में, **[तम्मि कालम्मि]** उस ही काल में, **[तेण विहाणेण]** उस ही विधान से नियम से होता है, **[इदो वा तह जिणिंदो वा को वारेदुं सक्कदि]** उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थङ्करदेव कोई भी निवारण नहीं कर सकते।

[जो एवं णिच्चयदो] जो इस प्रकार के निश्चय से **[दव्वाणि सव्वपज्जाए जाणदि]** सब द्रव्य-जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश काल इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है-श्रद्धान करता है, **[सो सुद्धो सद्दिट्ठी]** वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है; **[जो संकदि सो हु कुदिट्ठी]** जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है; शङ्का (सन्देह) करता है, वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ : सर्वज्ञदेव, सब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अवस्था जानते हैं; इसलिए जो सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका है - (जाना गया है), वह नियम से होता है; उसमें हीनादिक कुछ भी नहीं होता है - सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है।

जो इस प्रकार के निश्चय से सब द्रव्य, जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश, काल - इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है-श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है; शङ्का (सन्देह) करता है, वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

गाथा ३२१-३२३ पर प्रवचन

देखो, आज दिव्यध्वनि का दिन है और इस गाथा में दिव्यध्वनि का सार भर दिया है।

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जन्म तथा मरण; उपलक्षण से दुःख-सुख, रोग-दारिद्र्य आदि सर्वज्ञदेव के द्वारा जाना गया है, वह वैसे ही नियम से होगा। वह ही, उस प्राणी के, उस ही देश में, उस ही काल में, उस ही विधान से नियम से होता है; उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थङ्करदेव कोई भी निवारण नहीं कर सकते।

वस्तुस्वरूप का ऐसा निश्चय, सम्यग्दृष्टि को ही होता है; मिथ्यादृष्टि को ऐसा निर्णय यथार्थ नहीं होता। जिस क्षण में जिस माँ-बाप से जो पुत्र होना है, उसी क्षण में उन्हीं माँ-बाप से ही वह पुत्र होगा, उसमें परिवर्तन करने में कोई समर्थ नहीं है। कोई कहे कि पुत्र होना था

परन्तु निमित्त नहीं मिला; इसलिए पुत्र नहीं हुआ – यह बात झूठ है। सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चय है कि जिस काल में, जिस जीव का, जहाँ, जिस माता–पिता से जन्म होना है, उसी काल में, उस जीव का, वहाँ, उन्हीं माता–पिता से जन्म होगा। इसी प्रकार जिस काल में, जिस संयोग से, जिसका मरण होना है, उसी काल में, उसी संयोग से, उसका मरण होगा। उसमें दवा इत्यादि से फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है और उसमें फेरफार करना सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की प्रतीति! यह कोई विपत्ति के समय समाधान करने के लिए चिन्तवन नहीं है परन्तु यथार्थ वस्तुस्वरूप का चिन्तवन है। जिस क्षण में जन्म या मरण होना है, उस क्षण में एक समय भी आगे–पीछे होनेवाला नहीं है। जो जीव ऐसा नहीं मानता और फेरफार करना मानता है, वह जीव आगम का विरोधी प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

धर्मी को दवा इत्यादि का विकल्प आता है परन्तु उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं है। मेरा स्वरूप ज्ञाता–दृष्टा है; एक भी पर्याय में फेरफार करने को कोई समर्थ नहीं है। बाहर में जिस काल में, जिस जीव को, जैसा सुख या दु:ख का संयोग आनेवाला है, वह आयेग; उसे बदलने के लिए इन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र कोई समर्थ नहीं है। जिनेन्द्रदेव उसे जानते हैं परन्तु उसे बदलने में वे भी समर्थ नहीं हैं – ऐसी सम्यग्दृष्टि की दृढ़ प्रतीति है। जिसे ऐसा निर्णय नहीं है, वह जीव, मिथ्यादृष्टि है। पथ्य / उचित आहार करूँ, और ध्यान रखूँ तो शरीर में रोग नहीं आयेगा और ध्यान नहीं रखा, इसलिए रोग आया है – ऐसी मान्यता अज्ञानी की है। जिस क्षण में, शरीर में रोग होना है, उस क्षण में होना ही है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। धर्मी जीव तो उसका ज्ञाता रहता है। अपनी पर्याय का भी ज्ञाता और पर की पर्याय का भी ज्ञाता; कहीं परिवर्तन करने की बुद्धि भी नहीं रही है।

देखो, यह किसकी वाणी में आया? – भगवान महावीर परमात्मा की वाणी में ऐसी बात आयी है। अभी महाविदेह में सीमन्धर परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ उनकी दिव्यध्वनि में भी वे ऐसा वस्तुस्वरूप कह रहे हैं और गणधर उसे झेल रहे हैं।

जिस समय रोग, निरोग, दरिद्रता या धन आनेवाला होगा, उस क्षण में वैसा ही होगा। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तीन काल की पर्यायें जैसे प्रतिभासित हुई हैं, उसी अनुसार होनी हैं; उसमें परिवर्तन करने के लिए इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र कोई समर्थ नहीं है। धर्मी जीव जानता है कि

निर्धनता मुझमें नहीं है; मैं तो चैतन्यलक्ष्मी का स्वामी हूँ और धन आनेवाला होगा तो उसके कारण से आयेगा; मेरे प्रयत्न के कारण से वह नहीं आयेगा, मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। सर्वज्ञदेव ने एक समय में तीन काल–तीन लोक जाना है, और वैसा जानने का मेरा स्वभाव है। जो होनेवाला है, वह बदलनेवाला नहीं और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी होनेवाला नहीं है। मैं कहीं फेरफार करनेवाला नहीं हूँ परन्तु जैसा होता है, वैसा उसका जाननेवाला ही हूँ। पर की पर्याय को तो बदलनेवाला नहीं, परन्तु मेरी पर्याय को भी बदलनेवाला नहीं हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव सन्मुख रहकर धर्मी का निश्चय है।

सम्यग्दर्शनपर्याय या सम्यक्चारित्रपर्याय जिस समय होनी है, उसी समय होनी है – ऐसा निर्णय द्रव्य के सन्मुख रहकर करता है; इसलिए द्रव्यस्वभाव के सन्मुख रहकर जाननेवाला रहा और राग–द्वेष की खुदबुदाहट उड़ गयी। द्रव्यदृष्टि से अकेला वीतरागभाव रहा, यही जैनदर्शन है। उसे प्रतिक्षण ज्ञाता–दृष्टापना स्वभाव की सन्मुखता से ही बढ़ता है। जिसे, जिस समय, जिस निमित्त के संयोग में सम्यग्दर्शन इत्यादि होना है, उसे, उसी समय में, उसी निमित्त के सम्बन्ध में सम्यग्दर्शन इत्यादि पर्यायें होंगी – ऐसा धर्मी जानता है। इसलिए मैं किसी को धर्म प्राप्त करा दूँ – ऐसी मिथ्याबुद्धि उसे नहीं होती, वह ज्ञाता ही रहता है।

देखो, यह सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ स्वतन्त्रता का ढ़िंढोरा!

सब ही व्यवस्थित है, ऐसा सर्वज्ञ ने देखा, उसी अनुसार नियम से होना है –

जो जो देख्यो वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहि क्योंहि काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढै नहि घटसी, जो सुख दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै न मन कूडो, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥ *ब्रह्मविलास*

भगवान सर्वज्ञदेव ने जो जो देखा है, वह वह होता है; नहीं होने योग्य कुछ नहीं होता, इसलिए परिवर्तन की बुद्धि छोड़कर, तेरे स्वभाव के सन्मुख होकर उसका ज्ञाता रहना – इसका नाम सच्चा धीरज है। जिसे ऐसा निर्णय है, उस धर्मी को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि है और राग की, निमित्त की अथवा पर्याय की बुद्धि छूट जाती है; इसलिए वह स्वभावदृष्टि से ज्ञाता ही रहता है। बस! यही मोक्ष का पुरुषार्थ है!

भगवान स्वामीकार्तिकेय, मुनि-सन्त थे, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे, आनन्दसागर में मस्त थे - नग्न-दिगम्बर अडोलवृत्ति के धारक थे। उन्हें विकल्प उत्पन्न होने से यह शास्त्र रच गया है। उसमें कहते हैं कि अहो! सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा, वैसा ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में होता है। ऐसी सर्वज्ञता की और वस्तुस्वरूप की प्रतीति अज्ञानी को नहीं आती है।

अहो! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में तो स्वभावसन्मुख होकर ज्ञाता रह जाता है। अहो! अनन्त सिद्ध और सर्व केवली भगवन्तों के ज्ञान में जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, जिस प्रकार से ज्ञात हुए हैं, उसी प्रकार से नियम से होता है - ऐसा सम्यग्दृष्टि का निश्चय है। ऐसा निश्चय करने पर तो ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य आ गया कि अहो! मैं तो ज्ञान हूँ, मैं 'ज्ञान' स्वभावी हूँ- मेरे ज्ञानस्वभाव में से तो ज्ञान और आनन्द ही निकलता है। इस प्रकार स्वभावसन्मुख बुद्धि हो जाती है। जो जीव ऐसा वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो जीव सन्देह करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं है, ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है, सन्तों की या आगम की भी प्रतीति नहीं है।

देखो, ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की अद्‌भुतता! देखो, यह धर्मी की ज्ञानस्वभाव की भावना की अचिन्त्यता!!

आशय यह है कि सर्वज्ञदेव सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अवस्था को जानते हैं और सर्वज्ञ के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, वही नियम से होता है परन्तु उसमें हीनाधिक कुछ नहीं होता - ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है।

जिस समय ग्यारहवाँ गुणस्थान आना है, उस समय में वही अवस्था होगी। जो समय गिरने का है, उस समय में गिरेगा, उसमें फेरफार नहीं होता, परन्तु जो ऐसा निर्णय करता है, उसे स्वयं के गिरने की शङ्का नहीं रहती; उसे तो स्वभाव के प्रति अप्रतिहतभाव रहता है। उसे स्वयं को तो स्वभावदृष्टि हुई है; इसलिए वह साधक है। साधक है, वह तो वीतरागभाव को बढ़ाता है और बाधकभाव का नाश करता जाता है। जो होना है, वही होगा - ऐसा निर्णय तो स्वयं के ज्ञान में किया है और उस ज्ञान का झुकाव तो स्वभाव की रुचि की तरफ है; इसलिए मैं पर का करूँ या पर मेरा करे - ऐसी बुद्धि नहीं रहती; इसलिए पर तरफ का झुकाव भी नहीं रहा, परन्तु ज्ञानस्वभाव के सन्मुख झुकाव हो गया; इसलिए पर का ज्ञाता रहा। इसमें वीतरागभाव

आता है। समस्त द्रव्यों में क्रमबद्धपर्याय होती है; इसलिए कहीं किसी में कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि नहीं रही, अर्थात् ज्ञाता ही रहा – वही मोक्षमार्ग है।

देखो, गौतम आये, इसलिए भगवान की वाणी खिरी – ऐसा नहीं है। सर्वज्ञदेव ने उसी समय में वाणी निकलना पहले से जाना था, वह वाणी उसके परमाणु के काल में खिरी है। भगवान के कारण या गौतम के कारण वाणी नहीं निकली। निमित्त के कारण पर्याय में फेरफार होता है – ऐसा जो मानता है, वह जीव आगम से विरुद्ध, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

कर्म की अवस्था में भी संक्रमण, अपकर्षण इत्यादि उसकी अवस्था के काल में क्रमबद्ध होते हैं; जीव के कारण वह पर्याय नहीं हुई है – ऐसा समझनेवाले की दृष्टि अपने स्वभाव की ओर होती है।

भगवान की दिव्यध्वनि में यह बात आयी थी कि जिस समय जिस द्रव्य–क्षेत्र–काल –भाव की जो अवस्था होनी है, उसी समय में उसी अनुसार होगी – ऐसा वस्तुस्वरूप है। उसकी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जैन नहीं है। जैन तो उसे कहते हैं कि जो जीव, वस्तुस्वरूप को पहचान कर मिथ्यात्व और राग–द्वेष को जीतता है।

सर्वज्ञदेव ने एक समय में तीन काल–तीन लोक को जाना है। भविष्य के अनन्त काल की पर्यायें भी अभी से ज्ञान में ज्ञात हो गयी है। 'भविष्य की पर्यायें होंगी, तब उन्हें ज्ञात होंगी' – ऐसा जो मानता है, उसने सर्वज्ञ को नहीं जाना है। अहो! कोई जीव, एक–दो भव में मोक्ष जाएगा, कोई अनन्त भव के बाद मोक्ष जाएगा – यह सब भगवान अभी से जान रहे हैं। भगवान के उस ज्ञान में भव नहीं है और जिसने ऐसे भवरहित भगवान के ज्ञान का निर्णय किया है, उस जीव को भी भव की शङ्का नहीं रहती है और उसे विशेष भव नहीं रहते हैं।

देखो, इस गाथा में ज्ञानस्वभाव के निर्णयसहित की यह बात है। जिसे गोम्मटसार में एकान्त, नियतवादरूप गृहीत मिथ्यात्व कहा है, वहाँ तो जो जीव, सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता – ऐसे जीव की बात है और यहाँ तो सर्वज्ञ के और ज्ञानस्वभाव के निर्णयसहित सम्यग्दृष्टि जीव के चिन्तवन की बात है।

अहो! दिगम्बर सन्तों का कोई भी ग्रन्थ लो..... वह आत्मा को चैतन्यस्वभाव में स्थिर कर देता है।

सर्वज्ञदेव ने जिस समय में जो पर्याय देखी है, उसी समय में वही पर्याय होती है – वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ उड़ जाता है परन्तु उस मूढ़ जीव को ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ भासित नहीं होता। **अहो! ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञाता-दृष्टा रहा, वही वीतरागता और केवलज्ञान का पन्थ है, वही पुरुषार्थ है। जिसने ऐसा निर्णय किया, उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता।**

सर्वज्ञ का ज्ञानस्वभाव शक्ति से और व्यक्ति से पूर्ण है; उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी परिपूर्ण है – ऐसी स्वभाव की प्रतीति करके, उसके सन्मुख दृष्टि की, वह सम्यग्दृष्टि जीव 'अचिरं', अर्थात् अल्प काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। त्रिलोकनाथ की जो दिव्यध्वनि खिरी, गणधरदेव ने झेल कर शास्त्रों की रचना की और सन्तों की परम्परा से जो वाणी चली आयी है, उसमें यह रहस्य रहा हुआ है।

वाणी के काल में वाणी निकलती है और विकल्प के काल में विकल्प आता है परन्तु धर्मी जीव को स्वभाव की दृष्टि है, वह उसका ज्ञाता है। पर्याय को बदलना नहीं, वाणी को बदलना नहीं; अन्तर के ज्ञानस्वभाव का जिसने निर्णय किया, वह जीव नियम से मोक्षमार्गी है और जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, वह जीव प्रगट मिथ्यादृष्टि है। इसलिए वस्तुस्वरूप का निर्णय करके ज्ञानस्वभाव के सन्मुख दृष्टि से वीतरागभाव से ज्ञाता-दृष्टा रहना, वही मोक्ष का कारण है।

इन ३२१-३२२-३२३ गाथाओं में सम्पूर्ण जैनदर्शन का सार भर दिया है। ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप को जो मानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और उसमें सन्देह करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।●●

गाथा ३२४

अब कहते हैं कि जो विशेषतत्त्व को नहीं जानता है और जिनवचनों में आज्ञामात्र श्रद्धान करता है, वह भी श्रद्धावान् कहलाता है।

जो ण विजाणइ तच्चं, सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरेहि भणियं, तं सव्वमहं समिच्छामि॥

जो तत्त्व को नहिं जानता, जिन वचन में श्रद्धा करे।
जिनदेव ने जैसा कहा, वह सभी स्वीकृत है मुझे॥

अन्वयार्थ : [जो तच्चं ण विजाणइ] जो जीव, अपने ज्ञान के विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरु के संयोग बिना, तत्त्वार्थ को नहीं जान पाता है, **[सो जिणवयणे सद्दयणं करेदि]** वह जीव, जिनवचनों में ऐसा श्रद्धान करता है कि **[जं जिणवरेहि भणियं]** जो जिनेश्वरदेव ने तत्त्व कहा है, **[तं सव्वमहं समिच्छामि]** उस सब ही को मैं भले प्रकार इष्ट (स्वीकार) करता हूँ; इस तरह भी श्रद्धावान् होता है।

भावार्थ : जो जिनेश्वर के वचनों की श्रद्धा करता है कि जो सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह सब ही मेरे इष्ट है, ऐसी सामान्यश्रद्धा से भी आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है।

गाथा ३२४ पर प्रवचन

जिस जीव को विशेष क्षयोपशमज्ञान नहीं है, अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं जान सकता और निमित्तरूप से वैसा समझानेवाले विशिष्ट गुरु का योग भी नहीं है, वह जीव, मूल प्रयोजनरूप तत्त्वों को जानकर, दूसरे तत्त्वों की सर्वज्ञ के अनुसार श्रद्धा करता है तो वह भी सम्यग्दृष्टि है। मूल वस्तुस्वरूप को भी नहीं जाने और ऐसा का ऐसा कहे कि 'भगवान ने कहा

वह सत्य' तो वह कहीं सम्यग्दृष्टि नहीं कहलाता। निशङ्कितअङ्ग में अञ्जन चोर का दृष्टान्त दिया है परन्तु उसने तो बाद में शुद्ध आत्मा की श्रद्धा प्रगट की थी; इसलिए पूर्व का आरोप करके उसका दृष्टान्त दिया है परन्तु जो जीव, निश्चय की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करता और अकेले भगवान के नाम पर श्रद्धा करता है – ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि नहीं कहा है, और ऐसे जीव का दृष्टान्त भी शास्त्र में नहीं दिया है। विशेष क्षयोपशम के अभाव में न्याय–युक्ति इत्यादि पहलू नहीं समझे, परन्तु मूलभूत तत्त्वों को तो अपने ज्ञान से जानता है – ऐसे जीव की बात है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धापूर्वक के आज्ञासम्यक्त्व की बात है। पहले तो तीन गाथाओं में वस्तुस्वरूप कहा, उस अनुसार जानें। जो उसमें शङ्का करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

आशय यह है कि जो जिनेश्वर के वचनों की श्रद्धा करता है कि सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह सब मुझे इष्ट है, ऐसी सामान्यश्रद्धा से भी उसे आज्ञासम्यक्त्वी कहा है।

जैनदर्शन में सर्वज्ञ परमात्मा ने जो मार्ग कहा और दिगम्बर सन्तों ने परम्परा से धारण किया, वह एक ही वीतरागीमार्ग है। ऐसे वीतरागमार्ग के अतिरिक्त, दूसरे मार्ग को माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद आचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, धरसेनाचार्य इत्यादि दिगम्बर सन्तों ने वीतरागमार्ग को यथार्थरूप से टिका रखा है।

जिस जीव को विशेष सूक्ष्म ज्ञान न हो, वह जीव मूलभूत तत्त्वों का तो निर्णय करे और दूसरे में बुद्धि नहीं पहुँचे, वहाँ सर्वज्ञ की आज्ञानुसार प्रतीति करके माने, उसे आज्ञासम्यक्त्वी कहते हैं परन्तु वह जीव, अपने ज्ञानस्वभाव को तो जानता है कि मैं ज्ञान हूँ, पदार्थों में कहीं फेरफार करनेवाला मैं नहीं हूँ। जिसे ऐसा निर्णय भी नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। जो सर्वज्ञ को मानता है और सर्वज्ञ के समान अपने आत्मस्वभाव को जानता है परन्तु शास्त्रों के विशेष पहलुओं का / अपेक्षाओं का ज्ञान नहीं होवे तो सर्वज्ञ की आज्ञानुसार उनकी प्रतीति करता है कि सर्वज्ञदेव ने जो कहा है, वह मुझे इष्ट है परन्तु सर्वज्ञ के शास्त्रों में सन्देह नहीं करता – ऐसा जीव आज्ञासम्यक्त्वी है।

अब, तीन गाथाओं में सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं। ●●

गाथा ३२५

अब, सम्यक्त्व का माहात्म्य तीन गाथाओं में कहते हैं —

रयणाण महारयणं, सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धिण महा रिद्धि, सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं॥

सब रत्न में यह श्रेष्ठ है, सब योग में उत्तम यही।
सब ऋद्धियों में महा ऋद्धि, सिद्धिप्रद सम्यकत्व ही॥

अन्वयार्थ : [रयणाण महारयणं] सम्यक्त्व, रत्नों में तो महारत्न है; **[सव्वजोयाण उत्तमं जोयं]** सब योगों में (वस्तु की सिद्धि करने के उपाय, मन्त्र, ध्यान आदि में), उत्तम योग है क्योंकि सम्यक्त्व से मोक्ष की सिद्धि होती है; **[रिद्धिण महारिद्धि]** अणिमादिक ऋद्धियों में, सबसे बड़ी ऋद्धि है; **[सव्वसिद्धियरं सम्मत्तं]** अधिक क्या कहें, सब सिद्धियों को करनेवाला यह सम्यक्त्व ही है।

गाथा ३२५ पर प्रवचन

अहो! सम्यग्दर्शन महारत्न है। शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, वही सर्व रत्नों में महारत्न है। लौकिक रत्न तो जड़ हैं परन्तु देह से भिन्न केवल शुद्ध चैतन्य का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वही महारत्न है।

पानी में उत्कृष्ट स्वच्छ पानी हो, उसे उद्करत्न कहते हैं; अच्छा पुत्र हो तो उसे पुत्ररत्न कहते हैं; चक्रवर्ती का उत्कृष्ट घोड़ा हो, उसे अश्वरत्न कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट वस्तु को रत्न कहते हैं परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वे सब रत्न तो कहनेमात्र हैं; वस्तुत: चैतन्यस्वभाव की शुद्ध प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन ही सर्व रत्नों में श्रेष्ठ रत्न है। चक्रवर्ती के चौदह रत्न से भी सातवें नरक के नारकी का सम्यक्त्वरत्न श्रेष्ठ है। सम्यक्त्वरत्न के समक्ष, बाह्य के रत्नों की

कोई कीमत नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव को कोई डिगाने आवे तो भी वह श्रद्धा से चलित नहीं होता। स्वर्ग में रत्नों के ढेर प्राप्त हों, उसमें जीव का कोई कल्याण नहीं है। सम्यग्दर्शनरत्न, अपूर्व कल्याणकारी है। सम्यग्दर्शन सर्व कल्याण का मूल है। उस सम्यग्दर्शन के बिना जो कुछ करे, वह तो सब 'राख के ऊपर लीपने' जैसा है। सम्यग्दृष्टि जीव, स्त्री-पुत्रादि के लिए किसी मिथ्या देवी-देवता को नहीं मानता। लोक में मन्त्र-तन्त्र-औषध इत्यादि हैं, वे तो पुण्य हो तो फलते हैं परन्तु यह सम्यग्दर्शन रत्न, सर्व रत्नों में ऐसा श्रेष्ठ रत्न है कि देव भी उसकी महिमा करते हैं।

सम्यग्दर्शन ही समस्त मन्त्रों ने श्रेष्ठ मन्त्र है। णमोकारमन्त्र को श्रेष्ठ मन्त्र कहा जाता है, वह तो उपचार से है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ मन्त्र है। णमोकारमन्त्र तो अभव्यजीव ने भी अनन्त बार जपे हैं परन्तु वह तो शुभभाव है। सम्यग्दर्शन के बिना, संसार का नाश नहीं होता है। णमोकारमन्त्र बोलने का भाव तो राग है; वह ज्ञान का कार्य नहीं है। ज्ञान में राग नहीं है और राग में ज्ञान नहीं है - ऐसे भान के बिना कल्याण नहीं होता; इसलिए सर्व मन्त्रों में सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ मन्त्र है।

सम्यग्दर्शन से तो आत्मा की मुक्ति साधी जा सकती है, इसके अतिरिक्त दूसरे मन्त्रों से मोक्ष नहीं सधता है; इसलिए सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ मन्त्र है। अणिमा-महिमा इत्यादि ऋद्धियाँ प्रगट हों, उसकी अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ ऋद्धि है। अणिमाऋद्धि इत्यादि तो पुण्य का फल है और अभव्य को भी वैसी ऋद्धि तो होती है परन्तु सम्यग्दर्शन ही अपूर्व ऋद्धि है; सम्यग्दृष्टि ही सच्ची ऋद्धिवाला है।

रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट मैं प्रगट सदा।
अन्तर की लच्छी सौं अजाची लच्छपती हैं॥
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥

जिसे सम्यग्दर्शन है, वह अल्प काल में सिद्धदशा प्राप्त करेगा। अहो! सम्यग्दर्शन ही सर्व सिद्धि का करनेवाला है। चक्रवर्ती की ऋद्धि, तीर्थङ्कर की ऋद्धि, इन्द्र की ऋद्धि,

वासुदेव–बलदेव की ऋद्धि, और मोक्ष की ऋद्धि – ये सभी ऋद्धियाँ सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त होती हैं; मिथ्यादृष्टि जीव को वैसी पदवी नहीं बँधती है।

कोई चाण्डाल होवे, वह भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और वह सम्यग्दृष्टि चाण्डाल, मिथ्यादृष्टि देव से भी श्रेष्ठ है। राख के नीचे अङ्गार ढँका हो, तदनुसार चाण्डाल की देह में रहनेवाला सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रेष्ठ है। चाण्डाल को मुनिदशा नहीं होती, परन्तु सम्यग्दर्शन होता है। कोई हरिकेशी इत्यादि चाण्डाल को मुनिदशा होना कहे तो वह बात मिथ्या है; उसी प्रकार स्त्री–देह में रहनेवाले आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती।

अहो! सम्यग्दर्शन, सर्व सिद्धि का मूल है। देखो, सम्यग्दृष्टि को कैसी प्रतीति होती है, वह पहले कहा जा चुका है। यह तो वीतरागमार्ग है, इसमें सत्य को सत्य जानना चाहिए। उल्टा–सीधा माने तो चल नहीं सकता। आँख में तो कदाचित रजकण समाता है परन्तु शुद्ध वीतराग–मार्ग में जरा भी आगे–पीछे चले – ऐसा नहीं है। जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा उसे जानकर प्रतीति करे, वह सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन, जगत् में श्रेष्ठ है।●●

साधकदशा ही परमार्थ स्तवन

हे भाई! तू सर्वज्ञस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसकी उपासना कर! तेरे १४८ कर्मबन्धन की बेड़ी क्षणमात्र में टूट जाएगी। अरे, वीतरागभावरूप जिनभक्ति तो अन्दर के मोह और भव के बन्धन को क्षण में छिन्न–भिन्न कर देती है, तब बाहर के ताले टूट जाएँ — इसमें क्या आश्चर्य है? लोग तो बाहर के आश्चर्य में अटक जाते हैं और बाहर की आशा से भक्तामर आदि पढ़ते हैं परन्तु भाई! स्तुति का वास्तविक प्रयोजन तो अन्तर में अपने वीतरागभाव की वृद्धि हो — यह है। तू जिनकी स्तुति करता है, उन्होंने तो सम्पूर्ण राग को छोड़ दिया है; अतः उनकी स्तुति भी रागरहित भाव से ही सुशोभित होती है। भगवान और भक्त, दोनों के भावों में जितना सुमेल हो, उतनी साधकदशा है और वही परमार्थस्तवन है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ३६-३७

गाथा ३२६

सम्मत्तगुणप्पहाणो, देविंदणरिंदवंदिओ होदि।
चत्तवयो वि य पावइ, सग्गसुहं उत्तमं विविहं॥

सम्यकत्व गुण युत मनु वन्दित देव-इन्द्र नरेन्द्र से।
व्रत रहित है पर विविध उत्तम स्वर्ग सुख पावे अरे॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तगुणप्पहाणो] सम्यक्तवगुणसहित जो पुरुष प्रधान है, वह **[देविंदणरिंदवंदिओ होदि]** देवों के इन्द्र तथा मुनष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय होता है; **[चत्तवयो वि य उत्तमं विविहं सग्गसुहं पावइ]** व्रतरहित होने पर भी उत्तम अनेक प्रकार के स्वर्ग के सुख पाता है।

भावार्थ : जिसमें सम्यक्त्वगुण होता है, वह प्रधान पुरुष है, वह देवेन्द्रादिक से पूज्य होता है। सम्यक्त्व में देव ही की आयु बँधती है; इसलिए व्रतरहित के भी स्वर्ग ही का जाना मुख्यरूप से कहा है। सम्यक्त्वगुणप्रधान का ऐसा भी अर्थ होता है कि जो सम्यक्त्व, पच्चीस मल दोषों से रहित हो, अपने नि:शङ्कित आदि गुणों सहित हो तथा संवेगादि गुणसहित हो - ऐसे सम्यक्त्व के गुणों से प्रधान पुरुष होता है; वह देवेन्द्रादि से पूज्य होता है और स्वर्ग को प्राप्त करता है।

गाथा ३२६ पर प्रवचन

फिर से सम्यग्दर्शन की महिमा करते हैं।

देखो! देव भी सम्यग्दृष्टि का आदर करते हैं। अहो, धन्य! धन्य!! इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं। सम्यग्दृष्टि होवे और व्रतादि न हो तो भी इन्द्र और चक्रवर्ती भी साधर्मी के रूप में उसका आदर करते हैं कि अहो! धन्य है तुम्हें! और ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव,

व्रतादि रहित होने पर भी, यहाँ से मरकर स्वर्ग में वैमानिक देव होता है। मिथ्यादृष्टि पुण्य बाँधकर भले ही स्वर्ग में जाए परन्तु वहाँ से वापिस चार गति में – नरक–निगोद में परिभ्रमण करेगा। सम्यग्दर्शनसहित जीव को उत्तम स्वर्ग और उत्तम मनुष्य की ही आयु बँधती है, वह हल्की गति में नहीं जाता है।

आशय यह है कि जिसमें सम्यग्दर्शनगुण है, वह प्रधान पुरुष है। वह देवों, इन्द्रादिकों से पूज्य होता है। सम्यक्त्वसहित जीव, देव की आयु बाँधता है; इसलिए व्रतरहित को भी स्वर्ग गति में जाना मुख्य कहा है। सम्यक्त्वगुणप्रधान का यह अर्थ भी होता है कि पच्चीस मल दोषरहित हो, अपने निशङ्कितादि गुणसहित हो और संवेगादि गुणसहित हो – ऐसे सम्यक्त्व के गुणों से जो प्रधान पुरुष होता है, वह देवेन्द्र आदि द्वारा पूज्य होता है, अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त होता है।

शङ्कादि आठ दोष; जाति मद इत्यादि आठ मद; देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता, लोक मूढ़ता, तथा कुदेव–कुगुरु–कुधर्म और उनके सेवक – ये छह अनायतन — ऐसे पच्चीस प्रकार के दोष हैं। जिसे उन पच्चीस दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, देवों द्वारा भी पूजनीय है – ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है। ●●

त्रिकाली द्रव्य की दास

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्मस्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है, किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ ११६

गाथा ३२७

सम्माइट्ठी जीवो, दुग्गदिहेदूं ण बंधदे कम्मं।
जं बसुभवेसु बद्धं, दुक्कम्मं तं पि णासेदि॥

बाँधे न सम्यग्दृष्टि दुर्गति हेतु कर्मों को अरे।
जो पूर्व में बाँधे हुए, दुष्कर्म उनका क्षय करे॥

अन्वयार्थ : [सम्माइट्ठी जीवो] सम्यग्दृष्टि जीव, **[दुग्गदिहेदुं कम्मं ण बंधदे]** दुर्गति के कारणभूत अशुभकर्म को नहीं बाँधता है **[जं बहुभवेसु बद्ध दुक्कम्म तं पि णासेदि]** और जो अनेक पूर्व भवों में बाँधे हुए पापकर्म हैं, उनका भी नाश करता है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि, मरकर द्वितीयादिक नरकों में नहीं जाता है; ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देव नहीं होता है; स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है; पाँच स्थावर, विकलत्रय, असैनी निगोद, म्लेच्छ, कुभोगभूमि – इन सबमें उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि इसके अनन्तानुबन्धी के उदय के अभाव से दुर्गति के कारणभूत कषायों के स्थानकरूप परिणाम नहीं हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है कि तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान कल्याणरूप अन्य पदार्थ नहीं है और मिथ्यात्व के समान शत्रु नहीं है; इसलिए श्रीगुरुओं का यह उपदेश है कि अपने सर्वस्व उद्यम / उपाय / यत्न द्वारा मिथ्यात्व का नाश कर, सम्यक्त्व को अङ्गीकार करना चाहिए। इस तरह गृहस्थधर्म के बारह भेदों में पहिला भेद, सम्यक्त्वसहितपना है, उसका वर्णन किया।

गाथा ३२७ पर प्रवचन

फिर से सम्यग्दर्शन की महिमा कहते हैं।

देखो! ऐसा सम्यग्दर्शन ही सबसे पहला धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, प्रतिमा

या मुनिदशा नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बिना जीव, चार गति में भटक रहा है। लोक में मान –प्रतिष्ठा की दरकार करता है परन्तु चैतन्य के भान बिना, अनादि काल से चार गतियों में भटक रहा है; उसमें चैतन्य की इज्जत जाती है, उसकी दरकार नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीव को व्रत, तप न हो तो भी वह मोक्षमार्गी है और सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप करे तो भी वह जीव, संसारमार्गी ही है।

सम्यग्दर्शनसहित जीव को कभी नरक की, स्त्री की, तिर्यञ्च की या हल्के देव–मनुष्य की आयुष्य नहीं बँधती है। सम्यग्दृष्टि जीव को कदाचित् युद्ध के परिणाम हों, परन्तु उस समय उसे आयुष्य नहीं बँधती है। सम्यग्दृष्टि को पापभाव आये और असाता का बँध हो, परन्तु उसे नरकादिक की आयुष्य नहीं बँधती है, उसका भव नहीं बिगड़ता है। अन्तर शुद्धस्वभाव की दृष्टि पड़ी है, वह भव को नहीं बिगड़ने देती और भव को बढ़ने भी नहीं देती। ज्ञानस्वभाव के अनादर से जो कर्म बँधे, उन कर्मों को ज्ञानस्वभाव की भावना से सम्यग्दृष्टि नाश कर डालता है। सम्यग्दृष्टि को पूर्व अज्ञानदशा में कोई नरकादिक की आयुष्य बँध जाए, परन्तु सम्यग्दर्शनसहित जीव को तो नरकादिक की आयुष्य बँधती ही नहीं – ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है। इसलिए शुद्धात्मा की पहिचान करके, ऐसे सम्यग्दर्शनधर्म को अङ्गीकार करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव, मरण करके प्रथम नरक के अलावा शेष छह नरकों में नहीं जाता; ज्योतिष, व्यन्तर, और भवनवासी देव नहीं होता; स्त्री–पर्याय में उत्पन्न नहीं होता; पाँच स्थावर, तीन विकलत्रय (दो, तीन, चार इन्द्रियधारी), असंज्ञी, निगोद, म्लेच्छ तथा कुभोगभूमि में उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसे अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव से दुर्गति के कारणरूप कषायों के स्थानकरूप परिणाम नहीं होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव, कभी स्त्रीरूप से उत्पन्न नहीं होता; मिथ्यादृष्टि ही स्त्रीरूप से उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर, जन्म से ही सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे कभी स्त्रीरूप से अवतरित नहीं होते। मल्लिनाथ तीर्थङ्कर भगवान, स्त्री नहीं थे, अपितु राजकुमार थे। तीर्थङ्कर तो महापूज्य पुरुष हैं, वे कभी स्त्रीरूप से उत्पन्न नहीं होते हैं। स्त्री को सम्यग्दर्शन होता है परन्तु स्त्रीरूप से उत्पन्न हो, उस समय तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। इन्द्राणी, सम्यग्दृष्टि होती है परन्तु इन्द्राणीरूप से

उत्पन्न हो, उस समय तो वह मिथ्यादृष्टि ही होती है। साधारण सम्यग्दृष्टि जीव भी स्त्रीरूप से अवतरित नहीं होता तो फिर तीर्थङ्कर की क्या बात! सम्यग्दृष्टि कभी स्त्रीरूप से अवतरित नहीं होता – यह त्रिकाल नियम है। सम्यग्दृष्टि म्लेच्छरूप से अवतरित नहीं होता; कुभोगभूमि में अवतरित नहीं होता; निगोद या असंज्ञीरूप से भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसे अनन्तानुबन्धी कषाय का ही अभाव है; इसलिए उसे ऐसी दुर्गति के कारणरूप परिणाम होते ही नहीं हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शन की महिमा बतायी जा रही है। तीन काल–तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान कल्याणरूप अन्य कोई पदार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना कल्याण नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यक्चारित्र होता है। ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि करने के अतिरिक्त जगत् में कोई कल्याणरूप नहीं है। देह की क्रिया से पार, मन–वचन से रहित और पुण्य–पाप से भी पार / भिन्न अखण्ड चिदानन्दस्वरूप की निर्विकल्प श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन के समान इस जगत् में जीव का दूसरा कोई हितरूप नहीं है और मिथ्याश्रद्धा के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

जो जीव, चैतन्यस्वभाव को चूक कर, पुण्य से धर्म मानता है, शरीर की क्रिया से धर्म मानता है, मैं शरीर की क्रिया करता हूँ – ऐसा मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। उस मिथ्यादृष्टि के व्रत, तप, संयम, सब संसार का ही कारण हैं। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे व्रत –तप नहीं होते। सम्यग्दर्शन की महिमा लोगों के ख्याल में नहीं आती और मिथ्यात्व का दोष ही सबसे बड़ा दोष है (यह भी समझ में नहीं आता)।

सम्यग्दृष्टि को अचारित्रदशा में राग होता है परन्तु उसका पाप बहुत अल्प है; मिथ्याश्रद्धा का पाप सबसे बड़ा है। वह मिथ्याश्रद्धा, जीव को अनन्त संसार में परिभ्रमण करानेवाला महाशत्रु है। कोई मस्तक काट दे, उसकी अपेक्षा भी मिथ्यात्व ही बड़ा शत्रु है। वीतरागदेव के द्वारा कथित शुद्ध आत्मा के भान बिना भले ही पुण्य की क्रिया करे तो भी उसका किञ्चित कल्याण नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन के समान कोई कल्याण नहीं है और मिथ्यादर्शन के समान कोई पाप नहीं है; इसलिए श्रीगुरु का उपदेश है कि अपने सर्वस्व उपाय / उद्यम / यत्न से भी एक मिथ्यात्व का नाश करके, सम्यक्त्व अङ्गीकार करना चाहिए। मन्द कषाय

करके उसे धर्म मानें तो वहाँ मिथ्यात्व का बड़ा पाप साथ ही बँधता है। अल्प पुण्य के साथ मिथ्यात्व का महापाप है। आत्मा के भान बिना, मिथ्यात्व का महापाप नहीं मिटता है। अहो! आत्मा के पूर्ण प्रयत्न से शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की पहिचान करके, सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही भगवान सर्वज्ञ का और सन्तों का महान उपदेश है।

देखो! यहाँ समयग्दर्शन के लिए उद्यम की बात की है। कोई कहता है कि 'सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ से नहीं होता, चारित्र में पुरुषार्थ है और सम्यग्दर्शन तो दैव से होता है' — तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। सम्यग्दर्शन भी अपने पुरुषार्थ से ही होता है। सम्यग्दर्शन, वह गृहस्थ का सबसे पहला धर्म है; मात्र देव-गुरु-शास्त्र को शुभराग से मान ले, वह कहीं धर्म नहीं है। गृहस्थ के बारह प्रकार के धर्म में सबसे पहला धर्म, सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन के बाद ही व्रतप्रतिमा होती हैं। उनका वर्णन आगे करेंगे।

धर्म, अनन्त-अनन्त काल में महादुर्लभ है। धर्म का मूल सर्वज्ञदेव हैं। उनके द्वारा कथित तत्त्व, यथार्थ हैं। आत्मा, ज्ञानस्वभावी है। स्वभाव, शक्तिरूप से है, उसका पूर्णरूप से विकास हो सकता है। वैसा पूर्ण विकास, सर्वज्ञ वीतरागदेव को है, वे अनन्त हो गये हैं और होंगे। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में देहसहित अरहन्तदशा है, वे एक समय में तीन काल-तीन लोक के सर्व पदार्थों का स्वरूप सर्व प्रकार से जानते हैं।

जिसने ऐसे सर्वज्ञ की प्रतीति की है, उसने मैं ज्ञातामात्र स्वभावरूप हूँ; कर्ता नहीं - ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव का भी निर्णय किया है और उसमें अनन्त पुरुषार्थ आया है। अल्पज्ञता, विकार, और निमित्त की रुचि छूट कर, पूर्ण ज्ञानस्वभाव की रुचि हुई है। क्रमबद्ध जो-जो हुआ, होता है, और होगा, उसे जाननेवालामात्र हूँ - ऐसी दृढ़ता हुई और अकेला ज्ञायक ही हूँ - ऐसी स्वसन्मुख बुद्धि हुई है। त्रिकाल ज्ञातास्वभाव ही मात्र उपादेय है और अल्पज्ञता, विकार तथा निमित्त, हेय है - ऐसी निशङ्कता होती है। जो-जो होना है, वह होता है। सर्वज्ञ ने देखा है, इसलिए होता है - ऐसा नहीं, परन्तु प्रत्येक वस्तु के व्यवस्थितस्वभाव से ही क्रमबद्ध होता है। कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती, अकस्मात् कुछ नहीं होता; इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को स्वीकार करके कर्तृत्वबुद्धि और विकार की दृष्टि छोड़कर, पर से उदास रहा और स्वभावसन्मुख पुरुषार्थवान हुआ, उसमें स्व-द्रव्यसन्मुख ज्ञाता रहने का पुरुषार्थ आया।

जिसे सर्वज्ञ के निर्णय में सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का निर्णय और छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता, ज्ञान में भासित हुई, वह तीन काल-तीन लोक की वस्तुस्थिति का नियम जान लेता है। सर्वज्ञ का निर्णय करे तो अभी ही अपूर्ण ज्ञानवाले को भी तीन लोक-तीन काल का पता लगता ही है; किसी बात में शङ्का नहीं होती।

स्वभाव की प्रतीति से मिथ्यावासना का नाश करे तो सम्यग्ज्ञान, अन्दर शक्ति के विश्वास से प्रगट होता है और सामान्य अन्तरस्वभाव में एकाग्र होवे तो पूर्ण निर्मल विकास प्रगट हो सकता है और जिसका स्वभाव जानना है, वह पूर्णरूप से प्रगट होने पर किसे नहीं जानेगा! सबको, सब प्रकार से एक समय में जानेगा ही जानेगा।●●

उसके महासद्भाग्य की क्या बात!

अरे! दुनिया को कहाँ खबर है कि भगवान कैसे होते हैं! उन्हें तो उनके भक्त... साधक धर्मात्मा ही पहचानते हैं। एक उत्तम राजा भी पुण्यप्रकृति से कैसा सुशोभित होता है! तो यह तो तीन लोक के धर्मराजा तीर्थङ्कर.... उनके अन्तर में सर्वज्ञता का अतीन्द्रिय वैभव और बाहर में धर्मसभा का दिव्य वैभव, उनकी महिमा की क्या बात! जहाँ ऊपर से विमान में इन्द्र उतरते हैं और प्रभुचरण में झुकते हैं; सिंह-बाघ जैसे तिर्यञ्च, शान्त होकर प्रभु के मुख को देखते हैं; मुनिराज, प्रभु की भक्ति करते हैं; रत्नों की वृष्टि होती है; अनेक जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करते हैं – साधारण पुण्यवाले जीवों को ऐसी बात देखने -सुनने को कहाँ से मिलेगी?

भगवान की ऐसी अचिन्त्य महिमा जिसके अन्तर में हो, उसके महासद्भाग्य की क्या बात! वह तो मानो मोक्ष के दरबार में आया है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ-१११

गाथा ३२८

ज्ञानी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

अब, प्रतिमा के ग्यारह भेदों के स्वरूप कहेंगे। पहले, दार्शनिक श्रावक का स्वरूप कहते हैं –

बहुतससमण्णिदं जं, मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियदं, सो दंसणसावओ होदि॥

त्रस घात से उत्पन्न मदिरा माँस निन्दित वस्तु को।
जो नियम से है त्यागता, वह दार्शनिक श्रावक अहा॥

अन्वयार्थ : [बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं] बहुत से त्रसजीवों के घात से उत्पन्न तथा मदिरा का और अति निन्दनीय माँस आदि द्रव्य का **[जो णियदं ण य सेवदि]** जो नियम से सेवन नहीं करता है – भक्षण नहीं करता है, **[सो दंसणसावओ होदि]** वह दार्शनिक श्रावक है।

भावार्थ : मदिरा और माँस तथा आदि शब्द से मधु और पञ्च उदम्बरफल – ये वस्तुएँ बहुत त्रसजीवों के घातसहित हैं; इसलिए दार्शनिक श्रावक, इनका भक्षण नहीं करता है। मद्य तो मन को मोहित करता है, तब धर्म को भूल जाता है। माँस, त्रसघात के बिना होता ही नहीं है। मधु की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, वह भी त्रसघात का स्थान ही है। पीपल, बड़, पीलू फलों में प्रत्यक्ष त्रसजीव उड़ते हुए दिखायी देते हैं। अन्य ग्रन्थों में कहा है कि वे श्रावक के आठ मूलगुण हैं और इनको त्रसहिंसा के उपलक्षण कहे हैं; इसलिए जिन वस्तुओं में त्रसहिंसा बहुत होती है, वे श्रावक के लिए अभक्ष्य हैं; इस कारण उनका भक्षण करना योग्य नहीं है।

सात व्यसन, अन्यायप्रवृत्ति के मूल (जड़) हैं, उनका भी यहाँ त्याग कहा है। जुआ, माँस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, और परस्त्री – ये सात व्यसन कहे गये हैं। व्यसन नाम आपत्ति और कष्ट का है। इनके सेवन करनेवालों पर भी अपत्तियाँ आती हैं। इनके सेवनकर्ता राजा व पञ्चों से दण्ड योग्य होते हैं तथा इनका सेवन भी आपत्ति और कष्टरूप है। श्रावक, ऐसे अन्याय के कार्य नहीं करता है। यहाँ दर्शन नाम सम्यक्त्व का है तथा धर्म की मूर्ति सबके देखने में आती है, उसका भी नाम दर्शन है, सो सम्यग्दृष्टि होकर जिनमत का सेवन करे और अभक्ष्य तथा अन्याय अङ्गीकार करे तो सम्यक्त्व को तथा जिनमत को लज्जित करे – मलिन करे; इसलिए इनको नियमपूर्वक छोड़ने पर ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है।

गाथा ३२८ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शनपूर्वक द्रव्यस्वभाव का विशेष आवलम्बन बढ़ने से पाँचवाँ गुणस्थान, जो श्रावकपना है, प्रगट होता है। उसमें क्रम-क्रम से निर्मलता की वृद्धिरूप प्रतिमा के ग्यारह भेद हैं, उनका स्वरूप कहते हैं। प्रतिमा, अर्थात् प्रतिमासमान प्रतिज्ञा की दृढ़ता। दृष्टि में वीतरागता है; चारित्र में स्वभावलीनता द्वारा जितने अंश में वीतरागी शान्ति बढ़ती है, उसमें पाँचवें गुणस्थान की बात है।

प्रतिमा, पाँचवें गुणस्थान में होती है। उससे पूर्व अन्तर में शुद्ध आत्मा का भान और सम्यग्दर्शन तो चौथे गुणस्थान में भी होता है; सम्यग्दर्शन के बाद ही प्रतिमा होती है। सम्यग्दर्शन के बिना कोई धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिसने शुद्ध चैतन्य को ध्येय बनाया है, उसे ही उसमें एकाग्रता से राग टूटने पर ऐसी प्रतिमा होती है। सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक की दशा कैसी होती है? – उसकी यह बात है।

आत्मज्ञानसन्मुख दृष्टि की मुख्यता रखकर, बहुत त्रसजीवों के घात से जो उत्पन्न होता है – ऐसी अतिनिंद्य मदिरा, माँस पदार्थ हैं, उन्हें नियम से सेवन नहीं करता, नहीं खाता; उदम्बर फल – अंजीर, बड़, तथा पीपल के फल इत्यादि दार्शनिक श्रावक नहीं लेता, अर्थात् उन्हें ग्रहण करने के राग की उत्पत्ति उसे नहीं होती।

मदिरा, माँस तथा आदि शब्द से मधु और पञ्च उदम्बर फल, जो कि त्रसजीवों के घातसहित हैं, उन वस्तुओं का दार्शनिक श्रावक भक्षण नहीं करता। मद्य तो मन को मूर्च्छित

करता है, धर्म को भुलाता है; माँस तो त्रसघात के बिना होता ही नहीं; मधु की उत्पत्ति त्रसघात का प्रसिद्ध स्थान ही है और पीपल, बड़, इत्यादि फलों में त्रसजीव उड़ते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अन्य ग्रन्थों में भी कहा है कि यह श्रावक के आठ मूलगुण हैं और इनको त्रसहिंसा का उपलक्षण कहते हैं। इसलिए जिन वस्तुओं में बहुत त्रसहिंसा होती है, वे श्रावक को अभक्ष्य हैं, भक्षण योग्य नहीं हैं तथा जो अन्याय प्रवृत्ति का मूलरूप है – ऐसे सात व्यसनों का त्याग भी यहाँ कहा गया है। जुआ, माँस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, और परस्त्री सेवन – ये सात व्यसन हैं। व्यसन, नाम आपदा या कपट का है, उसका सेवन करनेवाले को आपदा आती है। वह राजा या पञ्चों के द्वारा दण्ड के योग्य होता है। इनका सेवन भी आपदा या कष्टरूप है; इसलिए श्रावक ऐसे अन्यायरूप कार्य नहीं करता।

यहाँ 'दर्शन' नाम सम्यक्त्व का है तथा जिसके द्वारा 'धर्म की मूर्ति है' ऐसा सबको देखने में आवे, उसका नाम भी दर्शन है। जो सम्यग्दृष्टि हो – जिनमत का सेवन करता हो और अभक्ष्य भक्षण–अन्याय अङ्गीकार करे तो सम्यक्त्व को मलिन करे और जिनमत को लजाये; इसलिए उसे नियम से छोड़ने से ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है।

समकिती श्रावक को सिद्ध परमात्मा के जैसा आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द अन्दर में प्रगट हो गया है। इसलिए उसे मद्य, माँसादि अभक्ष्य खाने–पीने का राग नहीं होता। जैन नामधारी भी सीधेरूप से मधु, माँस, शराब का सेवन नहीं करता। कोई जीव, खाने–पीने की क्रिया कर सकता है – यह बात नहीं है परन्तु जिसमें त्रसहिंसा हो, वैसे किसी आहार का राग, सहज ज्ञानस्वभाव के भान द्वारा उत्पन्न नहीं होने दे, उसे सच्चा श्रावक कहते हैं।

यहाँ दर्शन – सम्यक्त्व द्वारा धर्म की मूर्ति है – ऐसा सबको देखने में आता है। जिसे सर्वज्ञ वीतराग के अभिप्राय को भले प्रकार जानकर, अन्तर्मुख ज्ञातापने की गाढ़ रुचि है, वह जिनमत को सेवन करनेवाला है। उस अन्तर की विशेष रुचिपूर्वक अभक्ष्य और अन्याय के पाप का सेवन नहीं करता है। यदि सेवन करे तो सम्यक्त्व को मलिन करता है और जिनमत की निन्दा कराता है; इसलिए उनके त्यागसहित आंशिक चारित्रवान होने पर ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है। ●●

गाथा ३२९

दिढचित्तो जो कीरदि, एवं पि वयं णियाणपरिहीणो।
वेरग्गभावियमणो, सो वि य दंसणगुणो होदि॥

दृढ़ चित हो इस नियम को, वाञ्छा रहित जो पालता।
वैराग्य भीने हृदय से, वह दार्शनिक क्षावक कहा॥

अन्वयार्थ : [**एवं पि वयं**] ऐसे व्रत को, [**दिढचित्तो**] दृढ़चित्त हो [**णियाण-परिहीणो**] निदान (इस लोक-पर लोक के भोगों की वाँछा) से रहित हो, [**वेरग्ग-भावियमणो**] वैराग्य से भावित (गीला) मनवाला होता हुआ, [**जो कीरदि**] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है, [**सो विय दंसणगुणो होदि**] वह दार्शनिकश्रावक होता है।

भावार्थ : पहली गाथा में श्रावक का स्वरूप कहा था, उसी के तीन विशेषण और जानना चाहिए। पहले तो दृढ़चित्त हो - परीषह आदि कष्ट आवे तो व्रत की प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं हो। निदानरहित हो - इस लोक सम्बन्धी यश, सुख, सम्पत्ति और पर लोक सम्बन्धी शुभगति की वाँछारहित हो। वैराग्यभावना से जिसका चित्त सिञ्चित हो। अभक्ष्य तथा अन्याय को अत्यन्त अनर्थ जानकर त्याग करे। ऐसा नहीं कि ये शास्त्र में त्यागने योग्य कहे हैं; इसलिए छोड़ना चाहिए और परिणामों में राग मिटे नहीं। त्याग के अनेक आशय होते हैं, सो इसके अन्य आशय नहीं होता; केवल तीव्रकषाय के निमित्त महापाप जानकर त्याग करता है। इनका त्याग करने पर ही आगामी प्रतिमा के उपदेश-योग्य होता है। व्रती निःशल्य कहा गया है; इसलिए शल्यरहित त्याग होता है। इस तरह दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक के स्वरूप का वर्णन किया।

गाथा ३२९ पर प्रवचन

जो अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणीय – ऐसी दो कषाय चौकड़ी का नाश करके, आत्मा की आराधकदशा में ज्ञान–वैराग्य की वृद्धि करनेवाला है, वह श्रावक है।

ऐसे व्रत को दृढ़चित्त हो, निदान (इस लोक परलोक के भोगों की वाँछा) से रहित हो, वैराग्य से भावित (गीला) मनवाला होता हुआ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है, वह दार्शनिक श्रावक होता है।

पूर्व गाथा में श्रावक कहा, उसमें यह तीन विशेषण विशेष जानना चाहिए। पहले तो दृढ़ चित्त हो, अर्थात् परीषह आदि कष्ट आने पर भी व्रत की प्रतिज्ञा से विचलित न हो।

इस लोक की अनुकूलता–यश, सम्पत्ति की आशा से व्रत का पालन करे तो वह व्रती नहीं है। धर्मी जीव को पर लोक सम्बन्धी कुछ आकाँक्षा नहीं है; नित्यानन्द ज्ञानमय स्वभाव ही उसका उत्तम पर लोक है, उसमें ही वह सदा सन्तुष्ट रहता है; इसलिए वह किसी पर की सहायता नहीं चाहता।

ज्ञानसहित वैराग्यभावना से जिसका चित्त भीगा हुआ होता है – ऐसा वह श्रावक है। अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वरूप के भान बिना सच्चा वैराग्य नहीं होता। कोई दुःख गर्भित या मोह गर्भित त्याग–वैराग्य ले बैठता है, वह सच्चा त्याग नहीं है।

पाँच उदम्बर फल, मद्य–माँस–मधु के प्रति जितनी तीव्रकषाय करता है, तद्नुसार पाप है। तीव्रराग करता है, उसे अभक्ष्य आदि चीज निमित्त कहलाती है। सामने निमित्त है; इसलिए तीव्रराग होता है – ऐसा नहीं है। आत्मज्ञानपूर्वक स्वभाव की एकग्रता की भूमिका में वैसा अशुभराग नहीं होता; बाह्य त्याग तो उपचार से कथन है।

अब, दूसरी व्रतप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं। इस व्रतप्रतिमा के वर्णन की इकतालीस गाथाएँ हैं, उनमें बारह व्रतों का वर्णन किया है।●●

गाथा ३३०

अब, दूसरी व्रतप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

पंचाणुव्वयधारी, गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो।
दिढचित्तो समजुत्तो, णाणी वयसावओ होदि॥

जो पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत तथा।
दृढ़ चित्त समताभावयुत, ज्ञानी व्रती श्रावक कहा॥

अन्वयार्थ : [**पंचाणुव्वयधारी**] जो पाँच अणुव्रतों का धारक हो; [**गुणवय सिक्खावएहिं संजुत्तो**] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतसहित हो; [**दिढचित्तो समजुत्तो**] दृढ़चित्त हो और समताभावसहित हो; [**णाणी वयसावओ होदि**] ज्ञानवान् हो, वह व्रतप्रतिमा का धारक श्रावक है।

भावार्थ : यहाँ अणु शब्द, अल्प का वाचक है। जो पाँचों पापों में स्थूल पाप हैं, उनका त्याग है; इसलिए अणुव्रत संज्ञा है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत, उन अणुव्रतों की रक्षा करनेवाले हैं; इसलिए अणुव्रती उनको भी धारण करता है। इसके प्रतिज्ञा, व्रत की है, सो दृढ़चित्त है – कष्ट, उपसर्ग–परीषह आने पर भी शिथिल नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से व्रत होते हैं और प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय से होते हैं; इसलिए उपशमभावसहित विशेषण दिया है। यद्यपि दर्शनप्रतिमा धारी के भी अप्रत्याख्यानावरण का अभाव तो हो गया है परन्तु प्रत्याख्यानवरण कषाय के तीव्र स्थानों के उदय से अतीचाररहित पाँच अणुव्रत नहीं होते हैं; इसलिए अणुव्रत संज्ञा नहीं आती है और स्थूल अपेक्षा से उसके भी त्रस भक्षण के त्याग से अणुत्व है। व्यसनों में चोरी का त्याग है; इसलिए असत्य भी इसमें गर्भित है। परस्त्री का त्याग है, वैराग्यभावना है; इसलिए परिग्रह की मूर्छा के स्थान भी घटते

हैं; परिमाण भी करता है परन्तु निरतिचार नहीं होते; इसीलिए व्रतप्रतिमा नाम नहीं पाता है। ज्ञानी विशेषण भी उचित ही है। सम्यग्दृष्टि हो, व्रत का स्वरूप जानकर गुरुओं की दी हुई प्रतिज्ञा लेता है, वह ज्ञानी ही है – ऐसा जानना चाहिए।

गाथा ३३० पर प्रवचन

देखो, यह व्रतप्रतिमा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को ही होती है। आत्मा के भान बिना अकेला शुभराग करना, वह कहीं वास्तविक व्रत नहीं है। जैसे, एक के बिना की बिन्दियों की कोई कीमत नहीं है; एक होवे तो उसके बाद की बिन्दियाँ संख्या में नौ की वृद्धि करती हैं, दूसरी बिन्दी चढ़े तो नब्बे की वृद्धि करती है; इसी प्रकार पहले अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन करना, वह एक है; उसके बाद व्रत आदि में तो विशेष वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शनरूपी एक के बिना, बाह्य त्याग या शुभराग करे, उसे कुछ व्रत नहीं कहते; इसलिए सम्यग्दर्शन को तो मूल में रखकर ही यह सब व्रतों की बात समझना चाहिए।

जो पाँच अणुव्रतधारक होता है; तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रतसहित होता है; दृढ़ चित्तवान होता है; समभाव से युक्त होता है तथा ज्ञानवान होता है, वह व्रतप्रतिमाधारक श्रावक है।

यहाँ 'अणु' शब्द अल्पतावाचक है। यहाँ पाँच पाप में स्थूल पापों का त्याग है तथा उसकी 'अणुव्रत' संज्ञा है। गुणव्रत, शिक्षाव्रत हैं, वे इन अणुव्रतों की रक्षा करनेवाले हैं; इसलिए अणुव्रती उन्हें भी धारण करता है। यह जीव, व्रत की प्रतिज्ञा में दृढ़चित्त है। कष्ट – उपसर्ग –परीषह आने पर भी शिथिल नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय से ये व्रत होते हैं; इसलिए 'उपशमभावसहितपना' – ऐसा विशेषण दिया है। यद्यपि दर्शनप्रतिमाधारी को भी अप्रत्याख्यानावरण का अभाव तो हुआ है परन्तु प्रत्याख्यानावरणकषाय के तीव्र स्थानकों के उदय से उसे अतिचाररहित पाँच अणुव्रत नहीं होते; इसलिए वहाँ अणुव्रत संज्ञा नहीं है परन्तु स्थूल अपेक्षा से उसे भी त्रसघात और अभक्ष्य भक्षण के त्याग से, अणुव्रत–अणुत्व है।

व्यसनों में चोरी का त्याग है; इसलिए असत्य भी उसमें गर्भित है। परस्त्री का त्याग है और वैराग्यभावना है; इसलिए परिग्रह की मूर्च्छा के स्थानक घटते हैं – उसमें वह प्रमाण

/ मर्यादा करता है परन्तु निरतिचार नहीं बनता; इसलिए वह व्रतप्रतिमा नाम प्राप्त नहीं करता है।

'ज्ञानी' विशेषण है, वह भी योग्य ही है क्योंकि सम्यग्दृष्टि बनकर, व्रत का स्वरूप जानकर, श्रीगुरु के द्वारा दी गयी प्रतिज्ञा को धारण करता है; इसलिए वह ज्ञानी ही कहलाता है – ऐसा जानना।

महावीतरागी मुनिवरों को तो तीन प्रकार के कषायों का नाश होकर, अत्यधिक वीतरागता हो गयी है – ऐसे सन्तों को तो महाव्रत होते हैं; उनमें उन्हें सूक्ष्म पापों का भी त्याग होता है। अहो! निर्ग्रन्थ वीतरागी सन्तों को इतना अधिक अकषायभाव हो गया होता है कि वस्त्र के ग्रहण का विकल्प भी उन्हें नहीं उत्पन्न होता। वे क्षण-क्षण में निर्विकल्प आत्मानुभव में स्थिर होते हैं – ऐसे सन्त तो महाव्रती हैं और श्रावक को स्थूल हिंसादि पापों के त्यागरूप आंशिक वीतरागभाव है, वह देशव्रत है। श्रावक को भी अन्तर के चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से व्रतभाव प्रगट हुआ है। चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग आयें तो भी वह अपने व्रत से च्युत नहीं होता-शिथिल नहीं होता। उसे स्वभाव के अवलम्बन से ऐसी दृढ़ता होती है कि चाहे जैसे घोर परीषह या उपसर्ग में भी वह च्युत नहीं होता। श्रावक को अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान -माया-लोभ का तो पहले, सम्यग्दर्शन होते ही नाश हो गया है, पश्चात् पञ्चम गुणस्थान होने पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक का भी अभाव हुआ है तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय की अत्यन्त मन्दता हो गयी है। अपने स्वभाव के अवलम्बन से इतना वीतरागभाव प्रगट हो, उसका नाम व्रतप्रतिमा है; इसके अतिरिक्त सच्चे व्रत या प्रतिमा नहीं होते हैं।

अभी तो जिसे आत्मा का भान भी न हो, मुनिदशा किसे कहना और श्रावकदशा किसे कहना? – उसका भी भान न हो — उसे सच्चे व्रत कहाँ से होंगे और मुनिदशा की तो गन्ध भी कैसे होगी? पहले सच्ची पहचान करने के लिए यह बात है। जैसे-जैसे स्वभाव का अवलम्बन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ऊपर कषायों का रस घटता जाता है। व्रतप्रतिमावाले श्रावक को अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणीय का तो अभाव ही हुआ है और तीसरी प्रत्याख्यानावरणीयकषाय का रस बहुत मन्द हो गया है तथा अन्दर में उपशमभाव बहुत बढ़ गया है। देखो, यह व्रती की दशा! अन्दर के उपशमरस में लीनता हुई है, वहाँ तीव्र हिंसादिक के भाव होते ही नहीं, उसका नाम व्रत है। ●●

गाथा ३३१-३३२

अब, पाँच अणुव्रतों में से पहले अहिंसाणुव्रत को कहते हैं —

जो वावरइ सदओ, अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो।
णिंदणगरहणजुत्तो, परिहरमाणो महारंभे॥
तसघादं जो ण करदि, मणवयकाएहि णेव कारयदि।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि, पढमवयं जायदे तस्स॥

दया युत वर्तन करे, निजसम गिने जो अन्य को।
निन्दा तथा गर्हा करे, त्यागे बहु आरम्भ को॥
त्रस घात जो न करे करावे, काय मन वच में नहीं।
अनुमोदना नहिं करे पर की, वह है अहिंसाणुव्रती॥

अन्वयार्थ : [तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहि णेव कारयदि] जो श्रावक, त्रसजीव - दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय का घात मन-वचन-काय से आप नहीं करे, दूसरे से नहीं करावे **[कुव्वंतं पि ण इच्छदि]** और अन्य को करते हुए को इष्ट (अच्छा) नहीं माने, **[तस्स पढमवयं जायदे]** उसके पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। कैसा है श्रावक ? **[जो सदओ वावरइ]** जो दयासहित तो व्यापार कार्य में प्रवृत्ति करता है; **[अप्पाणसमं परं पि मण्णतो]** सब प्राणियों को अपने समान मानता है; **[णिंदणगरहणजुत्तो]** निन्दा और गर्हासहित है; (व्यापारादि कार्यों में हिंसा होती है, उसकी अपने मन में) निन्दा करता है। गुरुओं के पास अपने पापों को कहता है, सो गर्हासहित है (जो पाप लगते हैं, उनकी गुरुओं की आज्ञाप्रमाण आलोचना-प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित लेता है) **[महारंभे**

परिहरमाणो] जिनमें त्रसहिंसा बहुत होती हो – ऐसे बड़े व्यापार आदि के कार्य–महारम्भों को छोड़ता हुआ प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ : त्रसघात, स्वयं नहीं करता है; दूसरे से नहीं कराता है, करते हुए को अच्छा नहीं मानता है। परजीवों को अपने समान जाने, तब परघात नहीं करे। बड़े आरम्भ, जिनमें त्रसघात बहुत हो, उनको छोड़ो और अल्प आरम्भ में त्रसघात हो, उसकी निन्दा–गर्हा करे, आलोचन–प्रतिक्रमण–प्रायश्चितादि करे। इनके अतिचार, अन्य ग्रन्थों में कहे हैं, उनको टाले (न लगने दे)। इस गाथा में अन्य जीव को अपने समान जानना कहा है, उसमें अतिचार टालना भी आ गया। पर के वध–बन्धन–अतिभारारोपण, अन्नपाननिरोध में दुःख होता है, सो आप समान पर को जाने, तब क्यों करे।

गाथा ३३१-३३२ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन का विषय–ध्येय सामान्य अखण्ड द्रव्यस्वभाव है। उसके अवलम्बन से ही निर्मलतारूप धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना होता है। ज्ञायकस्वभाव का विशेष अवलम्बन करने से पञ्चम गुणस्थान के योग्य अन्तरङ्ग शुद्धि होती है और उतने प्रमाण में राग की उत्पत्ति नहीं होती। उस भूमिका में पाँच अणुव्रतादि का पालन सहज होता है; उसमें हठ नहीं करना पड़ता। स्वभाव में भानपूर्वक की एकाग्रता, वह निश्चयव्रत है और वहाँ जो शुभराग का भाग रहता है, वह व्यवहारव्रत है।

अब, श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन करेंगे।

जो ज्ञातास्वभाव में विशेष जागृतिवाला है, वह श्रावक दो इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रियरूप त्रस–जीवों का मन–वचन–काया द्वारा स्वयं घात नहीं करता, नहीं कराता, और करते हुए का अनुमोदन भी नहीं करता, उसे अरागी स्वभावदृष्टि और लीनता के कारण, प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है।

आत्मा, ज्ञान और राग के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता, परन्तु मन–वचन–काया के अवलम्बन में त्रसघात का भाव अपने में न होने देना, इसका नाम अहिंसा है। हिंसा होती हो तो अनुमोदन करने का भाव, व्रती को नहीं होता। पर को मारने या जिलाने की क्रिया, किसी

आत्मा के आधीन नहीं है परन्तु शुभाशुभराग के समय बाह्य निमित्त क्या होता है ? उस ओर से कथन होता है। पुण्य-पापरूप अधर्मभाव या वीतरागी धर्मभाव तो स्वयं में करता है तो होते हैं; कोई कराये अथवा पर के कारण होते हैं - ऐसा नहीं है।

जीवों के प्राणों का जीवन-मरण तो उनके आयुकर्म से ही है - ऐसा धर्मी जानता है परन्तु कभी प्रमाद से स्वयं को तीव्रराग हो जाए तो गुरु के समीप जाकर अपने पाप की निन्दा करता है; आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता है। गुरु के पास विनय से निवेदन करता है। बोलने की क्रिया तो जड़ की है, उससे पुण्य-पाप नहीं है; अपने प्रमादभाव के अनुसार पुण्य-पाप है। राग, मन्द करे तो पुण्य है; धर्म नहीं। महाआरम्भ छोड़ता है। पर की क्रिया में कोई महा-आरम्भ-समारम्भ नहीं है परन्तु वहाँ तीव्रराग था, उस अशुभराग का अवलम्बन छोड़कर, ज्ञातामात्र स्वभाव में आंशिक जागृति बढ़ायी, उसका नाम महा-आरम्भयुक्त खोटे व्यापारादि कार्यों को छोड़ता है - ऐसा कहा है।

पञ्चम गुणस्थान में त्रसघात का कृत-कारित और अनुमोदन नहीं है। परजीवों को अपने समान जानता है और ज्ञातापने में धीरज होने से परघात नहीं करता, मारने का भाव नहीं करता। मैं भी अनन्त गुण का पिण्ड परमात्मा के समान हूँ और ये सब जीव भी केवल ज्ञानानन्द की मूर्ति हैं। वर्तमान अवस्था में संसार / मलिनभाव है, उसे गौण करके आत्मस्वभाव को मुख्य करके देखता है; इसलिए किसी के प्रति शत्रु-मित्र की बुद्धि नहीं करता। परजीव को मारने का भाव, सहज ही नहीं होता है।

अहो! पञ्चम गुणस्थानवर्ती कोई जीव, निर्धन या रोगी हो तो उसे भी सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग के देव से अनन्तगुनी अधिक शान्ति है क्योंकि दो कषाय चौकड़ी का अभाव होकर अन्तरङ्ग शान्ति बढ़ गयी है। वह अन्य जीवों को अपने समान मानता है; इसलिए उसे वध -बन्धन, अतिभार आरोहण, अन्नपान निरोधन, करता-कराता नहीं है। उसमें उस प्राणी को दु:ख होता है; इसलिए वैसी क्रूरता नहीं करता है।●●

गाथा ३३३-३३४

अब, दूसरे सत्याणुव्रत को कहते हैं —

हिंसावयणं ण वयदि, कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुरवयणं पि तहा, ण भासदे गुज्झवयणं पि॥
हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपयासणवयणं, अणुव्वदि होदि सो बिदियो॥

हिंसावचन नहिं कहे, कर्कश वचन भी कहना नहीं।
निष्ठुर वचन भी नहिं कहे, नहिं कहे गुप्त वचन कभी॥
हित मित वचन प्रिय बोलता, सब जीव को सन्तोष कर।
वाणी प्रकाशे धर्म को, वह सत्य अणुव्रत युत प्रवर॥

अन्वयार्थ : [जो हिंसावयणं ण वयदि] जो हिंसा के वचन नहीं कहता है, **[कक्कसवयणं पि ण भासेदि]** कर्कश वचन भी नहीं कहता है **[णिट्ठुरवयणं पि तहा]** तथा निष्ठुर वचन भी नहीं कहता है **[गुज्झवयणं पि ण भासदे]** और पर का गुह्य (गुप्त) वचन भी नहीं कहता है। तो कैसे वचन कहे ? **[हिदमिदवयणं भासदि]** पर के हितरूप तथा प्रमाणरूप वचन कहता है, **[तु सव्वजीवाणं संतोसकरं]** सब जीवों को सन्तोष करनेवाले वचन कहता है, **[धम्मपयासणवयणं]** धर्म का प्रकाश करनेवाले वचन कहता है, **[सो बिदिओ अणुव्वदि होदि]** वह पुरुष, दूसरे अणुव्रत का धारी होता है।

भावार्थ : असत्य वचन, अनेक प्रकार का है, उनका पूर्ण त्याग तो सकलचारित्र के धारक मुनियों के ही होता है और अणुव्रतों में तो स्थूल का ही त्याग है; इसलिए जिस वचन से परजीव का घात हो – ऐसे हिंसा के वचन नहीं कहता है। जो वचन दूसरे को कटु लगते

हों, सुनते ही क्रोधादिक उत्पन्न हो जाए, – ऐसे कर्कश वचन नहीं कहता है। दूसरे के उद्वेग उत्पन्न हो जाए, भय उत्पन्न हो जाए, शोक उत्पन्न हो जाए, कलह उत्पन्न हो जाए – ऐसे निष्ठुर वचन नहीं कहता है। दूसरे के गुप्त मर्म का प्रकाश करनेवाले वचन नहीं कहता है। उपलक्षण से और भी ऐसे वचन, जिनसे दूसरों का बुरा होता हो – ऐसे वचन नहीं कहता है। यदि कहता है तो हित-मित वचन कहता है। सब जीवों को सन्तोष उत्पन्न हो – ऐसे वचन कहता है। जिनसे धर्म का प्रकाश हो – ऐसे वचन कहता है। इसके अतीचार, अन्य ग्रन्थों में मिथ्या-उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद कहे हैं, सो गाथा में विशेषण कहे, उनमें सब गर्भित हो गये।* यहाँ तात्पर्य यह है कि जिससे परजीव का बुरा हो जाए, अपने ऊपर आपत्ति आ जाए तथा वृथा प्रलाप के वचनों से अपने प्रमाद बढ़े – ऐसा स्थूल असत्यवचन अणुव्रती नहीं कहता है, दूसरे से नहीं कहलाता है और कहनेवाले को अच्छा नहीं मानता है, उसके दूसरा अणुव्रत होता है।

गाथा ३३३-३३४ पर प्रवचन

जो हिंसा का वचन तथा कर्कश या निष्ठुर वचन नहीं कहता, पर के गुह्यवचन नहीं कहता – गुप्त बात को प्रगट नहीं करता। ज्ञानी के वचन में प्रामाणिकता होती है। आत्मा, वचन बोल सकता है – ऐसा नहीं है परन्तु भाव में स्वरूप की विशेष शान्ति बढ़ी है; इसलिए तीव्र प्रमाद नहीं करता है।

शास्त्र में तो कहा है कि पञ्चम गुणस्थान से धर्मी जीव को अनादेय, अयश:कीर्ति, दुर्भग अशुभकर्म का उदय नहीं है, अर्थात् क्या? बाहर में भले ही शरीर काला या रोगी इत्यादि हो; कोई निन्दा करे; निर्धनता हो, परन्तु अपने को ऐसा नहीं मानता, अर्थात् ऐसी खेदरूप वृत्ति,

१. स्वर्ग-मोक्ष की साधकक्रिया विशेष में अन्य जीवों को अन्यथा प्रवर्तन कराना, इस सम्बन्धी झूठा उपदेश देना, वह **मिथ्योपदेश** नामक अतिचार है।

२. स्त्री-पुरुष के एकान्त में हुए क्रिया-आचरण का बाहर प्रकाश करना, वह **रहोभ्याख्यान** अतिचार है।

३. पर को ठगने के लिए झूठे लेख लिखना, ऐसे-ऐसे शब्द **कूटलेखक्रिया** नामक अतिचार है।

४. कोई रुपया-मोहर-आभरण आदि अपने को सौंप गया हो और बाद में उसकी गिनती भूलकर अल्प प्रमाण में माँगने लगे तो उसे हाँ ठीक है, तुम्हारा यह है, वह ले जाओ – ऐसा कहना वह **न्यासापहार** अतिचार है।

५. अङ्गविकार, भृकुटि क्षेपादिक से अन्य का अभिप्राय जानकर, ईर्ष्याभाव से लोक में प्रगट करना, वह **साकार मन्त्रभेद** नामक अतिचार है। यह सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार दोष हैं, वे छोड़ने योग्य हैं। *(अर्थप्रकाशिका टीका)*

स्वभाव के जोर से नहीं होने देता। इसलिए ऊपर के अशुभकर्म का उदय, उसके लिए उदय नहीं कहलाता।

सामायिक का प्रयोग, अर्थात् आत्मा के अपूर्व आनन्द का स्वाद जो सम्यग्दर्शन में अनुभव में आया है, उसे प्रगट विशेष स्वादरूप करने के लिए अन्दर में विशेष लीनता का कवच दो घड़ी करता है, उस आनन्ददशा को पञ्चम गुणस्थान की सामायिक कहते हैं। शरीर एक स्थान में बैठे - इत्यादि (बाह्य क्रियाएँ) सामायिक नहीं हैं।

ज्ञानी के वचन उल्टे-सीधे जकड़ दे - ऐसे नहीं होते हैं। दूसरे के असन्तोष हो, उसका उत्तरदायित्व तो ज्ञानी का नहीं है परन्तु दूसरे को दुःख न हो - ऐसा बोलने का भाव स्वयं को होता है। ज्ञानी, पुण्य से धर्म होता है, व्यवहार करे तो निश्चय होता है - ऐसे मिथ्यावचन नहीं कहता, अपितु सत्यधर्म को प्रकाशित करनेवाले स्व-पर को हितरूप प्रमाणरूप, सर्व जीवों को सन्तोषदायक वचन कहता है, वह तीसरे सत्याणुव्रत का धारक होता है।

असत्यवचन अनेक प्रकार के हैं। उनका सर्वथा त्याग तो सकलचारित्रधारक नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी सन्त को होता है। क्षण-क्षण में सिद्ध परमात्मा जैसा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हैं - ऐसा मुनिपद है। उन्हें सत्य महाव्रत होता है। उसके अंशरूप में श्रावक, समकिती को होता है। जो वचन दूसरे को कड़वा लगे, सुनते ही क्रोध आये, कर्कश, उद्वेग, भय, शोक, कलहकारी, निष्ठुर वचन बोलने का भाव धर्मी को नहीं होता है। ऐसा नहीं बोलता, यह तो चरणानुयोग का उपचरित कथन है।

अन्य के गुप्त मर्म के प्रकाशक वचन नहीं कहता है। जिसमें अन्य का अहित हो - ऐसा नहीं बोलता है। अभी तो शरीर की क्रिया की जा सकती है; पुण्य से-व्यवहार से धर्म होता है - ऐसा कहनेवाले और स्वतन्त्र सत् का विरोध करनेवाले उपदेशक बहुत हैं। जिन्हें वीतरागता प्रगट हुई है, उनका जीवन सहज नीतिमय होता है। ज्ञानी तो हित-मित वचन द्वारा सद्धर्म प्रकाशक वचन कहता है तथा मिथ्या उपदेश, गुप्त रहस्य प्रकाशन, खोटे लेख, रखकर वापस लेने आनेवाला भूल से कम माँगे तो कम दे, साकार मन्त्रभेद - ये पाँचों अतिचार टालता है। तात्पर्य यह है कि जिसमें स्व-पर को हानि हो, व्यर्थ प्रलापों से स्वयं को भी प्रमाद बढ़े - ऐसे स्थूल असत्यवचन, अणुव्रती श्रावक नहीं कहता है; नहीं कहलवाता है, और कोई कहे तो भला नहीं जानता है। ●●

गाथा ३३५-३३६

अब, तीसरे अचौर्याणुव्रत को कहते हैं —

जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेय गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि, लाहे थोये वि तूसेदि॥
जो परदव्वं ण हरइ मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई, अणुव्वई सो हवे तिदिओ॥

बहुमूल्य वस्तु ग्रहे नहीं, जो अल्प मूल्यों में कभी।
सन्तुष्ट है कम लाभ में, लेता न भूली वस्तु भी॥
जो क्रोध माया मान अथवा, लोभ से परद्रव्य को।
हरता नहीं, दृढ़ चित्त, शुद्धमती अणुव्रती तीसरा॥

अन्वयार्थ : [जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुलेण णेय गिण्हेदि] जो श्रावक, बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता है; **[वीसरियं पि ण गिण्हदि]** किसी की भूली हुई वस्तु को नहीं लेता है; **[लाहे थोये वि तुसेदि]** व्यापार में थोड़े ही लाभ से सन्तोष करता है; **[जो मायालोहेण कोहमाणेण परदव्वं ण हरइ]** जो कपट से, लोभ से, क्रोध से, मान से दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करता है; **[दिढचित्तो]** जो दृढ़चित्त है (कारण पाकर प्रतिज्ञा का भङ्ग नहीं करता है); **[सुद्धमई]** शुद्ध बुद्धिवाला होता है, **[सो तिदिओ अणुव्वई हवे]** वह तीसरे अणुव्रत का धारक श्रावक होता है।

भावार्थ : सात व्यसनों के त्याग में चोरी का त्याग तो होता ही है, उसमें यहाँ इतनी विशेषता है कि बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में लेने से झगड़ा उत्पन्न होता है; न मालूम किस कारण से दूसरा (देनेवाला) अल्पमूल्य में देता है। दूसरे की भूली हुई वस्तु को, मार्ग में पड़ी

हुई वस्तु को भी नहीं लेता है; यह नहीं सोचता है कि दूसरा नहीं जानता है; इसलिए किसका डर है ? व्यापार में थोड़े ही लाभ पर सन्तोष करता है, बहुत लोभ से अनर्थ उत्पन्न होते हैं। कपटपूर्वक किसी का धन नहीं लेता है। किसी ने अपने पास रखा हो तो उसको न देने के भाव नहीं रखता है। लोभ तथा क्रोध से दूसरे के धन को बलात् (जबरदस्ती) नहीं लेता है और घमण्ड में आकर यह भी नहीं कहता है कि हम बहादुर हैं, हमने लिया तो लिया, हमारा कोई क्या कर सकता है ? - आदि। इस तरह दूसरों का धन स्वयं नहीं लेता है; न दूसरों के द्वारा लिवाता है, और इस तरह लेनेवालों को अच्छा भी नहीं मानता है।

अन्य ग्रन्थों में इस व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं - चोर को चोरी के लिये प्रेरणा करना; उसका लाया हुआ धन लेना; राज्यविरूद्ध कार्य करना; व्यापार के तोल बाट हीनाधिक रखना; अल्पमूल्य की वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु बताकर व्यापार करना - ये पाँच अतिचार हैं, सो गाथा में दिये गये विशेषणों में गर्भित हैं। इस तरह जो निरतिचार स्तेयत्यागव्रत का पालन करता है, वह तीसरे अणुव्रत का धारक श्रावक होता है।

गाथा ३३५-३३६ पर प्रवचन

जो श्रावक, अधिक मूल्य की वस्तु अल्प मूल्य में नहीं लेता; चोरी का माल नहीं लेता; सहजानन्द की पूर्ण प्रतीति से निशङ्क निर्भय होता है; इसलिए किसी प्रकार से चोरी करे, कराये या अनुमोदन करे - ऐसा तीव्रराग पञ्चम गुणस्थान में आता ही नहीं है। कपट, क्रोध, मान से पर का द्रव्य नहीं लेता तथा सहज वैरागी होने से दृढ़ चित्तवाला है; चाहे जैसी स्थिति उत्पन्न हो तो भी प्रतिज्ञा नहीं बिगाड़ता तथा वह निर्मल मतिवान है।

सात व्यसनों का त्याग, प्रथम सम्यग्दर्शन से ही होता है, पाँचवें गुणस्थान में उसके अतिचार भी टालता है; इसलिए सीधेरूप से चोरी का त्याग तो प्रथम दर्शनप्रतिमा में ही होता है। उसमें विशेष यह है कि मार्ग में किसी की पड़ी हुई वस्तु को नहीं उठाता, थोड़े लाभ से सन्तोष रखता है क्योंकि बहुत लोभ से अनर्थ उत्पन्न होते हैं। कपट से फँसाकर किसी का धन नहीं लेता, भय बतलाकर परधन हरण नहीं करता, पर से नहीं लिवाता और लेनेवाले को भला नहीं जानता।

ज्ञानी को निर्मोही ज्ञानानन्द शान्ति की महिमा के समक्ष संसार की तुच्छता ही भासित होती है; इसलिए तीव्र पाप में जुड़ान पाँचवें गुणस्थान में नहीं होता है।

देखो! यह पञ्चम गुणस्थानवाले श्रावक की तीसरी प्रतिमा का वर्णन चल रहा है। विकाररहित ज्ञायकस्वभाव के यथार्थ निर्विकल्प अनुभव से निशङ्क होना, वह सम्यग्दर्शन है। पुण्य की रुचि, और पर में कर्ता-भोक्तापने की बुद्धि छूटकर स्वसन्मुख शान्तिवान हुआ है, फिर ज्ञातादृष्टि में लीनता से जिसे शुद्धि की आँशिक वृद्धि हुई है, वह देशविरति श्रावक है। यहाँ वाड़ा के नामधारी श्रावक की बात नहीं है। श्राविका हो तो भी जानती है कि मैं शरीररूप नहीं हूँ; क्षणिक पुण्य-पाप, वह मैं नहीं हूँ; पुण्य से धर्म नहीं होता है; देहादिक की क्रिया मैं नहीं कर सकती हूँ; मैं ज्ञाता ही हूँ - ऐसा प्रथम से ही भान होता है और बहुत बार देह, मन, इन्द्रियादि पर तरफ का लक्ष्य भूलकर निर्विकल्प ज्ञानानन्द का अनुभव भी करती है।

देखो! अकेला जानपना नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शनसहित अन्तर निर्मलता के अंश को बढ़ाता है, उसे व्रतादि प्रतिमा होती है और उस भूमिका में अतिचाररूप मलिनता नहीं होने देता है, उसे अकषाय आत्मदशा का / अतीन्द्रिय शान्ति का स्वाद आता है।

श्रावक को स्वभाव से ही संसार के सर्व भावों से उदासीनता है; इसलिए (१) चोर को प्रेरणा नहीं करता, नहीं कराता या अनुमोदन नहीं करता। (२) चोर द्वारा लाया गया धन नहीं लेता। (३) राज विरुद्ध कार्य नहीं करता। वह जानता है कि संसार में पुण्य में बड़ा, वह बड़ा है। मेरी योग्यता ऐसी है तो मेरे सिर पर राजा है। वह जानता है कि यह खोटा करता है परन्तु उसका विरोध करने जैसा है - ऐसी विरोध की भावना नहीं भाता। विकल्प आता है परन्तु राज्यविरुद्ध प्रवृत्ति में भाग नहीं लेता, क्योंकि संसार में पुण्य से बड़ा, वह बड़ा माना जाता है और धर्म में गुण से बड़ा, वह बड़ा कहलाता है।

कोई कहता है कि हम लौकिक में नीतिवाले हैं, इसलिए माँस नहीं खावे, नीतिवान होवे, उसी राजा या सेठ की नौकरी करूँ - तो वह संसार में नहीं चलता, क्योंकि उसका पुण्य कम है तथा ऐसे राजा या सेठ हो तो ही सलाम करूँ, नौकरी करूँ - ऐसा जो मानता है, उसे पुण्य का भरोसा नहीं है। राजा अन्यायी होवे तो तुझे मध्यस्थ रहना, क्योंकि पूर्व के कारण बिना प्रतिकूलता नहीं आती। इसलिए संसार में जो पुण्य अनुसार बड़े हों, उन्हें उनके लौकिक पुण्य -प्रमाण धर्मी जीव स्वीकार करता है, इन्कार नहीं करता।

माता-पिता मिथ्यादृष्टि हों, पुण्य कम हो परन्तु समकिती पुत्र ऐसा नहीं मानता कि वे

धर्म पायें, पुण्यवान् होवे तो ही विनय करूँ और बड़ा मानूँ। वह जानता है कि ऐसे संयोग में आना, वह मेरी योग्यता है। ऐसा जानकर, लोकव्यवहार में भी विरोधी वर्तन नहीं करता। माता–पिता, सेठ, राजा इत्यादि ऐसे ही चाहिए – ऐसा कोई मानता है परन्तु प्रत्येक जीव के पूर्व के कारण विविध हैं, तो संयोग में / कार्य में भी विचित्रता है; पूर्व के कारण में अन्तर था, इसलिए कार्य में अन्तर है तथापि जो कार्यरूप फल को दूसरे प्रकार से चाहता है, वह पुण्य–पाप के नियम को नहीं समझता। कोई संयोग–वियोग अकस्मात् नहीं है; इस समय में ऐसी ही योग्यता होगी – ऐसा ज्ञानी जानता है।

रास्ते में चोर, लुटेरे मिले तो उन्हें मार डालना चाहिए; खोटे अमलदार आयें तो उनका विरोध करना चाहिए – ऐसी संयोग की और विकार की भावना (धर्मी जीव) नहीं करता है। उसे विकल्प आये तो वस्तुस्वरूप विचार करके ज्ञाता रहता है परन्तु क्रोध करने योग्य या लम्बाने योग्य है; वैर–विरोध करेंगे तो ही निभ सकेगा – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता है। सम्यग्दृष्टि, विरोधी के साथ लड़ाई भी करता है तथापि वहाँ वह अपनी वर्तमान कमजोरी का दोष मानता है। दूसरे क्षण राग मिट जाए – ऐसी भावना है। विकल्प आने पर भी उसे अपनी कमजोरी का दोष गिनता है परन्तु विकार करने योग्य है – राज्यकर्ता अन्यायवान् हों तो विरोध करना चाहिए – ऐसा माननेवाले को तो आस्रव के कर्तापने की भावना है और वहाँ ज्ञातास्वभाव का ही विरोध है।

ज्ञानी की दृष्टि संसार से छूटने की है; इसलिए वह रागरहित निवृत्तस्वभाव की मुख्यता, भावना, आदर में सावधान है तथापि किसी अतिचार में जुड़ जाए, परन्तु उससे छूटकर शान्त ज्ञानभाव में ही स्थिरता चाहता है। मैं संयोग को पलटाऊँ और क्रोधादिक करने योग्य है – ऐसा जो मानता है, उसे तो श्रद्धा में बड़ा विरोध है। ज्ञानी को वीतरागदृष्टि ही मुख्य है, उसमें तो वह किञ्चित् भी हानि नहीं होने देता, परन्तु चारित्र में कमजोरी से अतिचार हो जाए तो निन्दा करके खेद को प्राप्त होता है; उत्साह लाकर बचाव नहीं करता कि ऐसा दोष तो गृहस्थ में होता है, इसमें कोई बाधा नहीं है। यदि ऐसा करे तो स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है।

धर्मी, अन्दर स्थिरता की, लीनता की भावना करता है। कब सम्पूर्ण आसक्ति छोड़कर भावलिङ्गी मुनिदशा अङ्गीकार करूँ! निर्विकल्प ध्यान में मस्त होकर, देह–इन्द्रिय को भूलकर जङ्गल में शान्त–एकान्त स्वसंवेदन में ही रहूँ – ऐसी वीतराग होने की उनकी भावना है।●●

गाथा ३३७-३३८

अब, ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं —

असुइमयं दुग्गंधं, महिलादेहं विरच्चमाणो जो।
रूवं लावण्णं पि य, मणमोहणकारणं मुणइ॥

जो मण्णदि परमहिलं, जणणीबहिणीसुआइसारिच्छं।
मणवयणे कायेण वि, बंभवई सो हवे थूलो॥

अशुचिमयी दुर्गन्धयुत, नहिं रक्त महिला देह में।
रूप अरु लावण्य को, मन-मोह कारक जो गिने॥

जो मानता पर नारी को, माता बहिन पुत्री समा।
मन-वचन-काया से उसे, स्थूल ब्रह्मचारी कहा॥

अन्वयार्थ : [जो महिलादेहं असुइमयं दुग्गंधं] जो श्रावक, स्त्री के शरीर को अशुचिमयी-दुर्गन्धयुक्त जानता हुआ, **[रूवं लावण्णं पि य मणमोहणकारणं मुणइ]** उसके रूप तथा लावण्य को भी मन में मोह उत्पन्न करने का कारण जानता है; **[विरच्चमाणो]** इसलिए विरक्त होता हुआ प्रवर्तता है। **[जो परमहिलं जणण बहिणीसुआइसारिच्छं मणवयणे कायेण वि मण्णदि]** जो परस्त्री में, बड़ी को माता समान, बराबर को बहिन समान, छोटी को पुत्री के समान मन वचन काय से जानता है, **[सो थूलो बंभवई हवे]** वह स्थूल ब्रह्मचर्य का धारक श्रावक है।

भावार्थ : इस व्रत का धारी परस्त्री का तो मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता है और स्वस्त्री में सन्तोष रखता है। तीव्रकाम के विनोद-क्रीड़ारूप प्रवृत्ति नहीं करता है क्योंकि स्त्री के शरीर को अपवित्र-दुर्गन्धयुक्त जानकर, वैराग्यभावनारूप भाव रखता

है और काम की तीव्रवेदना इस स्त्री के निमित्त से होती है; इसलिए उसके रूप-लावण्य आदि चेष्टा को मन को मोहने का, ज्ञान को भुलाने का, काम को उत्पन्न कराने का कारण जानकर विरक्त रहता है, वह चतुर्थ अणुव्रत का धारक होता है। इसके अतिचार-पर विवाह करना, दूसरे विवाहित-अविवाहित स्त्री का संसर्ग, काम की क्रीड़ा, काम का तीव्र अभिप्राय - ये कहे गये हैं; ये, 'स्त्री के शरीर से विरक्त रहना' इस विशेषण में गर्भित हैं। परस्त्री का त्याग तो पहली प्रतिमा के सात व्यसनों के त्याग में आ चुका है। यहाँ पर अति तीव्रकाम की वासना का भी त्याग है; इसलिए अतिचाररहित व्रत पालन करता है। अपनी स्त्री में भी तीव्र रागी नहीं होता है। ऐसे ब्रह्मचर्यव्रत का वर्णन किया।

गाथा ३३७-३३८ पर प्रवचन

ब्रह्म, अर्थात् अन्दर ज्ञानानन्द अनाकुल शान्तरस से पूर्ण स्वभाव है, उसमें निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-लीनता से चरना-स्थिर होना, वही ब्रह्मचर्य है। ज्ञानी, निश्चय से तो पवित्र आत्मलीनता में ही ब्रह्मचर्य मानता है और दृष्टि में पूर्ण ब्रह्मचर्यभाव की भावना है परन्तु वर्तमान राग की भूमिका में स्त्रीसेवन के राग का त्याग करता है। इसलिए स्त्री की देह को अशुचिमय जानकर, उसके रूप-लावण्य को मन को मोहजनक जानकर, उससे विरक्त होकर वर्तता है।

वस्तुतः शरीर, अशुचि नहीं है परन्तु उसके प्रति बुरा राग, वह तीव्र अशुचि है। धर्मात्मा अपने से बड़ी स्त्री को मातातुल्य; समान आयुवाली स्त्री को बहिनतुल्य, तथा अपने से छोटी उम्रवाली को पुत्री के समान देखता है। सभी आत्माएँ, अशरीरी पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप पवित्र हैं परन्तु वर्तमान में स्वयं राग की भूमिका में है, तथापि व्यवहार नीति में भान है कि मुझे परस्त्री का राग नहीं होना।

मिथ्यादृष्टि लौकिक सज्जन को भी परस्त्री के साथ और स्त्री को परपुरुष के साथ खोटा व्यवहार नहीं होता तो यह तो लोकोत्तर सज्जन है। सर्वज्ञ की आज्ञानुसार अपने ज्ञानानन्द -स्वभाव को ही उपादेय मानकर नीति में वर्तता है। वह यदि स्वस्त्री का त्याग नहीं कर सके तो परस्त्री के ओर के राग का मन-वचन-काया से त्याग करता है। इतना तो सहज त्यागभाव है, वह स्थूल ब्रह्मचर्य अणुव्रतधारी श्रावक है। परस्त्री का तो मन-वचन-काय, कृत-कारित

–अनुमोदन से, अर्थात् नव कोटि से त्याग करता है। स्वस्त्री में भी तीव्र कामवश नहीं होता; अयोग्य विनोद क्रीड़ारूप प्रवृर्तित नहीं होता; स्त्री के शरीर को दुर्गन्धित, महामोह का स्थान, ज्ञान को भुलाने का कारण जानकर, उससे विशेष वैराग्यभाव रखता है, तथा

(1) अन्य की सन्तान का विवाह करना–कराना, अनुमोदना करना – ऐसी तीव्रराग की ज्वाला में नहीं पड़ता।

(2–3) पर की विवाहित–अविवाहित स्त्री का संसर्ग नहीं करता।

(4) अनङ्गक्रीड़ा नहीं करता, और

(5) कामवासना की तीव्र अभिलाषा नहीं है।

धर्मी जीव, कामवर्धक पाक, कस्तूरी, लहसुन, प्याज, तथा ऐसी दवाओं का सेवन नहीं करता। यह पाँच अतिचार हैं, इनका त्याग करता है। पौष्टिक आहार से शरीर अच्छा रहे – ऐसी भावना नहीं करता। स्वस्त्री में भी तीव्र रागरूप वाँछा नहीं होती। परस्त्री का त्याग तो सप्त व्यसन के त्याग में प्रथम प्रतिमा में ही आ जाता है। यहाँ तो अति तीव्र कामवासना का भी सहज त्याग है; इसलिए अतिचाररहित व्रत का पालन करता है।●●

भक्त स्वयं भगवान बन जाता है

जैनधर्म में ही यह एक विशेष विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञस्वामी का सेवक, सदा सेवक ही नहीं रहता, अपितु वह स्वयं केवलज्ञानादि वैभव प्रगट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की उपासना करनेवाले का लक्ष्य स्वयं परमात्मा बनने का है, इसलिए स्वयं में परमात्मस्वभाव है; उसकी प्रतीति करके, उसकी अन्तरङ्ग उपासना से परमात्मपद को साध लेता है, भक्त स्वयं भगवान बन जाता है... यह है जैन भक्ति का फल! *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ७४*

पर विवाहकरण, अपरिगृहितइत्वरी का गमन, परिगृहत्वइत्वरी का गमन, अनङ्गक्रीड़ा, और काम–तीव्रता – ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। *(अर्थप्रकाशिका टीका)*

गाथा ३३९-३४०

अब, परिग्रहपरिमाण नामक पाँचवें अणुव्रत का स्वरूप कहते हैं —

जो लोहं णिहणित्ता, संतोसरसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा, मण्णंतो विणस्सरं सव्वं॥

जो परिमाणं कुव्वदि, धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता, अणुव्वदं पंचमं तस्स॥

जो हीन करता लोभ को, सन्तोष रस से तुष्ट हो।
जानता नश्वर सभी को, नशे तृष्णा-दुष्ट को॥

धन धान्य कंचन क्षेत्र आवश्यक लगे उन द्रव्य का।
परिमाण जो करता वही, अपरिग्रही अणुव्रती कहा॥

अन्वयार्थ : [**जो लोहं णिहणित्ता**] जो पुरुष, लोभ कषाय को हीन कर, [**संतोसरसायणेण संतुट्ठो**] सन्तोषरूप रसायन से सन्तुष्ट होकर, [**सव्वं**] सब [**धणधाणसुवण्ण-खित्तमाईण**] धन्य, धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि परिग्रह को [**विणस्सरं मण्णतो**] विनाशीक मानता हुआ, [**दुट्ठा तिण्हा णिहणदि**] दुष्ट तृष्णा को अतिशयरूप से नाश करता है, [**उवओगं जाणिता**] धन्य, धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि परिग्रह का अपना उपयोग (आवश्यकता एवं सामर्थ्य) जानकर, उसके अनुसार [**जो परिमाणं कुव्वदि**] जो परिमाण करता है, [**तस्स पंचमं अणुव्वदं**] उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।

भावार्थ : अन्तरङ्ग का परिग्रह तो लोभ तृष्णा है, उसको क्षीण करता है तथा बाह्य का परिग्रह परिमाण करता है और दृढ़चित्त से प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करता है, वह अतिचाररहित पञ्चम

अणुव्रती होता है। इस तरह पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है, वह व्रतप्रतिमाधारी श्रावक है। ऐसे पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया।

गाथा ३३९-३४० पर प्रवचन

धर्मी श्रावक, लोभ कषाय को अल्प करके, अपने निर्लोभी पवित्र अखण्डानन्द सुख में सन्तोषरूप रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, समस्त धन्य-धान्यादिक परिग्रह को विनाशीक मानकर दुष्ट तृष्णा को अतिशयरूप से नष्ट करता है। धन, धान्य, स्वर्ण, क्षेत्रादिक की अपने उपयोग सामर्थ्यानुसार मर्यादा करता है। पाँच लाख रुपये सम्पूर्ण जीवन में मिलें - ऐसा न होने पर भी, बड़ी आशावाली धन-मर्यादा करे, उसे तीव्र लोभ है - ऐसा लोभ, श्रावक को नहीं होता है। धर्म-रुचिवान जीव, पैसा लेकर दान में दूँ या उनकी व्यवस्था में रुकूँ - ऐसी भावना भी नहीं भाता है।

आत्मा, परवस्तु, अर्थात् धन-धान्य, स्वर्ण आदि को ग्रहण नहीं कर सकता तथा त्याग भी नहीं कर सकता। श्रावक, भेदज्ञानपूर्वक ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि और मुख्यता में वर्तता हुआ, दृढ़ चित्त से बाह्यपरिग्रह में तृष्णा घटाकर अतिचाररहित परिग्रहपरिमाण देशव्रत का पालन करता है। ●●

क्षेत्रवास्तु, हिरण्य, स्वर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, और कुप्यभांड, इन वस्तुओं के प्रमाण का उल्लंघन करना, ये परिग्रहत्याग अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। ***(अर्थप्रकाशिका टीका)***

गाथा ३४१-३४२

अब, इन व्रतों की रक्षा करनेवाले सात शील हैं, उनका वर्णन करेंगे। उनमें पहिले तीन गुणव्रत हैं, उसमें पहिले गुणव्रत को कहते हैं —

जह लोहणासणट्ठं, संगपमाणं हवेइ जीवस्स।
सव्वं दिसिसुपमाणं, तह लोहं णासए णियमा॥

जं परिमाणं कीरदि, दिसाण सव्वाणं सुप्पसिद्धाणं।
उवओगं जाणित्ता, गुणव्वदं जाण तं पढमं॥

ज्यों लोभ क्षय के लिए करते, परिग्रह परिमाण को।
त्यों सब दिशाओं में गमन, परिमाण नशे लोभ को॥

जाने प्रयोजन गमन का, सब दिशाएँ सुप्रसिद्ध जो।
परिमाण जो करता वही, गुणव्रती पहला जान लो॥

अन्वयार्थ : [जह लोहणासणट्ठं] जैसे, लोभ का नाश करने के लिए **[जीवस्स संगपमाणं हवेइ]** जीव के परिग्रह का परिमाण होता है, **[तह सव्वं दिसिसु पमाणं णियमा लोहं णासए]** वैसे ही सब दिशाओं में परिमाण किया हुआ भी नियम से लोभ का नाश करता है; **[सव्वाण सुप्पसिद्धाणं दिसाण]** इसलिए सब ही पूर्व आदि प्रसिद्ध दश दिशाओं का **[उवओगं जाणिता]** अपना उपयोग (प्रयोजन / कार्य) जानकर **[जं परिमाणं कीरदि]** जो परिमाण करता है, **[तं पढमं गुणव्वदं जाण]** वह पहिला गुणव्रत है।

भावार्थ : पहले पाँच अणुव्रत कहे गये हैं, ये गुणव्रत उनके उपकारी हैं। यहाँ गुण शब्द उपकारवाचक लेना चाहिए, सो लोभ का नाश करने के लिए, जैसे परिग्रह का परिमाण करता

है; वैसे ही लोभ का नाश करने के लिये दिशा का भी परिमाण करता है। जहाँ तक का परिमाण किया है, उससे आगे यदि द्रव्य आदि की प्राप्ति होती है तो भी वहाँ नहीं जाता है, इस तरह से लोभ घटा (कम हुआ) और हिंसा का पाप भी परिमाण से आगे न जाने के कारण वहाँ सम्बन्धी नहीं लगता है; इसलिए परिमाण (मर्यादा) के बाहर महाव्रतसमान हुआ।

गाथा ३४१-३४२ पर प्रवचन

अब, उन व्रतों की रक्षा करनेवाले सात शील हैं, उनका व्याख्या करते हैं। उनमें प्रथम तीन गुणव्रतों में से पहिले गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं।

लोभ का त्याग करने के लिए जिसे निर्लोभ पवित्र सहज ज्ञानानन्द अमृतरस से पूर्ण हूँ – ऐसा भान और आँशिक शान्तिरूप लीनता हुई है – ऐसा ज्ञानी, दिशाओं का माप करता है कि सर्व दिशाओं में अमुक गाँव तक जाना; उससे आगे नहीं जाना। ज्ञानी, चैतन्यरूप असंख्य प्रदेशी क्षेत्र को छोड़कर, कभी बाह्यक्षेत्र में गया नहीं, जा नहीं सकता, परन्तु बाह्यक्षेत्र में गमन करने का राग, अर्थात् तृष्णा घटाता है। निर्ममत्व ज्ञान-शान्ति को अङ्गीकार करता है और वर्तमान कमजोरी से सब त्याग न कर सके तो प्रयोजन जितनी आवश्यकता जानकर दिशाओं का परिमाण करता है। यह पाँचों अणुव्रत के पालन में ममता घटाकर समता में रहने की भावना पुष्टि करनेवाला प्रथम गुणव्रत है।

जैसे बने, वैसे लोभ का नाश करने के लिए दूर क्षेत्र में जाने के राग की मर्यादा करता है, फिर उस दिशा की मर्यादा से दूर लाखों रुपये इत्यादि मिलें तो भी वह नहीं जाता है। इस प्रकार निवृत्तिमय वीतराग शान्ति की रुचि बढ़ाकर आंशिक लोभ घटाया है। क्षेत्रप्रमाण से उस ओर न जाने से उस सम्बन्धी हिंसा का पाप-आकुलतारूप इच्छा का पाप नहीं लगता है; इसलिए उस ओर सम्बन्धी इच्छारहित हुआ है, इस अपेक्षा से वह गुणव्रत, महाव्रत के समान हुआ।

देव आकर लालच दे अथवा भय दिखाये तो भी दृढ़ व्रती अपने व्रत से चलित नहीं होता। यद्यपि संयोग, क्षेत्र आदि में धर्म-अधर्म नहीं है परन्तु निमित्त से कथन किया है; मूल प्रयोजन तो राग घटाकर अतीन्द्रिय आत्मशान्ति का है। पञ्चम गुणस्थान में आत्मिक ज्ञान

-शान्ति के अवलम्बन में सर्वार्थसिद्धि के समकिती देव की अपेक्षा अधिक शान्ति है, वह श्रावकपना कैसा होगा ?

धर्मी जीव की टेक ऐसी होती है कि प्राण जाए तो भी प्रतिज्ञा नहीं जाए, अर्थात् प्रतिज्ञा का भङ्ग न हो। भगवान धर्मनाथ तीर्थङ्कर के स्तवन में कहते हैं कि -

धर्म जिनेश्वर गाऊँ होरंग क्या भंग न पडसो हो प्रीत जिनेश्वर,
दूजा मन-मन्दिर लाऊँ नहीं, यह हम कुलवट रीत जिनेश्वर॥

मैं अशरीरी सिद्ध की जाति का ही हूँ, उसका-एक का ही आदर करने की मेरी दृढ़ टेक है। इसलिए स्वप्न में भी पुण्य-पाप, अर्थात् संसार की बात का आदर नहीं करता। मैं भी, सिद्ध चिदानन्द पूर्ण हुए, उनके कुल का पदानुसारी हूँ। चार गति में जाने का राग कलङ्क है। मैं अतीन्द्रिय सिद्ध परमात्मपने की महिमा द्वारा सर्व कलङ्क को मिटाकर वीतरागी होनेवाला ही हूँ। इस प्रकार धर्मी, गृहस्थदशा में कोलकरार / दृढ़ता करके दृढ़व्रती होता है। ●●

वीतरागता का सन्देश

हे प्रभो ! आप तो सभी के लिए दर्पणवत् समान हैं। जिस प्रकार दर्पण के सन्मुख अपना चेहरा करनेवाले तो स्वयं ही दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर आनन्दित होते हैं और दर्पण की तरफ पीठ करनेवाले अपना प्रतिबिम्ब न देख पाने के कारण स्वयं ही दु:खित होते हैं; इसमें दर्पण का तो किञ्चित् भी दोष नहीं है, वह तो दोनों के लिए समानरूप से ही चेहरे को प्रतिबिम्बित करनेवाला है। इसी प्रकार आप जैसे त्रिलोकीनाथ की भक्ति करनेवाले जीव तो सहज सुखोपलब्धि करते हैं और आपसे विमुख रहनेवाले अज्ञानीजन स्वयं ही दु:खी होते हैं, इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं, आप तो राग-द्वेषपूर्वक किसी को सुख-दु:ख प्रदाता है ही नहीं।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ २५

गाथा ३४३

अब, दूसरे गुणव्रत–अनर्थदण्डविरति को कहते हैं —

कज्जं किंपि ण साहदि, णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवे अणत्थो, पंचपयारो वि सो विविहो॥

किञ्चित प्रयोजन सिद्धि नहिं, उत्पन्न करता पाप ही।
हैं पाँच भेद अनर्थ होता, और विविध प्रकार का॥

अन्वयार्थ : [जो अत्थो कज्जं किंपि ण साहदि] जो कार्य / प्रयोजन तो अपना कुछ सिद्ध करता नहीं है और **[णिच्चं पावं करेदि]** केवल पाप ही को उत्पन्न करता है, **[सो खलु अणत्थो हवे]** वह वास्तव में अनर्थ कहलाता है, **[सो पंचपयारो विविहो वि]** वह पाँच प्रकार का है तथा अनेक प्रकार का भी है।

भावार्थ : निःप्रयोजन पाप लगाना, अनर्थदण्ड है, वह पाँच प्रकार का कहा गया है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, दुःश्रुतश्रवणादि, और भी अनेक प्रकार का है।

गाथा ३४३ पर प्रवचन

अब, दूसरे अनर्थदण्डविरती गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं।

जिस कार्य से अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता हो, मात्र पाप ही होता हो, उस अनर्थदण्डरूप आत्महिंसा के पाँच प्रकार मुख्य हैं।

आशय यह है कि प्रयोजन बिना पाप उत्पन्न करे, उसके अपध्यान, पाप उपदेश, हिंसा के साधनों का प्रदान, दुःश्रुतिश्रवण, तथा प्रमादचर्या इत्यादि अनेक प्रकार हैं।●●

गाथा ३४४

अब, पहले भेद को कहते हैं —

परदोसाण वि गहणं, परलच्छीणं समीहणं जं च।
परइत्थीअवलोओ, परकलहालोयणं पढमं॥

पर-दोष को करना ग्रहण, पर-सम्पदा को चाहना।
पर-दार अरू पर-कलह लखना, प्रथम दण्ड-अनर्थ है॥

अन्वयार्थ : [परदोसाणं वि गहणं] दूसरे के दोषों का ग्रहण करना, **[परलच्छी समीहणं जं च]** दूसरे की लक्ष्मी (धन-सम्पदा) की वाँछा करना, **[परइत्थीअवलोओ]** दूसरे की स्त्री को रागसहित देखना, **[परकलहालोयणं]** दूसरे की कलह को देखना इत्यादि कार्यों को करना, **[पढमं]** वह पहिला अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : दूसरे के दोषों को ग्रहण करने से अपने भाव बिगड़ते हैं और अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध होता नहीं है; दूसरे का बुरा होवे और अपनी दुष्टता सिद्ध होती है। दूसरे की सम्पदा देखकर आप उसकी इच्छा करे तो आपके कुछ आ नहीं जाता; बिना प्रयोजन के भाव ही बिगड़ते हैं। दूसरे की स्त्री को रागसहित देखने में भी आप त्यागी होकर बिना प्रयोजन भाव क्यों बिगाड़ें ? दूसरे की कलह देखने में भी कुछ अपना कार्य सिद्ध नहीं होता है किन्तु अपने पर भी कुछ आपत्ति आ पड़ने की सम्भावना बन सकती है; ऐसे और भी काम जिनमें अपने भाव बिगड़ते हों, वहाँ अपध्यान नामका पहिला अनर्थदण्ड होता है सो अणुव्रतों का भङ्ग का कारण है। इसके छोड़ने पर व्रत दृढ़ रहते हैं।

गाथा ३४४ पर प्रवचन

धर्मी जीव, दूसरे के दोष ग्रहण नहीं करता; चुगली-निन्दा नहीं करता; अपनी अपूर्व

आत्मशान्तिरूप सम्पत्ति को अपनी मानता हुआ, स्वभाव से सन्तोषवान् है; इसलिए दूसरे की लक्ष्मी की वाँछा नहीं करता; परस्त्री को राग से निरखना; उसके सन्मुख टकटकी लगाकर देखना; पर का झगड़ा देखना इत्यादि नहीं करता, क्योंकि वह अप्रत्याख्यानावरणीय सम्बन्धी कषाय का अभाव करके, समतारस में स्थिर होता जाता है।

धर्मी जीव, बिना प्रयोजन किसी संसार के कार्य में नहीं रुकता है। कोई समकिती गरीब भी होता है; सभी ज्ञानी धनवान ही हों – ऐसा नहीं है। सधनता, वह गुण नहीं है और निर्धनता, वह दोष नहीं है। सातवें नरक में समकिती नारकी होता है, वह बाह्य में पाप का संयोग है, तथापि आत्मशान्तिवान् सुखी है और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि था तो दुःखी है।

धर्मी जीव, किसी के झगड़े में नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसी स्थिति में शान्तस्वरूप की जागृति छोड़नी पड़ती है; इसलिए पाप-उपदेश से धर्मी जीव निवृत्त होता है।●●

धर्म या पुण्य में आपका ही प्रभाव

हे देव! आपके द्वारा उपदिष्ट अहिंसादि धर्म नहीं होते तो जगत् के जीवों को सत्पुण्य कहाँ से होता! निश्चयधर्म या व्यवहारधर्म की प्राप्ति जिनवाणी के प्रसाद से ही होती है। जिनदेव के उपदेश के बिना कन्दमूल आदि में अनन्त जीवों का अस्तित्व कहाँ से जानते? और जीवों का अस्तित्व जाने बिना उनकी दया कैसे पालन कर सकते? और जीवों की दया के बिना पुण्य भी कैसे होता? इसलिए हे देव! हम तो धर्म में या पुण्य में भी आपका ही प्रभाव देखते हैं। वीतरागी देव-गुरु के बिना हम पूजा किसकी करते? इस प्रकार हे त्रिलोकीनाथ! आप ही हमारे धर्म के रक्षक और पोषक हो, आपके आश्रय से हमें भी परमात्मपद की प्राप्ति होगी – ऐसे भाव से साधक जीव, सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति करते हैं; उनके गुणों की महिमा, धर्मी के ज्ञान में उत्कीर्ण हो गयी है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ७२-७३

गाथा ३४५

अब, दूसरे पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड को कहते हैं —

जो उवएसो दिज्जइ, किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु।
पुरिसित्थीसंजोए, अणत्थदंडो हवे बिदिओ॥

वाणिज्य कृषि पशु पालनादिक, नारी-नर संयोग का।
उपदेश दे इन पाप कर्मों का अनर्थदण्ड दूसरा॥

अन्वयार्थ : [जो किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु] खेती करना, पशुओं का पालना, वाणिज्य करना – इत्यादि पापसहित कार्य तथा **[पुरिसित्थीसंजोए]** पुरुष-स्त्री का संयोग जैसे हो, वैसे करने आदि कार्यों का **[उवएसो दिज्जइ]** दूसरों को उपदेश देना – इनका विधान बताना, जिनमें अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता हो केवल पाप ही उत्पन्न होता हो **[बिदिओ अणत्थदंडो हवे]** सो दूसरा पापोपदेश नामका अर्नथदण्ड है।

भावार्थ : दूसरे को पाप का उपदेश देने में अपने को केवल पाप ही बँधता है; इसलिए व्रत का भङ्ग होता है। इस कारण इसको छोड़ने से व्रतों की रक्षा होती है – व्रतों पर, गुण करता है, उपकार करता है; इसीलिए इसका नाम गुणव्रत है।

गाथा ३४५ पर प्रवचन

खेती करना, पशुपालन, वाणिज्य, तथा स्त्री-पुरुष का संयोग हो – ऐसा उपाय बताना इत्यादि पापसहित कार्यों का दूसरे को उपदेश देना; विधवा-विवाह की सम्मति देना इत्यादि कार्य को धर्मी जीव, अनर्थ, अर्थात् पापरूप मानता है। अरे! जो शुभ-पुण्यकर्म को भी जहर मानता है, वह अनर्थदण्ड के पाप को भला कैसे मानेगा? नहीं मानेगा।

पशुपालन में ऐसी आमदनी है, घर के घी-दूध की मलाई करना बहुत अच्छा है इत्यादि ममता, पाँचवें गुणस्थान में नहीं होती। दया का भाव, वह पुण्य है, उसका निषेध नहीं है परन्तु उसके पालन से लाभ होता है - ऐसा नहीं मानता है।

खेती, पशुपालन इत्यादि में रुकना, वह पापराग है - ऐसा जानकर बिना प्रयोजन ऐसी तृष्णा, धर्मी नहीं करता। दूसरे को पाप का उपदेश करने में केवल पापबन्ध है। गृहस्थदशा में पशुपालन आदिक का राग होता है परन्तु दूसरे को उपदेश देकर संसार में गहरे नहीं उतारता, क्योंकि व्यर्थ ही ऐसी वृत्ति में व्रत का भङ्ग होता है। उसके दोष को छोड़ने से पाँच अणुव्रतों की रक्षा होती है। धर्मी को आत्मभान की जागृति में सहज अशुभ का त्याग होता है, और अनर्थदण्ड के पापपरिणाम नहीं होते हैं। ●●

परिग्रह से आत्मा की शोभा नहीं

प्रभो! आपकी भक्ति, आपके गुणों की स्तुति, मुमुक्षु जीवों को आनन्दित करती है। राग-द्वेषरहित और ज्ञान-आनन्दसहित आप वस्त्राभूषण के बिना ही सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभायमान हो रहे हैं। आत्मा की शोभा परिग्रह से नहीं है, वीतरागता से आत्मा की शोभा है। आपकी प्रभुत्वशक्ति भी कैसी आश्चर्यकारी है कि क्रोध किये बिना आपने मोहरूपी शत्रु का हनन कर दिया। स्वयं आत्मा में से ही आप सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हो, इस कारण 'स्वयंभू' - ऐसे आपको नमस्कार हो। आपके जैसे गुण हमारे में भी प्रगट करना, वही आपकी परम स्तुति है; इसलिए आपके जैसे गुणों का अंश अपने में प्रगट करके मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमी हुआ हूँ। भले ही आपके सम्पूर्ण गुणों की स्तुति वचनों से नहीं होती परन्तु आपके गुणों का प्रेम और उसकी सुकथा भी हमें आनन्द देनेवाली हैं, उसके द्वारा जो हमारे में नहीं हों - ऐसे गुण हम प्रगट करते हैं और ज्ञान से आत्मा की अनुभूति करने में सर्व गुण समाहित हो जाते हैं। ऐसी स्वानुभूतिरूप अभेद भक्ति से मैं भी परमात्मपद प्राप्त करूँगा, तब आपकी स्तुति पूर्ण होगी; वहाँ स्तुति करने योग्य और स्तुतिकार (भगवान और भक्त अथवा साध्य और साधक) - ऐसा भेद भी नहीं रहेगा।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ६७-६८

गाथा ३४६

अब, तीसरे प्रमादचरित नामक अनर्थदण्ड के भेद को कहते हैं —

विहलो जो वावारो, पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं।
तह वि वणप्फदिछेदो, अणत्थदंडो हवे तिदिओ॥

पृथ्वी पवन जल अग्नि में, वर्तन करे जो व्यर्थ ही।
छेदे वनस्पति बिन प्रयोजन, अनर्थदण्डत तीजा कहें॥

अन्वयार्थ : [जो पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं विहलो वावारो] जो पृथ्वी, जल अग्नि, पवन – इनके व्यापार में विफल (बिना प्रयोजन) प्रवृत्ति करना **[तह वि वणप्फदिछेदो]** तथा बिना प्रयोजन वनस्पति (हरितकाय) का छेदन-भेदन करना **[तिदिओ अणत्थदंडो हवे]** सो तीसरा प्रमादचरित नामक अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : जो प्रमाद के वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, हरितकाय की बिना प्रयोजन विराधना करता है, वहाँ त्रस-स्थावरों का घात ही होता है; अपना कार्य कुछ सिद्ध नहीं होता है; इसलिए इसके करने से व्रत का भङ्ग होता है और छोड़ने पर व्रत की रक्षा होती है।

गाथा ३४६ पर प्रवचन

अब, तीसरे प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड का स्वरूप कहते हैं।

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, जल गिराना, जल में पत्थर फेंकना, अग्नि-वायु के व्यापार में प्रवृत्ति करना और बिना प्रयोजन हरितकाय को तोड़ना, यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है।

यहाँ पर का करना या न करना, यह बात नहीं है परन्तु तीव्र कषायरूप – ऐसे प्रमाद के कार्य में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का ही पाप होता है; इसलिए पञ्चम गुणस्थानवर्ती ऐसे निमित्त में नहीं जुड़ता है।●●

गाथा ३४७

अब, चौथे हिंसादान नामक अनर्थदण्ड को कहते हैं —

मज्जारपहुदिधरणं, आयुहलोहादिविक्कणं जं च।
लक्खाखलादिगहणं, अणत्थदंडो हवे तुरिओ॥

मार्जार आदिक पालना, व्यापार शस्त्रों का करे।
खल लाख आदिक ग्रहे, दे अनर्थदण्ड चतुर्थ है॥

अन्वयार्थ : [मज्जारपहुदिधरणं] जो बिलाव आदि हिंसक जीवों का पालना; **[आयुहलोहादिविक्कणं ज च]** लोहे का तथा लोहे आदि के आयुधों का व्यापार करना – देना–लेना; **[लक्खाखलादिगहणं]** लाख, खल आदि शब्द से विष वस्तु आदि का लेना–देना – व्यापार करना, **[तुरिओ अणत्थडो हवे]** चौथा हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : हिंसक जीवों का पालन तो नि:प्रयोजन और पाप प्रसिद्ध ही है। बहुत हिंसा के कारण शस्त्र, लोह, लाख आदि का व्यापार करना, देना–लेना करने में भी फल अल्प और पाप बहुत है; इसलिये अनर्थदण्ड ही है। इसमें प्रवृत्ति करने से व्रतभङ्ग होता है; छोड़ने पर व्रत की रक्षा होती है।

गाथा ३४७ पर प्रवचन

अब, चौथे हिंसादान नामक अनर्थदण्ड का स्वरूप कहते हैं।

बिल्ली, मुर्गा, कुत्ते इत्यादि हिंसक पशुओं को पालन करना; लोहखण्ड और लोहे के हथियार का व्यापार तथा लेन–देन करना; लाख–जहरीली वस्तु इत्यादि का व्यापार करने में पाप ही है – ऐसा जानकर, इस हिंसादान नामक अनर्थदण्ड का त्याग करने से ही व्रत की रक्षा होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव, विशेष शुद्धता के लिए धर्म का विचार करता है। पञ्चम गुणस्थान में एक के बाद एक प्रतिमा में शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की हानि कैसी और कितनी होती है ? – इसका विचार करता है।

हिंसा के कारणरूप व्यापार–धन्धे का राग, व्रती श्रावक को नहीं होता है। वह हिंसा के व्यापारियों के साथ लेन–देन इत्यादि का सम्बन्ध नहीं रखता है। (आत्मा) निमित्त का कर्ता –हर्ता नहीं है परन्तु उसके सम्बन्ध / संयोग में रहता है तो व्रत का भङ्ग होता है; उसे छोड़ने पर व्रत की रक्षा होती है। ●●

अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा ?

हे देव! आपके गुण में हमारा चित्त लगते ही वह पापरहित विशुद्ध हो जाता है; इसलिए 'मेरा क्या होगा ? मैं कर्मों से कब छूटूँगा ?' – ऐसी आशंका आपके भक्त को नहीं होती। यहाँ भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, यह तो सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिपूर्वक की भक्ति है। **'मोह मेरा कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ'** – ऐसे लक्ष्य द्वारा धर्मात्मा, समस्त कर्मों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है। अहो देव! आपकी भक्ति से जहाँ ऐसा स्वानुभवरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ अब हमारे अन्तर में अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा ? भवरहित स्वभाव को भूलकर, अज्ञान से अनन्त भव हो गये, परन्तु अब जिनदेव के शासन में ऐसी भवरहित ज्ञानस्वभाव की भावना में आया, वहाँ अनन्त भव का नाश होकर मोक्ष की साधना प्रारम्भ हो गयी है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ५५

गाथा ३४८

अब, दुःश्रुति नामक पाँचवें अनर्थदण्ड को कहते हैं —

जं सवणं सत्थाणं, भंडणवसियरणकामसत्थाणं।
परदोसाणं च तहा, अणत्थदंडो हवे चरमो॥

सुनना कुशास्त्र वशीकरण, या काम का वर्णन करे।
पर दोष सुनना और कहना, चरम दण्ड-अनर्थ है॥

अन्वयार्थ : [जं सत्थाणं भंडणवसियरणकामसत्थाणं सवणं] जो सर्वथा एकान्तमतवालों के बनाये हुए कुशास्त्र तथा भांडक्रिया, हास्य, कौतूहल के कथन के शास्त्र, वशीकरणमन्त्र प्रयोग के शास्त्र तथा स्त्रियों की चेष्टा के वर्णनरूप कामशास्त्र आदि का सुनना -सुनाना, पढना-पढाना; **[परदोसाणं च तहा]** दूसरे के दोषों को कथा करना-सुनना, **[चरमो अणत्थदंडो हवे]** दुःश्रुतिश्रवण नामक अन्तिम पाँचवाँ अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : खोटे शास्त्र सुनने-सुनाने, पढ़ने, बनाने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, केवल पाप ही होता है और आजीविका के निमित्त भी इनका व्यापार करना, श्रावक को योग्य नहीं है। व्यापार आदि की योग्य आजीविका ही श्रेष्ठ है। जिससे व्रत का भङ्ग होता हो, वह क्यों करे ? व्रत की रक्षा करना ही उचित है।

गाथा ३४८ पर प्रवचन

अब, पाँचवें दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड का स्वरूप कहते हैं।

जो शास्त्र जैसे दिखाई देते हैं परन्तु कुशास्त्र हैं। जिसमें सर्वज्ञ-वीतराग कथित तथा वीतरागी सन्तों द्वारा रचित सुशास्त्र से विरुद्ध कथन है, वे सब कुशास्त्र हैं। वे एकान्त, नित्य,

अनित्य, कर्ता–अकर्ता, शुद्ध–अशुद्ध ही मानकर मिथ्याज्ञान का पोषण करते हैं; इसलिए सर्वज्ञ कथित पूर्वा–पर विरुद्धतारहित सत्–शास्त्र को ही ज्ञानी मानता है। वह मिथ्याशास्त्र, कुदेव, कुगुरु की बात सुनता भी नहीं है, उनका विनय भी नहीं करता है।

किसी ने जिनागम का नाम लिया हो और अन्दर देव–शास्त्र–गुरु तथा तत्त्व का स्वरूप विपरीत कहा हो, जिसमें मोक्षमार्ग का अनेक विरुद्धतावाला कथन हो – ऐसे कुशास्त्रों को ज्ञानी नहीं मानता है।

हास्य, कौतुहल तथा वशीकरणमन्त्र के शास्त्र; स्त्रियों की चेष्टा के वर्णनरूप कामशास्त्र इत्यादि को धर्मी जीव नहीं सुनता है तथा नहीं पढ़ता है। ऐसा सीखना–सिखाना अनर्थदण्ड है। पर के दोषों की कथा करना या सुनना, वह दुःश्रुतिश्रवण नामक पाँचवाँ अनर्थदण्ड दोष है।

एकान्तसंसार वासना से भरपूर कोई शास्त्र सुनने–सुनाने, पढ़ने या रचने की दरकार धर्मी श्रावक नहीं करता है। कुशास्त्र का व्यापार भी नहीं करता है क्योंकि वैसा करने से व्रत भंग हो जाता है। ●●

जब सर्वज्ञस्वभाव का भान हुआ तब...

हे भगवान! ऐसा कौन बुद्धिमान है जो आपकी स्तुति नहीं करेगा? अहो! आपकी सर्वज्ञता को लक्ष्य में लेकर, जिसका चित्त आपकी भक्ति में लीन हुआ है, उसे जगत् का भय नहीं होता। अरे! क्रूर सिंह, हिरण को मारने के लिए छलाँग मारे; हिरण, सिंह के पञ्जों के बीच पड़ा हो, लेकिन आपकी भक्ति की शरण लेते ही उसे सिंह का भय नहीं रहता। हे नाथ! आपकी भक्ति करते हुए, मुझे मेरे सर्वज्ञस्वभाव का भान हुआ और स्वभाव की शरण लेते ही क्रूर कर्म के उदयरूप सिंह या प्रतिकूलता के संयोग की दौड़ से हम दबनेवाले नहीं हैं; कर्मरूपी सिंह के पञ्जे हम पर चलनेवाले नहीं हैं। देखो! बाहर में सिंह की बात की है, अन्दर में यह बात है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ २५*

गाथा ३४९

अब, इस अनर्थदण्ड के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं पंचपयारं, अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेदि णाणी, गुणव्वदी सो हवे बिदिओ॥

इन पाँच दण्ड-अनर्थ को, जो दुःख कारण जानता।
परिहार करता ज्ञानि जो, गुणव्रती श्रावक दूसरा॥

अन्वयार्थ : [**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक, [**एवं पंचपयारं**] इस प्रकार पाँच प्रकार के [**अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं परिहरेदि**] अनर्थदण्ड को निरन्तर दुःखों का उत्पन्न करनेवाला जानकर छोड़ता है, [**सो बिदिओ गुणव्वदी हवे**] वह दूसरे गुणव्रत का धारक श्रावक होता है।

भावार्थ : यह अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत, अणुव्रतों का बड़ा उपकारी है; इसलिए श्रावकों को अवश्य पालन करना योग्य है।

गाथा ३४९ पर प्रवचन

अब, अनर्थदण्ड के कथन का उपसंहार करते हैं।

बारह व्रत की भावना, वह संवर है क्योंकि नित्य ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता की भावना भाता है। उसमें जितने अंश में राग मिटकर शान्ति में जागृति रखता है, उतना धर्म है।

जो ज्ञानी श्रावक है, वह उक्त कथित अनर्थदण्ड को निरन्तर दुःखकारी जानकर छोड़ता है। आशय यह है कि अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत, अणुव्रतों का बहुत उपकारी है; इसलिए श्रावकों को इसका पालन अवश्य करने योग्य है। ●●

गाथा ३५०

अब, भोगोपभोग नामक तीसरे गुणव्रत को कहते हैं —

जाणित्ता संपत्ती, भोयणतंबोलवत्थमादिणं।
जं परिमाणं कीरदि, भोउवभोयं वयं तस्स॥

सामर्थ्य अपनी जानकर, भोजन वसन ताम्बूल का।
परिमाण करता जो वही, भागोपभोग व्रती कहा॥

अन्वयार्थ : [संपत्ती जाणित्ता] जो अपनी सम्पदा सामर्थ्य जानकर **[भोयणतंबोल –वत्थमादिणं]** भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदि का **[जं परिमाणं कीरदि]** परिमाण (मर्यादा) करता है, **[तस्स भोउवभोयं वयं]** उस श्रावक के भोगोपभोग नामक गुणव्रत होता है।

भावार्थ : भोजन, ताम्बूल आदि एक बार भोगने योग्य पदार्थों को भोग कहते हैं और वस्त्र, आभूषण आदि बार–बार भोगने योग्य पदार्थों को उपभोग कहते हैं। इनका परिमाण यमरूप (यावज्जीवन) भी होता है और नित्य नियमरूप भी होता है, सो यथाशक्ति अपनी सामग्री का विचार कर यमरूप कर लेवे तथा नियमरूप भी जो कहे हैं, उनका नित्य प्रयोजन के अनुसार नियम कर लिया करे; यह अणुव्रत भी बड़ा उपकारी है।

गाथा ३५० पर प्रवचन

अब, भोगोपभोग नामक तीसरे गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं।

धर्मी जीव, राग तोड़कर पुरुषार्थ की शक्ति तथा एकाग्रता का जोर देखे, तद्नुसार प्रतिज्ञा लेता है। हठ करके, देखा–देखी से आवेश में आकर प्रतिज्ञा नहीं करता, परन्तु सहज ज्ञान में समता द्वारा बाह्य आलम्बनरूप राग घटाने का प्रयोग नित्य करता है।

जो अपनी सम्पदा–सामर्थ्य जानकर भोजन, ताम्बूल, वस्त्र, इत्यादि का प्रतिदिन प्रमाण–मर्यादा करता है, उस श्रावक को भोगोपभोगप्रमाण नामक गुणव्रत होता है। जिसे आजीवन त्याग करता है, उसे यम कहते हैं और अमुक काल की मर्यादा तक त्याग की प्रतिज्ञा करना, वह नियम कहलाता है।

एक बार भोगने में आवे – ऐसे भोजनादिक को भोग कहते हैं तथा वस्त्रादि बारम्बार भोगने में आते हैं; इसलिए उन्हें उपभोग कहते हैं। वहाँ शक्ति अनुसार विचार करके, उनका यमरूप त्याग करता है, उनमें हमेशा की आवश्यकता जानकर तदुपरान्त का नियमरूप त्याग करता है।●●

सज्जनों का चित्त प्रसन्न होता है

धर्मात्मा का हृदय, परमात्मा के गुणों के प्रति आनन्द से उल्लसित होता है। प्रभो! कुकवि जो विषय–कषायों की पोषक काव्य रचना करते हैं, वह शोभा को प्राप्त नहीं होती; वह तो जीवों का अहित करनेवाली है परन्तु आपके वीतरागी गुणों का स्तवन तो विषय–कषायों से छुड़ाकर वीतरागता की भावना जागृत करता है; इसलिए वह सुन्दररूप से शोभा को प्राप्त होता है, उसे सुनकर सज्जनों का चित्त प्रसन्न होता है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ६१*

गाथा ३५१

अब, भोगोपभोग की प्राप्त वस्तु को छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं —

जो परिहरेइ संतं, तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि।
जो मणलड्डू व भक्खदि, तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥

जो प्राप्त भोगों को तजे, उसकी प्रशंसा सुर करें।
मन-मादकों को नहिं भखे, व्रत अल्पसिद्धि प्रद करे ॥

अन्वयार्थ : [जो संतं परिहरेइ] जो पुरुष, होती हुई वस्तु को छोड़ता है, **[तस्स वयं सुरिंदो वि थुव्वदे]** उसके व्रत की सुरेन्द्र भी प्रशंसा करते हैं **[जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं उप्पसिद्धियरं]** और अनुपस्थित वस्तु का छोड़ना तो ऐसा है, जैसे लड्डू तो हों नहीं और सङ्कल्पमात्र से मन में लड्डू खावे, वैसा है। इसलिए अनुपस्थित वस्तु को तो सङ्कल्पमात्र छोड़ना है, इस प्रकार से छोड़ना व्रत तो है परन्तु अल्प सिद्धि करनेवाला है, उसका फल थोड़ा है। *

---

* **दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणं।**
अनुब्रंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्या ॥ ६७॥

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगप्रमाण व्रत - ये तीन व्रत अणुव्रतों, को बढ़ाने में हेतुरूप होने से इन्हें गुणव्रत कहते हैं। *(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)*

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानिचत्वारि शिष्टानि ॥ ९१ ॥

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य - ये चार शिक्षाव्रत हैं। *(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)*

दिग्देशानर्थदंडविरति-सामायिक प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पनश्च — अर्थात्, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरत - ये तीन तथा सामायिक, प्रौषधोपवास, भोगोपभोगप्रमाण और अतिथिसंविभाग - इन सात व्रतोंसहित गृहस्थ व्रती होता है। *(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र २१)*

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि भोगोपभोगपरिमाण को तीसरा गुणव्रत कहा है परन्तु तत्वार्थसूत्र में तो तीसरा गुणव्रत, देशव्रत को कहा है; भोगोपभोग परिमाण को तीसरा शिक्षाव्रत कहा है सो यह कैसे ?

समाधान – यह आचार्यों की विवक्षा की विचित्रता है। स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में यहाँ के अनुसार ही कहा है, इसलिए इसमें विरोध नहीं है। यहाँ तो अणुव्रत के उपकारी की अपेक्षा ली है और वहाँ सचित्तादि भोग छोड़ने की अपेक्षा, मुनिव्रत की शिक्षा देने की अपेक्षा ली है, कुछ विरोध नहीं है। ऐसे तीन गुणव्रतों का वर्णन किया।

गाथा ३५१ पर प्रवचन

अब, विद्यमान भोगोपभोग वस्तु का परित्याग करनेवाले की प्रशंसा करते हैं।

जो पुरुष विद्यमान, अर्थात् प्राप्त / मौजूद वस्तु का त्याग करता है, उसके व्रत का देवों के इन्द्र भी अभिनन्दन करते हैं, प्रशंसा करते हैं तथा अप्राप्त वस्तु का त्याग तो ऐसा है कि जैसे लड्डू तो हो नहीं और मन में सङ्कल्पमात्र लड्डू की कल्पना करके लड्डू खाये, ऐसा है। यहाँ अविद्यमान वस्तु सङ्कल्पमात्र छोड़ना, वह व्रत तो है परन्तु अल्प सिद्धिदाता है, अर्थात् उसका फल अल्प है।

जो शुद्ध चिदानन्द का भान करके विशेष जागृति द्वारा, परद्रव्य के प्रति राग छोड़ता है, वह प्रशंसा योग्य है। 'न मिले नारी, होय ब्रह्मचारी' – ऐसा नहीं, परन्तु विद्यमान वस्तु में आसक्ति मिटाकर ज्ञानानन्दस्वरूप में सावधान रहने की बात है। राग का त्याग भी उपचारमात्र है; पर का त्याग तो उपचार का भी स्थूल उपचार है। आत्मा के भानसहित निश्चय ज्ञाता रहा, वह मोक्षमार्ग है और वहाँ किसका अभाव होता है, उसका ज्ञान करना, वह व्यवहार है।

प्रश्न – यहाँ भोगोपभोगपरिमाण को तीसरे गुणव्रत में गिना है परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तो तीसरा गुणव्रत, देशव्रत को कहा है और भोगोपभोगपरिमाण व्रत को तीसरे शिक्षाव्रत में गिना है, उसका क्या कारण है ?

समाधान – यह आचार्यों की विवक्षा की अनेकता है, आशय सबका समान है; इसलिए विरोध नहीं है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी, यहाँ कहा है,

वैसा ही कहा है; उसमें विरोध नहीं है। यहाँ तो अणुव्रत के उपकारक की अपेक्षा ली है और वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में सचित्तादि भोग छोड़ने की अपेक्षा मुनिव्रत की शिक्षा देने की अपेक्षा ली है; इसीलिए उनमें कहीं विरोध नहीं है।

इस प्रकार गुणव्रत का व्याख्यान हुआ। ●●

आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। **आचार्यदेव तो धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को जीवन्त कर रखा है... गजब का काम किया है!** साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर, परम सत् को अक्षुण्णरूप से जीवन्त रखा है। **आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार गूँजती है** – ऐसे महान शास्त्रों की रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचनायें तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य का शङ्खनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्य की बात है तथा उसकी समझ तो मुक्ति का वरण करने जाने के लिए श्रीफल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही होनेवाला है। *— जिणसासणं सव्वं, १००६, पृष्ठ ७७*

गाथा ३५२

अब, चार शिक्षाव्रतों का व्याख्यान करेंगे। पहले सामायिक शिक्षाव्रत को कहते हैं —

सामाइयस्स करणं, खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
साणवयणकायसुद्धी, णायव्वा हुंति सत्तेव॥

क्षेत्र आसन काल लय, मन वचन तन की शुद्धता।
ये सप्त सामग्री कही हैं, करे सामायिक यथा॥

अन्वयार्थ : [सामाइयस्स करणं] प्रथम ही सामायिक के करने में **[खेत्तं कालं च आसणं विलओ]** क्षेत्र, काल, आसन, और लय; **[मणवयणकायसुद्धी]** मन-वचन - काय की शुद्धता, **[सत्तेव णायव्वा हुंति]** ये सात सामग्री जानने योग्य हैं।

गाथा ३५२ पर प्रवचन

अब, मुनि होने की भावना के लिए शिक्षाव्रत होते हैं, उनका व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रथम तो सामायिक करने में क्षेत्र, काल, आसन, लय, मनशुद्धता, वचनशुद्धता, और कायशुद्धता - ये सात सामग्रियाँ जानने योग्य हैं।

श्रावक किसे कहते हैं ? उसका विचार चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थानवाले ज्ञानी भी करते हैं।

सामायिक करनेवाले को अशरीरी, अरागी, चिदानन्द आत्मा का भान तो है ही; अमृतस्वभाव का अपूर्व अनुभव तो सम्यग्दर्शन के समय हुआ है परन्तु विशेष शान्तिमय अनुभव के लिए सामायिक का अभ्यास करता है और उसके द्वारा प्रात:, दोपहर, सायंकाल एकाग्रता करता है। यहाँ तो द्रव्यानुयोगसहित भेदज्ञानपूर्वक विशेष शान्ति होने परए विकार कैसे घटता है ? - उसकी बात है। स्वभाव का अवलम्बन लेने पर ही राग घटता है।●●

गाथा ३५३-३५४

अब, सामायिक के क्षेत्र और काल को कहते हैं —

जत्थ ण कलयलसद्दो, वहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो॥

पुव्वण्हो, मज्झण्हे, अवरण्हे तिहि वि णालिया छक्को।
सामाइयस्स कालो, सविणयणिस्सेस-णिदिट्ठो॥

जहाँ कोलाहन न हो, नहिं भीड़ का आवागमन।
डाँस आदिक हो नहीं, उस जगह सामायिक करें॥

पूर्वाह्न अरु मध्याह्न अरु, अपराह्न में छह छह घड़ी।
यह समय सामायिक कहा, गणधर प्रभु ने विनय से॥

अन्वयार्थ : [जत्थ ण कलयलसद्दो] जहाँ कलकलाट (कोलाहल) शब्द नहीं हो, **[बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि]** जहाँ बहुत लोगों के संघट्ट (समूह) का आना-जाना न हो, **[जत्थ ण दंसादीया]** जहाँ डाँस, मच्छर, चिउंटी आदि शरीर को बाधा पहुँचानेवाले जीव न हों - **[एस पसत्थो हवे देसो]** ऐसा क्षेत्र, सामायिक करने के योग्य है।

[पुव्वण्हे मज्झण्हे] सबेरे, दोपहर, **[अवरण्हे तिहि वि णालियाछक्को]** और शाम, इन तीनों कालों में छह घड़ी का काल, **[सामाइयस्स कालो]** सामायिक का काल है, **[सविणयणिस्सेणिद्दिट्ठो]** यह विनयसहित गणधरदेवों ने कहा है।

भावार्थ : जहाँ चित्त को कोई क्षोभ उत्पन्न कराने के कारण न हों, वहाँ सामायिक करना चाहिए।

सूर्योदय के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी पूर्वाह्नकाल है। दोपहर (बारह बजे) के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी मध्याह्नकाल है। सूर्यास्त के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी अपराह्नकाल है। यह सामायिक का उत्कृष्ट काल है। मध्यम, चार घड़ी और जघन्य, दो घड़ी का काल कहा गया है। एक घड़ी चौबीस मिनिट की होती है।

गाथा ३५३-३५४ पर प्रवचन

सम्यक्त्वपूर्वक आत्मशान्ति करनेवाला, अपनी रुचि को अन्तर में लम्बाता है। बाहर एकान्त जङ्गल में जाऊँ तो शान्ति होगी – ऐसे संयोग की भावना नहीं भाता है। एकान्त तो अरागी आत्मा में है परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी है; इसलिए व्यवहार से विचार करता है कि सामायिक करने के लिए जहाँ कोलाहल शब्द न हो, जहाँ बहुत लोगों का आवागमन न हो, जहाँ डाँस, मच्छर, चीटीं, भ्रमर आदि शरीर को बाधाकारी जीव न हों – ऐसा क्षेत्र, सामायिक करने के योग्य है।

यद्यपि वह क्षेत्र से लाभ-नुकसान नहीं मानता है। अखण्ड आनन्दधाम असंख्य प्रदेशी निर्मल अनन्त गुण का अक्षय भण्डार, आत्मा ही एकान्त उत्तम क्षेत्र है – ऐसा ही मानता है। यह तो साधक को ऐसा विकल्प आता है, उसका यहाँ ज्ञान कराते हैं। भावनापूर्वक शान्ति में अन्दर स्थिरता करना चाहता है; चित्त को क्षोभकारी संयोग में उद्यमपूर्वक नहीं जाता है।

सबेरे, दोपहर, और सायं काल – इन तीनों कालों में छह-छह घड़ी सामायिक का काल है – ऐसा विनयसहित निःस्व, अर्थात् निस्परिग्रह के ईश्वर, गणधरदेव ने कहा है।

तीन घड़ी पीछे की रात्रि का तथा तीन घड़ी दिन उगने से बाद का – ऐसा छह घड़ी का काल, पूर्वाह्नकाल है। दूसरे पहर की पहले की तीन घड़ी से लेकर, बाद की तीन घड़ी तक का छह घड़ी का काल, मध्याह्नकाल है तथा दिन की अन्तिम तीन घड़ी से लेकर रात्रि की तीन घड़ी तक का छह घड़ी का काल, अपराह्नकाल है; ये सामायिक के उत्कृष्ट काल हैं। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सन्ध्याकाल, इन तीनों कालों में दो-दो घड़ी की सामायिक भी कही गयी है। इस प्रकार तीन कालों में छह घड़ी हो जाती है।

यह निरतिचार सामायिक पालन करने की बात है, जिसमें स्वभाव के उग्र अवलम्बन द्वारा शुद्धि बढ़ती है। प्रथम प्रतिमा में निरतिचार व्रत नहीं होते, परन्तु दूसरी आदि प्रतिमाओं में निरतिचार व्रत होते हैं। ऊपर की प्रतिमाओं में अकषाय का अंश बढ़ता है, अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होती है और स्वभाव के अवलम्बन द्वारा विशेष स्थिरता करता है। धर्मी श्रावक ने अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणीय, इन दो कषाय चौकड़ी का अभाव किया है तदुपरान्त तीसरी प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का रस क्रम-क्रम से मन्द करता है।

देखो! यह श्रावक के बारह प्रकार के धर्मों का वर्णन चल रहा है। उसमें सबसे पहले शुद्ध चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही धर्म है। सम्यग्दर्शन के बाद स्वभाव के आश्रय से जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती जाती है और राग मिटता जाता है; वैसे-वैसे उस शुद्धता के प्रमाण में श्रावक के व्रत-प्रतिमा तथा मुनि के महाव्रत आदि होते हैं। अन्तर में चिदानन्द ध्रुवस्वभाव की दृष्टि और अवलम्बन रखकर यह सब बात है। यहाँ श्रावक की तीसरी व्रतप्रतिमा में बारह व्रत होते हैं, उनमें से सामायिकव्रत का वर्णन किया गया है।●●

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। **प्रचुर स्वसम्वेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है।** उनको अपवाद -व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता। — *जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०*

गाथा ३५५-३५६-३५७

अब, आसन तथा लय, और मन-वचन-काय की शुद्धता को कहते हैं —

बंधित्ता पज्जंकं, अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा।
कालपमाणं किच्चा, इंदियवावारवज्जिदो होउं॥
जिणवयणेयग्गमणो, संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा।
ससरूवे संलीणो, वंदणअत्थं विचिंतंतो॥
किच्चा देसपमाणं, सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव॥

पर्यंक आसन बैठ कर, या खड़े होकर थिर रहे।
काल मर्यादा करे, व्यापार-इन्द्रिय नहिं करे॥
जिन वचन में एकाग्र हो कर, हाथ की अंजूली करे।
निज रूप में हो लीन, वन्दन पाठ-अर्थ विचारिये॥
क्षेत्र का परिमाण कर, सावध योग सभी तजे।
करे सामायिक व्रती, उस समय वह मुनिसम बने॥

अन्वयार्थ : [जो पज्जंकं बंधित्ता] जो पर्यङ्कासन बाँधकर, **[अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा]** अथवा खड्गासन से स्थित होकर (खड़े होकर), **[कालपमाणं किच्चा]** काल का प्रमाण कर, **[इंदियवावारवज्जिदो होउं]** इन्द्रियों का व्यापार, विषयों में न होने के लिये **[जिणवयणेयग्गमणो]** जिनवचन में एकाग्र मन कर, **[संपुडकाओ य अंजलि किच्चा]** काय को सङ्कोच कर हाथों से अञ्जुलि बनाकर **[ससरूवे संलीणे]** अपने

स्वरूप में लीन होकर, **[वंदणअत्थं विचिंतंतो]** अथवा सामायिक के वन्दना के पाठ के अर्थ का चिन्तवन करता हुआ प्रवृत्ति करता है, **[देसपमाणं किच्चा]** क्षेत्र का परिमाण कर **[सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं]** सर्व सावद्ययोग (गृह व्यापारादि पापयोग) का त्यागकर, सर्व पापयोग से रहित होकर **[सामइयं कुव्वदि]** सामायिक करता है, **[सो ताव मुणिसरिसो हवे]** वह श्रावक उस समय मुनि के समान है।

भावार्थ : यह शिक्षाव्रत है, यह इस अर्थ को सूचित करता है कि सामायिक में सब राग-द्वेष से रहित हो, सब बाह्य की पापयोग क्रियाओं से रहित हो, अपने आत्मस्वरूप में लीन हुआ मुनि प्रवर्ता रहा है, यह सामायिकचारित्र मुनि का धर्म है। यह ही शिक्षा, श्रावक को दी जाती है कि सामायिक काल की मर्यादा कर, उस काल में मुनि की तरह प्रवर्तता है क्योंकि मुनि होने पर इसी तरह सदा रहना होगा, इसी अपेक्षा से उस काल मुनि के समान श्रावक को कहा है।

गाथा ३५५-३५७ पर प्रवचन

अब, सामायिक के आसन इत्यादि का कथन करते हैं।

देखो! सामायिक किसे कहते हैं? प्रथम तो आत्मा का त्रिकाल स्वभाव, श्रद्धा में लेकर उसकी प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शनरूपी सामायिक है। उस सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान भी ज्ञानसामायिक है। उस दर्शनसामायिक और ज्ञानसामायिक के उपरान्त चारित्ररूप सामायिक की यह बात है। सम्यग्दर्शन के बाद ध्रुवस्वभाव के निर्विकल्प अनुभव का अभ्यास करे, उसे सामायिक कहते हैं। उस सामायिक के समय, श्रावक भी मुनि जैसा कहलाता है। यद्यपि अभी मुनिदशा तो नहीं है परन्तु सामायिक करने के समय राग की अत्यन्त मन्दता हो गयी है, इस अपेक्षा से उसे मुनि जैसा कहा जाता है।

जो पर्यङ्क आसन बाँधकर अथवा खड्गासन से स्थित होकर, अर्थात् खड़े होकर, काल का प्रमाण करके, इन्द्रियों का व्यापार विषयों में न होने के लिये जिन वचन में मन एकाग्र करके, काय को सङ्कोच कर, हाथों से अञ्जुलि बनाकर, अपने स्वरूप में लीन होकर अथवा सामायिक के वन्दना के पाठ के अर्थ का चिन्तवन करता हुआ प्रवृत्ति करता है; क्षेत्र का परिमाण करके सर्व सावद्ययोग, अर्थात् गृह, व्यापारादि पापयोग का त्याग

करके, समस्त पापयोग से रहित होकर सामायिक करता है, वह श्रावक उस समय मुनि के समान है।

शरीर का खड़ा रहना या बैठना तो जड़ की क्रिया है परन्तु सामायिक के विकल्प के समय देह की ऐसी क्रिया देह के कारण से होती है। सामायिक करनेवाला एकाग्रचित्त करके जिनवचन में कहे गये वीतरागी वस्तुस्वरूप का चिन्तन करता है, उस समय काया को संकुचित करता है, अर्थात् काया के हलन-चलन की ओर का विकल्प नहीं होता; अन्तर में ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन लेकर लीन होता है, वही परमार्थ सामायिक है। वहाँ बाहर में आसन इत्यादि निमित्त कैसे होते हैं? उसका यहाँ ज्ञान कराया है। वस्तुत: देह की क्रिया, वह कहीं सामायिक नहीं है; शुभभाव आता है, वह भी सामायिक नहीं है परन्तु अन्दर में चिदानन्दस्वरूप में निर्विकल्प लीनता हुई, वह सामायिक है।

स्वरूप में लीनता किसे होती है? जिसने पहले स्वरूप को जाना हो, उसे। पुण्य-पाप और देह की क्रिया से पार मैं चिदानन्द भगवान हूँ —जिसने ऐसा भान किया हो, उसे उसमें लीनता होती है और उसे ही सामायिक होती है; इसके अतिरिक्त दूसरे को सच्ची सामायिक नहीं होती है।

पहले गुरुगम से तत्त्व का अभ्यास किया हो और आत्मा का भान किया हो, पश्चात् उसमें विशेष एकाग्रता से शुद्धता प्रगट हो, उसका नाम सामायिक है। उस सामायिक के समय श्रावक, व्यापार इत्यादि के सावद्यभाव, अर्थात् पापभाव नहीं करता। देखो, द्रव्यस्वभाव को लक्ष्य में रखकर इन बारह भावनाओं का वर्णन है।

यह शिक्षाव्रत है। वहाँ यह अर्थ ज्ञात होता है कि सामायिक है, वह सम्पूर्ण राग-द्वेषरहित होकर, बाहर की समस्त पापयोग क्रिया से रहित होकर, अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर मुनिराज प्रवर्तते हैं – यह सामायिकचारित्र, मुनिराज का धर्म है; वही शिक्षा, श्रावक को भी दी जाती है कि सामायिक के काल की मर्यादा करके उस काल में मुनि की तरह प्रवर्तता है क्योंकि मुनि होने के बाद इस प्रकार सदा रहना होगा। इस अपेक्षा से श्रावक को उस काल में मुनि जैसा कहा गया है।

जिस प्रकार वीतरागी मुनि, निजस्वरूप में लीन होकर सामायिककर्म में प्रवर्तते हैं;

उसी प्रकार यहाँ श्रावक को भी उसका उपदेश किया है। मुनि को कैसा सामायिकधर्म होता है ? – यह जानकर उसकी भावना करे कि अहो! मैं मुनि होऊँगा, तब मैं भी मुनिवरों की तरह ऐसा आत्मध्यान करूँगा। इस प्रकार मुनिपने की भावनासहित श्रावक अपनी शक्ति अनुसार सामायिक का अभ्यास करता है। मुनिदशा के बिना तो मोक्ष नहीं है; इसलिए श्रावक उसकी भावना करता है। वह सामायिक सीखता है। मुनि को तो निरन्तर सहज सामायिक वर्तती है, वे तो आनन्दकन्द अमृतसागर में निमग्न हैं और श्रावक को वैसा अनुभव का काल अल्प होता है। मुनिदशा होने से पहले उसका अभ्यास करता है कि अहो! कब चैतन्य में एकाग्र होऊँगा! इस अपेक्षा से श्रावक को भी सामायिक के समय मुनि जैसा कहा गया है।●●

छोटे से सिद्ध भगवान....

अहा! आठ वर्ष का छोटा-सा राजकुमार, जब दीक्षा लेकर मुनि हो, तब वैराग्य का वह अद्भुत दृश्य! आनन्द में लीनता!! **मानों छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरें हों! वाह रे वाह! धन्य यह मुनिदशा!**

जब वे छोटे से मुनिराज दो-तीन दिन में आहार के लिए निकलें, तब आनन्द में झूलते-झूलते धीरे-धीरे चले आ रहे हों और योग्य विधि का मेल मिलने पर आहार ग्रहण के लिए छोटे-छोटे हाथों को अञ्जलि जोड़कर खड़े हों। **अहा! वह दृश्य कैसा होगा!!**

बाद में वे आठ वर्ष के मुनिराज, आत्मा के ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध हो जाएँ — ऐसी आत्मा की शक्ति है। **वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरादि भगवान के पास आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसङ्ग बनते रहते हैं।**

— गुरुदेवश्री के वचनामृत, १८९, पृष्ठ ११६

गाथा ३५८-३५९

अब, दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास को कहते हैं —

ण्हाणविलेवणभूसण,-इत्थीसंसग्गगंधधूपदीवादि।
जो परिहरेदि णाणी, वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा॥

दोसु वि पव्वेसु सया, उववासं एयभत्त णिव्वियडी।
जो कुणइ एवमाई, तस्स वयं पोसहं बिदियं॥

स्नान लेपन आभरण, दीपादि नारी सङ्ग को।
परित्यजे जो ज्ञानी धरे, वैराग्य आभूषण अहो॥

पक्ष के दो पर्व में, उपवास एकासन करे।
आहार नीरस ग्रहे, शिक्षाव्रत वही दूजा करे॥

अन्वयार्थ : [**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक [**दोसु वि पव्वेसु सया**] एक पक्ष में पर्व अष्टमी-चतुर्दशी के दिन [**ण्हाणविलेवणभूसणइत्थीसंसग्गंधधूपदीवादि परिहरेदि**] स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्री का संसर्ग, धूप, दीप आदि भोगोपभोग वस्तुओं को छोड़ता है [**वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा**] और वैराग्यभावना के आभरण से आत्मा को शोभायमान कर, [**उववास एयभत्त णिव्वियडी जो एवमाई कुणई**] उपवास, एक वक्त नीरस आहार करता है तथा आदि शब्द से कांजी करता है (केवल भात और जल ही ग्रहण करता है), [**तस्स पोसहं वयं बिदियं**] उसके प्रोषधोपवासव्रत नामक शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थ : जैसे सामायिक करने को काल का नियम कर, सब पापयोगों से निवृत्त हो एकान्त स्थान में धर्मध्यान करता हुआ बैठता है; वैसे ही सब गृहकार्य का त्याग कर, समस्त

भोग-उपभोग सामग्री को छोड़कर सप्तमी, तेरस के दोपहर दिन के बाद एकान्त स्थान में बैठे, धर्मध्यान करता हुआ सोलह पहर तक मुनि की तरह रहे, नौमी, पूर्णमासी की दोपहर में प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर गृहकार्य में लगे, उसके प्रोषधव्रत होता है। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन उपवास की सामर्थ्य न हो तो एक बार भोजन करे, नीरस भोजन, कांजी आदि अल्प आहार कर ले, समय धर्मध्यान में बितावे। सोलह पहर आगे प्रोषध प्रतिमा में कहेंगे, वैसे ही करे परन्तु यहाँ गाथा में न कही; इसलिए सोलह पहर का नियम नहीं है। यह भी मुनिव्रत की शिक्षा ही है।

गाथा ३५८-३५९ पर प्रवचन

अब, प्रौषधोपवास नामक दूसरे शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं। प्रौषध, अर्थात् वीतराग दृष्टि में यथार्थ पुष्टि होने के पश्चात् अनाकुल आत्मानन्द के अनुभव द्वारा आत्मा का पोषण करना, वह प्रौषध है। वहाँ स्वभाव में विशेष एकाग्रता का अभ्यास करता है।

जो ज्ञानी श्रावक, एक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, दोनों पर्वों में स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्री संसर्ग, सुगन्ध धूप, दीप इत्यादि भोगोपभोग वस्तुओं को छोड़कर वैराग्यभावनारूप आभरण से आत्मा को सुशोभित करके, उपवास अथवा एकासन अथवा नीरस आहार करता है अथवा आदि शब्द से कांजी करता है, अर्थात् मात्र भात और जल ही ग्रहण करता है, उसे प्रौषधोपवास नामक शिक्षाव्रत होता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अतिरिक्त, शुद्धात्मा की प्रतीति की भूमिका के अतिरिक्त प्रौषध का वृक्ष नहीं ऊगता। उस प्रौषध में विलेपन, आभूषण गहने, स्त्री का संसर्ग, सुगन्धित तेल, धूप, दीपक इत्यादि भोगोपभोग सामग्री का परित्याग करके, अर्थात् उसके प्रति राग छोड़कर...... देखो, राग छोड़ना भी उपचार से है परन्तु ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में लीन होकर, राग की उत्पत्ति नहीं होने देता। उसने राग, भोगोपभोग सामग्री छोड़ी - ऐसा कहा जाता है तथा वैराग्यभावना के आभूषण से अपने आत्मा को शोभायमान करता है। अखण्ड अनन्त अस्ति का भान / दृष्टि है, वहाँ नास्ति से ऐसा वैराग्य होता है - यह कहा है।

यदि प्रौषधोपवास नहीं हो सकता हो तो एक बार नीरस आहार करे, मात्र दही और पानी ही ग्रहण करे। यह तो दूसरी प्रतिमा की शुद्धता में राग का घटना और निमित्त का कैसा अभाव वर्तता है - यह समझाया है।

जब अष्टमी का प्रौषधोपवास हो, तब पहले सप्तमी के दोपहर से निवृत्त हो और नवमी के दोपहर में पूर्ण करे तथा चौदस का प्रौषधोपवास हो, तब तेरस के दोपहर से निवृत्त होकर पूर्णिमा या अमावस्या के दोपहर तक प्रौषधोपवास रखे; इस प्रकार सोलह प्रहर का प्रौषधोपवास कहा गया है। यहाँ सोलह प्रहर की उत्कृष्ट बात की है, उतनी शक्ति न हो तो शक्ति अनुसार करें। आगे प्रौषधोपवास नामक प्रतिमा आयेगी, वहाँ नियमपूर्वक सोलह प्रहर तक के प्रौषध उपवास की बात लेंगे।

श्रावक को सामायिक में प्रतिदिन का प्रयोग है।

प्रौषधोपवास में लगभग आठ दिन का प्रयोग है।

और सल्लेखना व्रत में जीवनपर्यन्त का प्रयोग है। ●●

जङ्गल में भी मुनिराज परम सुखी

किसी को ऐसा लगे कि जङ्गल में मुनिराज को अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? **अरे भाई! जङ्गल के बीच निजानन्द में झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगत के राग-द्वेष का शोरगुल वहाँ नहीं है।** किसी परवस्तु के साथ आत्मा का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध में आत्मा को सुख हो —ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और उसी को उपादेय मानते हैं।

— गुरुदेवश्री के वचनामृत, १७६, पृष्ठ १०१

गाथा ३६०-३६१

अब, अतिथिसंविभाग नामक तीसरे शिक्षाव्रत को कहते हैं —

तिविहे पत्तम्मि सया, सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं, णवदाणविहीहीं संजुत्तो॥
सिक्खावयं च तदियं, तस्स हवे सव्वसोक्खसिद्धियरं।
दाणं चउव्विहं पि य, सव्वे दाणाण सारयरं॥

तीन पात्रों के लिए, श्रद्धादि गुण से युक्त हो।
दान नवधा भक्ति संयुत, स्वयं जो देता अहो॥
दान चार प्रकार देना, दान सब में सार है।
यह तृतीय शिक्षाव्रत कहा, सब सिद्धि सुख दातार है॥

अन्वयार्थ : [जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक **[तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहिं संजदो]** उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों के लिए दाता के श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होकर, **[णवदाणविहीहिं संजुत्तो सयं दाणं देदि]** नवधाभक्ति से संयुक्त होता हुआ, नित्यप्रति अपने हाथ से दान देता है, **[तस्स तदियं सिक्खावयं हवे]** उस श्रावक के तीसरा शिक्षाव्रत होता है। वह दान कैसा है ? **[दाणं चउव्विहं पि य]** आहार, अभय, औषध, शास्त्रदान के भेद से चार प्रकार का है। **[सव्वे दाणाण सारयरं]** अन्य लौकिक धनादिक के दानों में अतिशयरूप से सार है, उत्तम है, **[सव्वसोक्खसिद्धियरं]** सब सिद्धि और सुख को करनेवाला है।

भावार्थ : तीन प्रकार के पात्रों में उत्कृष्ट तो मुनि; मध्यम अणुव्रती श्रावक; जघन्य

अविरत सम्यग्दृष्टि है। दाता के सात गुण श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, शक्ति ये सात हैं तथा अन्य प्रकार भी कहे गये हैं, जैसे – इस लोक के फल की वांछा न करे, क्षमावान् हो, कपटरहित हो, अन्यदाता से ईर्ष्या न करे, दिए हुए का विषाद न करे, देकर हर्ष करे, गर्व न करे; इस तरह भी सात कहे गये हैं। प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, पूजा करना, प्रमाण करना, मन की शुद्धता, वचन की शुद्धता, काय की शुद्धता, आहार की शुद्धता – ये नवाधभक्ति हैं। ऐसे दाता के गुणसहित पात्र को नवधाभक्ति से नित्य चार प्रकार का दान देता है, उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह भी मुनित्व शिक्षा के लिये है कि देना सीखे, क्योंकि वैसे ही अपने को मुनि होने पर लेना होगा।

गाथा ३६०-३६१ पर प्रवचन

अब, अतिथिसंविभाग नामक तृतीय शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं।

ज्ञानी श्रावक, उत्तम-मध्यम-जघन्य – इन तीन पात्रों को आहारदान देता है। दाता के श्रद्धादि गुणोंसहित, अपने हाथ से, विनयरूप नवधाभक्तिसहित प्रतिदिन दान देता है। सम्यग्दृष्टि भी अन्य अविरतसम्यग्दृष्टि को योग्य विनयपूर्वक दान देता है, वह शुभभाव है; उसको स्वभाव के अवलम्बन से जितना राग घटा, उतना संवर है। अविरति श्रावक धर्मात्मा को आहार देने का भाव, पुण्य है; पाप नहीं।

आहार, औषध, अभय, और शास्त्र – ये चार प्रकार का दान है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक है, वह अविरतसम्यग्दृष्टि को भी आहारादि दान देता है। अशुभ में नहीं जाने के लिए पूजा, भक्ति, विनय, दया, प्रभावनादि कार्य में हमेशा दान देता है। तीनों पात्रों को दान देता है। पञ्चम गुणस्थानवाला श्रावक, चौथे गुणस्थानवाले को भी योग्य आदरपूर्वक दान देता है तथा मुनियों को भी दान देता है। यह दान, अतिशय साररूप उत्तम है, सर्वसिद्धि और सुखप्रदायक है।

लौकिकदान की अपेक्षा इस दान की विशेषता है क्योंकि इसमें वीतरागीस्वभाव की पुष्टि की अनुमोदना है। वह शुभराग को धर्म नहीं मानता; देह की क्रिया, आहारादि देने की क्रिया मैं कर सकता हूँ – ऐसा नहीं मानता। इस कारण स्वभाव के लक्ष्य से राग मिटाकर, जितनी शुद्धि होती है, वह सर्वसिद्धि और सुख का कारण है और उसी के आरोप द्वारा दान के शुभभाव को भी अतिशय साररूप कहा जाता है।

कोई कहता है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक, ऐलक श्रावकपदवी में हैं, उनकी भी नवधाभक्ति करना - इसके लिए वह इस गाथा का आधार देता है परन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचार १२३ वें श्लोक में इस गाथा का अर्थ, मुनि-श्रावक के जैसा पद हो, उसके योग्य पदवी अनुसार विनय करना आदि कहा है।

यहाँ तो पाँचवे गुणस्थानवाले श्रावक की बात है। पञ्चम गुणस्थानवाला, चौथे गुणस्थानवाले की नवधाभक्ति किस प्रकार करेगा? इसलिए जो नवधाभक्ति कही है, वह योग्यतानुसार समझना चाहिए। मुख्यरूप से मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान की विधि है और श्रावक आदि का योग्य आदर-बहुमान आदि करना चाहिए।

आशय यह है कि तीन प्रकार के पात्रों में उत्कृष्टपात्र तो मुनि हैं; मध्यम अणुव्रती श्रावक और जघन्य अविरतसम्यग्दृष्टि हैं।

दातार के **श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति** - ये सात गुण हैं तथा अन्य प्रकार से भी हैं - **इस लोक के फल की वाञ्छारहित, क्षमावान, कपटरहित, अन्य दाता से ईर्ष्यारहित, दान देने के बाद तत्सम्बन्धी विषादरहित, देने के हर्षवाला और गर्वरहित** - इस प्रकार भी सात गुण कहे गये हैं।

तथा **प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पाद-प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और आहारशुद्धि** - इस प्रकार नवधाभक्ति है।

इस प्रकार जो दातार के गुणोंसहित, नवधाभक्तिपूर्वक पात्र को प्रतिदिन चार प्रकार का दान देता है, उसके तीसरा (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत होता है। यह भी मुनिपने की शिक्षा के लिए है क्योंकि यदि देना सीखे तो तदनुसार स्वयं मुनि होने के पश्चात् लेना होगा।

श्रावक द्वारा नवधाभक्तिपूर्वक विनय होने पर ही मुनि आहार लेते हैं। वे ऐसी सिंह वृत्तिपूर्वक उग्र वैराग्यवन्त होते हैं कि शरीर के लिए सदोष आहार अथवा विनयरहित आहार नहीं लेते।

(१) मुनि को आते देखकर पधारो... पधारो... पधारो - ऐसा तीन बार परम विनयसहित

कहना **प्रतिग्रह** है। श्रावक, ऐलक, क्षुल्लक आदि की विनय भी उनकी पदवी अनुसार करना चाहिए। (२) **उच्च आसन,** (३) **पाद-प्रक्षालन** - पैर धोना, (४) पूजन सामग्री से विधिपूर्वक **पूजन** करना, (५) **प्रणाम,** (६) **मनशुद्धि** - संसार, व्यापार सम्बन्धी अशुभ विकल्प नहीं करना, (७) **वचनशुद्धि** - किसी के प्रति कठोर वचन नहीं बोलना, (८) **कायशुद्धि** - बाह्य शारीरिक अशुद्धि नहीं रखना, और (९) **आहारशुद्धि** - उद्देशिक अथवा अध:कर्मी इत्यादि सदोष आहार नहीं हो, अपितु (दातार ने) स्वयं के लिए बनाया हो। यह नवधाभक्ति है।

नग्न दिगम्बर मुनि, महान वीतरागी सन्त होते हैं, उनसे महाभक्ति - विनय से कहें कि प्रभु! मुझे मन-वचन-काया की शुद्धता है; मलिनता नहीं - ऐसा मुनि के समीप स्वीकार करना चाहिए। मुनिराजों को पुरुषार्थ और निरालम्बनता की उग्रता ऐसी है कि वे नवधाभक्ति के बिना जहाँ-तहाँ से आहार लेते ही नहीं।

श्रावक ऐसी प्रसन्नतापूर्वक आहार देता है कि अहो! धन्य मेरा अवतार!! मेरे आँगन में मुनिराज का आहार हुआ!!! इस प्रकार उत्तमपात्र-मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक और मध्यम-जघन्यपात्र को उनके योग्य विनयसहित, दाता के गुणों से सहित श्रावक प्रतिदिन चार प्रकार का दान देता है।

श्रावक को इस प्रकार का भाव होता है, इसका नाम **अतिथिसंविभाग** नामक शिक्षाव्रत है।

सर्वज्ञ के मार्ग में निर्ग्रन्थ भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त, वे उत्कृष्टपात्र हैं - ऐसा पहचान कर भक्तिपूर्वक आहारदान दे। पात्र कौन है और कुपात्र कौन है ? इसका भी जिसे भान न हो, उसे अतिथिसंविभाग व्रत नहीं होता।

सच्चे पात्र तीन प्रकार के हैं, उत्तमपात्र तो मुनि हैं, मध्यमपात्र श्रावक हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं - ऐसे तीन पात्र से विरुद्ध, वह कुपात्र है। उस कुपात्र को जो गुरु मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जो शास्त्र ऐसे तीन प्रकार के पात्र का स्वरूप, विपरीत कहते हों, वे कुशास्त्र हैं और उनकी मान्यतावाला जीव, मिथ्यादृष्टि है, उसे ऐसा अतिथिसंविभागव्रत नहीं होता है।

जो वस्त्र-पात्र इत्यादि परिग्रहसहित मुनिपना होना मानता है, वह जीव, पात्र नहीं है और वस्त्रादि सहित मुनिदशा कहनेवाले शास्त्र भी मिथ्या हैं। जो ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे सच्ची भावना नहीं होती। यह भावना, सम्यग्दृष्टि चिन्तवन करता है और इस भावना का चिन्तन करनेवाले को सबसे पहले सर्वज्ञदेव की प्रतीति है। सर्वज्ञ से विरुद्ध ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को वह नहीं मानता है।

देखो, यह बारह अनुप्रेक्षा, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और छठवें गुणस्थानवाले सन्त मुनि भी चिन्तवन करते हैं। जिस जीव को अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु के बीच का विवेक भी नहीं है, वह जीव किसी की बात चोरी करके अपने नाम से बात करता है और 'हम भी अध्यात्म जानते हैं' - ऐसा बताकर लोगों से मान प्राप्त करना चाहता है। ऐसे मूढ़ जीव, स्वच्छन्द का सेवन कर रहे हैं। पहले तो सत्य सुनने पर उत्साह आता था और अब तो 'यह बात हमारे यहाँ भी है' - ऐसा मानकर कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का पोषण करता है। इसलिए उसे सत्य सुनने का उत्साहभाव भी नहीं रहा और गृहीतमिथ्यात्व का तीव्र पोषण हुआ। जिसे अभी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता भी नहीं छूटी - ऐसे गृहीत मिथ्यादृष्टि की बात सुनकर सम्यग्दृष्टि-श्रावक उलझते नहीं हैं और उसे मानते नहीं हैं।

अहो! चारित्रदशा तो अन्तर स्वरूप में झूलती महापवित्रदशा है। वहाँ अन्तर बाह्य निर्ग्रन्थदशा होती है; वस्त्र के धागे का भी परिग्रह नहीं होता - ऐसी मुनिदशा के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मुनिदशा मनवानेवाले को तो मोक्षमार्ग का पता ही नहीं है। वह जीव, मिथ्यादृष्टि है। इसलिए कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता को पहले ही छूट जानी चाहिए। जिसे सर्वज्ञ की प्रतीति हुई है, सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु की पहचान हुई है तथा उनके द्वारा कथित शास्त्र पहिचाने हैं और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छूट गयी है, अर्थात् निमित्त पलट गया है और अपने उपादान में भी मिथ्याश्रद्धा छूटकर सम्यक्श्रद्धा हुई है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को राग छूटने पर कैसे व्रत होते हैं ? - यह उसका वर्णन है। अभी जिसे निमित्त भी नहीं पलटे हैं और कुदेव -कुगुरु-कुशास्त्र - ऐसे असत निमित्तों को मान रहा है, उसे अपने उपादान में भी पलटा नहीं हुआ है और उसे ऐसे व्रत या भावना नहीं होती है - इतना उपोद्घात / भूमिका लक्ष्य में रखकर यह व्रत की बात समझना चाहिए। ●●

गाथा ३६२

अब, आहार आदि दानों का माहात्म्य कहते हैं —

भोयणदाणेण सोक्खं, ओसहदाणेण सत्थदाणं च।
जीवाण अभयदाणं, सुदुल्लहं सव्वदाणेसु॥

आहार से सब सुखी हों, औषधि तथा है ज्ञान दान।
सर्व दानों में सुदुर्लभ, प्राणियों को अभयदान॥

अन्वयार्थ : [भोयणदाणेण सोक्खं] भोजनदान से सबको सुख होता है, **[ओसहदाणेण सत्थदाणं च]** औषधदानसहित शास्त्रदान **[जीवाण अभयदाणं]** और जीवों को अभयदान, **[सव्वदाणेण सुदुल्लहं]** सब दानों से दुर्लभ है, उत्तम दान है।

भावार्थ : यहाँ अभयदान को सबसे श्रेष्ठ कहा है।

गाथा ३६२ पर प्रवचन

यहाँ दूसरी प्रतिमावाले श्रावक को जो बारह व्रत होते हैं, उनमें अतिथिसंविभागव्रत का वर्णन चल रहा है।

भोजन के दान से सबको सुख होता है, औषधदानपूर्वक शास्त्रदान और जीवन का अभयदान है, वह सम्पूर्ण दानों में दुर्लभता से प्राप्त हो – ऐसा उत्तम दान है।

भोजनदान से सुख होता है, यह तो निमित्त का कथन है। मुनि को कुछ रोग हुआ हो तो धर्मी श्रावक, आहार के साथ औषधि दे देता है। आहार के अतिरिक्त, अन्य समय मुनिराज, औषधि नहीं लेते हैं और इसी प्रकार औषधि देने का भाव भी सम्यग्दृष्टि श्रावक को नहीं आता है। जो मुनिदशा में भी दो–तीन बार आहार करना मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें मुनिदशा

का पता नहीं है। जिसे मुनिदशा जैसी उत्कृष्ट वीतरागपर्याय प्रगट हुई हो, उसे चाहे जब औषधि इत्यादि लेने का भाव भी नहीं होता है। आहार के समय उसके साथ निर्दोष औषधि श्रावक देता है तथा शास्त्रदान करता है। परन्तु शास्त्र क्या है ? – उसका ही जिसे भान नहीं हो, उस जीव को शास्त्रदान कहाँ से होगा ? यहाँ अभयदान को श्रेष्ठ कहा है। उसमें मुख्यरूप से मुनि इत्यादि पात्र जीव समझना चाहिए। ●●

मुनिराज की अन्तर-साधना

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले मुनिराज, छठवें-सातवें गुणस्थान में रहने के काल में भी आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना, वहीं के वहीं नहीं रहते। छठवें-सातवें गुणस्थान में रहते हुए भी आत्मशुद्धि की दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो, तब तक मुनिराज शुद्धि की वृद्धि करते ही जाते हैं। **यह तो मुनिराज की अन्तर-साधना है; जगत के जीव मुनिराज की इस अन्तर-साधना को नहीं देख पाते।** साधना कोई बाह्य से देखने की वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तर की दशा है।

वन में अकेले विचरण करते हों, बाघ-सिंह की दहाड़ गूँजती हो, सिर पर जोरदार पानी बरसता हो व शरीर में रोग हो तो भी मुनिराज को इनका बिल्कुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तर में एकाग्र रहते हैं — ऐसे मुनिराज की अन्तरशुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है; अन्तर में शुद्धता के लिए चलनेवाला पुरुषार्थ भी उग्र होता जाता है।

— ***जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ४०***

गाथा ३६३-३६४

अब, आहारदान को प्रधान करके कहते हैं —

भोयणदाणे दिण्णे, तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्खतिसाएवाही, दिणे दिणे होंति देहीणां॥
भोयणाबलेण साहू, सत्थं संवेदि रत्तिदिवसं पि।
भोयणदाणे दिण्णे, पाण वि य रक्खिया होंति॥

आहार देने में सहज ही शेष तीनों दान हों।
क्योंकि प्रतिदिन क्षुत् तृषादिक रोग होते जीव को॥
आहार बल से साधु निशदिन शास्त्र अभ्यासी रहें।
आहार देने से जगत में प्राणी भी जीवित रहें॥

अन्वयार्थ : [भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि] भोजन दान देने पर तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं, **[भुक्खतिसाएवाही देहीणं दिणे दिण होंति]** क्योंकि भूख-प्यास नाम के रोग, प्राणियों के दिन-प्रतिदिन होते हैं; **[भोयणवलेण साहू रत्तिदिवसं पि सत्थं संवेदि]** भोजन के बल से साधु, रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, **[भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति]** भोजन के देने से प्राणों की रक्षा होती है। इस तरह भोजनदान में औषध, शास्त्र, अभयदान ये तीनों ही दिये हुए जानना चाहिए।

भावार्थ : भूख-तृषा (प्यास) का रोग मिटाने से तो आहारदान ही औषधदान हुआ। आहार के बल से शास्त्राभ्यास सुख से होने के कारण ज्ञानदान भी यही हुआ। आहार ही से

प्राणों की रक्षा होती है; इसलिए यही अभयदान हुआ। इस तरह इस दान में तीनों ही गर्भित हो गये।

गाथा ३६३-३६४ पर प्रवचन

यहाँ आहारदान की महिमा बतलाने के लिए उसे मुख्य करके कहा है। आहार के निमित्त से सन्त पुरुष रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करते हैं - यह कथन व्यवहार का है। वस्तुतः ज्ञान तो चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से होता है परन्तु अभी आहारदान की बात बतलाना है। श्रावक ऐसी भावना भाता है कि **अहो! मेरे आँगन में आज तो धर्म का कल्पवृक्ष फला; मेरे धन्य भाग्य कि आज मुनि का आहार मेरे यहाँ हुआ।** अपने शरीर को आहार से पोषण का भाव आता है तो मुनि को आहारदान देने का भाव भी धर्मी को आये बिना नहीं रहता। मुनि के कथन में श्रावक और समकिती भी समझ लेना चाहिए।

धर्मी / श्रावक, शास्त्रदान भी देता है। सन्त-मुनियों के लिए शास्त्र लिखकर देता है, धन खर्च करके दूसरों से लिखाता है। देखो! कुन्दकुन्द भगवान ने पूर्व भव में शास्त्रदान किया था, ऐसी बात आती है और उस शास्त्रदान के फल में उन्हें अलौकिकज्ञान का विकास हुआ - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

वर्तमान में कुन्दकुन्द आचार्यदेव का शासन अलौकिकरीति से चल रहा है, सनातन जैनशासन में श्री गौतम गणधरदेव के बाद तुरन्त ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्थान आता है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलं॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द भगवान का स्थान अलौकिक है। ●●

गाथा ३६५-३६६

अब, आहार आदि दानों का माहात्म्य कहते हैं —

इहपरलोयणिरीहो, दाणं जो देदि परमभत्तीए।
रयणत्तये सुठविदो, संघो सयलो हवे तेण॥
उत्तमपत्तविसेसे, उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं।
एयदिणे वि य दिण्णं, इंदसुहं उत्तमं देदि॥

इस लोक अरु परलोक फल वाञ्छा रहित अति भक्ति से।
दान जो देता सकल संघ रत्नत्रय में थिर करे॥
विशेष उत्तम पात्र को, दे दान उत्तम भक्ति से।
एक दिन भी दे यदि, तो इन्द्रसुख उत्तम लहे॥

अन्वयार्थ : [जो इहपरलोयणिरीहो परमभत्तीए दाणं देदि] जो पुरुष (श्रावक), इस लोक-पर लोक के फल की वाँछा से रहित होकर, परम भक्ति से संघ के लिए दान देता है, **[तेण सयलो संघो रयणत्तये सुठविदो हवे]** उस पुरुष ने सकल संघ को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) में स्थापित किया; **[उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं]** उत्तम पात्र विशेष के लिये उत्तम भक्ति से उत्तम दान **[एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तम देदि]** एक दिन भी दिया हुआ, उत्तम इन्द्रपद के सुख को देता है।

भावार्थ : दान के देने से चतुर्विध संघ की स्थिरता होती है; इसलिए दान के देनेवाले ने मोक्षमार्ग ही चलाया - ऐसा कहना चाहिए। उत्तम ही पात्र, उत्तम ही दाता की भक्ति और उत्तम ही दान, सब ऐसी विधि मिले तो उसका उत्तम ही फल होता है / इन्द्रादि पद का सुख मिलता है।

गाथा ३६५-३६६ पर प्रवचन

अब, फिर से दान की महिमा कहते हैं।

देखो! संघ, अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। आर्यिका को पञ्चम गुणस्थान होता है। सनातन वीतरागमार्ग में स्त्री को पाँचवें गुणस्थान से विशेष / अधिक दशा नहीं होती। **अहो! वीतरागमार्ग को साधनेवाले सन्त-मुनि, आर्यिकाएँ, श्रावक और श्राविका - उनके प्रति बहुमान और भक्तिपूर्वक जिसे आहारदान इत्यादि का भाव होता है, उसे स्वयं को अन्तर में वीतरागमार्ग का आदर है** और निमित्तरूप से उसने चतुर्विध संघ को रत्नत्रयमार्ग में स्थापित किया है। सामनेवाले जीव तो स्वयं के कारण से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रहते हैं परन्तु इस जीव ने उसका अनुमोदन किया है; इसलिए निमित्तरूप से उसने संघ को मोक्षमार्ग में स्थापित किया - ऐसा कहा है।

जिसने वीतरागमार्ग के साधक सन्त-मुनि इत्यादि का आदर किया, उसने साधकभाव का आदर किया कि अहो! ऐसा साधकभाव जगत में सदा जयवन्त वर्तो! अर्थात्, उसने निश्चय से अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया, और निमित्तरूप से चार संघ को मोक्षमार्ग में स्थापित किया। इससे विपरीत, जिसने एक भी सन्त-मुनि को या एक भी साधकजीव को मार डालने का अभिप्राय किया तो उसने तीन काल के अनन्त साधक सन्त -धर्मात्माओं का अनादर किया, अर्थात् जगत् में साधकभाव न रहे - ऐसा महाविपरीत तीव्र महापाप उसके अभिप्राय में आया। साधकभाव तो जगत में सदा रहनेवाला है परन्तु उसने अपने अभिप्राय में साधकभाव की महान विराधना की है, उसका फल अनन्त संसार है।

देखो! यह अभिप्राय की उग्रता! जो मुझे असुविधा करता है, उसे मुझे मारना है - ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके अभिप्राय में ऐसा आया है कि अनन्त जीव विरोध करें तो उन अनन्त को मारना और अनन्त काल तक मारना तथा विरोधी जीवों को जो मार डालता हो, उसे अनुमोदन देना। इस प्रकार उस अज्ञानी के अभिप्राय में अनन्त राग-द्वेष है।

इसी प्रकार साधकजीव को अनुमोदन देने में धर्मी को साधकभाव का अनन्त आदर है कि अहो! जगत में मोक्षमार्ग को साधनेवाले सन्त सदा जयवन्त रहो! ऐसे सन्तों का बहुमान

करनेवाले जीव भी जगत् में सदा रहो। इस प्रकार वह अपने भाव में वीतरागभाव का आदर करनेवाला है।

जो कुदेव-कुगुरु को मानता हो, उस जीव का धर्मी श्रावक आदर नहीं करता। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को उड़ा कर, जो जीव, कुदेव-कुगुरु-कुमार्ग को स्थापित करता है, वह जीव तीन काल के सत्य का अनादर करता है और तीन काल के असत्य का आदर करता है। जिनमार्ग में मुनि की दशा, सदा ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर ही होती है - जिनकल्पी हो या स्थावरकल्पी हो।

चार संघ को भक्तिपूर्वक आहारदान देनेवाले जीव को मोक्षमार्ग की भावना है। स्वयं को विकल्प होता है, उसकी भी भावना नहीं है। ऐसा जीव, उत्तम पात्र - ऐसे मुनि को उत्तम भक्ति से उत्तम दान एक बार भी दे तो उसके फल में इन्द्रपद प्राप्त होता है। देखो, यहाँ इन्द्रपद की बात ली है क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि की बात है; मिथ्यादृष्टि को इन्द्रपद नहीं होता है।

देखो, मुनियों को भी 'शास्त्र जयवन्त वर्तो' - ऐसा भाव आता है। धरसेनाचार्य जैसे महान सन्त को भी ऐसा विकल्प आया कि अहो! सर्वज्ञ परम्परा से मुझे प्राप्त हुआ यह ज्ञान, मेरे बाद विच्छेद हो जाएगा! ऐसा मन होने से दो मुनिवरों को बुलाया। वे आ रहे थे, तब मङ्गल स्वप्न आया कि दो श्वेत बैल भक्ति से चरण में नमस्कार कर रहे हैं। यह स्वप्न देखते ही उल्लास आने से ऐसा आशीर्वाद निकला कि अहो! श्रुतदेवता जयवन्त होओ! फिर उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि मुनियों को शास्त्र पढ़ाये और उन मुनियों ने षट्खण्डागम की रचना करके संघ से उसका महा-महोत्सव कराया। वह दिन श्रुतपञ्चमी के रूप में प्रसिद्ध है। देखो, स्वयं को अपनी आत्मा में मोक्षमार्ग अटूटरूप से टिके रहने की भावना है; इसलिए उसके निमित्तरूप शास्त्र भी जयवन्त वर्तो - ऐसा विकल्प आया है।

श्रावक को भी चार प्रकार के संघ के प्रति वात्सल्य और भक्तिपूर्वक दान का भाव आता है। दान देने से चतुर्विध संघ की स्थिरता होती है; इसीलिए दान देनेवाले ने मोक्षमार्ग ही चलाया - ऐसा कहते हैं।

उत्तम पात्र, दाता की उत्तम भक्ति, और उत्तम दान - यह सब विधि मिल जाने से उसका उत्तम ही फल होता है - इन्द्रादिक पद का सुख प्राप्त होता है।

अहो! वीतरागी सन्त मुनिवर! आपका साधकभाव जगत में टिका रहे, आपके साधकभाव में बीच में विघ्न न हो – ऐसी भावनापूर्वक जिसने दान दिया, उसने मोक्षमार्ग को टिकाया है। यहाँ वस्तु लेने-देने की मुख्यता नहीं है परन्तु वहाँ अन्तर में वीतराग तत्त्व का बहुमान है, उसकी मुख्यता है। सम्यग्दृष्टि को आहारदान इत्यादि का भाव होने पर सातिशय पुण्य बँध जाता है और वह इन्द्रादिक पदवी प्राप्त करता है।

यहाँ इन्द्रपद का सुख प्राप्त करने की बात की है, वह निमित्त से है क्योंकि यहाँ तो व्रत में जो शुभराग है, उसका फल बताना है। इस कारण उसके फल को सुख कहा है। व्रत का भाव भी आस्रव है परन्तु इस प्रकार का आस्रव पूर्व में कभी नहीं हुआ; इसलिए यह अलग प्रकार का आस्रव है। 'अलग प्रकार का आस्रव' कहने का कारण यह है कि इस आस्रव के समय धर्मी को अन्तर में सम्यग्दर्शन और आत्मा के भानसहित वीतरागता का आदर है और आस्रव का आदर नहीं है। मिथ्यादृष्टि को इस प्रकार के पुण्य का आस्रव नहीं तथा सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही इस प्रकार का यथार्थभाव होता है। जिसे अभी सच्चे साधु का भी भान नहीं है, उसे तो व्रत का आस्रवभाव भी यथार्थ नहीं होता है। सत् पुण्य भी सत्पुरुष के आश्रय के बिना नहीं बता, तथापि धर्मी जीव उस पुण्य को भी आदरणीय नहीं मानते।

जो जीव, मिथ्यादृष्टि, कुगुरु को मानता हो – ऐसे जीव को आहारदान के शुभभाव से संसार पारित होना कहनेवाले शास्त्र का कथन मिथ्यादृष्टि का है। सम्यग्दर्शन के बिना संसार पारित होता ही नहीं। जो मिथ्यादृष्टि के शुभभाव से परित संसार होना मनाते हैं, तो फिर अन्दर के त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है – यह बात वह लाया कहाँ से? यह तो किसी की बात चोरी करके, अपने नाम से चढ़ा दी है। अब तो सनातन वीतरागमार्ग की बात स्पष्टरूप से बाहर आयी है। जिसे सत्य चाहिए हो, उसे यह बात मानने से ही छुटकारा है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैन शास्त्रों में असत्यार्थ पद मिलावे, परन्तु जैन शास्त्र के पदों में तो कषाय मिटाने का व लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन होता है। अब, इस पापी ने उसमें जो असत्यार्थ पद मिलाये हैं, उनमें कषायपोषण का व लौकिककार्य साधने का प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन मिलता हुआ नहीं होने से, ज्ञानी परीक्षा द्वारा ठगाता नहीं है परन्तु कोई मूर्ख हो, वही जैन शास्त्र के नाम से ठगा

जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; तुरन्त ही कोई उन असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।

देखो! ज्ञानी तो परीक्षा करके यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है। व्रत और प्रतिमा के पहले कैसी भूमिका होनी चाहिए, यह उसकी बात है।

श्रावक को सम्यग्दर्शन तो पहले से ही होता है। वस्तुस्वरूप अनेकान्त है, उसे पहचानकर जो श्रद्धा करता है, वह सम्यग्दृष्टि है, यह बात पहले विस्तार कही जा चुकी है। जगत में सर्वज्ञदेव हैं और उन सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार, जिस समय में जिस पदार्थ में जो परिणाम होना जाना है; उस प्रकार, उसी समय में, वैसे परिणाम होते हैं। जिसे ऐसी प्रतीति हुई, उसकी दृष्टि बदल गयी, अर्थात् ज्ञानस्वभाव पर उसकी दृष्टि गयी है। अपने या पर के जो परिणाम होते हैं, उनमें उसे अरुचिभाव नहीं होता, परन्तु ज्ञाता रहता है। अल्पज्ञ होने पर भी मुझ में सर्वज्ञ होने की ताकत वर्तमान में पड़ी है – ऐसी प्रतीति हुई, वहाँ ज्ञातापने की दृष्टि रही। सर्वज्ञ परिपूर्ण जानते हैं और साधक सम्यग्दृष्टि अधूरा / अपूर्ण / न्यून जानता देखता है तथापि उसे भी ज्ञातापने की दृष्टि है।

देखो, वस्तुस्वरूप अनेकान्तरूप है, अर्थात् जीव, वह जीव है और अजीव नहीं; अजीव में जीव नहीं और जीव में अजीव नहीं। नव तत्त्वों का स्वरूप पृथक्-पृथक् है। आत्मा के त्रिकाल स्वभाव में एक समय का विकार नहीं है – ऐसा अनेकान्त से जानकर, स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं; इसके अतिरिक्त किसी पर के आश्रय से नहीं होते। विकारभाव से मोक्ष होना कहनेवाले तो मिथ्यादृष्टि हैं। जिन्होंने सर्वज्ञदेव को पहचाना है, सर्वज्ञ के द्वारा कथित अनेकान्त वस्तुस्वरूप जाना है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को, तत्पश्चात् शुद्धता बढ़ने पर व्रत होते हैं। सनातन जैन परमेश्वर के अतिरिक्त जो दूसरों को मानता है, वह जीव तो मूढ़ है। धर्मी जीव, जैन परम्परा के अतिरिक्त दूसरे को नहीं मानता।

जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहचान कर, उनका बहुमान-भक्ति हुए हैं तथा कुदेवादिक की मान्यता छूट गयी है और अन्तरस्वभाव की दृष्टि हुई है, ऐसे जीव को व्रत होते हैं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कौन और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं? - उन्हें पहचान कर कुदेवादिक को छोड़े और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का आदर करे तो निमित्त के मध्य भेदज्ञान

हुआ कहलाये। तत्पश्चात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु भी पर है, उनके कारण मुझे धर्म नहीं होता - ऐसा पहचानना, वह उपादान-निमित्त के बीच का भेदज्ञान है और फिर अपने में त्रिकाल शुद्धस्वभाव है, वह एक समय के विकार जितना नहीं है - ऐसा समझकर स्वभाव के सन्मुख झुकना, वह स्वभाव और विभाव के बीच का भेदज्ञान है। तत्पश्चात् ही प्रतिमा और व्रत होते हैं, उनमें अभी दूसरी प्रतिमावाले श्रावक के देशावगासिक / अतिथिसंविभाग व्रत का वर्णन करते हैं।●●

धन्य! आज का दिन!!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे — ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें; इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े..... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया....। वाह! धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनियों को, जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा ३६७-३६८

अब, चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रत को कहते हैं —

पुव्वपमाणकदाणं, सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं।
इंदियविसयाण तहा, पुणो वि जो कुणदि संवरणं॥

वासादिकयपमाणं, दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं।
सावज्जवज्जणट्ठं, तस्स चउत्थं वयं होदि॥

पूर्वकृत परिमाण दश दिशि को पुनः सीमित करे।
पञ्च इन्द्रिय विषय के परिमाण को सीमित करे॥

काम लोभादिक शमन हिंसादि कार्य निरोध को।
काल मर्यादा करे, शिक्षव्रती चौथा अहो॥

अन्वयार्थ : [पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं] श्रावक ने जो पहिले सब दिशाओं का परिमाण किया था, उसका और भी संवरण करे (संकोच करे) **[इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो संवरणं कुणदि]** और वैसे ही पहिले इन्द्रियों के विषयों का परिमाण, भोगोपभोगपरिमाण में किया था, उसका और संकोच करे। किस तरह ? सो कहते है – **[वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं]** वर्ष आदि तथा दिन प्रतिदिन काल की मर्यादा लेकर करे। इसका प्रयोजन यह है कि अन्तरङ्ग में तो लोभकषाय और काम (इच्छा) के शमन करने (घटाने) के लिये **[सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि]** तथा बाह्य में पाप हिंसादिक के वर्जने (रोकने) के लिये करता है, उस श्रावक के चौथा देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थ : पहले दिग्व्रत में मर्यादा की थी, वह तो नियमरूप थी। अब यहाँ उसमें भी काल की मर्यादा लेकर घर, हाट (बाजार) गाँव आदि तक की गमनागमन की मर्यादा करे तथा भोगोपभोगव्रत में यमरूप इन्द्रियविषयों की मर्यादा की थी, उसमें भी काल की मर्यादा लेकर नियम करे। इस व्रत में सत्रह नियम कहे गये हैं, उनका पालन करना चाहिए। प्रतिदिन मर्यादा करते रहना चाहिए। इससे लोभ का तथा तृष्णा (वाँछा) का सङ्कोच होता है; बाह्य हिंसादि पापों की हानि होती है। इस प्रकार चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया। ये चारों ही श्रावक को अणुव्रत यत्न से पालने की तथा महाव्रत के पालने की शिक्षारूप हैं।

गाथा ३६७-३६८ पर प्रवचन

चारों अनुयोगों का सार क्या है? – वीतरागता। वीतरागता, अर्थात् स्वभाव की सन्मुखता और पर की उपेक्षा! इन बारह व्रतों के वर्णन में भी स्वभाव के अवलम्बन का ही उपदेश है। स्वभाव का अवलम्बन लेने से शुद्धता बढ़ती है और राग टूटता है, तदनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि होते हैं। वहाँ अमुक प्रकार का शुभविकल्प आता है परन्तु वह विकल्प के काल में विकल्प आता है। अमुक समय, अमुक प्रकार का विकल्प करूँ – ऐसा कर्तापना धर्मी को नहीं है। धर्मी ने स्वभाव का अवलम्बन लिया है, वहाँ किस दशा में, कितनी मर्यादा का राग टूटा है और किस प्रकार का राग रहा है? – वह यहाँ बताया गया है।

श्रावक ने जो पहले सब दिशाओं का परिमाण किया था, उसका और भी संवरण करे (सङ्कोच करता है) और वैसे ही पहले इन्द्रियों के विषयों का परिमाण, भोगोपभोगपरिमाण में किया था, उसका और सङ्कोच करता है। किस तरह? वही कहते है – वर्ष आदि तथा प्रति दिन काल की मर्यादा लेकर करता है। इसका प्रयोजन यह है कि अन्तरङ्ग में तो लोभकषाय और काम (इच्छा) के शमन करने (घटाने) के लिये तथा बाह्य में हिंसादिक पाप के वर्जने (रोकने) के लिये करता है, उस श्रावक के चौथा देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत होता है।

यह ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक की बात है। स्वभावसन्मुखता की उग्रता बढ़ने पर जैसे-जैसे राग छूटता जाता है, वैसे-वैसे निमित्तों का अवलम्बन भी छूटता जाता है। चरणानुयोग में निमित्त अपेक्षा बात होती है। समाधिमरण का काल समीप आता है, तब धर्मी जीव को

अन्तर में विशेष जागृतिपूर्वक स्वसन्मुखता की वृद्धि का काल है, उसमें प्रथम से ही ज्ञातामात्र स्वभाव का साधन किया है, उसका सारांश / फल अपूर्व समाधिमरणरूप आता है।

इस प्रकार दूसरी व्रत प्रतिमावाले श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया।

अब श्रावक, अन्त समय में द्रव्यस्वभाव का उग्र अवलम्बन लेकर मुनिदशा की भावनासहित सल्लेखना करता है, उसका वर्णन करते हैं।

मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

मुनिराज, निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं। अहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है। साधुपना कोई अलग ही है भाई! विज्ञान का घन ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसमें वे अन्तर्निमग्न हैं। निमग्नपना, वह पर्याय है, परन्तु वह पर्याय त्रैकालिक एकाकार विज्ञानघनस्वभाव में निमग्न है, डूबी हुई है। अहा! इस **दशा के बिना मुक्ति नहीं** है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में होते हैं, परन्तु इतने से ही सम्पूर्ण मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रचुर स्वसम्वेदनस्वरूप निर्ग्रन्थ चारित्रदशा आये, उससे मुक्तिदशा प्राप्त होती है। बाह्य में वेष धारण कर ले, नग्नता ले ले और पञ्च महाव्रतादि का पालन करे, वह कोई मुनिदशा नहीं है।

— ***वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ १८४***

गाथा ३६९

अब, अन्तसल्लेखना को संक्षेप से कहते हैं —

वारसवएहिं जुत्तो, जो संलेहणं करेदि उवसंतो।
सो सुरसोक्खं पाविय, कमेण सोक्खं परं लहदि॥

बारह व्रतों से युक्त उपशमभावमय सल्लेखना।
जो करे सुर सुख प्राप्त कर, क्रम से परम सुख पाएगा॥

अन्वयार्थ : [जो] जो श्रावक, **[वारसवएहिं जुत्तो]** बारह व्रतसहित **[उवसंतो संलेहणं करेदि]** अन्त समय में उपशमभावों से युक्त होकर सल्लेखना करता है, **[सो सुरसोक्खं पाविय]** वह स्वर्ग के सुख पाकर **[कमेण परं सोक्खं लहदि]** अनुक्रम से उत्कृष्ट सुख, अर्थात् मोक्षसुख को पाता है।

भावार्थ : सल्लेखना नाम कषायों को और काय को क्षीण करने का है। श्रावक, बारह व्रतों का पालन करे और मरण समय जाने, तब सावधान हो, सब वस्तुओं से ममत्व छोड़, कषायों को क्षीण कर उपशमभाव (मन्दकषाय) रूप होकर रहे और काय को अनुक्रम से ऊनोदर नीरस आदि तपों से क्षीण करे। इस तरह काय को क्षीण करने से शरीर में मल-मूत्र के निमित्त से जो रोग होते हैं, वे रोग उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्त समय असावधान नहीं होता है। ऐसे सल्लेखना करे। अन्त समय सावधान हो अपने स्वरूप में तथा अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तवन में लीन हो और व्रतरूप (संवररूप) परिणामसहित होता हुआ, पर्याय को छोड़ता है तो स्वर्ग के सुखों को पाता है, वहाँ भी यह वाँछा रहती है कि मनुष्य होकर व्रतों का पालन करूँ। इस तरह अनुक्रम से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

गाथा ३६९ पर प्रवचन

जिसने निशाना साधकर लक्ष्यभेद का अभ्यास किया हो, वह समय आने पर शत्रु को जीत सकताा है परन्तु हाथ में हथियार पकड़ना न आवे तो वह रण में जाकर क्या करेगा? इसी प्रकार जिसने श्रावकदशा में स्वभाव की उत्कृष्ट भावना भायी है; गुणी और गुण की एकता का जुड़ान किया है, उसे देह छोड़ने का काल आये, तब वह परम शान्तरस में झूलता हुआ और ज्ञान–ध्यान में रमणतापूर्वक जागृति में देह छोड़ता है और मोहशत्रु को नष्ट करता है।

कोई कहे कि जिसने बहुत काल तक ज्ञान–वैराग्य का अभ्यास किया हो, उसे शान्तिपूर्वक मरण होता है – तो ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी की युवा उम्र हो, कोई घोर उपसर्ग आये – सर्प, अग्नि, पानी की बाढ़, अथवा सिंह का संयोग हो; देह की स्थिति उस काल में ऐसी ही होती है – ऐसा विचार कर बाह्य लक्ष्य छोड़कर एकदम अन्दर में समाकर शान्ति का अनुभव करता है। कुछ करना नहीं पड़ता, परन्तु उस काल में धर्मी जीव को अन्तर्मुख आराधना का योग है, उसे ज्ञाता–दृष्टापने की प्रसन्नतापूर्वक देह छोड़ने का ऐसा ही काल नियत है। निर्विकल्प अनुभव होवे तो देह के संयोग का ख्याल भी नहीं होता है; भूमिका के योग्य उपशमभाव होता है।

आत्मभानसहित श्रावक है, वह बाहर व्रतोंसहित और अन्तर में उपशमभावोंसहित होकर अन्दर में स्वभावसन्मुखता में विशेष उत्साहरूप सल्लेखना करता है। वह कषाय को कृश करके शान्ति को ही बढ़ाता है तथापि किञ्चित् राग रहा है; इसलिए स्वर्ग का सुख प्राप्त करके अनुक्रम से उत्कृष्ट सुख, अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

आशय यह है कि जहाँ अकषाय ज्ञायकस्वभाव की महिमा अन्दर में वर्तती है, पुरुषार्थ की स्थिरतारूप लीनता द्वारा अपूर्व शान्ति में झूलता है, वह समाधिमरण है। जिसे अप्रतिहतभाव से धर्म की शुरुआत हुई है; जिसे अन्त में पूर्ण केवलज्ञान होना है – ऐसा निशङ्क निर्णय हो चुका है, उसे समाधिमरण और पूर्णता की तैयारी पहले से ही होती है – निरन्तर निशङ्कता / निर्भयता होती है। मरण के काल में दवा, इंजैक्शन इत्यादि की शरण नहीं लेता; छोटी उम्र हो या बड़ी, परन्तु बारह व्रत में वीतरागी ज्ञाता–दृष्टास्वभाव की भावना भायी है; इसलिए उसकी स्वसन्मुख जागृति के प्रमाण में अन्दर की शान्ति होती ही है। ज्ञानी के सामने मरण के समय स्त्री, पुत्रादि

खड़े रहें, कुछ मोह बतावे, कहे कि कुछ शिक्षा दो, तो धर्मी उनके समक्ष नहीं देखता। अन्तर में शान्ति की धारा का अवसर है; इसलिए पर से सहज उदासीनता वर्तती है। अज्ञानी को वेभानदशा में मल-मूत्रादि हो जाते हैं और कुछ आत्मशान्ति नहीं रहती।

ज्ञानी को प्रथम से ही निशङ्कता है कि सर्वज्ञ ने जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जैसा होना देखा है, वैसा ही होना है; इसलिए वह निरन्तर समाधि में ही जागृत है। प्रथम से ही तैयारी होती है; इसलिए मरणकाल समीप जानकर, सबके प्रति ममत्व छोड़कर कषायों को क्षीण करता है। आहार घटाकर, अनशन आदि तप द्वारा काया को क्षीण करता है कि जिससे शरीर में मल-मूत्र के संग्रह से होनेवाले रोग न हों। अन्त समय में प्रमाद न हो - ऐसा विकल्प आता है। यद्यपि वह बाहर की अवस्था को अपने आधीन नहीं मानता, परन्तु प्रमाद-आकुलता न बढ़े, ऐसी जागृति रखता है। इस प्रकार धर्मी जीव, स्वसन्मुखता की शान्ति में रमणता के प्रयोगरूप सल्लेखना करता है। अज्ञानी तो शरीर की सम्हाल में लीन होता है। दवा, चाकरी करनेवालों इत्यादि की आशा रखता है। जबकि ज्ञानी स्वयं को ही शरण मानकर सर्व समाधान में वर्तता है। निर्विकल्पध्यान नहीं हो सकता हो तो पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करता है। मैं ज्ञायकमात्र शान्तस्वरूप हूँ - ऐसी भावना भाता है।

असंख्यात तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि हैं, पञ्चम गुणस्थानवाले हैं; उन्हें मरण के समय कोई समीप नहीं होता तो भी वे अन्दर में समतापूर्वक ज्ञाता / जाननेवाला ही हूँ - ऐसी दृढ़ता और भावनापूर्वक अकेले समाधि मरण करते हैं। मैं निशङ्क ज्ञाता ही हूँ, इस श्रद्धा के जोर से समाधि को पाते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'केवली-सिद्धभगवान, रागादिरूप परिणमन नहीं करते और संसार अवस्था को नहीं चाहते, वह इस श्रद्धा का ही बल जानना।'

धर्मी जीव, समाधिमरण के समय स्वरूपचिन्तवन अथवा पञ्च परमेष्ठी के चिन्तवन में लीन होकर, राग के अभावरूप निश्चयव्रत-संवररूप परिणामसहित होता हुआ, शरीर का परित्याग करता है और स्वर्गपद को प्राप्त करता है। वहाँ भी वीतरागता की भावना रखता है कि कब मनुष्य होकर चारित्र पालन करूँ! इस प्रकार वह अनुक्रम से वह मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

सम्यग्दृष्टि, वैमानिक में उत्तम देव होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य, मरकर मनुष्य नहीं होता; मिथ्यादृष्टि मनुष्य, मरकर मनुष्य होता है। समकित प्राप्त करने से पहले मनुष्य या तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो तो वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, कर्मभूमि में उत्पन्न नहीं होता; स्त्रीपर्याय में, भवनत्रिक में, नरक में, तिर्यञ्च में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।●●

आधि-व्याधि-उपाधिरहित दशा ही समाधि

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिसहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं, आधि-व्याधि और उपाधि से तीनों काल मुक्त, शान्त और वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में आधि-व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई, उसे समाधि कहते हैं। मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प, वे आधि हैं; शरीर में होनेवाले रोग, वह व्याधि है और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे की जञ्जाल, वह उपाधि है – इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा, वह समाधि है। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से अकेला नग्नपना अथवा पञ्च महाव्रत इत्यादि के शुभपरिणाम, वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों, वही मुनि कहलाते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत-प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ २०४

गाथा ३७०

एक्कंपि वयं विमलं, सिद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो।
तो विविहरिद्धिजुत्तं, इंदत्तं पावए णियमा॥

दृढ़ चित्त हो यदि एक व्रत भी, निरतिचार ग्रहण करे।
सदृष्टि बहुविध ऋद्धियुत, देवेन्द्र होवे नियम से॥

अन्वयार्थ : [सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि जीव, **[दिढचित्तो]** दृढ़चित्त होकर **[जइ]** यदि **[एक्कं पि वयं विमलं कुणेदि]** एक भी व्रत का अतिचाररहित निर्मल पालन करता है **[तो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं णियमा पावए]** तो अनेक प्रकार की ऋद्धियोंसहित इन्द्रपद को नियम से पाता है।

भावार्थ : यहाँ एक भी व्रत अतिचाररहित पालन करने का फल, इन्द्रपद नियम से कहा है। सो ऐसा आशय सूचित होता है कि व्रतों के पालने के परिणाम सबके समानजाति के हैं। जहाँ एक व्रत को दृढ़चित्त से पालता है, वहाँ अन्य उसके समानजातीय व्रत पालने के लिए अविनाभावीपना है; इसलिए सब ही व्रत पाले हुए कहलाते हैं। ऐसा भी है कि एक आखड़ी (त्याग) को अन्त समय दृढ़चित्त से पकड़, उसमें लीन परिणाम होते हुए पर्याय छूटती है तो उस समय अन्य उपयोग के अभाव से बड़े धर्मध्यानसहित परगति को गमन होता है, तब उच्चगति ही पाता है, यह नियम है। ऐसे आशय से एक व्रत का ऐसा माहात्म्य कहा है। यहाँ ऐसा नहीं जानना चाहिये कि एक व्रत का तो पालन करे और अन्य पाप सेवन किया करे, उसका भी ऊँचा फल होता है। इस तरह तो चोरी छोड़ दे और परस्त्री सेवन किया करे, हिंसादिक करता रहे, उसका भी उच्चफल हो , सो ऐसा नहीं है। इस तरह दूसरी व्रत का प्रतिमा का वर्णन किया। बारह भेदों की अपेक्षा यह तीसरा भेद हुआ।

गाथा ३७० पर प्रवचन

जिसने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचाना है और तदुपरान्त कर्म, विकार इत्यादि से भेदज्ञान होकर स्वभाव में अभेदज्ञान हुआ है; जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हुआ है – ऐसे जीव को चैतन्यस्वरूप के चिन्तवन में विशेष एकाग्रता से शुद्धता बढ़ने पर व्रत-प्रतिमा होती है। अज्ञानी तो मैं पर की क्रिया करता हूँ और उससे मुझे लाभ होता है – ऐसा मानता है; इसलिए उसे तो पर के साथ का अभेदज्ञान है, मिथ्याज्ञान है और पर के साथ का भेदज्ञान होकर, आत्मा के साथ अभेदज्ञान हो, वह सम्यग्ज्ञान है। पहले यथार्थ बात के श्रवण बिना, उसका ख्याल कहाँ से आयेगा, उसकी रुचि कहाँ से होगी और उसका परिणमन कहाँ से होगा? इसलिए यथार्थ वस्तुस्वरूप का श्रवण करके, उसका निर्णय करना चाहिए।

अभी तो जो यह मानता है कि शरीर की अनुकूलता होवे तो मुझे लाभ होता है – ऐसा माननेवाले को तो सच्ची दृष्टि ही नहीं है। जिसे सत्‌दृष्टि प्रगट हुई है, अर्थात् पर से भिन्न निज शुद्धात्मा की दृष्टि हुई है – ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, विशेषरूप से भेदज्ञान करके स्व में एकाग्रता करता जाता है, तब उसे व्रत और प्रतिमा होते हैं। सम्यग्दर्शन के उपरान्त स्वभाव की दृढ़ता की यह बात है। जिसे अभी सम्यग्दर्शन ही नहीं है, उसे तो व्रत होते ही नहीं हैं।

शुद्ध आत्मा की दृष्टिपूर्वक, उसमें ज्ञान की दृढ़तापूर्वक जो धर्मी जीव एक भी व्रत निर्मलरूप से पालन करता है, वह इन्द्रपद प्राप्त करता है। स्वभाव के आश्रय से एक व्रत पालन करे तो उसमें समस्त व्रत भी साथ ही आ जाते हैं। एक अंश में शुद्धता प्रगट हुई और वीतरागभाव हुआ, उतने प्रमाण में अहिंसा इत्यादि समस्त व्रत आ जाते हैं।

अहिंसाव्रत हो और दूसरे सत्यव्रत इत्यादि न हों – ऐसा नहीं होता है क्योंकि अहिंसाव्रत के योग्य जो शुद्धता प्रगट हुई है, उस शुद्धता में दूसरे व्रत भी आ जाते हैं। इस प्रकार एक व्रत में दूसरे सभी व्रत भी आ जाते हैं – ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ एक भी व्रत अतिचाररहित पालन करने का फल, इन्द्रपद नियम से कहा है, सो ऐसा आशय सूचित होता है कि व्रतों के पालने के परिणाम सबके समान जाति के हैं। जहाँ एक व्रत को दृढ़चित्त से पालता है, वहाँ अन्य उसके समानजातीय व्रत पालने के लिए अविनाभावीपना है; इसलिए सब ही व्रत पाले हुए कहलाते हैं। ऐसा भी है कि एक आखड़ी (त्याग) को अन्त

समय दृढ़चित्त से पकड़कर, उसमें परिणाम लीन होते हुए पर्याय छूटती है तो उस समय अन्य उपयोग के अभाव से बड़े धर्मध्यानसहित परगति को गमन होता है, तब उच्चगति ही पाता है, यह नियम है। ऐसे आशय से एक व्रत का ऐसा माहात्म्य कहा है। यहाँ ऐसा नहीं जानना चाहिये कि 'एक व्रत का तो पालन करे और अन्य पाप सेवन किया करे, उसका भी ऊँचा फल होता है; इस तरह तो चोरी छोड़ दे और परस्त्री सेवन किया करे या हिंसादिक करता रहे, उसका भी उच्चफल हो , सो ऐसा नहीं है।

चैतन्यमूर्ति स्वभाव के भानसहित जितने प्रमाण में उपयोग स्व में जमता है, उतने प्रमाण में सब व्रत आ जाते हैं। चैतन्य में लीनता के समय शुभपरिणाम ऐसी उत्कृष्ट जाति के ही होते हैं कि इन्द्रादिक पदवी को ही प्राप्त करता है, इससे व्रत की महिमा बतलायी है। जहाँ चैतन्य में आंशिक लीनता हुई और पञ्चम गुणस्थान की शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ सर्वार्थसिद्धि के देव से भी वह उत्कृष्ट हुआ।

इस प्रकार श्रावक के धर्मों के बारह भेदों में से तीसरे भेद का वर्णन किया। पहला सम्यग्दर्शन, फिर दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा – यह तीसरा भेद है। ●●

मुनिराज की परिणति में वैराग्य का ज्वार

जैसे पूर्णमासी के दिन पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार **मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है; वैराग्य का ज्वार आता है, आनन्द का ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्याय का यथासम्भव ज्वार आता है।** यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है; सब कुछ उछलता है। **धन्य है वह मुनिदशा।** — *जिणसासणं सव्वं, ४०३, पृष्ठ ११३*

गाथा ३७१-३७२

अब, तीसरी सामायिकप्रतिमा का निरूपण करते हैं —

जो कुणदि काउसग्गं, वारसआवत्तसंजदो धीरो।
णमणदुगं पि कुणंतो, चदुप्पणामो पसण्णप्पा॥
चिंतंतो ससरूबं, जिणबिंब अहव अक्खरं परमं।
ज्झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं॥

जो करे कार्यात्सर्ग अरु, आवर्त बारह धीर हो।
प्रणाम करता चार और, प्रसन्न चित्त हो नमन दो॥
निजरूप का चिन्तन करे, जिनबिम्ब का अक्षर परम।
चिन्तन करे रस कर्म ध्यावे, उसे सामायिक व्रतम्॥

अन्वयार्थ : [जो] जो सम्यग्दृष्टि श्रावक, **[वारसआवत्तसंजदो]** बारह आवर्तसहित **[चदुप्पणामो]** चार प्रणामसहित **[णमणमदुगं पि कुणंतो]** दो नमस्कार करता हुआ **[पसण्णप्पा]** प्रसन्न है आत्मा जिसकी, **[धीरो]** धीर (दृढ़चित्त) होकर **[काउसग्गं कुणदि]** कायोत्सर्ग करता है, **[ससरूवं चिंतंतो]** उस समय अपने चैतन्यमात्र शुद्धस्वरूप का ध्यान चिन्तवन करता हुआ रहे **[जिणबिबं अहव अक्खरं परमं]** अथवा जिनबिम्ब का चिन्तवन करता रहे अथवा परमेष्ठी के वाचक पञ्च नमस्कारमन्त्र का चिन्तवन करता रहे **[कम्मविवायं ज्झायदि]** अथवा कर्म के उदय के रस की जाति का चिन्तवन करता रहे, **[तस्स सामइयं वयं होदि]** उसके सामायिकव्रत होता है।

भावार्थ : सामायिक का वर्णन तो पहले शिक्षाव्रत में किया था कि 'राग-द्वेष' छोड़

समभावसहित क्षेत्र, काल, आसन, ध्यान, मन, वचन, काय की शुद्धता से काल की मर्यादा कर एकान्त स्थान में बैठे और सर्व सावद्ययोग का त्याग कर धर्मध्यानरूप प्रवर्ते – ऐसा कहा था। यहाँ विशेष कहा कि काय से ममत्व छोड़ कायोत्सर्ग करे, आदि-अन्त में दो नमस्कार करे और चारो दिशाओं में सन्मुख होकर चार शिरोनति करे, एक एक शिरोनति में मन, वचन, काय की शुद्धता की सूचनारूप तीन-तीन आवर्त करे (इस तरह बारह आवर्त हुए) ऐसे करके काय से ममत्व छोड़, निजस्वरूप में लीन हो; जिनप्रतिमा में उपयोग लीन करे; पञ्च परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का ध्यान करे। यदि उपयोग किसी बाधा की तरफ जाए तो उस समय, कर्म के उदय की जाति का चिन्तवन करे कि यह सातावेदनीय का फल है, यह असाता के उदय की जाति है, यह अन्तराय के उदय की जाति है – इत्यादि कर्म के उदय का चिन्तवन करे – यह विशेष कहा है।

इतना विशेष जानना चाहिए कि शिक्षाव्रत में तो मन, वचन, काय सम्बन्धी कोई अतिचार भी लगता है और काल की मर्यादा आदि क्रिया में हीनाधिक भी होता है परन्तु यहाँ प्रतिमा की प्रतिज्ञा है, सो अतिचाररहित शुद्ध पालन करता है; उपसर्ग आदि के निमित्त से टलता नहीं है – ऐसा जानना चाहिए।

इसके पाँच अतिचार हैं। मन, वचन, काय का चलायमान करना; अनादर करना; भूल जाना – ये अतिचार नहीं लगाता है। ऐसे सामायिकप्रतिमा का बारह भेद की अपेक्षा चौथे भेद का वर्णन हुआ।

गाथा ३७१-३७२ पर प्रवचन

अब, तीसरी सामायिकप्रतिमा का वर्णन करते हैं।

देखो! यह सामायिक, सम्यग्दृष्टि श्रावक को पाँचवें गुणस्थान में होती है। यह सामायिक तो श्रावक का चौथा धर्म है। अभी जिसे सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं; कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता भी नहीं छूटी – ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को सामायिक नहीं होती है। जिसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छूट गयी है; सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचाना है और अन्तर में चिदानन्दस्वभाव की रुचिपूर्वक उसमें आंशिक एकाग्रता हुई है, उसे सामायिकधर्म होता है। अभी तो जिसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्व का

भी त्याग नहीं है, वह जीव 'राग से धर्म नहीं होता' – ऐसी अगृहितमिथ्यात्व के त्याग की बात कहाँ से लाया ? वह तो अक्ल बिना, किसी की नकल करता है परन्तु परमार्थमार्ग में यह नहीं चलता है। पहले जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही भान नहीं है, उसे आत्मा का भान नहीं होता है। अभी तो स्त्री को तीर्थङ्कर माने, मल्लिकुमार तीर्थङ्कर को स्त्री मनवाये, हाथी के भव में मिथ्यादृष्टिसहित दया पालन करने से संसार पारित होना बतलाये – ऐसे देव-शास्त्र-गुरु को जो मानता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है – ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन भी नहीं होता तो फिर श्रावक की सामायिक तो कहाँ से होगी ?

सामायिकवाले जीव की पात्रता कैसी होती है ? वह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचानता है और उनके द्वारा कथित शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान कर, अन्तर की प्रसन्नतापूर्वक उसमें आंशिक एकाग्रता प्रगट हुई हो, उसे ही सामायिकव्रत होता है।

कोई कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को छोड़े बिना, भेदज्ञान की बात करता है तो वह एक के बिना बिन्दियाँ लगाने जैसा है। अहो ! सम्यग्दृष्टि का आत्मा प्रसन्न है; बाहर में शरीर, मन, वाणी, स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि से वह प्रसन्नता नहीं मानता, परन्तु चिदानन्दस्वभाव के असंख्य प्रदेशों में अनाकुल शान्ति का फब्बारा छूटा है; इसलिए उसे प्रसन्नता है और ऐसे प्रसन्न आत्मा को सामायिक होती है।

वह आत्मा, धीर-गम्भीर है और ज्ञानस्वरूप में लीन होकर, काया से उपेक्षित होकर सामायिक करता है। उस सामायिक के काल में तो वह श्रावक भी मुनि जैसा है क्योंकि वहाँ अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के चिन्तवन के अतिरिक्त कोई उपाधि नहीं है।

मैं ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति हूँ, मुझे कोई रोकनेवाला नहीं है – ऐसे अन्दर में चैतन्यबिम्ब होकर स्थिर होने का प्रयत्न करता है और स्थिर न हो सके, तब जिनबिम्ब का चिन्तवन करता है। जैसे, वीतराग जिन होते हैं, वैसा ही उनका बिम्ब भी वीतराग, अर्थात् वस्त्र-शस्त्ररहित होता है – ऐसे अक्रिय चैतन्यबिम्ब का चिन्तवन करता है। अहो ! जिनबिम्ब में विकल्प नहीं है – ऐसा चिन्तवन करते हुए, स्वयं अपने चैतन्यबिम्ब में एकाग्र होने का अभ्यास करता है, इसका नाम सामायिक है। देखो ! अभी मुनिदशा नहीं हुई है परन्तु अन्तर में उस मुनिदशा के लिए तैयारी का अभ्यास करता है।

कभी पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का चिन्तवन करता है। देखो! पहले पञ्च परमेष्ठी को भलीभाँति पहचाना है। स्वरूप को पहचाने बिना, चिन्तवन किसका करेगा? मुनि कैसे होते हैं? – अरहन्तदेव कैसे होते हैं? – उनका जिसे भान नहीं है, वह जीव वस्तुतः पञ्च परमेष्ठी को नहीं नमता है परन्तु राग को नमता है। णमो लोए सव्वसाहूणं – ऐसा बोले परन्तु वस्त्र –पात्रवाले मुनि मानता हो तो उसने वास्तव में मुनि को नमस्कार किया ही नहीं है क्योंकि मुनि कैसे होते हैं? – इसका ही उसे भान नहीं है। यहाँ तो उससे भी आगे की बात है। कुदेवादिक की मान्यता में तो मिथ्यात्व का महा–अधर्म है, वह भी जिसे नहीं छूटा हो, उसे इस सामायिकधर्म की तो गन्ध भी कैसे होगी?

पहले, दूसरी प्रतिमावाले के शिक्षाव्रत में सामायिक का वर्णन किया था परन्तु उसमें अभी अतिचारसहित सामायिक थी और इस तीसरी प्रतिमावाला श्रावक तो सामायिकव्रत में अतिचार भी नहीं लगने देता, इतनी विशेष शुद्धता उसे हो गयी है।

वह सामायिक में कभी सर्वज्ञदेव का चिन्तवन करता है। सर्वज्ञ के विरह में धर्मी जीव, सर्वज्ञ का चिन्तन करता है। अहो नाथ! अभी साक्षात् भगवान का विरह है, इसलिए अन्तर में उनका स्मरण करके चिन्तवन करता है, और जिनबिम्ब का चिन्तवन करता है। साक्षात् जिन कैसे होते हैं? – उसका भान है और उन्हें स्मरण करके जिनबिम्ब में उनकी स्थापना करता है, उनका ध्यान करता है। स्वयं अपने अक्रिय चेतनबिम्ब के ध्यान में एकाग्र होने का अभ्यास करता है। सामायिकप्रतिमावाला जब सामायिक में बैठा हो, तब चाहे जैसे घोर उपसर्ग आयें – सिंह आकर खा जाता हो, तो भी सामायिक से च्युत नहीं होता। अन्तर में इतनी शान्ति और वीतरागता बढ़ गयी है कि श्रावक होने पर भी सामायिक से च्युत नहीं होता। देव आकर उपसर्ग करें, मकान जला डालें, पुत्र को मार डालें, शरीर को सिंह आकर खा जाए तो भी चैतन्य की शान्तिरूप सामायिक से वह च्युत नहीं होता। अन्तर में उसे ऐसा ही वीतरागभाव हो गया है कि उस प्रकार का राग नहीं आता – ऐसा श्रावक का सामायिकधर्म है।●●

गाथा ३७३-३७६

अब, प्रोषधप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

सत्तमितेरसिदिवसे, अवरणहे जाइऊण जिणभवणे।
किरियाकम्मं किच्चा, उववासं चउविहं गहिय॥

गिहवावारं चत्तां रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए।
पच्चूसे उट्ठित्ता, किरियाकम्मं च कादूण॥

सत्थब्भासेण पुणो, दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा।
रत्तिं णेदूण तहा, पच्चूदे वंदणं किच्चा॥

पुज्जणविहिं च किच्चा, पत्तं गहिऊण णवरि तिवहंपि।
भुंजाविऊण पत्तं, भुंजंतो पोसहो होदि॥

सप्तमी तेरस दिवस अपराह्न जाए जिन भवन।
कर क्रिया सामायिक गहे, उपवास तज चौ विध असन॥

आरम्भ तज घर बार चिन्तन धर्म का निशि में करे।
पश्चात उठकर करे क्रिया, कर्म सामायिक सभी॥

दिन बितावे शास्त्र के, अभ्यास वन्दन कर्म में।
रात्रि भी वैसी बिताए, प्रातः सामायिक करे॥

पूजनादिक विधि करे, त्रय पात्र पड़गाहन करे।
भोजन करावे उन्हें फिर, खुद करे- यह प्रोषध कहा॥

अन्वयार्थ : [**सत्तमितेरसिदिवसे अवरण्हे जिणभवणे जाइऊण**] सप्तमी त्रयोदशी के दिन दोपहर बाद जिन चैत्यालय में जाकर [**किरियाकम्मं किच्चा**] अपराह्न समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर, [**उववांस चउविहं गहिय**] चार प्रकार के आहार का त्याग कर, उपवास ग्रहण करता है। [**गिहवावारं चत्ता**] घर के समस्त व्यापार को छोड़कर, [**धम्मचिंताए रत्तिं गमिऊण**] धर्मध्यानपूर्वक तेरस और सप्तमी की रात्रि बिताता है। [**पच्चूहे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण**] सबेरे उठकर सामायिक आदि क्रिया कर्म करता है। [**सत्थभावेण पुणो दिवसं बकतऊण वंदणं किच्चा**] अष्टमी चौदस का दिन शास्त्रभ्यास धर्मध्यानपूर्वक बिताकर, अपराह्न समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर, [**रत्ति णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा**] रात्रि वैसे ही धर्मध्यानपूर्वक बिताकर नौमी, पूर्णमासी के सबेरे के समय सामायिक-वन्दना कर [**पुज्जणविहिं च किच्चा**] पूजन विधान कर [**पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि**] तीन प्रकार के पात्रों को पड़गाह कर, [**भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि**] उन पात्रों को भोजन कराकर, आप भोजन करता है, उसके प्रोषध होता है।

भावार्थ : पहले शिक्षाव्रत में प्रोषध की विधि कही थी, सो यहाँ भी जानना चाहिए। गृह-व्यापार, भोग-उपभोग की सामग्री सब का त्याग कर, एकान्त में जा बैठे और सोलह पहर धर्मध्यान में बितावे। यहाँ विशेष इतना जानना चाहिए कि वहाँ व्रत में सोलह पहर के काल का नियम नहीं कहा था और अतिचार भी लगते थे परन्तु यहाँ प्रतिमा की प्रतिज्ञा है, इसमें सोलह पहर का उपवास नियमपूर्वक अतिचाररहित करता है।

इसके पाँच अतिचार हैं – जो वस्तु जिस स्थान पर रखी हो, उसका उठाना, रखना तथा सोने बैठने का संथारा करना (आसन आदि बिछाना), सो बिना देखे, बिना जाने, बिना यत्न करे; इस तरह तीन अतिचार तो ये, तथा उपवास में अनादर करना, प्रीति नहीं रखना और क्रिया-कर्म को भूल जाना – ये पाँच अतिचार नहीं लगाता है।

गाथा ३७३-३७६ पर प्रवचन

देखो, धर्मी श्रावक, लगभग आठ-दस दिन के अन्तर में चिदानन्दस्वभाव में विशेष एकाग्रता का प्रयोग करता है। आहारादि छोड़कर स्वरूप में एकाग्रता का अभ्यास करे, उसका

नाम प्रौषधप्रतिमा है। प्रौषध करके बैठा हो और दिन में छह-छह घण्टे सोता रहे – ऐसा प्रौषध का स्वरूप नहीं है। यहाँ तो जिसे चिदानन्दस्वरूप में जागृति बढ़ गयी है और अन्दर में वीतरागता का अंश बढ़ गया है, ऐसा जीव, पर्व-तिथि के दिन में प्रौषध / उपवास करता है, उसे यह चौथी प्रतिमा होती है।

जिसे अविकारी आत्मा का भान तो निरन्तर है ही, उसमें विशेषरूप से शुद्धस्वभाव का अवलम्बन करके ज्ञान-ध्यान-वैराग्य की जागृति बढ़ाने का प्रयोग करता है, वहाँ सप्तमी, त्रयोदशी के दिन में दो प्रहर के बाद जिनचैत्यालय में जाकर सामायिक आदि करता है। जिन-प्रतिमा कैसी होती है ? अक्रिय बिम्ब, परम प्रसन्नता से पूर्ण, शान्त वीतराग मूर्ति, निर्लेप, निर्विकारमुद्रा होती है। वह आत्मा का असली – मूल शान्त, अक्रियस्वरूप देखने में आदर्श समान है। ध्यान का कारण वीतरागता का स्वरूप जिसने जाना है, उसे पूर्ण स्वरूप के स्मरण का कारण है। जिनप्रतिमा अनादि से है। ज्ञानी भी वीतरागदेव की प्रतिमा के दर्शन-वन्दन, पूजा, भक्ति करता है क्योंकि उसमें वीतरागता का बहुमान है।

श्रावक को निर्मल भेदज्ञान तो है, विशेष भेदज्ञान से एकाग्रता करता है। चैत्यालय अथवा एकान्त शान्तस्थल में जाकर सायंकाल में सामायिक आदि करके चार प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास ग्रहण करता है। पर का सर्व व्यापार तजकर, धर्मध्यानपूर्वक सप्तमी और त्रयोदशी की रात्रि व्यतीत करता है; अष्टमी और चतुर्दशी के प्रातःकाल सामायिक क्रिया करके, उस दिन शास्त्राभ्यासादि करके धर्मध्यान में समय व्यतीत करता है। सायंकाल सामायिक आदि क्रिया रात्रि भी उसी प्रकार धर्मध्यान में व्यतीत करता है। नवमीं और पूर्णिमा / अमावस्या के प्रातःकाल सामायिक वन्दन आदि करके जिनपूजन-विधान करके तीन प्रकार के पात्रों को सम्मान-आदरपूर्वक भोजन कराकर, फिर स्वयं भोजन करता है, उसे प्रौषध-प्रतिमा होती है।

धर्मात्मा, गृहस्थदशा में बारम्बार भावना करता है कि अहो! कब नग्न-दिगम्बर वीतरागी मुनि होऊँगा! चारित्र की कमजोरी तजकर एकान्त आत्मशान्ति में कब झूलूँगा!! इस प्रकार क्रम-क्रम से राग का अभाव करके, ज्ञान-शान्ति में स्थिरता बढ़ाया करता है – ऐसा तीनों काल श्रावकपद होता है।

देखो, बारह भावनाओं में यह अन्तिम धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन चल रहा है। तीर्थङ्कर भी गृहस्थदशा में यह बारह भावनाएँ भाते हैं। चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक तथा छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी यह भावनाएँ भाते हैं। ये भावनाएँ तो संवर का प्रकार हैं और भव्यजनों को आनन्द की जननी हैं। यह भावनाएँ, आस्रव उत्पन्न करनेवाली नहीं परन्तु संवर और आनन्द की जननी हैं; अत: आस्रवरहित स्वभाव कैसा है और उस स्वभाव को कहनेवाले देव-शास्त्र-गुरु कैसे हैं? - यह पहिचान भी इसमें आ जाती है। जो आस्रव से लाभ मनवाते हैं - ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का दासपना जो स्वीकार करता है, वह जीव तो आस्रव का दास हुआ, परन्तु आस्रवरहित स्वभाव का और सर्वज्ञ भगवान का दास वह नहीं हुआ। आत्मा का स्वभाव आस्रवरहित है, उसके भानपूर्वक सम्यग्दृष्टि को ऐसी संवरभावना होती है।

जैसे, मीठे आम पकते हैं, उसका मूल तो आम में है; उसी प्रकार यह बारह भावनाएँ जिस तत्त्वज्ञानपूर्वक होती हैं, उस तत्त्वज्ञान का मूल सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञदेव ने जिस साधन से तत्त्वज्ञान साधा और वाणी में जो साधन कहा, उसे पहिचाने; उन देव-शास्त्र-गुरु को पहिचाने, उसे ही यथार्थ तत्त्व की भावना होती है।

कोई कहे कि हम ईश्वर की भक्ति करते हैं - तो उससे पूछते हैं कि तुम जिसकी भक्ति करते हो, वह ईश्वर कैसा है? तो वह कहता है कि भक्तों की मदद करता है और शत्रुओं का संहार करता है - ऐसा हमारा ईश्वर है। भाई! तब तो वह ईश्वर रागी-द्वेषी हुआ और रागी-द्वेषी जीव को ईश्वर मानकर भक्ति करनेवाले को अतत्त्वश्रद्धान है। जिसकी भक्ति करे, वह उसका दास हुआ। रागी-द्वेषी की भक्ति करे तो वह राग-द्वेष का ही दास है; इसीलिए राग-द्वेषरहित सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं? - उन्हें प्रथम ही पहचानना चाहिए।

वीतरागता का पोषण करनेवाले शास्त्र कैसे होते हैं? यह पहचान नहीं करके, राग-द्वेष के पोषक शास्त्र को जो शास्त्र मानता है, उस जीव ने उन शास्त्रों के कहनेवाले देव और गुरु को भी राग-द्वेष का पोषक माना है; इसलिए उसे देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा नहीं है। उस जीव को राग-द्वेषरहित आत्मा की श्रद्धा भी नहीं होती और उसे ऐसी संवरभावना भी नहीं होती।

यहाँ तो जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की मान्यता छूटकर, चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा

हुई है और उसमें आंशिक एकाग्रता होने से पाँचवें गुणस्थान की प्रतिमा प्रगट हुई है, ऐसे श्रावक के धर्मों का वर्णन है।

यहाँ प्रौषध–उपवास नामक चौथी प्रतिमा का वर्णन चल रहा है। पहले शिक्षाव्रत में जो प्रौषध की विधि कही थी, वह यहाँ भी जानना चाहिए। गृह, व्यापार, भोग–उपभोग की समस्त सामग्री का त्याग करके, एकान्त में जाकर सोलह पहर धर्मध्यान में व्यतीत करे और यहाँ अधिक में इतना समझना कि वहाँ सोलह पहर के समय का नियम नहीं कहा था – अतिचारादि दोष भी लगते थे परन्तु यहाँ तो प्रतिमा की प्रतिज्ञा है; इसलिए सोलह पहर के उपवास का नियम करके अतिचाररहित प्रौषध करता है।

इस प्रौषधप्रतिमा के पाँच अतिचार हैं। जो वस्तु जिस काल में रखी हो, उसे उठाना – रखना; सोने–बैठने का संथारा करना; यह सब बिना देखे–जाने यत्नरहित करना – इस प्रकार तीन अतिचार तो ये हैं तथा उपवास में अनादर–अप्रीति करना और क्रियाकर्म का विस्मरण करना – यह पाँच अतिचार नहीं लगने दे, वह निरतिचार प्रौषधोपवासप्रतिमा है।

प्रौषधोपवासवाला श्रावक, शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है अथवा पञ्च परमेष्ठी का तथा जिनबिम्ब इत्यादि का चिन्तन करता है। देखो, लगभग बाईस सौ वर्ष पहले के इस शास्त्र में सन्त–मुनिराज ने जिनभवन की बात भी रखी है – ऐसे जिनभवन और जिनबिम्ब को जो नहीं मानता, वह सन्तों का विरोधी है, सर्वज्ञ का विरोधी है; उसे धर्म का भान नहीं है और धर्म के निमित्तों का भी भान नहीं है।

देखो! सर्वज्ञदेव को माननेवाले की ऐसी श्रद्धा होती है कि सब कुछ व्यवस्थित होता है।

वस्तु की पर्याय, व्यवस्थित होती है या अव्यवस्थित होती है? यदि वस्तु की पर्याय, अव्यवस्थित होती है – ऐसा मानो तो सर्वज्ञ ही साबित नहीं होते और यदि वस्तु की समस्त पर्यायें, व्यवस्थित ही होती है तो फिर निमित्त ने क्या किया? दूसरा उसमें क्या परिवर्तन करेगा? इसमें तो व्यवहार करते–करते निश्चय प्रगट होता है या पर्याय के आश्रय से नयी पर्याय प्रगट होती है – यह कुछ नहीं रहता; अकेले स्वद्रव्य का ही अवलम्बन रहता है। वस्तुस्वरूप की ऐसी श्रद्धापूर्वक के श्रावक के धर्मों का यह वर्णन है।●●

गाथा ३७७

अब, प्रोषध का माहात्म्य कहते हैं —

एक्कं पि णिरारंभं, उववांस जो करेदि उवसंतो।
बहुभवसंचियकम्मं, सो णाणी खवदि लीलाए॥

आरम्भ बिन उपशान्त हो, उपवास करता एक भी।
पूर्वभव संचित करम, क्षय करे लीलामात्र में॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि), **[णिरारंभं]** आरम्भरहित **[उवसंतो]** उपशमभाव (मन्द कषाय) सहित होता हुआ, **[एक्कं पि उववांस करेदि]** एक भी उपवास करता है, **[सो बहुभवसंचियकम्मं लीलाए खवदि]** वह अनेक भवों से संचित किय (बाँधे) हुए कर्मों को लीलामात्र में क्षय करता है।

भावार्थ : कषाय, विषय और आहार का त्याग करके, इसलोक-परलोक के भोगों की आशा छोड़कर, एक भी उपवास करता है, वह बहुत कर्मों की निर्जरा करता है, तो जो प्रोषध -प्रतिमा धारण करके पक्ष में दो उपवास करता है, उसका क्या कहना! (वह तो) स्वर्गसुख भोग कर मोक्ष को पाता है।

गाथा ३७७ पर प्रवचन

अब, प्रौषध का माहात्म्य बतलाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, आरम्भ का त्याग करके उपशमभाव, अर्थात् मन्दकषायरूप होकर एक भी उपवास करता है, वह बहुत भवों के सञ्चित किये हुए, बाँधे हुए कर्मों को लीलामात्र में क्षय करता है।

जगत् में पदार्थों की व्यवस्था क्रमबद्ध व्यवस्थित होती है, मैं उसका परिवर्तन करनेवाला नहीं हूँ; मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ – ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसकी दृष्टि ज्ञानस्वभाव में मिल गयी है; इसलिए वह ज्ञानी है। अकषायदृष्टि और स्थिरता द्वारा आरम्भ का त्याग करके एक भी उपवास करता है, वह श्रावक भी बहुत भवों के सञ्चित किये हुए बहुत कर्मों को लीलामात्र में क्षय करता है। ज्ञानानन्द में स्वसन्मुखरूप से बसना, वह उपवास है।

मिथ्यात्व, वह मूलकषाय है। अकषाय शान्त ज्ञातामात्रस्वरूप में सावधान रहकर कषाय, विषय और आहार का त्याग करके, अन्तर अवलम्बन में जागृत रहकर, इसलोक –परलोक के भोगों की वाञ्छा छोड़कर, निःशल्य होकर जो एक भी उपवास करता है तो शुद्धि की वृद्धि द्वारा बहुत कर्मों की निर्जरा करता है। तब फिर जो उससे विशेष शुद्धि से प्रौषध –प्रतिमा अङ्गीकार करके एक पक्ष में दो उपवास करता है, उसके सम्बन्ध में क्या कहना!

श्रावक, तीन शल्यरहित होता है – (१) मिथ्यात्वशल्य; (२) निदानशल्य, अर्थात् इसलोक–परलोक के सुख की आशा; और (३) मायाशल्य, अर्थात् कपट। ये तीन शल्य, अखण्ड ज्ञान–शान्ति की आराधना में महाविघ्नरूप हैं; इसलिए व्रती इन तीन शल्यरहित ही होता है।

बहुत दुःख सहन करे तो निर्जरा होती है – ऐसा माननेवाला धर्म को दुःखदाता मानता है। दुःख मानने से असाताकर्म बँधता है। धर्म में तो इच्छा टूटकर, निरन्तर अतीन्द्रिय शान्ति का लाभ है। ऐसा श्रावक, अल्प राग का फल स्वर्ग प्राप्त करके (उस अल्प राग का भी अभाव करके) शीघ्र अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त करता है। ●●

गाथा ३७८

अब, आरम्भ आदि के त्याग बिना उपवास करता है, उसके कर्मनिर्जरा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं —

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि॥

उपवास करता हुआ भी, आरम्भ करता मोहवश।
देह शोषण करे वह, नहिं कर्म खिरते लेश भी॥

अन्वयार्थ : [जो उववांस कुव्वंतो] जो उपवास करता हुआ, **[मोहादो आरंभं करेदि]** गृहकार्य के मोह से घर का आरम्भ करता है, **[सो णियदेहं सोसदि]** वह अपने देह को क्षीण करता है; **[कम्मलेसं पि ण झाडए]** कर्मनिर्जरा तो लेशमात्र भी उसके नहीं होती है।

भावार्थ : जो विषय-कषाय छोड़े बिना, केवल आहारमात्र ही छोड़ता है, घर के सब कार्य करता है, वह पुरुष, केवल देह ही का शोषण करता है; उसके कर्मनिर्जरा लेशमात्र भी नहीं होती है।

गाथा ३७८ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि आरम्भादि का त्याग किये बिना, उपवास करनेवाले को निर्जरा नहीं है।

जो उपवास करके भी घर के कार्यों के मोह से घर सम्बन्धी आरम्भ करता है, वह मात्र अपना शरीर सुखाता है, उसे शुभभाव भी नहीं है तो निर्जरा तो कहाँ से होगी ? नहीं होगी।

महामुनि कार्तिकेय को याद करके श्रीमद् राजचन्द्र उनका बहुमान करते थे कि अहो ! उन स्वामीकार्तिकेय को नमस्कार। व्यापार के प्रसङ्ग से मद्रास की ओर जाना हुआ था, तब नग्न पर्वत देखकर, नग्न अडोल दिगम्बर सन्तवृत्ति याद आती थी। ●●

गाथा ३७९

अब, सचित्तत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

सच्चित्तं पत्तफलं, छल्लीमूलं च किसलयं बीयं।
जो ण य भक्खदि णाणी, सचित्तविरदो हवे सो दु॥

पत्र फल त्वक् छाल कोंपल बीज आदि सचित्त का।
भक्षण नहीं ज्ञानी करे जो, उसे सचित्त[१] विरत कहा॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, **[पत्तफलं छल्लीमूलं च किसलयं बीयं सच्चित्तं]** पत्र, फल, त्वक्, छाल, मूल, कोंपल और बीज, इन सचित वस्तुओं को **[ण य भक्खदि]** नहीं खाता है, **[सो दु सचित्तवरिदो हवे]** वह सचित्तविरत श्रावक होता है।

भावार्थ : जीवसहित को सचित्त कहते हैं। इसलिए जो पत्र, फल, छाल, मूल, बीज, कोंपल इत्यादि हरी सचित्त को नहीं खाता है, वह सचित्तविरतप्रतिमा का धारक श्रावक होता है।[१]

गाथा ३७९ पर प्रवचन

अब, सचित्तत्यागप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं।

जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि श्रावक, पत्र, फल, छाल, मूल, कोपल, और बीज – इस सचित्त का भक्षण नहीं करता, उसे सचित्तविरति श्रावक कहते हैं।

---

१. **सुक्कं पक्कं तत्तं अंविललवणेहिं मिस्सियं दव्वं।**
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

अर्थात्, सूखी हुई, पकाई हुई, तपायी हुई, खटाई या लवण से नहलाई हुई, यन्त्र से छिन्न-भिन्न की हुई तथा सोधी हुई – ऐसी समस्त हरितकाय प्रासुक, अर्थात् जीवरहित अचित होती है। **(श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २२४ टीका)**

यहाँ खाना छोड़ना या खाना – यह बात नहीं है क्योंकि कोई भी जीव, जड़ की क्रिया नहीं कर सकता है। इसमें सचित्त के त्याग की मुख्यता नहीं है परन्तु अन्दर वीतरागता का घोलन बढ़ने से शुद्धि की भूमिका में सहज ऐसे अशुभराग का त्याग हो जाता है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि श्रावक, पत्तेवाले साग–भाजी, फल, छाल, मूल, कोपल, और बीज, कच्चे अन्न–पानी इत्यादि सचित्त को सीधेरूप से भक्षण नहीं करता, उसे सचित्तविरति श्रावक कहते हैं।

निश्चयशुद्धि के बिना, मात्र बाह्य त्याग में प्रतिमा माननेवाला कहता है कि चरणानुयोग के अनुसार हमारे अमुक प्रतिमा है, तो वह झूठा है क्योंकि प्रतिमा तो निश्चयशुद्धि की भूमिका के अनुसार होती है।

पर की हिंसा और सचित्त पदार्थों का भक्षण कोई आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु उस सम्बन्धी राग का त्याग होने पर निमित्त से कथन किया जाता है कि इसका त्याग है।

श्री गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २२४ की टीका में कहा है कि सूखी हुई, पकी हुई, खटाई या लवण से मिली हुई, यन्त्र से छिन्न–भिन्न की हुई अथवा सोंधी हुई – ऐसी समस्त हरितकाय प्रासुक, अर्थात् जीवरहित अचित्त होती हैं–कही जाती हैं। ●●

वस्तुस्वरूप की गर्जना करनेवाले मुनिराज

आ...हा..हा! जङ्गल में रहनेवाले वीतरागी सन्तों को तो देखो। जङ्गल में जैसे सिंह गर्जन करता है, वैसे ही मुनिराज वस्तुस्वरूप की गर्जना करते हैं। सिद्ध भगवान जैसा आत्मानुभव करते हैं, ठीक वैसा ही आत्मानुभव मुनिराज भी करते हैं। सिद्ध तथा साधक दोनों एक ही जाति का अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवते हैं; उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है।.... यही मोक्षमहल का सीधा मार्ग है। — *योगसार प्रवचन, पृष्ठ १०९, ११०*

गाथा ३८०

जो ण य भक्खेदि सयं, तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्सहि, णत्थि विसेसो तदो को वि॥

जो स्वयं नहिं भक्षण करे, वह अन्य को देवे नहीं।
क्योंकि खाने या खिलाने में, फरक कुछ भी है नहीं॥

अन्वयार्थ : [जो सयं ण य भक्खेदि] जिस वस्तु को आप नहीं खाता है, **[तस्स अण्णस्स दाउं ण जुज्जदे]** उसको अन्य को देना योग्य नहीं है **[भुत्तस्स भोजिदस्सहि]** क्योंकि खानेवाले और खिलानेवाले में **[तदो को वि विसेसो णत्थि]** कुछ विशेषता (अन्तर) नहीं है।

भावार्थ : कृत और कारित का फल समान है; इसलिए जो वस्तु आप नहीं खाता है, वह अन्य को भी नहीं खिलाता है, तब सचित्तत्यागप्रतिमा का पालन होता है।

गाथा ३८० पर प्रवचन

जो वस्तु, स्वयं नहीं खाता, वह अन्य को देना भी योग्य नहीं है क्योंकि खाने के और खिलाने के राग में कोई अन्तर नहीं है। कृत-कारित तथा अनुमोदना का फल समान है। कच्चा पानी, नागरवेल का पान इत्यादि किसी सचित्त वस्तु का यदि स्वयं को त्याग है तो दूसरे को भी वह नहीं दे - ऐसे राग का त्याग, पाँचवीं प्रतिमा में होता है।●●

गाथा ३८१

जो वज्जेदि सचित्तं, दुज्जय जीहा विणिज्जिया तेण।
दयभावो होदि किओ, जिणवयणं पालियं तेण॥

जिसने सचित तजा, वही दुर्जय रसन इन्द्रियजयी।
दयाभाव क्रिया प्रगट, पालन किया जिनवचन भी॥

अन्वयार्थ : [जो सचित्तं वज्जेदि] जो श्रावक, सचित्त का त्याग करता है, **[तेण दुज्जय जीहा विणिज्जिया]** उसने दुर्जय जिह्वाइन्द्रिय को भी जीत लिया तथा **[दयाभावो किओ होदि]** दयाभाव प्रगट किया **[तेण जिणवलयं पालियं]** और उसी ने जिनदेव के वचनों का पालन किया।

भावार्थ : सचित्त के त्याग में बड़े गुण हैं – (१) जिह्वाइन्द्रिय का जीतना होता है; (२) प्राणियों की दया का पालन होता है; (३) भगवान के वचनों का पालन होता है क्योंकि हरितकायादिक सचित्त में भगवान ने जीव कहे हैं (अत: उनका त्याग करने से), सो आज्ञा का पालन हुआ। इसके अतिचार सचित्त से मिली वस्तु तथा सचित्त से सम्बन्धरूप इत्यादि हैं। इन अतिचारों को नहीं लगावे, तब शुद्ध त्याग होता है, तब ही प्रतिमा की प्रतिज्ञा का पालन होता है। भोगोपभोगव्रत में तथा देशावकाशिकव्रत में भी सचित्त का त्याग कहा है परन्तु निरतिचार नियमरूप नहीं है। इस प्रतिमा में नियमरूप निरतिचार त्याग होता है। ऐसे सचित्त –त्याग पाँचवी प्रतिमा और बारह भेदों में छट्ठे भेद का वर्णन किया।

गाथा ३८१ पर प्रवचन

जिस श्रावक को पञ्चम प्रतिमा के योग्य शुद्धि की वृद्धि है, उसे सचित्त का त्याग है।

उसके जिह्वाइन्द्रिय का जीतना हुआ है, उसने दयाभाव प्रगट किया है, उसने जिनदेव की आज्ञा का पालन किया है।

सर्वज्ञदेव ने जिस पदार्थ में जिस प्रकार संयोग-वियोग इत्यादि देखा है; उसी प्रकार से होगा, उसमें परिवर्तन नहीं होता - ऐसा जिसने निर्णय किया है, अर्थात् जिसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुई है कि मैं तो सबका जाननेवाला हूँ; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने के बाद उसके अवलम्बन से शुद्धता के अंश बढ़ते जाते हैं, तदनुसार प्रतिमा होती है। यह उसके प्रकारों का वर्णन है। सर्वज्ञ ने जैसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप देखा, वैसा जिसने जाना है; इसलिए पर से, निमित्त से, विकार से भेदज्ञान हुआ है - ऐसा भेदज्ञान, वह प्रथम धर्म है। तत्पश्चात् भेदज्ञान की वृद्धि होने पर शुद्धता बढ़ती है और राग मिटता है। उसमें ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं। स्वभाव के आश्रय से शुद्धता होने पर ये प्रतिमाएँ सहज होती हैं। जितने अंश में शुद्धता हुई, उतने अंश में राग नहीं होता और उस प्रकार के सचित्त आहार इत्यादि निमित्त भी छूट जाते हैं। वहाँ 'सचित्त का त्याग किया...' इत्यादि कथन निमित्त अपेक्षा से कहे जाते हैं।

सचित्त के त्याग में बड़ा गुण है, उससे - (१) जिह्वाइन्द्रिय का जीतना होता है। (२) प्राणियों की दया का पालन होता है, और (३) भगवान के वचन का पालन होता है क्योंकि हरितकायादि सचित्त में भगवान ने जीव कहे हैं, उस आज्ञा का पालन हुआ। सचित्त में मिली हुई या सचित्त से बन्ध-सम्बन्धरूप वस्तु इत्यादिक उसके अतिचार हैं। यह अतिचार नहीं लगाये तो शुद्धत्याग होता है और तभी प्रतिमा की प्रतिज्ञा का पालन होता है। भोगोपभोगव्रत और देशावकाशिकव्रत में भी सचित्त का त्याग कहा है परन्तु वहाँ निरतिचार-नियमरूप त्याग नहीं है और यहाँ नियमरूप निरतिचार त्याग होता है।

अन्तर में चैतन्य की शान्ति बढ़ जाने से सचित्त वस्तु के आहार की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती; इसलिए उसने जीवों की दया पालन की - ऐसा निमित्त से कहा जाता है। जिसे जो प्रतिमा हो, उसे उस प्रकार की शुद्धता और शान्ति तो चौबीसों घण्टे रहती है।

इस प्रकार सचित्तत्याग नामक प्रतिमा अथवा श्रावक के बारह भेदों में छठवें भेद का वर्णन किया। ●●

गाथा ३८२

अब, रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

जो चउविहंपि भोज्जं, रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावइ अण्णं, णिसिवरओ सो हवे भोज्जो॥

रात्रि में चौ विधि अशन जो ज्ञानि नहिं भक्षण करे।
करावे नहिं अन्य को निशि भोज त्यागी वह अरे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, **[रयणीए]** रात्रि में **[चउविहं पि भोज्जं]** अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य – चार प्रकार के आहार को **[णेव भुंजदे]** नहीं भोगता है – नहीं खाता है, **[अण्णं ण य भुंजावइ]** दूसरे को भी भोजन नहीं कराता है, **[सो णिविविरओ भोज्जो हवे]** वह श्रावक, रात्रिभोजन का त्यागी होता है।

भावार्थ : रात्रिभोजन का तो माँस के दोष की अपेक्षा तथा रात्रि में बहुत आरम्भ से त्रसघात की अपेक्षा पहली दूसरी प्रतिमा में ही त्याग कराया गया है परन्तु वहाँ कृत–कारित –अनुमोदना और मन–वचन–काय के कुछ दोष लग जाते हैं; इसलिए शुद्धत्याग नहीं है। यहाँ इस प्रतिमा की प्रतिज्ञा में शुद्धत्याग होता है; इसलिए प्रतिमा कही गयी है।

गाथा ३८२ पर प्रवचन

अब, रात्रिभोजनत्याग नामक छठवीं प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं।

देखो! प्रत्येक गाथा में 'ज्ञानी' शब्द रखा है, अर्थात् जिसे वस्तुस्वरूप का सम्यक्ज्ञान हुआ हो – ऐसे ज्ञानी को ही ऐसी प्रतिमा होती है। अन्तर में आत्मा का भान न हो और शुभराग से रात्रिभोजनत्याग करे, उससे कहीं प्रतिमा नहीं हो जाती। अमुक समय में मैं अमुक प्रकार

का राग करूँ – ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे प्रतिमा नहीं होती। माँस भक्षण दोष और बहु आरम्भी त्रसघात की अपेक्षा से रात्रिभोजन का त्याग तो पहली, दूसरी प्रतिमा में ही कराया है परन्तु वहाँ तो कृत, कारित अनुमोदना तथा मन-वचन-काया का कोई दोष लगता है, इसलिए शुद्धत्याग नहीं है और यहाँ तो इन समस्त दोषों का अभाव करके प्रतिमा की प्रतिज्ञा में शुद्धत्याग होता है; इसलिए इसे प्रतिमा कहा गया है।

स्थूलरूप से रात्रिभोजन का त्याग तो श्रावक को होता ही है परन्तु यहाँ तो नियमपूर्वक अतिचाररहित रात्रिभोजन का त्याग है। आहार की क्रिया तो सहज वैसी होती है परन्तु श्रावक को अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से वीतरागभाव बढ़ गया है, वहाँ रात्रिभोजन का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। अन्तर की शुद्धि के बिना रात्रिभोजन के त्याग का शुभभाव करने की बात यहाँ नहीं है; यहाँ तो अन्तर में लीनता का अभ्यास करने पर श्रावक को सहज शान्ति बढ़ जाने से वैसा राग ही नहीं होता। छठवीं प्रतिमावाले श्रावक को सहज ही ऐसा काल है कि वहाँ उसे रात्रिभोजन का राग होता ही नहीं। राग छोड़ूँ – ऐसी दृष्टि नहीं है परन्तु जहाँ अन्तर की वैसी शुद्धता हुई, वहाँ राग होने का काल ही नहीं है – ऐसी ही क्रमबद्धपर्याय है।

जिसे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति नहीं है, उसे तो सर्वज्ञ की भी प्रतीति नहीं है। उसे व्रत अथवा प्रतिमा नहीं होती है। पर्याय तो क्रमबद्ध है; उसमें फेरफार नहीं होता – ऐसे निर्णयपूर्वक जहाँ ज्ञानस्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ उसके अवलम्बन से सहज शुद्धता बढ़ती जाती है और वहाँ उस प्रकार का राग होता ही नहीं है। राग होनेवाला था और नहीं हुआ – ऐसा नहीं है। जो पर्याय होनेवाली हो, उसे बदलने की किसी की ताकत नहीं है। जिनेन्द्रदेव ने जाना है परन्तु बदलने की ताकत उनमें भी नहीं है, तो दूसरा तो कौन बदलेगा? पहले ३२१ से ३२३ गाथा में सम्यग्दृष्टि को कैसी प्रतीति होती है? – उसका वर्णन किया है; वैसी प्रतीति रखकर यह बात है। जिसकी पर्याय में फेरफार कर देनी की मान्यता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव की दृष्टिसहित शुद्धता बढ़ने से राग होता ही नहीं – ऐसी ही सहज भूमिका है, उसका यह वर्णन है।

छठवीं प्रतिमावाले को रात्रिभोजन करने का भाव नहीं होता तथा वह रात्रिभोजन कराना या उसकी अनुमोदना भी नहीं करता, यह बात उत्कृष्ट अपेक्षा से, अर्थात् गृहवास से विरत

हुए श्रावक की अपेक्षा से है। जो गृहवास से विरत नहीं है, ऐसे गृहस्थ श्रावक को ऐसा राग होता है कि दूसरे को पानी पिलाये, रात्रि में बालक को पानी दे, वह ऐसी भूमिकावाला है। इस प्रकार वह अपनी भूमिका को जानता है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले और गृहस्थाश्रम से विरत, ऐसे दो प्रकार श्रावकों के होते हैं, उसमें यहाँ उत्कृष्ट अपेक्षा से वर्णन है।●●

गणधरों के द्वारा नमस्कार योग्य मुनिदशा

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, **तब 'णमो लोए सव्व साहूणं' - इस पद के द्वारा, गणधर भगवान का नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है, तो यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?**

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है - ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है -ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों तो भी वे कहते हैं— **'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।'** इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। **गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो - ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, उन सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, वे सन्त दुःखी नहीं हैं।**

— महा-महोत्सव प्रवचन

गाथा ३८३

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे, आरंभं मुयदि रयणीए॥

जो रात्रि भोजन नहिं करे, उसको कहा इक वरष में।
छह मास के उपवास हों, आरम्भ निशि में परित्यजे॥

अन्वयार्थ : [**जो णिसिभुत्तिं वज्जदि**] जो पुरुष, रात्रिभोजन को छोड़ता है, [**सो**] वह [**संवच्छरस्स मज्झे**] एक वर्ष में [**छम्मांस उववासं करेदि**] छह महीने का उपवास करता है।[**रयणीए आरंभं मुयदि**] रात्रिभोजन का त्याग होने के कारण, भोजन सम्बन्धी आरम्भ का भी त्याग करता है और व्यापार आदि का भी आरम्भ छोड़ता है, सो महादया का पालन करता है।

भावार्थ : जो रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह बरस दिन में छह महिने का उपवास करता है। अन्य आरम्भ का भी रात्रि में त्याग करता है। अन्य ग्रन्थों में इस प्रतिमा में दिन में स्त्रीसेवन का भी मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग कहा है। ऐसे रात्रिभुक्तत्याग प्रतिमा का वर्णन किया। यह छट्ठी प्रतिमा के बारह भेदों में सातवाँ भेद हुआ।

गाथा ३८३ पर प्रवचन

जो पुरुष, रात्रिभोजन को छोड़ता है, वह एक वर्ष में छह महीने का उपवास करता है। रात्रिभोजन का त्याग होने के कारण भोजन सम्बन्धी आरम्भ का भी त्याग करता है और व्यापार आदि का भी आरम्भ छोड़ता है, वह महादया का पालन करता है।

श्रावक को उस-उस समय का स्वकाल ही ऐसा होता है, उसकी यह बात है। बाहर

में रात्रि को आहारादि का संयोग नहीं हुआ, वह जड़ का काल है। देखो, अन्तर में स्वभाव के अवलम्बन से रात्रिभोजन का राग ही छूट गया है। दिन के भाग में आहार करता हो, उस समय भी 'रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा' की शुद्धता तो पड़ी ही है। रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा रात्रि में ही होती है और दिन में आहार के समय नहीं होती – ऐसा नहीं है। जिस-जिस प्रतिमा में जितनी शुद्धि है, उतनी शुद्धि तो निरन्तर ही है।

जो रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह महीने का उपवास करता है, साथ ही रात्रि में अन्य आरम्भ का भी त्याग करता है।

जिसे रात्रिभोजन का त्याग होता है – ऐसी शुद्धता प्रगटी है, उसे स्वयं को रात्रि में आरम्भ करने का भाव नहीं होता। रात्रि में व्यापार, रसोई इत्यादि कार्य करने का भाव उसे नहीं आता, अन्तर में इतनी शुद्धता बढ़ गयी है। रात्रिभोजनत्याग की प्रतिमा हो और रात्रि में दूसरे खोटे आरम्भ-समारम्भ करता हो, ऐसा नहीं होता। अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से जितनी शुद्धता हुई है और राग का अभाव हुआ है, उतना राग सब जगह से टूट जाता है।

छठवीं प्रतिमावाले श्रावक को दिन के भाग में अपनी स्त्री के प्रति भी मन में विषय-वासना सेवन करने का विकल्प नहीं उत्पन्न होता। मन-वचन-काया से तथा कृत, कारित अनुमोदना से उसे ऐसा भाव भी नहीं आता, इतनी अन्तर की परिणति में वीतरागभाव हो गया है।* ●●

* इस छठवीं प्रतिमा को कहीं-कहीं दिवामैथुनत्याग प्रतिमा भी कहा गया है।

गाथा ३८४

अब, ब्रह्मचर्यप्रतिमा का निरूपण करते हैं —

सव्वेसिं इत्थेणं, जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी।
मण वाया कायेण य, बंभवई सो हवे सदओ॥

तजे अभिलाषा सभी विध, नारियों में ज्ञानी जो।
मन-वचन-काया से वही है, ब्रह्मचारी दयामय॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, **[सव्वेसिं इत्थीणं अहिलास]** सब ही चार प्रकार की स्त्री - देवाङ्गना, मनुष्यणी, तिर्यञ्चणी, चित्रामणी इत्यादि स्त्रियों की अभिलाषा, **[मण बाया कायेण य]** मन-वचन-काय से **[ण कुव्वदे]** नहीं करता है, **[सो सदओ बंभवई हवे]** वह दया का पालन करनेवाला, ब्रह्मचर्यप्रतिमा का धारक होता है।

भावार्थ : सब स्त्रियों का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सर्वथा त्याग करना, ब्रह्मचर्यप्रतिमा है।

गाथा ३८४ पर प्रवचन

अब, सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा का वर्णन करते हैं।

अन्तर में चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमणता बढ़ने से ऐसा अकषायभाव हो गया है कि मन-वचन-काया से, कृत-कारित अनुमोदना से सर्व स्त्रियों का त्याग है। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ भान तो हुआ था कि मेरा सुख, विषयों में नहीं है और यहाँ तो स्वरूप में एकाग्रता का अंश बढ़ने से विषय की वृत्ति ही छिद गयी है, अर्थात् नष्ट हो गयी है। ऐसी ब्रह्मचर्यप्रतिमावाले की दशा है। देखो, यहाँ तो उत्कृष्ट बात ली है; इसलिए श्रावक को भी नव कोटि से त्याग की बात ली है। निरतिचाररूप से नव कोटि से त्याग तो मुनिवरों को होता है। ●●

गाथा ३८५

अब, आरम्भविरतिप्रतिमा को कहते हैं —

जो आरंभ ण कुणदि, अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णे।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सो हु॥

आरम्भ नहिं करता कराता, और नहिं अनुमोदता।
भयभीत चित हिंसादि से, आरम्भ त्यागी वह कहा॥

अन्वयार्थ : [जो आरंभ ण कुणदि] जो श्रावक, गृहकार्य सम्बन्धी कुछ भी आरम्भ नहीं करता है, **[अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णे]** दूसरे से भी नहीं कराता है, करते हुए को अच्छा भी नहीं मानता है, **[हिंसासतट्ठमणो]** हिंसा से भयभीत मनवाला, **[सो हु चत्तारंभे हवे]** वह निश्चय से आरम्भ का त्यागी होता है।

भावार्थ : जो गृहकार्य के आरम्भ का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता है, वह आरम्भत्यागप्रतिमाधारक श्रावक होता है। यह प्रतिमा आठवीं है और बारह भेदों में नवमाँ भेद है।

गाथा ३८५ पर प्रवचन

श्रावकधर्म और मुनिधर्म - ऐसे दो प्रकार के धर्मों में अभी श्रावक के धर्मों का वर्णन चल रहा है। श्रावक को सबसे पहले सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धासहित अपनी आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है, वह प्रथम धर्म है और तत्पश्चात् ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, उनमें से आठवीं आरम्भत्यागप्रतिमा का वर्णन करते हैं।

जो श्रावक, गृहकार्य सम्बन्धी कुछ भी आरम्भ नहीं करता है, दूसरे से भी नहीं कराता

है, करते हुए को अच्छा भी नहीं मानता है; हिंसा से भयभीत मनवाला, वह निश्चय से आरम्भ का त्यागी होता है।

इस प्रतिमावाले श्रावक को, जिसमें सचेतनवस्तु की हिंसा होती हो – ऐसे आरम्भ के परिणाम नहीं होते। अन्तर में चैतन्य के अवलम्बन से इतनी शुद्धता हो गयी है कि वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, किसी से आरम्भ कराने के परिणाम भी नहीं करता और कोई आरम्भ करता हो तो उसकी अनुमोदना का भाव भी नहीं होता। अन्तर में इतनी उदासीनता और शान्ति बढ़ गयी है; इसीलिए विवाह, व्यापार इत्यादि गृहस्थी के कार्यों में भी उसका लक्ष्य नहीं जाता है।

जो मन, वचन, काया और कृत, कारित अनुमोदना से गृहकार्य के आरम्भ का त्याग करता है, वह आरम्भत्यागप्रतिमाधारी श्रावक होता है। इस आठवीं प्रतिमा तक अभी परिग्रह का त्याग नहीं है; आरम्भ का त्याग है परन्तु अभी पैसा इत्यादि रखने का त्याग नहीं है। इसके बाद की नौवीं प्रतिमा में पैसा इत्यादि परिग्रह छूट जाता है। इस प्रकार यह आठवीं प्रतिमा है और श्रावक के बारह भेदों में यह नौवाँ भेद है।●●

मुनिराज का निज वैभव

सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आता है, परन्तु मुनि को उसका अतिप्रचुर आस्वादन होता है। समयसार की पाँचवी गाथा की टीका में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निजवैभव बतलाते हुए कहा है कि **कैसा है निजवैभव?** निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा अर्थात् छापवाला अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन से आचार्य भगवान का निजवैभव उत्पन्न हुआ है। **आत्मवस्तु स्वभाव से तो वीतरागस्वरूप है, परन्तु मुनिराज को पर्याय में भी अतिशय वीतरागता-समताभाव है।**

— वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २५०

गाथा ३८६

अब, परिग्रहत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी॥

बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह, पाप कारण मानकर।
छोड़ता सानन्द जो, वह परिग्रह त्यागी प्रवर॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, **[अब्भंतर बाहिरं च गंथं]** अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के परिग्रह को **[पावं ति मण्णमाणो]** पाप का कारण मानता हुआ **[साणंदो]** सानन्दसहित **[परिवज्जइ]** छोड़ता है, **[सो णिग्गंथो हवे]** वह परिग्रह का त्यागी श्रावक होता है।

भावार्थ : अभ्यन्तरपरिग्रह में मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणकषाय तो पहले ही छूट चुके हैं। अब, प्रत्याख्यानावरण और उस ही के साथ लगे हुए हास्यादिक और वेदों को घटाता है और बाह्य के धन-धान्य आदि सबका त्याग करता है। परिग्रह के त्याग में बड़ा आनन्द मानता है क्योंकि जिन को सच्चा वैराग्य हो जाता है, उनको परिग्रह, पापरूप ओर बड़ी आपत्तिरूप दिखायी देता है; इसलिए त्याग करने में बड़ा सुख मानते हैं।

गाथा ३८६ पर प्रवचन

अब, परिग्रहत्यागप्रतिमा का वर्णन करते हैं।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि श्रावक की बात है। जहाँ अन्दर में चिदानन्द भगवान की शान्ति का वेदन बढ़ गया, वहाँ परिग्रह के परिणाम छूट गये हैं; इसलिए नौवीं प्रतिमावाला यह

धर्मात्मा श्रावक, पैसा इत्यादि का परिग्रह नहीं रखता है। अन्तर में से उस जाति का रागभाव ही छूट गया है और बाहर में उसे पैसा-मकान इत्यादि का परिग्रह छूट गया है — इस कारण उसे निर्ग्रन्थ कहा है। यहाँ निर्ग्रन्थपना कहा है, वह श्रावक के योग्य समझना चाहिए। आत्मा के भान बिना, पैसा इत्यादि त्यागकर जङ्गल में जाकर बैठ जाए - ऐसे जीव की यह बात नहीं है। इसलिए यहाँ कहा है कि ज्ञानी श्रावक आनन्दपूर्वक परिग्रह को छोड़ता है। अकेला बाह्य त्याग नहीं, परन्तु अन्दर में चिदानन्दस्वरूप का आनन्द बढ़ गया है, अन्दर में खेद नहीं है। प्रतिमा लेकर बैठ जाए और कहे कि अरे...रे... ! क्या करें ? प्रतिमा है; इसलिए इतना करना पड़ता है ! तो उसे 'आनन्दपूर्वक प्रतिमा नहीं है' उसे प्रतिमा नहीं कही जाती है।

निमित्त से भिन्न और राग से पार - ऐसे अपने चैतन्यस्वभाव का भान होने के उपरान्त उसके अनुभव का वेदन बढ़ गया है, वहाँ परिग्रह की ममता छूट गयी है - ऐसी दशावाले श्रावक को नौवीं प्रतिमा होती है। प्रतिमा क्या कहलाती है ? उसका भी बहुत लोगों को पता नहीं है।

देखो, यह तो अभी श्रावकदशा की बात है; मुनिदशा तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट है। इसमें कोई जबरदस्ती त्याग नहीं करना पड़ता, परन्तु अन्तर में चैतन्य के अवलम्बन में स्थिर हुआ है, वहाँ उस-उस प्रकार का रागपरिणाम भी नहीं होता, उसका नाम प्रतिमा और त्याग है। उसमें आत्मा के अमृत के घूँट का आनन्द आता है।

देखो ! पहले से ही यह बात ली है कि ये अनुप्रेक्षाएँ, भव्य जीवों को आनन्द की जनक हैं। इसी प्रकार यह प्रतिमा इत्यादि की दशा भी जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अन्तर का आनन्द भी बढ़ता जाता है। बहुत त्याग हो जाने से दुःख सहन करना पड़ता है - ऐसा नहीं है परन्तु अन्तर के अवलम्बन से जैसे-जैसे त्याग बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आनन्द भी बढ़ता जाता है। बीच में कोई अतिचार इत्यादि के परिणाम हो जाएँ तो वे उस-उस भूमिका की योग्यता का काल है और उसकी आलोचना तथा प्रायश्चित्त करने का विकल्प आता है, वह भी उस भूमिका के क्रम में ही है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति रखकर यह सब बात है। यह बात तो पहले ही गाथा ३२१, ३२२, ३२३ में स्थापित की है, उसे रखकर यह बात है। जिसे सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है, वह तो प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे व्रत या प्रतिमा

नहीं होते हैं। आगे ३८८ वीं गाथा में यह बात करेंगे कि दसवीं प्रतिमावाला श्रावक, **भवितव्य -भावना में रत है,** अर्थात् उसमें वास्तव में अपने ज्ञातास्वभाव की दृष्टि रखकर, उसकी भावना में रत है।

जहाँ पहली प्रतिमा प्रगट हुई, तब से ही अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणकषाय का तो नाश ही हुआ है तथा तदुपरान्त जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे तीसरी प्रत्याख्यानावरणकषाय भी टूटती जाती है। आत्मज्ञानपूर्वक उसमें लीनतासहित का वैराग्य जिसे होता है, उसे ही सच्चा वैराग्य है और उसका वैराग्य आनन्दपूर्वक का है। जिसे वैराग्य और त्याग में दुःख या झंझट लगता है, उसे सच्चा त्याग या वैराग्य नहीं है; अपितु हठ है। अपूर्व आनन्द का अंश तो चौथे गुणस्थान से ही शुरु हो गया है और फिर पाँचवें गुणस्थान में प्रतिमानुसार वह आनन्द बढ़ता जाता है। उसमें नौवीं प्रतिमा होने पर ऐसा वैराग्य हो जाता है कि एक पाई का भी परिग्रह नहीं रखता। पुत्र इत्यादि को लाखों रुपये मिलने की बात सुनता है तो भी राग नहीं होता। देखो! यह अभी श्रावक की बात है; वह अभी मुनि नहीं हुआ है। वहाँ पैसा इत्यादि का परिग्रह छूट गया है।

आगे इसी का विशेष वर्णन करते हैं। ●●

ऐसे सन्तों की क्या बात करें?

जिसे '**जिसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी**' कहा, सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। **मुनिधर्म की तो बात ही क्या कहें। तीन कषाय के अभाव सहित जिनके अन्तर में प्रचुर आनन्द का अनुभव है** और बाह्य में जिसके वस्त्र का एक धागा भी नहीं है - ऐसे सन्तों की क्या बात करें? — *अध्यात्म रत्नत्रय, पृष्ठ ३१*

गाथा ३८७

बाहिरगंथविहीणा, दलिद्दमणुआ सहावदो होंति।
अब्भतरगंथंपुण, ण सक्कदे को वि छंडेदुं॥

बाह्य परिग्रह से रहित हैं, दरिद्री नर सहज ही।
किन्तु अभ्यन्तर परिग्रह, कोई तज सकता नहीं॥

अन्वयार्थ : [बाहिरगंथविहीणा] बाह्यपरिग्रह से रहित तो **[दलिद्दमणुआ सहावदो होंति]** दरिद्री मनुष्य, स्वभाव ही से होते हैं, इसके त्याग में आश्चर्य नहीं है; **[अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं]** अभ्यन्तरपरिग्रह को कोई भी छोड़ने में समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : जो अभयन्तरपरिग्रह को छोड़ता है, उसकी महिमा है। अभ्यन्तरपरिग्रह, सामान्यरूप से ममत्वपरिणाम है; इसलिए जो इसका त्याग करता है, वही परिग्रहत्यागी कहलाता है। इस तरह परिग्रहत्यागप्रतिमा का स्वरूप कहा। प्रतिमा नवमी है, बारह भेदों में दशवाँ भेद है।

गाथा ३८७ पर प्रवचन

जिसे सर्वज्ञ भगवान और अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक भवितव्य का निर्णय तो हो गया है कि जिस समय में जिस पदार्थ की जो पर्याय होनी है, उसमें फेरफार नहीं होता; मैं उसका ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा मेरा कर्तव्य नहीं है। - ऐसी श्रद्धा तो चौथे गुणस्थान से ही हो गयी है और तदुपरान्त वीतरागभाव बढ़ने से प्रतिमा होती है, वहाँ सहजानन्द के अनुभवपूर्वक सहजत्याग हो जाता है। यहाँ अन्तर की आनन्ददशा के बिना होनेवाले त्याग की बात नहीं है क्योंकि ऐसा त्याग तो पशु को भी होता है; दरिद्री मनुष्य के पास धन इत्यादि नहीं होता; इसलिए उसे त्यागी नहीं कहा जाता है। अन्तरस्वरूप के भानपूर्वक वीतरागभाव

होने पर जो त्याग हुआ है, वही त्याग है। अन्तर के रागादि परिग्रह को छोड़नेवाला विरला ही होता है। मेरे आत्मा में पर का अभाव ही है; इसलिए मेरा आत्मा निवृत्तस्वरूप ही है – ऐसे भानसहित उसमें एकाग्र होने पर जिसे राग छूटा है, उसे त्याग है। जिसे अभी पर से भिन्नता का भान नहीं है; राग जरा भी नहीं छूटा है – ऐसा जीव, कदाचित त्यागी हो तो उसका त्याग पुरुषार्थपूर्वक का नहीं है परन्तु उसे तो उस प्रकार का संयोग ही नहीं होना था; इसलिए वह संयोग नहीं हुआ।

ज्ञानी को वीतरागभावपूर्वक लक्ष्मी इत्यादि का त्याग होता है। वहाँ उसे भी लक्ष्मी इत्यादि का संयोग तो उस समय होना ही नहीं था, वह जड़ की क्रिया तो उसके कारण से है परन्तु उसे अपने भाव में से परिग्रह की पकड़ छूट गयी है; इसलिए उसने परिग्रह छोड़ा है – ऐसा कहा जाता है। जिसने अन्तर में अभी मिथ्यात्वभाव को भी नहीं छोड़ा, उसे तो एक भी प्रकार का धर्म नहीं होता। अन्तर में स्वभाव के भानसहित राग–द्वेष का त्याग होता जाता है और आनन्द बढ़ता जाता है – ऐसे श्रावक को प्रतिमा होती है।

जो अन्तरङ्गपरिग्रह छोड़ता है, उसकी ही महत्ता है। सामान्यरूप से अभ्यन्तरपरिग्रह, ममत्वभाव है। जो उस ममत्वभाव को छोड़ता है, उसे परिग्रह का त्यागी कहते हैं। इस प्रकार परिग्रहत्यागप्रतिमा का स्वरूप कहा है। यह प्रतिमा नौवीं है तथा श्रावक के भेदों में यह दशवाँ भेद है। ●●

मुनिराज के पीछी-कमण्डल बाह्य परिग्रह नहीं

मोरपीछी और कमण्डल होते हैं। कभी–कभी दया तथा शरीर की शुचिता के विकल्पकाल में उस ओर लक्ष्य जाता है; उन्हें बाह्य परिग्रह में नहीं गिना गया है, संयमदशा में निमित्तरूप से वे होते हैं। शरीर तो कर्मोदय से प्राप्त है, जिसे छोड़ा न जा सके – ऐसी वस्तु है। अहा! धन्य वह मुनिदशा! जहाँ बाह्य में संयमदशा के सहकारी निमित्तरूप से, शरीरमात्र परिग्रह होता है। — *वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ १८४*

गाथा ३८८

अब, अनुमोदनविरतिप्रतिमा को कहते हैं —

जो अणुमणणं ण कुणदि, गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु।
भवियव्वं भावंतो, अणुमणविरओ हवे सो दु॥

पाप मूलक कार्य घर के, जो नहीं अनुमोदता।
भवितव्य भाता उसे, अनुमोदन विरत श्रावक कहा॥

अन्वयार्थ : [जो] जो श्रावक, **[पावमूलेसु]** पाप का मूल **[गिहत्थकज्जेसु]** गृहस्थकार्यों में **[भवियव्वं भावंतो]** 'जो भवितव्य है, सो होता है' – ऐसी भावना करता हुआ, **[अणुमणणं ण कुणदि]** अनुमोदना नहीं करता है, **[सो दु अणुमणविरओ हवे]** वह अनुमोदनविरतिप्रतिमाधारी श्रावक है।

भावार्थ : गृहस्थ के कार्य, आहार के निमित्त आरम्भादिक की भी अनुमोदना नहीं करता है। उदासीन होकर घर में या बाहर चैत्यालय, मठ, मण्डप में रहता है। भोजन के लिए घरवाला या अन्य कोई श्रावक जो बुलाता है, उसके भोजन कर आता है। ऐसा भी नहीं कहता है कि मेरे लिये अमुक पदार्थ तैयार करना। जो कुछ गृहस्थ जिमाता है (खिलाता है), वहीं जीम आता है, वह दशमी प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

गाथा ३८८ पर प्रवचन

अब, दशवीं अनुमतित्यागप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं।

जो श्रावक, पाप का मूल, गृहस्थ के कार्यों में 'जो भवितव्य है, सो होता है' – ऐसी भावना करता हुआ अनुमोदना नहीं करता है, वह अनुमोदनविरतिप्रतिमाधारी श्रावक है।

देखो, श्रावक को पहले से ही सर्वज्ञ की प्रतीति हुई है। भवितव्यानुसार ही होता है — ऐसा भान तो हुआ है परन्तु यहाँ ज्ञानस्वभाव की एकाग्रतापूर्वक भवितव्यभावना का वीतरागभाव बढ़ गया है; इसलिए पापकार्यों में अनुमति भी नहीं देता। पुत्र, लाखों का मकान बनाता हो, वहाँ उसमें सिर मारने नहीं जाता; लड़के-लड़कियों के विवाह की सलाह नहीं देता; जाति वगैरह के भोजन में क्या बनाना है - ऐसी बात नहीं करता। उसे अन्तर में उस प्रकार की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती है। वह तो भवितव्यभावना में रत है, अर्थात् मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ - ऐसी एकाग्रतापूर्वक जैसा होता है, वैसा जानता है। मैं ऐसा करूँ और वैसा करूँ - ऐसा उथल-फुथल का भाव नहीं होता। अन्दर ऐसे सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न नहीं होते, इतनी स्थिरता हो गयी है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में भी इस सम्बन्ध में बहुत सरस बात कही है। वहाँ कहा है कि — 'तथा स्वयं व अन्य चेतन-अचेतन पदार्थ किसी प्रकार से परिणमते हों और अपने को वह परिणमन बुरा लगे तो उसे अन्य प्रकार से परिणमाने के लिए उस परिणमन का भी बुरा चाहता है। इस प्रकार क्रोध से अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों का बुरा करने की इच्छा तो होती है परन्तु बुरा होना या न होना, वह उनके भवितव्य के आधीन है।'

इसमें जीव और अजीव, दोनों की क्रमबद्धपर्याय की बात स्पष्ट ली है।

'दूसरा कोई अपने से उच्च कार्य करता हो तथापि उसे किसी प्रकार से नीचा दिखाये तथा स्वयं नीचा कार्य करता हो, तथापि अपने को ऊँचा दर्शाये। इस प्रकार मान से अपनी महन्तता की इच्छा तो बहुत करता है परन्तु महन्तता होना भवितव्य के आधीन है।'

'कषाय से इष्ट सिद्धि के लिए नाना प्रकार के छल-प्रपञ्च करे, तथापि इष्टसिद्धि होना भवितव्य के आधीन है।'

'अपना या अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थों का कोई परिणमन होना इष्टरूप मानकर उसे उस प्रकार के परिणमनरूप परिणमाना चाहे। इस प्रकार नाना प्रकार से लोभ से इष्ट प्राप्ति की इच्छा तो बहुत करे, परन्तु इष्टप्राप्ति होना भवितव्याधीन है।'

जिसे क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप का भान नहीं है, वह अपने क्रोधादि कषाय से उसमें फेरफार होना मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की यह बात है।

'तथा अज्ञानी जीव, अपने को जैसा श्रद्धान है, उस प्रकार अन्य पदार्थ को परिणमन करना चाहता है। अब वे पदार्थ यदि उस प्रकार परिणमे, तो इसका श्रद्धान सच्चा हो जाए, परन्तु **अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादापूर्वक परिणमन करती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है। इसी प्रकार कोई किसी के परिणमन करने से परिणमित नहीं होती; उसे यह जीव अपनी इच्छानुसार परिणमन कराना चाहता है, वह कोई उपाय नहीं है परन्तु वह तो मिथ्यादर्शन ही है।'**

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५० से ५२ के कुछ अंश)

यहाँ मिथ्यामान्यता तो मिट गयी है, तदुपरान्त वीतरागभाव बढ़ जाने से आरम्भ के कार्यों में अनुमोदना का भाव नहीं आता है।

गृहस्थ के कार्य, आहार के निमित्त आरम्भादिक की भी अनुमोदना नहीं करता है। उदासीन होकर घर में या बाहर चैत्यालय, मठ, मण्डप में रहता है। भोजन के लिये घरवाला या अन्य कोई श्रावक जो बुलाता है, उसके भोजन कर आता है। ऐसा भी नहीं कहता है कि मेरे लिये अमुक पदार्थ तैयार करना। जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, अर्थात्, खिलाता है, वही जीम आता है, वह दशमी प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।●●

मुनिदशा में कायरों का काम नहीं

'मुनिराज स्वरूप में निरन्तर जागृत हैं' अनादि से राग की एकता में जो सोये पड़े थे, वे राग की भिन्नता करके, भीतर ज्ञान और आनन्द में जागकर जीते हैं। **जागृत जीव, ज्ञायक पर्याय में जागता खड़ा है।** श्री समयसार की पाँचवी गाथा की टीका में तो यहाँ तक लिया है कि **जिस प्रकार अरहन्तदेव निर्मल विज्ञानघन में निमग्न है, उसी प्रकार हमारे गुरु-मुनि भी विज्ञानघन में निमग्न हैं। देव और गुरु दोनों विज्ञानघन में निमग्न हैं, इसलिए एक अपेक्षा से दोनों समान हैं। अहा! ऐसी होती है मुनिदशा! उसमें कायरों का काम नहीं है।**

गाथा ३८९

जो पुण चिंतदि कज्जं, सुहासुहं रायदोससंजुत्तो।
उवओगेण विहीणं, स कुणदि पावं विणा कज्जं॥

जो राग द्वेष विभावयुक्त हो, शुभ-अशुभ सब कार्य की।
चिन्ता करे जो बिना प्रयोजन, व्यर्थ पापार्जन करे॥

अन्वयार्थ : [जो पुण] जो **[उवओगेण विहीणं]** बिना प्रयोजन **[रायदोस - संजुत्तो]** राग-द्वेष संयुक्त हो **[सुहासुहं कज्जं चिंतदि]** शुभ-अशुभ कार्य का चिन्तवन करता है, **[स विणा कज्जं पावं कुणदि]** वह पुरुष बिना कर्म, पाप उत्पन्न करता है।

भावार्थ : आप तो त्यागी हो गया, फिर बिना प्रयोजन गृहस्थ के शुभकार्य-पुत्रप्राप्ति, विवाहादिक और अशुभकार्य - किसी को पीड़ा देना, मारना, बाँधना इत्यादि शुभाशुभ कार्यों का चिन्तवन कर, राग-द्वेष परिणाम करके निरर्थक पाप उपजाता है; उसके दशमी प्रतिमा कैसे हो ? इसलिए ऐसी बुद्धि रहनी चाहिए कि 'जैसा भवितव्य है, वैसा होगा। यदि आहार मिलना है तो मिलकर रहेगा' - ऐसे परिणाम रहने से अनुमतित्यागप्रतिमा का पालन होता है। इस प्रकार श्रावक के बारह भेदों में ग्यारहवें भेद का वर्णन किया।

गाथा ३८९ पर प्रवचन

स्वयं को अन्तर की शान्तिपूर्वक बहुत समाधान वर्तता है; इसलिए आहार आदि का योग जैसे बनना होगा, वैसे बनता रहेगा; उसके लिए चिन्ता नहीं होती है और ज्ञान की दृढ़ता बढ़ती जाती है - ऐसे श्रावक को दशवीं अनुमतित्याग नामक प्रतिमा है। देखो! सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी निशङ्कश्रद्धा है कि जिस काल में, जिस पदार्थ में, जिस प्रकार की संयोग-वियोग की

अवस्था होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस-उस प्रकार ही होता है। उसमें इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र कुछ भी फेरफार करने में समर्थ नहीं हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि के उपरान्त दशवीं प्रतिमावाले को तो वीतरागभाव बढ़ गया है।

आप तो त्यागी हो गया, फिर बिना प्रयोजन गृहस्थ के शुभकार्य, अर्थात् पुत्रजन्म, विवाहादिक और अशुभकार्य, अर्थात् किसी को पीड़ा देना, मारना, बाँधना इत्यादि - इस शुभाशुभ कार्यों का चिन्तवन करके, राग-द्वेष परिणाम करके निरर्थक पाप उत्पन्न करता है / बाँधता है, उसके दशमी प्रतिमा कैसे हो? इसलिए ऐसी बुद्धि रहनी चाहिए कि 'जैसा भवितव्य है, वैसा होगा। यदि मुझे आहार मिलना है तो अवश्य मिलकर रहेगा' - ऐसे परिणाम रहने से अनुमतित्याग का प्रतिमा का पालन होता है।●●

प्रतिकूलता में भी सन्तों को दुःख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है।

धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दुःखी थे - ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च-महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

— राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस

गाथा ३९०

अब, उद्दिष्टविरतिप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो॥

विशुद्ध हो नव कोटि, भिक्षाचरण हो, नहिं याचना।
योग्य भोजन करे वह, उद्दिष्ट भोजन त्यागी है॥

अन्वयार्थ : [जो] जो श्रावक, **[णव कोडिविशुद्धं]** नव कोटि विशुद्ध, अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के दोषरहित, **[भिक्खायरणेण]** भिक्षाचरणपूर्वक, **[जायणरहियं]** याचनारहित (बिना माँगे) **[जोग्गं]** योग्य (सचित्तादिक अयोग्य न हो) **[भोज्जं भुंजदे]** आहार को ग्रहण करता है, **[सो उद्दिट्ठाहारविरदो]** वह उद्दिष्टआहार का त्यागी है।

भावार्थ : घर छोड़कर मठ या मण्डप में रहता है, भिक्षाचरण द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तो उस आहार को नहीं लेता है, माँग कर नहीं लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्तआहार नहीं लेता है - ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।

गाथा ३९० पर प्रवचन

अब अन्तिम, ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं।

देखो! भगवान कार्तिकेयस्वामी को छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होने से यह द्वादश अनुप्रेक्षाएँ लिख गयी हैं। उसमें धर्मानुप्रेक्षा में श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा का वर्णन किया जा रहा है।

जिसे अखण्ड चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से विशेष वीतरागता हुई है और राग टूट गया है – ऐसा ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक, उद्दिष्टआहार का ग्रहण नहीं करता है। मन–वचन–काया से या कृत–कारित–अनुमोदना से अपने लिए बनाये हुए आहार के ग्रहण का विकल्प नहीं आता है। मुनि तो उद्दिष्टआहार लेते ही नहीं, परन्तु यह श्रावक भी अपने लिए बनायी हुई वस्तु नहीं लेता है। बाजार में से अपने लिए लाई हुई चीज, वह नहीं लेता है। पानी अथवा आहार किसी से माँगता नहीं है – याचनारहित आहार ग्रहण करता है। अभी जो आहार की याचना करता है, अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता है – ऐसे जीव को मुनिदशा नहीं होती है। यदि उसमें मुनिपना मनवावे तो वह अज्ञानी है।

आगम कैसा होता है ? आगम में कथित श्रावक कैसा होता है ? मुनि कैसे होते हैं ? – देव कैसे होते हैं ? इन्हें पहचाने बिना, वस्त्रादि सहित दशा में मुनिपना मनवावे, वह सनातनमार्ग नहीं है। मुनिपने का पालन न हो सके तो वह कोई बड़ा दोष नहीं है परन्तु मुनिपना नाम धराकर विपरीतरूप से प्रवर्तन करना, वह बड़ा दोष है। उसे तो मुनि कैसे होते हैं, इसकी श्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

अहो ! वीतरागमार्ग के मुनिवर याचना नहीं करते। 'सूझता आहार है ?' – ऐसा मुनि नहीं पूछते। अरे ! ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक भी आहार के लिए नहीं पूछता तो फिर मुनिदशा की तो क्या बात करना ? 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में जिन साधुओं को नमस्कार किया है, उन साधुओं की दशा बहुत वीतरागी–निर्ग्रन्थ होती है। अन्तर के आत्मा के आनन्द में झूलते–झूलते उत्कृष्ट श्रावक को तीसरी कषाय भी बहुत घट गयी है – ऐसा श्रावक, आहार की याचना नहीं करता है। याचना करना, उसका नाम याचनापरीषह नहीं है। जैसे, जङ्गल में सिंह किसी के पास आहार माँगने नहीं जाता; उसी प्रकार मुनिवर तो वीतरागमार्ग में विचरण करनेवाले सिंह हैं। वे आहार के लिए किसी से याचना नहीं करते। सहज निर्दोष आहार विधिपूर्वक मिले तो ही ग्रहण करते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक भी अपने लिए बनाया हुआ दोषयुक्त आहार नहीं लेता है। वीतरागमार्ग की आज्ञा है; इसलिए ऐसा करना पड़ता है – ऐसा नहीं, परन्तु अन्तर में उस प्रकार का राग ही उस भूमिका में नहीं होता। ऐसी श्रावक की सहजदशा होती है।

देखो ! यह बात, वीतरागमार्ग के देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धासहित की है। जिसे अभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भान नहीं है, आत्मा का भान नहीं है - ऐसे जीव, शुद्ध आहार-पानी लें तो उन्हें कहीं मुनिपना या श्रावकपना नहीं कहा जाता है।

जो घर छोड़कर मठ-मण्डप में रहता हो; भिक्षाचरण से आहार लेता हो, परन्तु अपने निमित्त से किसी ने आहार बनाया हो तो उस आहार को नहीं लेता, याचनापूर्वक नहीं लेता तथा माँसादिक या सचित्तरूप अयोग्य आहार नहीं लेता, वह उद्दिष्टविरति श्रावक है।

जिस शास्त्र में यह लिखा हो कि मुनि को वस्त्र नहीं धोना चाहिए.... अरे.... ! परन्तु यह बात मूल में ही विपरीत है। मुनि को वस्त्र होते ही नहीं तो फिर धोने की बात कहाँ रही ? वस्त्र रखते हैं और फिर आठ-आठ महीने तक धोये बिना रखते हैं, उसमें तो त्रसजीव हो जाते हैं और बड़ी हिंसा होती है। **सर्वज्ञमार्ग के मुनियों को वस्त्र होते ही नहीं हैं।** तीनों काल का ऐसा ही मुनिमार्ग है और श्रावक में भी ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक, आहार की याचना नहीं करता।

देखो तो सही ! दो कथनों में कितना अन्तर है ! एक तो कहता है कि मुनि, आहार की याचना करते हैं ! और यहाँ कहते हैं कि ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक भी आहार की याचना नहीं करता। जरा-सा विचार तो करो कि किसका कथन यथार्थ है ? अन्तर के चिदानन्दस्वभाव को साधनेवाला उत्तम श्रावक भी ऐसा वैरागी होता है कि आहार की याचना नहीं करता है। किसी से आहारादिक माँगना तो भिखारीपना और दीनता है। मुनि तथा ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक, आहार माँगता तो नहीं, परन्तु अपने लिए बनाया हुआ आहार भी नहीं लेता - ऐसा उनका वीतरागभाव होता है।

इस प्रकार श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया। ●●

गाथा ३९१

अब, अन्त समय में श्रावक, आराधना करे – ऐसा कहते हैं —

जो सावयवयसुद्धो, अंते आराहणं परं कुणदि।
सो अच्चुदम्मि सग्गे, इन्दो सुरसेविदो होदि॥

श्रावक व्रतों से शुद्ध हो, जो अन्त में आराधना।
उत्कृष्ट करता, स्वर्ग अच्युत में सुरों से पूज्य हो॥

अन्वयार्थ : [जो सावयवयसुद्धो] जो श्रावक, व्रतों से शुद्ध है **[अंते आहारणं परं कुणदि]** और अन्त समय में उत्कृष्ट आराधना, अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का आराधन करता है, **[सो अच्चुदम्मि सग्गे]** वह अच्युतस्वर्ग में **[सुरसेविदो इन्दो होदि]** देवों से सेवनीय, इन्द्र होता है।

भावार्थ : जो सम्यग्दृष्टि श्रावक, ग्यारहवीं प्रतिमा का निरतिचार शुद्धव्रत पालता है और अन्त समय (मरणकाल) में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आराधना को आराधता है, वह अच्युतस्वर्ग में इन्द्र होता है। यह उत्कृष्ट श्रावक के व्रत का उत्कृष्ट फल है। ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप कहा। अन्य ग्रन्थों में इसके दो भेद कहे हैं –

पहले भेदवाला (क्षुल्लक) तो एक वस्त्र रखता है; बालों को कैंची या उस्तरे से कटाता है; प्रतिलेखन, हस्तादिक से करता है; भोजन बैठकर, अपने हाथ से भी तथा पात्र में भी करता है। दूसरा (ऐलक) बालों का लोंच करता है; प्रतिलेखन, पीच्छी से करता है; अपने हाथ ही में भोजन करता है; (कोपीन) लँगोट धारण करता है, इत्यादि। इसकी विधि, अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। ऐसे प्रतिमा तो ग्यारहवीं हुई और बारह भेद कहे थे, उनमें यह बारहवाँ भेद, श्रावक का हुआ।

अब, यहाँ संस्कृत में टीकाकार ने अन्य ग्रन्थों के अनुसार कुछ श्रावक का कथन लिखा है, वह भी संक्षेप में लिखा जाता है। छठवीं प्रतिमा तक तो जघन्यश्रावक कहा है। सातवीं आठवीं, नवमीं प्रतिमा के धारक को मध्यमश्रावक कहा है और दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावाले को उत्कृष्टश्रावक कहा है और कहा है कि जो समितिसहित प्रवृत्ति करे तो अणुव्रत सफल है और समितिरहित प्रवृत्ति करे तो व्रत पालते हुए भी, अव्रती है। जो गृहस्थ के असि, मसि, कृषि, वाणिज्य के आरम्भ में त्रस-स्थावर की हिंसा होती है, सो त्रसहिंसा का त्याग इसके कैसे बनता है? इसके समाधान के लिये कहते हैं -

पक्ष, चर्या, और साधकता, तीन प्रवृत्तियाँ श्रावक की कही गयी हैं। पक्ष का धारक तो पाक्षिकश्रावक कहलाता है; चर्या का धारक, नैष्ठिकश्रावक कहलाता है; और साधकता का धारक, साधकश्रावक कहलाता है। पक्ष तो ऐसा है - जो जैनमार्ग में त्रसहिंसा का त्यागी श्रावक कहा गया है, सो मैं त्रसजीवों को मेरे प्रयोजन के लिये तथा दूसरे के प्रयोजन के लिये नहीं मारूँ। धर्म के लिये , देवता के लिये, मन्त्रसाधन के लिए, औषधि के लिये, आहार के लिये और अन्य भोग के लिये नहीं मारूँ - ऐसा पक्ष जिसके होता है, सो पाक्षिक है। इसलिए इसके अति, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों में हिंसा होती है तो भी मारने का अभिमत नहीं है। कार्य का अभिप्राय है, वहाँ घात होता है, उसकी अपनी निन्दा करता है; इस तरह त्रसहिंसा न करने के पक्षमात्र से पाक्षिक कहलाता है। ये अप्रत्याख्यानावरणकषाय के मन्दउदय के परिणाम हैं; इसलिए अव्रती ही है। व्रत पालने की इच्छा है परन्तु निरतिचार व्रतों का पालन नहीं होता; इसलिए पाक्षिक ही कहलाता है।

नैष्ठिक होता है, तब अनुक्रम से प्रतिमा की प्रतिज्ञा का पालन होता है। इसके अप्रत्याख्यानावरणकषाय का अभाव होने से पाँचवें गुणस्थान की प्रतिज्ञा का निरतिचार पालन होता है। प्रत्याख्यानावरणकषाय के तीव्र-मन्द भेदों से ग्यारह प्रतिमा के भेद हैं। ज्यों-ज्यों कषाय, मन्द होती जाती है, त्यों-त्यों आगे की प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती जाती है। यहाँ ऐसा कहा है कि घर का स्वामित्व छोड़कर गृहकार्य तो पुत्रादिक को सौंपे और आप यथाकषाय प्रतिमा की प्रतिज्ञा ग्रहण करता जावे। जब तक सकलसंयम ग्रहण नहीं करता है, तब तक ग्यारहवीं प्रतिमा तथा नैष्ठिकश्रावक कहलाता है। मृत्यु समय आया जाने, तब आराधनासहित हो,

एकाग्रचित्त से परमेष्ठी के ध्यान में ठहरकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है, वह साधक कहलाता है – ऐसा कथन है।

गृहस्थ जो द्रव्य का उपार्जन करे, उसके छह भाग करे। उसमें से एक भाग तो धर्म के लिए दे; एक भाग कुटुम्ब के पोषण में दे; एक भाग अपने भोग के लिये खर्च करे; एक अपने स्वजन समूह के लिये व्यवहार में खर्च करे; बाकी दो भाग रहे, वे अमानत भण्डार में रखे; यह द्रव्य, बड़ी पूजन अथवा प्रभावना तथा काल-दुकाल में काम आवे। ऐसा करने से गृहस्थ के आकुलता उत्पन्न नहीं होती है, धर्म का पालन होता है। यहाँ संस्कृत टीकाकार ने बहुत कथन किया है। पहले गाथा के कथन में अन्य ग्रन्थों का कथन सिद्ध होता है – ऐसा कथन बहुत किया है। सो संस्कृतटीका से जानना चाहिए। यहाँ तो गाथा का ही अर्थ, संक्षेप से लिखा है। विशेष जानने की इच्छा हो तो रयणसार, वसुनन्दिकृतश्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, प्राकृतदोहाबन्ध श्रावकाचार इत्यादि ग्रन्थों से जानना। यहाँ संक्षिप्त कथन है। ऐसे बारह भेदरूप श्रावकधर्म का कथन किया।

गाथा ३९१ पर प्रवचन

अब, अन्त समय में श्रावक, आराधना करता है, वह बात करते हैं। पहले बारह व्रत के वर्णन में अन्त में सल्लेखना का वर्णन किया था। वहाँ भी पाँचवें गुणस्थानवाले की बात थी और यहाँ भी पाँचवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट प्रतिमावाले श्रावक की बात करते हैं।

जो श्रावक, व्रतों से शुद्ध पुरुष है और अन्त समय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तपरूप उत्कृष्ट आराधना आराधता है, वह अच्युतस्वर्ग में देवों से सेवनीय, इन्द्र होता है।

देखो, श्रावक कैसा है? 'सातय तय सुद्धो', अर्थात् श्रावक व्रतों से शुद्ध है। देह छूटने का समय आये, वहाँ अन्दर में उत्कृष्ट आराधना करके वीतरागी शान्ति में झूलते हुए देह छोड़कर स्वर्ग में इन्द्र होता है।

यहाँ श्रावक की बात है; इसलिए उसका उत्कृष्ट फलरूप से सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक की बात ली है, यह बात उत्कृष्ट है।

जो सम्यग्दृष्टि श्रावक, निरतिचाररूप से ग्यारह प्रतिमारूप शुद्धव्रत का पालन करता है और अन्त समय मरणकाल में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, इन चार आराधनाओं को आराधता

है, वह अच्युतस्वर्ग में इन्द्र होता है। यह उत्कृष्टश्रावक के व्रतों का उत्कृष्टफल है। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा है। अन्य ग्रन्थों में इसके दो भेद कहे हैं, प्रथम भेदवाला तो एक वस्त्र रखता है; बालों को कैंची से या उस्तरे से कटाता है; अपने हाथ से प्रतिलेखन करता है; बैठकर भोजन करता है; अपने हाथ में भोजन करता है अथवा पात्र में भी करता है परन्तु दूसरे भेदवाला कैंशों का लोञ्च करता है; प्रतिलेखन पिच्छी से करता है; अपने हाथ में ही भोजन करता है तथा कोपिन धारण करता है इत्यादिक। उनकी विधि, अन्य ग्रन्थों से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा तथा श्रावक के बारह भेद कहे थे, उनमें यह बारहवाँ भेद हुआ।

देखो, यह वीतरागमार्ग के श्रावक की दशा! मुनिदशा तो अभी इससे भी उत्कृष्ट है। जहाँ तक एक कोपिन / लंगोट का टुकड़ा भी रखे, वहाँ तक पाँचवाँ गुणस्थान हो सकता है परन्तु मुनिदशा होती ही नहीं। अहो! सच्चे भावलिङ्गी वीतरागी मुनि कैसे होते हैं, यह बतलाने के लिए अभी नमूना / उदाहरण भी दिखाई नहीं देता। यह बात समझे बिना, गड़बड़ करनेवाले को वीतरागमार्ग का भान नहीं है।

पहले सच्ची श्रद्धा, वह गृहस्थ का प्रथम धर्म है और फिर श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही, वह ग्यारह प्रकार का धर्म है। इस प्रकार गृहस्थधर्म के बारह भेद हुए।

– छठी प्रतिमा तक जघन्यश्रावक है।

– सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमावाला मध्यमश्रावक है।

– दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावाला उत्कृष्टश्रावक है।

परन्तु ये सब श्रावक, आत्मा के भानसहित होते हैं।

अन्तर में आत्मा के भानसहित शान्ति का वेदन बढ़ने से उस प्रकार के वीतरागभाव –सहित यह व्रतादि हों तो ही वे सफल हैं। समिति, गुप्ति इत्यादि मुनि का जितना मार्ग कहा है, उस सबका एक अंश श्रावक को अपनी भूमिकानुसार होना चाहिए। हिलने–चलने में, बोलने इत्यादि में प्रमाद का पार न हो – कहाँ कैसी हिंसा होती है ? – उसका भी विवेक नहीं हो – ऐसे जीव को श्रावक के व्रत नहीं होते हैं। इसलिए कहा कि समितिसहित प्रवर्ते, तभी श्रावक के अणुव्रत सफल हैं।

प्रश्न – गृहस्थ का असि, मसि, कृषि, वाणिज्य के आरम्भ में त्रस–स्थावर जीवों की हिंसा होती है। अब, उसके त्रसहिंसा का त्याग किस प्रकार होता है ?

समाधान – पक्ष, चर्या, और साधकता, ऐसी श्रावक की तीन प्रवृत्ति कही हैं। वहाँ पक्ष का धारक है, उसे पाक्षिकश्रावक कहते हैं। चर्या के धारक को नेष्ठिकश्रावक कहते हैं तथा साधकता के धारक को साधकश्रावक कहते हैं। वहाँ पक्ष तो इस प्रकार है कि जैनमार्ग में त्रसहिंसा के त्यागी को श्रावक कहा है; इसलिए मैं अपने प्रयोजन के लिए अथवा पर के प्रयोजन के लिए त्रसजीवों का घात नहीं करूँ। धर्म के लिए, देवता के लिए, मन्त्रसाधन के लिए, औषध के लिए, आहार के लिए, तथा अन्य भोगों के लिए मैं घात नहीं करूँ – ऐसा पक्ष जिसे होता है, वह पाक्षिक है। असि, मसि, कृषि और वाणिज्यादि कार्यों में उससे हिंसा तो होती है, तथापि मारने का अभिप्राय नहीं है; मात्र अपने कार्य का अभिप्राय है। वहाँ जीवघात होता है, उसकी आत्मनिन्दा करता है; इस प्रकार त्रसहिंसा नहीं करने के पक्षमात्र से उसे पाक्षिकश्रावक कहते हैं। यहाँ अप्रत्याख्यानावरणीयकषाय के मन्द–उदय के परिणाम हैं; इसलिए वह अव्रती ही है। उसकी व्रतपालन की इच्छा है परन्तु निरतिचार व्रतपालन नहीं होते; इसलिए उसे पाक्षिक ही कहा है।

श्रावक को त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते हैं। त्रसजीवों को मारने का अभिप्राय नहीं होता, तथापि व्यापार इत्यादि में त्रसहिंसा हो जाती हो तो उस श्रावक को व्रतों का पक्ष है परन्तु अभी वैसी चर्यापालन नहीं कर सकता। आत्मज्ञान टिक रहा है परन्तु व्रतों का अतिचाररहित पालन नहीं कर सकता – ऐसे पाक्षिकश्रावक को यहाँ चौथे गुणस्थानवाला अव्रती गिना है।

नैष्ठिक होता है, तब अनुक्रम से प्रतिमा की प्रतिज्ञा पलती है, उसे अप्रत्याख्यानावरणीय –कषाय का अभाव हुआ है; इसलिए पाँचवें गुणस्थान की प्रतिज्ञा, अतिचाररहित पलती है। वहाँ प्रत्याख्यानावरणीयकषाय का तीव्र–मन्द भेदों से ग्यारह प्रतिमा के भेद हैं। जैसे–जैसे कषाय मन्द होती जाती है, वैसे–वैसे अगली प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती जाती है। वहाँ ऐसा कहा है कि घर का स्वामीपना छोड़कर, गृहकार्य तो पुत्रादि को सौंपकर स्वयं कषाय की हानि के प्रमाण में प्रतिज्ञा अङ्गीकार करता जाए। जहाँ तक सकलसंयम ग्रहण नहीं करे, वहाँ तक, अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमा तक नैष्ठिकश्रावक कहलाता है। जब मरणकाल आया जाने, तब

आराधनासहित होकर एकाग्रचित्त करके परमेष्ठी के चिन्तवन में रहकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है, वह साधक कहलाता है – ऐसा व्याख्यान है।

श्रावक को पहले से देह की भिन्नता का भान तो है और अन्त समय के अवसर पर शान्ति बढ़ाता हुआ, आराधनापूर्वक देह का त्याग करता है। अकस्मात् देह छूटने का अवसर आये तो भी अन्दर चैतन्य की सम्हाल की है – उसकी शान्ति भोगता हुआ देह का त्याग करता है, अर्थात् साधकपनेसहित देह छोड़ता है – ऐसा श्रावक, वह साधक है। मरण के समय बाहर के सङ्कल्प-विकल्प को समेटकर अन्दर में आराधना बढ़ाता है।

वह गृहस्थ, द्रव्य अर्थात् धन का उपार्जन करता है, उसके छह भाग करता है – एक भाग तो धर्म के लिए देता है, एक भाग कुटुम्ब के पोषण में देता है।

देखो, इस प्रकार का उल्लासभाव धर्मी श्रावक को आता है। भोग और देह के पोषण के लिए तो बहुत खर्च करे और धर्म के प्रसङ्ग में कुछ भी खर्च करने का उल्लास नहीं आवे तो उसे धर्म का प्रेम नहीं है। अनन्त काल में सच्चे देव-गुरु-धर्म प्राप्त हुए, तब उनके लिए जिसे तन-मन-धन से हर्ष और उल्लास नहीं आता, उसे धर्म का प्रेम नहीं है; उसे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है।

धर्मी को आत्मा का भान होता है; इसलिए राग बहुत घट गया है परन्तु अभी जो राग रहा है, उसके कारण देव-गुरु-शास्त्र के प्रति बहुमान करता है। धर्मी गृहस्थ जो द्रव्य का उपार्जन करता है, उसके छह भाग करके उसमें से एक भाग तो धर्म के लिए देता है।

धर्मी को तृष्णा बहुत टूट गयी होती है परन्तु अभी देव-गुरु-शास्त्र का विनय नहीं छूटा है; इसलिए ज्ञान, श्रद्धा, राग, तन, मन और धन उनकी ओर लगाता है। बारम्बार सच्चे देव -शास्त्र-गुरु के प्रति उसे प्रेम आता है। जैसे, पिता को पुत्र के प्रति और पुत्र को पिता के प्रति प्रेम होता है तो बारम्बार याद करता है और लौकिक में जैसे स्त्री, पुत्र के लिए गहने-वस्त्र, गाड़ी, मकान आदि में पैसे खर्च करता है; इसी प्रकार धर्मी यहाँ आमदनी का छठवाँ भाग धर्म के कार्य में खर्च करता है। छह लाख की कमाई में से एक लाख देता है। पुत्र को देना पड़े तो देता है, नुकसान जाए तो भी देता है परन्तु धर्म के लिए देना पड़े तो कठिन लगता है तो समझना

कि उसे धर्म का प्रेम नहीं है। धर्मी जीव को धर्म के प्रति प्रेम है; इसलिए कमाई में से छठवाँ भाग धर्म के लिए निकालता है।

'सत्तास्वरूप' में पण्डित भागचन्द्र छाजेड़ ने कहा है कि 'पहले मिथ्यात्व अवस्था में कुदेवादिक की मान्यता में उमङ्गपूर्ण कार्य करता था और अब भाग्योदय से सच्चे देवादिक की प्राप्ति हुई, और उमङ्ग से धन खर्च तथा पूजादि न करे तो वह कुलटा स्त्री के समान है क्योंकि यह तो महान गजब है कि अपने वास्तविक स्वामी के सम्बन्ध में हर्षरूप कार्य न हो! तुम स्वयं ही विचार करके देखो, हमें बलजोरी से तुम पर दोष नहीं लगाना है। यदि तुम्हें इसी प्रकार प्रतीति होवे तो तुम्हें दोष अवश्य लगेगा। इसलिए कुदेवादिक की तरह सुदेवादिक के कार्यों में सच्चे रसरूप बढ़ते हुए कार्य होने पर ही धर्मात्मापना आयेगा।'

इसी शास्त्र में पूर्व में गाथा १२ में महान सन्त-मुनि कार्तिकेयस्वामी ने कहा है कि 'या तो लक्ष्मी को भोगना अथवा तो दया प्रधानी होकर दान दो। कोई लोभी, लक्ष्मी का सञ्चय करके रखना चाहता है, उसे उपदेश देते हैं कि लक्ष्मी चञ्चल है; कायम नहीं रहती, इसलिए उसे प्रभु भक्ति के लिए अथवा परोपकार या दानादिक में खर्च करो तथा भोगो, क्योंकि धन इकट्ठा करने में तो ममत्वभाव रहता है परन्तु उदारतापूर्वक भोगसामग्री में खर्च करने से जगत् भी यश करता है और उज्ज्वल परिणाम रहते हैं और बहुत विषाद नहीं होता; इसलिए भोगने में भी गुण है – ऐसा समझना।' यहाँ तो जो लोभी बिलकुल पैसा खर्च नहीं करता, उससे कहते हैं परन्तु जो त्याग करता है, उसके लिए भोगने की बात नहीं है। इसलिए धर्मी जीव को एक भाग धर्म में खर्च करना योग्य है।

जो धन उपार्जन करता है, उसके छठवें भाग का एक भाग परिवार के पोषण में देता है, एक भाग अपने भोग में खर्च करता है, एक भाग अपने स्वजन समूह के व्यवहार में खर्च करता है और शेष दो भाग अमानत भण्डाररूप रखता है। वह द्रव्य, कोई बड़ी पूजन या प्रभावना में अथवा काल-दुष्काल में काम आता है। इस प्रकार करने से गृहस्थ को आकुलता उत्पन्न नहीं होती और धर्म सध सकता है।

यहाँ संस्कृत टीकाकार ने बहुत कथन किया है तथा पहले की गाथा के कथन में अन्य ग्रन्थों का कथन सधता है। जिसे विशेष जानने की इच्छा हो, उसे रयणसार, वसुनन्दि कृत

श्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगति श्रावकाचार, और प्राकृत दोहा बन्ध श्रावकाचार, इत्यादि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

समस्त शास्त्रों का सार तो वीतरागता है। निमित्त और राग की रुचि छोड़कर, स्वभाव की रुचि करना, यह चारों अनुयोगों का सार है। राग की तथा निमित्त की उपेक्षा करना और स्वभाव की अपेक्षा करना, यही सार है। पर की उपेक्षा, स्व की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करती है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र, ये तीनों वीतरागभाव हैं। इस श्रावकाचार में बारह प्रकार होते हैं, इनका वर्णन किया है। सम्यग्दर्शनपूर्वक ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार के धर्म का विचार मुनि भी करते हैं और मुनिपना कैसा होता है ? उसका भी मुनि विचार करते हैं और सम्यग्दृष्टि भी मुनिपने का विचार करते हैं क्योंकि मुनि हुए बिना आत्मा की पूर्ण शान्ति प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। मुनि हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता। अन्तर–बाह्य नग्न हुए बिना, पञ्च परमेष्ठी में सम्मलित हो – ऐसा नहीं है। ऐसे मुनिधर्म की व्याख्या आगामी गाथा में करेंगे। ●●

मुनिराज को देवगति की इच्छा नहीं

मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगत में उनका माहात्म्य व मान बढ़े। मुनि को तो चार गतियों के भव में ही वैराग्य वर्तता है, वे तो देवगति की भी इच्छा नहीं करते। उनका बाह्यतप ऐसा है कि पाँच इन्द्रियों के भोग से भी मन टूट गया है; इस समय मुनिराज को अन्तरङ्गतप की दशा में आत्मा का ही प्रेम होता है। जैसे किसी का इक्कीस वर्ष का पुत्र मर गया हो तो उसके मोहवश कलेजे में घाव लगते हैं, उसी के ख्याल में जगत के अन्य पदार्थों का प्रेम विस्मृत हो जाता है; वैसे ही मुनिराज को आत्मा का प्रेम वर्तता है अत: पर का प्रेम नहीं रहता। — ***परमागमसार, ८०८***

गाथा ३९२

मुनिधर्म का निरूपण

अब, मुनिधर्म का व्याख्यान करते हैं —

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भण्णदे धम्मो॥

जो रत्नत्रय से युक्त हो धारण करे दश धर्म को।
सर्वत्र समताभावमय है धर्म वह साधु अहो॥

अन्वयार्थ : [जो रयणत्तयजुत्तो] जो पुरुष, रत्नत्रय, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सहित हो, **[खमादिभावेहिं णिच्चं परिणदो]** क्षमादिभाव, अर्थात् उत्तमक्षमा को आदि देकर दश प्रकार के धर्म से नित्य (निरन्तर) परिणत हो, **[सव्वत्थ वि मज्झत्थो]** सब जगह - सुख-दुःख, तृण-कञ्चन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में समभावरूप रहे, राग-द्वेषरहित हो, **[सो साहू धम्मो भण्णदे]** वह साधु है और उसी को धर्म कहते हैं, क्योंकि जिसमें धर्म है।

भावार्थ : यहाँ रत्नत्रयसहित चारित्र तेरह प्रकार का है सो मुनि का धर्म, महाव्रत आदि है, उसका वर्णन करना चाहिए, परन्तु यहाँ दश प्रकार के धर्म का विशेष वर्णन है, उसी में महाव्रत आदि का वर्णन गर्भित जानना चाहिए।

गाथा ३९२ पर प्रवचन

जो पुरुष, अर्थात् आत्मा; रत्नत्रय, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होवे, उसे ही साधु कहते हैं और उसे ही धर्म कहते हैं। देखो, यहाँ पहले यह

बात की है कि मुनि को आत्मा की श्रद्धा होती है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति का विकल्प वर्तता है, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अखण्डआत्मा का ज्ञान, वह निश्चय है और शास्त्र का ज्ञान, वह व्यवहार (सम्यग्ज्ञान) है। स्वरूप में लीनतापूर्वक वीतरागता, वह निश्चयचारित्र है और पञ्च महाव्रत, समिति, गुप्ति, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन, वह सब व्यवहारचारित्र है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का स्वरूप है। जिसे ऐसे निश्चय-व्यवहार का पता नहीं है, वह इस प्रकार मुनिधर्म का विचार भी नहीं कर सकता है।

अब, मुनिधर्म की विशेष बात करते हैं कि क्षमादिभाव, अर्थात् उत्तम क्षमा से लेकर दश प्रकार के धर्मों से नित्य-निरन्तर परिणामसहित मुनि होते हैं, वे धर्म हैं। मुनि को संज्वलनकषाय की बहुत मन्दता होती है। वे सुख-दुःख के समय मध्यस्थ रहते हैं। अनुकूलता और प्रतिकूलता के संयोग के समय आनन्द में झूलते हैं, इसका नाम धर्म है। ऐसी मुनिपने की दशा होती है। जो उसे नहीं समझता, वह धर्म को भी नहीं समझता है। धर्म, धर्मी के बिना नहीं होता और चारित्र, वह मुख्यधर्म है, उसका मूल सम्यग्दर्शन है; इसलिए उसके बिना धर्म नहीं होता है।

मुनि, तृण-कञ्चन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा और जीवन-मरण इत्यादि में मध्यस्थ होते हैं, अर्थात् समभावरूप वर्तते हैं - जो ऐसे राग-द्वेषरहित हों, उन्हें साधु कहते हैं और वह धर्म है। जिसमें धर्म है, वह धर्म की मूर्ति है। साधु, आत्मलक्ष्मी कैसे प्रगट हो ? - यह बतलाते हैं। फीचर इत्यादि के भाव कहकर जड़-लक्ष्मी प्राप्त करने को वे नहीं कहते, क्योंकि उन्हें लाभ-अलाभ में समभाव है। साधु, अपयश को नहीं गिनते हैं। श्रावक की दशा भी सर्वार्थसिद्धि के देवों से बढ़ गयी होती है। उन्हें अपयश, अनादेय, दुर्भाग्य - इनका उदय नहीं होता, ऐसा शास्त्र में कहा है क्योंकि उसमें श्रावक तथा मुनि को जुड़ान नहीं है। कोई श्रावक, पाँचवें गुणस्थानवाला हो और गरीब हो, कोई निन्दा करता हो परन्तु उसे वह नहीं गिनता है क्योंकि उसे दो कषाय का तो अभाव हो गया है; वह अपने को भाग्यवान मानता है।

आत्मा चिदानन्दस्वरूपी है, (श्रावक और मुनिराज को) उसकी रुचि नहीं छूटती। वे निन्दा आदि को नहीं गिनते हैं। बहुत जीवित रहूँ तो ठीक और अभी मरण न आवे तो ठीक - ऐसा मुनि नहीं मानते हैं। मुनि तो आहार लेने जाएँ, उस समय कोई रोता हो, आग लगी हो

तो आहार लेने का विकल्प तोड़ देते हैं। स्वयं अन्तर में विचार करते हैं कि हम शान्ति के मार्ग में चढ़े हुए हैं, उसमें यह कौलाहल किसका ? इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से आहार का विकल्प तोड़ डालते हैं परन्तु खेद नहीं करते। अन्तर में तो शान्ति का रस प्रवाहित है। अभी तो चाहे जो व्यक्ति, साधुपना लेकर बैठ जाता है परन्तु यह साधु का मार्ग नहीं है; साधुपना ऐसा नहीं होता है।

भगवान महावीर ने चन्दनबाला की आँख में आँसू देखने के बाद आहार लिया था – यह बात मिथ्या है, यह सब कृत्रिम बनाया है। साधु का धर्म ऐसा है कि आँख में आँसू देख ले तो आहार नहीं लेते, अपितु आहार का विकल्प तोड़कर वापस चले जाते हैं, यह मुनिधर्म है। अब जिसे ऐसे धर्म का पता नहीं, उसे धर्म को धरनेवाले आत्मा का भी पता नहीं होता है। कोई जीव, अक्ल बिना नकल करके अपने को धर्मी मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है; इसलिए पहले मुनिधर्म का ज्ञान होना चाहिए।

यहाँ रत्नत्रयसहित कहने में तेरह प्रकार का चारित्र है, वह महाव्रत आदि मुनि का धर्म है, उसका वर्णन करना चाहिए, परन्तु यहाँ दश प्रकार के विशेष धर्मों का वर्णन है, उसमें महाव्रतादि का वर्णन भी गर्भित है – ऐसा समझना चाहिए।

देखो, इस चारित्रधर्म में दशलक्षणधर्म का वर्णन आया है। यह धर्म का वर्णन दशलक्षणपर्व में पढ़ा जाता है परन्तु अपने यहाँ यह पहले आया है। भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से चतुर्दशी तक दश दिन हैं और वे वास्तविक दशलक्षण के हैं। इससे पहले धार्मिक दिन रखते हैं, वह तो सुविधा के लिये है। बारह महीने में तीन बार दशलक्षणपर्व आते हैं परन्तु चतुर्मास में निवृत्ति का काल विशेष है; इसलिए उसकी मुख्यता से भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से चतुर्दशी के दिनों को महान पर्वरूप से गिना है, उसमें दश धर्म पढ़े जाते हैं, उनका वर्णन करेंगे। उनका स्वरूप, श्रावक-सम्यग्दृष्टि को भी बराबर जानना चाहिए। ●●

गाथा ३९३

अब, दश प्रकार के धर्म का वर्णन करते हैं —

सो चेव दहप्पयारो, खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए॥

मुनिधर्म वह दशविध क्षमादिक भावमय सुखमय है।
वर्णन करें दश धर्म का, जो भक्ति से ज्ञातव्य है॥

अन्वयार्थ : [सो चेव खमादि भावेहिं दहप्पयारों सुक्खसारेहिं] वह मुनिधर्म, क्षमादि भावों से दस प्रकार है, कैसा है ? सौख्यसार कहिये सुख इससे होता है या सुख इसमें है अथवा सुख का सार है – प्रसिद्ध है, ऐसा है। **[ते पुण भणिज्जमाणा परमभत्तीए मुणियव्वा]** वह दस प्रकार का धर्म (जिसका वर्णन अब करेंगे), भक्ति से, अर्थात् उत्तम धर्मानुराग से जानने योग्य है।

भावार्थ : उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, और ब्रह्मचर्य – ऐसे दश प्रकार का मुनिधर्म है, सो इसका भिन्न भिन्न व्याख्यान आगे करते हैं, वह जानना चाहिए।

गाथा ३९३ पर प्रवचन

जो मुनिधर्म, क्षमादि भावों से दश प्रकार का है, वह कैसा है ? सौख्यसार, अर्थात् उससे सुख होता है। वीतराग का मार्ग सुखरूप है; उकताहट लगे – ऐसा नहीं है। अज्ञानी, चारित्र को कष्टरूप कहता है; बालू / रेत के ग्रास जैसा और दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा कहता है; अर्थात्, वह चारित्रधर्म को / मुनिधर्म को दु:खरूप कहता है परन्तु यहाँ तो सुखरूप है – ऐसा कहा है।

अरे...रे... ! मुनि को कुछ नहीं होता, अपने को तो सब मिलता है – ऐसा कहकर मुनि की दया करता है। वस्तुतः वह मुनि के धर्म को समझा ही नहीं है। मुनि की तो भक्ति करनेयोग्य है। चारित्र तो अकषाय शान्ति का रस है। जिसे उस सुख और शान्ति का पता नहीं है, वह मुनि की दया करता है परन्तु मुनि तो सुख का सार है। उनमें सुख है, ऐसे मुनिधर्म के दश प्रकार आगे कहे जाएँगे। उन धर्मी को भक्ति से, उत्तम धर्मानुराग से जानना योग्य है।

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य – ऐसे दश प्रकार का मुनिधर्म है। मुनिधर्म के बिना किसी का मोक्ष नहीं होता। अरहन्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ दो में कहा है कि जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अङ्गीकार करके, **निजस्वभाव साधन द्वारा,** चार घातिकर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप से विराजमान हुए हैं....।

यहाँ इस एक पंक्ति में गृहस्थाश्रम में मुनिपना नहीं होता और वस्त्र-पात्रवाले मुनि नहीं होते – ऐसा सिद्ध करते हैं। श्वेताम्बर कथित पन्द्रह भेद से सिद्ध होते हैं – यह बात मिथ्या है क्योंकि गृहस्थपना छोड़कर मुनिपना ग्रहण करते हैं – ऐसा कहा है। 'निजस्वभाव साधन द्वारा' अरहन्त होते हैं; इस प्रकार प्रथम से ही सम्यग्दृष्टि, अरहन्त की पहचान करता है। अन्यमती का वेष हो और केवलज्ञान हो जाए – ऐसा नहीं होता। हाथी के हौदे पर स्त्री को केवलज्ञान नहीं होता। केवलज्ञान, निजस्वभाव साधन द्वारा ही होता है – ऐसा गृहस्थाश्रम में निर्णय करना चाहिए। अनादि सत्यमार्ग का एक ही प्रकार और नियम है। गृहस्थाश्रम छोड़कर, मुनिपना अङ्गीकार करके, छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्तता है, उसमें छठवें गुणस्थान में मुनिराज को कैसा विकल्प होता है ? – उसका वर्णन करते हैं।

अब, उत्तमक्षमा की बात करते हैं। स्वभाव का अन्तर आश्रय होने से कर्म का उदय चाहे जैसा हो तो भी मुनि को कषायभाव नहीं होता क्योंकि मुनि, क्षमा का भण्डार हैं। ●●

गाथा ३९४

अब, पहले उत्तमक्षमाधर्म को कहते हैं —

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि॥

देव नर तिर्यञ्च करते, घोर हों उपसर्ग भी।
तप्त हों नहिं क्रोध से, निर्मल क्षमा उनको कही॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि, **[सुरणरतिरिएहिं]** देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि से **[रउद्दे उवसग्गे कीरमाणे वि]** रौद्र (भयानक / घोर) उपसर्ग करने पर भी **[कोहेण ण तप्पदि]** क्रोध से तप्तायमान नहीं होता है, **[तस्स णिम्मला खिमा होदि]** उस मुनि के निर्मलक्षमा होती है।

भावार्थ : जैसे – श्रीदत्त मुनि, व्यन्तरदेवकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; चिलातीपुत्र मुनि, व्यन्तरकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये; स्वामिकार्तिकेयमुनि, क्रोंचराजाकृत उपसर्ग को जीतकर देवलोक गये; गुरुदत्त मुनि, कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; श्रीधन्यमुनि, चक्रराजकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; पाँच सौ मुनि, दण्डक राजाकृत उपसर्ग जीतकर सिद्ध हुए; राजकुमार मुनि ने पांशुल श्रेष्ठीकृत उपसर्ग जीतकर सिद्धि पायी; चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्रीकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; सुकुमाल मुनि, स्यालिनीकृत उपसर्ग सहकर देव हुए; श्रेष्ठी के बाईस पुत्र, नदी के प्रवाह में पद्मासन शुभध्यान से मरकर देव हुए; सुकौशल मुनि, बाघिनकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये और श्रीपणिक मुनि, जल का उपसर्ग सहकर मोक्ष गये।

इस तरह देव, मनुष्य, पशु, अचेतन कृत उपसर्ग सहे और क्रोध नहीं किया, उनके उत्तमक्षमा हुई। ऐसे उपसर्ग करनेवाले पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमा होती है। उस समय क्रोध का निमित्त आवे तो ऐसा चिन्तवन करे कि जो कोई मेरे दोष कहता है, वे मेरे में विद्यमान हैं तो यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि मेरे में दोष नहीं हैं तो यह बिना जाने कहता है; इसलिए अज्ञानी पर कैसा क्रोध? ऐसा विचार कर क्षमा करना। अज्ञानी के बालस्वभाव का चिन्तवन करना कि बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है, यह तो परोक्ष ही कहता है, यह ही अच्छा है। यदि प्रत्यक्ष भी कुवचन कहे तो यह विचार करे कि बालक तो ताड़न भी करता है, यह तो कुवचन ही कहता है; मारता नहीं है, यह ही अच्छा है। यदि ताड़न करे तो यह विचार करे कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, यह तो ताड़ता ही है; प्राणघात तो नहीं करता है, यह ही अच्छा है। यदि प्राणघात करे तो यह विचार करे के अज्ञानी तो धर्म का भी विध्वंस करता है, यह तो प्राणघात ही करता है; धर्म का विध्वंस तो नहीं करता है और यह विचार करे कि मैंने पूर्व जन्म में पापकर्म किये थे, उनका यह दुर्वचनादिक उपसर्ग, फल है। मेरा ही अपराध है, पर तो निमित्तमात्र है - इत्यादि चिन्तवन से उपसर्ग आदिक के निमित्त से क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमाधर्म होता है।

गाथा ३९४ पर प्रवचन

जो मुनि, देव-मनुष्य-तिर्यञ्च आदि द्वारा रौद्र, अर्थात् भयानक / घोर उपसर्ग होने पर भी क्रोध से तप्तायमान नहीं होता, उस मुनि को निर्मलक्षमा होती है। मुनिराज को चार प्रकार के उपसर्ग का संयोग होता है। अग्नि में जलाये, पानी में डूबोये इत्यादि होता है परन्तु उनका आत्मा, चिदानन्द अमृतसागर में लवलीन होता है, और अन्तर स्थिरता में शान्ति का रस आने से उन्हें क्रोध नहीं होता है। हमारे कर्म का उदय है, इसलिए ऐसे संयोग हैं - ऐसा विकल्प भी मुनि को नहीं होता, वह उत्तमक्षमा है। वे तो साधकदशा में शुद्धि की वृद्धि कर रहे हैं, उन्हें रोकनेवाला जगत में कोई पदार्थ नहीं है।

मुनि अपने स्वरूपसाधन से पूर्ण शुद्धि करके मोक्ष में जाते हैं। ऐसे उत्तमक्षमाधारी मुनियों के दृष्टान्त अब कहते हैं।

श्रीदत्त मुनि, व्यन्तरदेव कृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष में गये

हैं। श्रीदत्त मुनि, स्वयं गृहस्थदशा में राजा थे, और वे अपने रानी के साथ क्रीड़ा करते थे। उस समय उनका एक तोता था, उसे रानी के प्रति प्रेम था; इसलिए जब रानी जीते, तब वह दो लकीर खींचता था और राजा जीते, तब एक लकीर खींचता था। इस बात का जब राजा को पता चला तो कषाय से उसने तोते की गर्दन मरोड़ कर मार डाला। तोता मरकर व्यन्तर हुआ और जब राजा ने गृहस्थदशा त्याग कर दीक्षा अङ्गीकार की, तब उसने उपसर्ग किया, परन्तु मुनि तो अपने शान्तस्वभाव में झूल रहे थे; शान्ति के रसपूर्वक पूर्ण शुद्धि प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हुए।

कोई कहे कि अहिंसा के कारण सामनेवाले को वैर उल्लसित नहीं होता तो यह बात मिथ्या है। बाहर में तो पुण्य का योग हो तो प्रतिकूल संयोग नहीं होते, वरना उपसर्ग ही होता है। मुनि को पूर्ण अहिंसा के परिणाम हैं, तथापि बाहर में उपसर्ग नहीं टाल सकते, परन्तु अपने में वीतरागता करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

चिलातीपुत्र मुनि, व्यन्तरकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये। पूर्व के वैरी व्यन्तरदेव ने चींटियाँ बनकर उपसर्ग किया, परन्तु मुनि ने क्रोध नहीं किया। वे आत्मा के स्वभाव में लीन रहे और शुद्धि की वृद्धि करके देव हुए।

स्वामी कार्तिकेय मुनि, जो इस ग्रन्थ के कर्ता हैं, कौचक राजा कृत उपसर्ग जीतकर देवलोक गये। जो स्वामी कार्तिकेय के पिता थे, वे उनकी माता के भी पिता थे। उन्होंने अपनी पुत्री से विवाह किया था। एक बार राजकुमार कहने लगा कि माताजी! इन सबको ननिहाल से भेंट आती है और मुझे क्यों कुछ नहीं आता? मेरी ननिहाल कहाँ है? तब उनकी माता रुदन करती है कि अरे पुत्र! यह बात कही जा सके, ऐसी नहीं है! जो तेरा पिता हैं, वही मेरा पिता हैं। यह सुनकर राजकुमार को वैराग्य होता है। अहो! धिक्कार है इस संसार को! ऐसा विचार कर स्वयं दीक्षा ले लेता है। जङ्गल में जाता है। एक बार वे मुनिराज, स्वयं अपनी बहिन के गाँव जाते हैं, वहाँ खिड़की से मुनि को देखकर बहिन नीचे आयी, अपना भाई और फिर मुनि है, इसलिए बहिन वन्दन करती है। इस अनजान नग्न पुरुष को वन्दन करते देखकर उसका स्वामी कौच राजा क्रोधित होता है और मुनि के ऊपर बहुत प्रहार करता है। तब मुनि की माँ जो मरकर व्यन्तर हुई थी, वह आकर मुनि को वहाँ से ले जाती है। मुनि, समाधिमरण करके

देवलोक में जाते हैं। यह मुनि दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं। क्षमा की मूर्ति थे; क्रोध का अंश नहीं था, साधकदशा में थे, शुद्धि की वृद्धि करते थे।

गुरुदत्त मुनि, कपिल ब्रह्माण कृत उपसर्ग को जीत कर मुक्त हुए। श्रीधन्य मुनि, चक्र राजा कृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष गये। पाँच सौ मुनि, दण्डक राजा कृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को प्राप्त हुए। चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्री कृत उपसर्ग को जीतकर मोक्ष गये। राजकुमार मुनि, पांशुलश्रेष्ठी कृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को प्राप्त हुए। सुकुमाल मुनि, सियालनी कृत उपसर्ग सहन करके देव हुए। श्रेष्ठी के बाईस पुत्र नदी के प्रवाह में पद्मासन से शुभध्यान करके मरकर देव हुए। सुकौशल मुनि, बाघिन कृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये तथा पाणिक मुनि, जल का उपसर्ग सहन करके मोक्ष गये।

इस प्रकार मुनियों ने देव-मनुष्य-पशु और अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये तो भी क्रोध नहीं किया, उन्हें उत्तमक्षमा थी। आत्मा, क्षमा की मूर्ति है। ऐसे स्वभाव का भान तो पहले से ही है और उसमें लीन होने पर कषाय की उत्पत्ति नहीं होती, वह उत्तमक्षमा है। इस प्रकार उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी क्रोध उत्पन्न न हों, वह उत्तमक्षमा है।

मुनि, क्रोध का निमित्त आने पर ऐसा चिन्तवन करते हैं कि कोई मेरे दोष कहता है, वह यदि मुझमें विद्यमान है तो वह क्या बुरा कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना, क्योंकि मैं उस दोष को जानता हूँ, वह दोष उसने कहा; इसलिए हम दोनों मित्र हुए; अतः उसके प्रति क्रोध करना नहीं रहता। यदि मुझमें दोष नहीं है तो वह जाने बिना कहता है, वहाँ अज्ञानी के प्रति क्रोध क्या करना? - ऐसा विचार कर क्षमा करना। देखो! यह सब उपदेश के वाक्य हैं। वस्तुस्थिति दूसरी होती है। उत्तमक्षमा में ऐसे विकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। अज्ञानी का तो बालस्वभाव चिन्तवन करना, अर्थात् बालक तो प्रत्यक्ष कहता है और यह तो परोक्ष ही कहता है, इतना यह भला है - ऐसा जानकर क्षमा करना।

कोई प्रत्यक्ष कुवचन कहे तो ऐसा विचार करना कि बालक तो ताड़ना करता है और यह तो कुवचन ही कहता है; ताड़ना तो नहीं करता, यही भला है।

यदि ताड़ना करे तो ऐसा विचार करना कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, और यह तो मात्र ताड़ना ही करता है परन्तु प्राणघात तो नहीं किया, यही भला है।

कोई प्राणघात करे तो ऐसा विचार करना कि अज्ञानी तो धर्म का भी विध्वंस करता है और यह तो प्राणघात करता है परन्तु धर्म का नाश तो नहीं करता; तथा मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने पूर्व में पापकर्म उत्पन्न किया था, उसका फल यह दुर्वचन आदि उपसर्ग है। वास्तव में यह मेरा ही अपराध है; अन्य सब निमित्तमात्र हैं – इत्यादि चिन्तवन करते हुए उन्हें उपसर्ग आदि के निमित्त से क्रोध उत्पन्न नहीं होता और उत्तमक्षमाधर्म सधता है।

देखो! एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता; अत: किसी संयोग के कारण क्रोध होता है – ऐसा है ही नहीं। कर्म के कारण और अपराध के कारण संयोग मिला – ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है। क्रोध करना नहीं, यह भी उपदेश का कथन है – ऐसे भानसहित आत्मा में लीनता होने पर उपसर्ग के समय, कषाय की उत्पत्ति भी नहीं होती, वह उत्तमक्षमा है। ●●

स्त्री को तीन काल में मुनिपना नहीं

आचार्य व उपाध्याय – इन दो पदवीधारकों के अलावा अन्य समस्त जो मुनिपद के धारक हैं, वे मुनि हैं, वे आत्मस्वभाव को साधते हैं। 'साधु' शब्द द्वारा निजस्वरूप की साधना की बात ही मुख्यता से की है। आत्मा के भानपूर्वक निजस्वभाव को साधते हैं व आत्मा में लीन होते हैं – ऐसे मुनि, पुरुष ही होते हैं। स्त्री को तीन काल में भी मुनिपना नहीं होता। जिनकी बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा होती है, वे ही मुनि हैं। जो स्त्री के साधु-पद मानते हैं, उनका तो 'नमस्कार मन्त्र' भी सच्चा नहीं है। अट्ठाईस मूलगुण-पालन, नग्न दशा, परीषहजय आदि जैन मुनियों की यही दशा होती है। परीषहजय में स्त्री को परीषहरूप में लिया है, अत: पुरुष ही मुनि होते हैं – यह सिद्ध होता है।

— परमागमसार, ८२४

गाथा ३९५

अब, उत्तममार्दवधर्म को कहते हैं —

उत्तमणाणपहाणो, उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स॥

ज्ञान हो उत्कृष्ट, उत्तम तपश्चरण स्वभाव भी।
मदरहित निज को करे, तो रत्न मार्दव हो उसे॥

अन्वयार्थ : [उत्तमणाणपहाणे] जो मुनि, उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो, **[उत्तम -तवयरणकरणसीलो]** उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो, **[जो अप्पाणं हीलदि]** जो अपने आत्मा को मदरहित करे, **[तस्स मद्दवरयणं भवे]** उस मुनि के मार्दव नामक धर्मरत्न होता है।

भावार्थ : सब शास्त्रों का जाननेवाला पण्डित हो तो भी ज्ञानमद नहीं करे। यह विचारे कि मेरे से बड़े अवधि, मन:पर्याय ज्ञानी हैं; केवलज्ञानी सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं। मैं क्या हूँ ? (मैं तो) अल्पज्ञ हूँ। उत्तम तप करे तो भी उसका मद नहीं करे। आप, जाति, कुल, बल, विद्या, ऐश्वर्य, तप, रूप आदि से सबसे बड़े हैं तो भी परकृत अपमान को भी सहते हैं, उस समय गर्व करके कषाय उत्पन्न नहीं करते हैं, वहाँ उत्तममार्दवधर्म होता है।

गाथा ३९५ पर प्रवचन

जो मुनि, उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो और उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो तो भी जो अपने आत्मा को मदरहित करता है, उस मुनि को उत्तममार्दवधर्मरत्न होता है।

तप का अर्थ दीक्षा होता है। मुनिपना लेकर बारह-बारह महीने के उपवास करके

अन्तर शान्ति में रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि कहाँ केवलज्ञान और कहाँ मेरी पर्याय! ऐसा जानकर पर्याय में पामरता मानता है; इसलिए उसे अभिमान नहीं होता है। मुनि चिन्तवन करते हैं कि गणधर सन्तों को बारह अङ्ग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, दो घड़ी में बारह अङ्ग की रचना करें – ऐसी गणधर की दशा विचार कर, स्वयं को उनसे हीन जानते हैं; इसलिए मद नहीं होता। धवला टीका रचनेवाले आचार्य (वीरसेनस्वामी) अगाध ज्ञान के समुद्र थे, फिर भी वह ज्ञान, केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है; मैं अल्प ज्ञान का धारक हूँ – ऐसी निर्मान्ता करते हैं। सन्त-मुनियों को एक बार पढ़ाये तो कण्ठस्थ हो जाए, ऐसे कुशाग्रबुद्धिवाले थे। अभी तो बारम्बार रटे तो भी धारणा नहीं होती। इसलिए ज्ञानी को अल्प उघाड़ का अभिमान नहीं होता। मुनियों को अगाध ज्ञान होने पर भी, स्वभाव की उग्रता में उन्हें ज्ञान का मद नहीं होता है।

समस्त शास्त्रों को जाननेवाला पण्डित हो तो भी वह ज्ञान का मद नहीं करता है। अवधिज्ञान द्वारा किसी के लिखे हुए शास्त्रों को जाने – ऐसी सामर्थ्य प्रगट हुई हो परन्तु फिर भी ज्ञान का मद नहीं करता; और मन:पर्ययज्ञान में किसे, किस काल में (क्या) विचार होगा – यह जान लेता है। क्रमबद्धपर्याय है, भविष्य में क्या होनेवाला है – इसका भी ज्ञान होता है क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान न हो तो एक भी बात सिद्ध नहीं होगी। मुनि, कितने दिन की आयु शेष है, यह कहते हैं। राजकुमार (सुकुमाल) की तीन दिन की आयु बाकी है – ऐसा कहा और यह सुनकर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। राजकुमार का शरीर मक्खन के पिण्ड जैसा है, पैर में कंकड़ लगे, परन्तु जानता है कि जिस समय जो संयोग होना है, वह बदलेगा नहीं। इस प्रकार क्रमबद्ध की श्रद्धापूर्वक स्वभाव की रुचि करता है; पर की रुचि छोड़ देता है। ज्ञानी को स्वभाव की महिमा है। थोड़ा ज्ञान हो तो भी सम्यग्ज्ञान होता है तो वह केवलज्ञान का कारण होता है। ज्ञानी को उस (अल्प ज्ञान का) मद नहीं है।

मुनिराज, उत्तमतप करते हैं परन्तु उसका अभिमान नहीं करते है। रूखा आहार करते हैं; किसी समय आहार नहीं मिलता तो विकल्प तोड़ डालते हैं – ऐसी दशा हुई होने पर भी उसका मद, ज्ञानी को नहीं होता है। जहाँ तक शुक्लध्यानरूपी महान तप नहीं है, वहाँ तक अपूर्ण हूँ – ऐसा जानकर, तप का मद मुनिराज को नहीं होता – यह उत्तममार्दवधर्म है। धर्मी,

जाति का मद नहीं करता। धर्मी को माता-पिता की जाति से पहिचान कराना, वह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा तो सर्वज्ञ की जाति का है; आत्मा, माता-पिता की जाति में नहीं जन्मता है; इसलिए मुनिराज को जाति का मद नहीं होता। मुनिराज को कुल का मद नहीं होता। शरीर के बल का मद भी धर्मी जीव नहीं करता है। मुनिराज, विद्या का मद नहीं करते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र श्री प्रद्युम्नकुमार ने सब विद्याएँ साधी थीं परन्तु उन्हें विद्या का मद नहीं था। वे तो समझते हैं कि हम आत्मा की विद्या के साधक हैं। आत्मा में मद नहीं है; इसलिए मुनिराज, विद्या का मद नहीं करते हैं। यह उत्तममार्दवधर्म है।

देखो, यह धर्मभावना का अधिकार है। चारित्र ही धर्म है, उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, वह मुनिधर्म है। उस मुनिधर्म के बिना मोक्षमार्ग की शुरुआत नहीं होती। इसलिए जिसे मुनिधर्म का पता नहीं है, उसे मोक्षमार्ग का भी पता नहीं है। अभी जैन सम्प्रदाय में भी चारित्र के नाम से बहुत गड़बड़ चलती है परन्तु वह मिथ्या अभिप्राय है। इसीलिए जीवों को परमभक्ति से धर्मभावना का स्वरूप जानना योग्य है।

यहाँ मुनिराज के उत्तममार्दवधर्म की व्याख्या चल रही है। मुनिराज को ज्ञान का मद नहीं होता है। उत्तमतप करें, उसका भी मद नहीं करते हैं। जाति, कुल, बल, विद्या आदि में बड़े होने पर भी दूसरे के अपमान से कषाय या गर्व, मुनिराज नहीं करते हैं तो वहाँ उत्तममार्दवधर्म है।

मुनि कैसे होते हैं ? निर्मानी होते हैं। स्वयं को महान ऋद्धि प्रगट हुई हो, आचार्यपद प्राप्त हुआ हो, तथापि मुनि उसका अभिमान नहीं करते हैं। माता से जन्म हुआ, तद्नुसार नग्न शरीर होता है; वस्त्र का एक धागा नहीं रखते - ऐसा मुनिपद है। बड़े इन्द्र आकर नमस्कार करें, उसका मद नहीं और साधारण प्राणी अपमान कर जाए तो अपमान नहीं लगता। गणधरदेव नमस्कारमन्त्र पढ़ते हैं, उसमें मुनियों को भी नमस्कार करते हैं - ऐसा मुनिपद है।

मुनिपद के स्वरूप में गड़बड़ करे और जैसा स्वरूप है, वैसा न माने तो वह प्रयोजनभूत भूल है; इसलिए मिथ्यादृष्टि है। सत्तास्वरूप में पण्डित भागचन्दजी ने इक्यावन मूल रकम कही हैं। देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, नव तत्त्व, निमित्त-उपादान इत्यादि मूल रकम हैं। उसे यथार्थ नहीं जाननेवाला, मिथ्यादृष्टि है। बहुत बार दृष्टान्त देते हैं कि एक 'आपो' काठी था,

वह व्यापारी के साथ हिसाब मिलाने बैठा, तो छोटी-छोटी रकम वह स्वीकार करता, परन्तु बड़ी रकम आवे तब मैं नहीं जानता, मैंने नहीं ली – ऐसा कहता। वह आपा बहियों में से बाहर किस प्रकार निकले ? इसी प्रकार प्रयोजनभूत रकम जैसे कि देव कैसे होते हैं ? गुरु कैसे होते हैं ? शास्त्र कैसे होते हैं ? उन्हें तो जाने नहीं, वह कभी संसार में से बाहर नहीं निकलेगा। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि को मान नहीं होता। इस प्रकार उत्तम मार्दवधर्म का स्वरूप कहा। ●●

वस्त्रसहित मुनिपना मानने में गृहीतमिथ्यात्व

वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले को तीर्थङ्कर भगवान को भी वैसा ही कहनेवाला मानना पड़ेगा और शास्त्र भी वैसे ही मानने पड़ेंगे। इस प्रकार उसकी श्रद्धा में देव, गुरु और शास्त्र – इन तीनों के स्वरूप में विपरीतता हो जाती है। इस मान्यता में तो गृहीत मिथ्यात्व है। अहो! मुनिदशा का सम्यक्त्व, उनकी आत्मा में प्रवर्तमान चारित्रदशा और उनकी केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी! – ऐसी मुनिदशा को विपरीत माननेवाला कुन्दकुन्द आचार्य का विरोध करता है। एक ओर से कुन्दकुन्द भगवान को महान कहना और वस्त्रसहित मुनिदशा मानना, इन दोनों बातों का मेल नहीं है। क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान तो कहते हैं —

'वस्त्रसहित मुनिपना तीन काल में होता ही नहीं। वस्तुस्वरूप का भगवान कथित और सन्तों द्वारा अनुभवित मुनिदशा का मार्ग यही है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग है ही नहीं। वस्त्रसहित भी मुनिपना होता है और वस्त्ररहित भी मुनिपना होता है – ऐसे दो प्रकार हैं ही नहीं। मुनि को निर्ग्रन्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उन्हें अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी की ग्रन्थि टूट गयी है और बाह्य में वस्त्रादिक परिग्रह का अभाव है – ऐसी दशा हो, वही वीतरागमार्ग में मुनिपना है।

— प्रवचनसार, २१०, सद्‌गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, १५-४-१९५१

गाथा ३९६

अब, उत्तमआर्जवधर्म को कहते हैं —

जो चिंतेइ ण वंकं, कुणदि ण वंकं ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स॥

मन में चिन्तन वक्र हो नहिं, वचन में नहिं काय में।
निज दोष को जो नहिं छिपावे, आर्जवधर्म हो उसे॥

अन्वयार्थ : [जो वंकं ण चिंतेइ] जो मुनि, मन में वक्रतारूप चिन्तवन नहीं करे, **[वंकं ण कुणदि]** काय से वक्रता नहीं करे, **[वंकं ण जंपदे]** वचन से वक्ररूप नहीं बोले **[य णियदोसं ण गोवादि]** और अपने दोषों को नहीं छिपावे, **[तस्सअज्जवधम्मो हवे]** उस मुनि के उत्तमआर्जवधर्म होता है।

भावार्थ : मन-वचन-काय में सरलता हो; जो मन में विचारे, वही वचन से कहे, वही काय से करे। मन में तो दूसरे को भुलावा देने (ठगने) के लिये विचार तो कुछ करे, वचन से और ही कुछ कहे, काय से और ही कुछ करे - ऐसा करने से मायाकषाय प्रबल होती है; इसलिए ऐसा नहीं करे, निष्कपट हो प्रवृत्ति करे। अपने दोषों को नहीं छिपावे; जैसे के तैसे बालक की तरह गुरुओं पास कहे, वहाँ उत्तमआर्जवधर्म होता है।

गाथा ३९६ पर प्रवचन

जो मुनि, मन में वक्रता का चिन्तन नहीं करते, काया से वक्रता नहीं करते, वचन से वक्रतारूप नहीं बोलते और अपने दोषों को नहीं छिपाते, उन मुनिराज को उत्तमआर्जवधर्म होता है।

अपना मान या बड़ाई रखने के लिए कुछ का कुछ दूसरे को समझावे – ऐसी वक्रता मुनिराज को नहीं होती है। गुरु के समीप अपना दोष प्रसिद्ध करते हैं परन्तु स्वयं समझते हैं कि राग के काल में राग आया है। क्रमबद्ध की श्रद्धा होने पर भी भूमिका के अनुसार राग होता है, उसका सहज ज्ञान वर्तता है। छठवें गुणस्थान में ऐसी विचारश्रेणी होती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता है। यह मार्ग सरल, सुगम और सहज है; इसलिए मुनि को कृत्रिमता नहीं होती, यह उत्तमआर्जवधर्म है।●●

मुनियों को निद्रा का भी प्रतिबन्ध नहीं

मुनिदशा तो महादशा है, पुरुष को भी वह दशा दुर्लभ है और सनातन वीतरागमार्ग में स्त्रीपने में ऐसी मुनिदशा नहीं होती। स्त्री को अधिकतम पञ्चम गुणस्थान हो सकता है और वह आर्यिका हो सकती है, परन्तु छठवें –सातवें गुणस्थान में झूलती मुनिदशा का उग्र पुरुषार्थ स्त्रीपर्याय में सम्भव नहीं है। अहा! चौबीसों घण्टे जिनके अन्तरङ्ग में एक आत्मा.... आत्मा.... और आत्मा का ही रटन है, जो उग्ररूप से बहुत समय तक आत्मध्यान में रहते हैं। निद्रा भी अत्यन्त अल्प है। मुनिराज को एक घण्टे भी पूरी निद्रा नहीं होती, इतनी तो मुनियों की जागृतदशा है।

मुनि को चैतन्य की ऐसी जागृतदशा है कि निद्रा उड़ गयी है। सातवें गुणस्थान में तो निद्रा होती ही नहीं और छठवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। मुनि को निद्रा का भी प्रतिबन्ध नहीं है। शरीर में बहुत थकान लगी हो, इसलिए बहुत समय अर्थात् दो-तीन घण्टे तक सो जाएँ – ऐसी मुनि की दशा नहीं होती।

— प्रवचनसार, २१३, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, १६-४-१९५१

गाथा ३९७

अब, उत्तमशौचधर्म को कहते हैं —

समसंतोसजलेणं य, जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

समता तथा सन्तोष जल से लोभमल धोवे अहो।
नहिं गृद्धि भोजन में जिसे वह शौच निर्मल युक्त हो॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि **[समसंतोसजलेण]** समभाव (राग-द्वेषरहित परिणाम) और सन्तोष (सन्तुष्टभाव) रूपी जल से **[तिव्वलोहमजपुजं]** तीव्र तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को **[धोवदि]** धोवे (नाश करे), **[भोयणगिद्धिविहीणो]** भोजन की गृद्धि (अति चाह) से रहित हो, **[तस्स सउच्चं विमलं हवे]** उस मुनि का चित्त निर्मल होता है; अत: उसके उत्तमशौचधर्म होता है।

भावार्थ : समभाव (तृण, कञ्चन को समान जानना) और सन्तोष (सन्तुष्टपना; तृप्तिभाव; अपने स्वरूप ही में सुख मानना) भावरूप जल से तृष्णा (आगामी मिलने की चाह) और लोभ (पाए हुए द्रव्यादिक में अति लिप्त रहना; उसके त्याग में अति खेद करना) रूप मल के धोने से मन पवित्र होता है। मुनि के अन्य त्याग तो होता ही है, केवल आहार का ग्रहण है, उसमें भी तीव्र चाह नहीं रखता है। लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समबुद्धि रहता है, तब उत्तमशौचधर्म होता है।

लोभ की चार प्रकार की प्रवृत्ति है - जीवन का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ, इन्द्रिय बनी रहने का लोभ, उपयोग का लोभ। ये चारों अपने, और अपने सम्बन्धी स्वजन मित्र आदि

के दोनों के चाहने से, आठ भेदरूप प्रवृत्ति है; इसलिए जहाँ सब ही का लोभ नहीं होता है, वहीं शौचधर्म है।

गाथा ३९७ पर प्रवचन

अब, उत्तमशौचधर्म का स्वरूप कहते हैं। इसमें सूक्ष्म बात है, वह कहेंगे।

अहो! मुनि को शान्ति के रस में अकषायभाव प्रगट हुआ है; इसलिए वे लोभ को नहीं होने देते। जैसे, कोई पुरुष खाकर बैठा हो तो चाहे जैसा मिष्ट भोजन दे तो भी उसे खाने की इच्छा नहीं होती है; इसी प्रकार मुनि को एक शुद्ध आहार-ग्रहण के अतिरिक्त, दूसरी इच्छा नहीं होती और आहार में भी गृद्धि का भाव, मुनि को सहज नहीं होता। मुनि, भिक्षार्थ निकलते हैं, उस समय पक्षी की बीट पड़े तो विचार करते हैं कि हम अमृतकुण्ड में नहाने निकले, उसमें ऐसा क्यों? एकदम आहार की वृत्ति तोड़ देते हैं और निर्विकल्पशान्ति का भोजन खाते हैं। समयसार में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बताते हुए, मुनि को मात्र अधःकर्मी आहार की बात ली है; इसके अतिरिक्त दूसरी बात नहीं ली है।

जैसे शरीर में मैल होता है और गंगा के पानी इत्यादि से धो डालते हैं; इसी प्रकार मुनि निर्मल उपशमरस के स्नान से लोभ को धो डालते हैं, अर्थात् लोभ प्रगट नहीं होने देते, वह उत्तमशौचधर्म है।

तृण-कञ्चन को समान जानना, वह समभाव है तथा सन्तोष-सन्तुष्टपना-तृप्तभाव, अर्थात् अपने स्वरूप में ही सुख मानना - ऐसे भावरूप जल से, भविष्य में प्राप्त होने की चाहनारूप तृष्णा तथा वर्तमान में प्राप्त द्रव्यादिक में अतिलिप्तपनेरूप लोभ - इन दोनों के त्याग में अति खेदरूप मल को धोने से मन पवित्र होता है। मुनि को तृष्णा या लोभ नहीं होता, क्योंकि पहले से इतना तो राग छोड़ा है। आहार के ग्रहण में भी तीव्र चाह मुनि नहीं रखते हैं। लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समभाव रखते हैं; इसलिए उन्हें उत्तमशौचधर्म होता है।

कोई मुनि, अवधिज्ञानी भी होते हैं। अमुक जगह पर निधान का कलश (स्वर्ण-इत्यादि का कलश) हारबन्ध पड़ा है - ऐसा ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, मैं किसी श्रावक को बताऊँ - ऐसा विकल्प भी मुनि को नहीं आता है। मुनि तो अनगार जन्मवाले हैं। जैसे, अण्डे का दो बार

जन्म है; इसी प्रकार मुनि का एक बार माता के गर्भ से जन्म हुआ और अनगारपद, वह दूसरा जन्म है। उन्हें आहार लेने की वृत्ति के अतिरिक्त, दूसरी वृत्ति नहीं होती है तथापि वह तीव्र नहीं होती है। आनन्द का भोजन करनेवाले को तुच्छ आहार में गृद्धि नहीं होती है।

अब, इस शौचधर्म में विशेषता कहते हैं —

जीवन का लोभ, आरोग्यता रखने का लोभ, इन्द्रियाँ पुष्ट रखने का लोभ तथा उपयोग का लोभ – ये चार प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति हैं। उन चारों को स्वयं तथा अपने परिजन –मित्रादि सम्बन्धी – ऐसे दोनों के लिए चाहे तो आठ भेदरूप प्रवृत्ति होती है। मुनि को इन आठों ही प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति नहीं होती, वह उत्तमशौचधर्म है।

ध्यान रखना! मुनि को कहाँ–कहाँ लोभ नहीं होता, वह कहते हैं। स्वयं का या स्वजन –परप्राणी का आयुष्य लम्बा हो तो ठीक; धर्मी जीव का आयुष्य लम्बा हो तो ठीक – ऐसा अपने आत्मज्ञान में रमण करते हुए धर्मात्मा मुनि नहीं चाहते हैं। निचलीदशा में ऐसा विकल्प आता है परन्तु चारित्रवन्त मुनि को ऐसा विकल्प नहीं होता है। आचार्य का आयुष्य अधिक हो और उनका आरोग्य हो तो अच्छा – ऐसा लोभ, मुनि नहीं होता है क्योंकि आयुष्य घटता या बढ़ता नहीं है। जिस समय में आयुष्य पूरा होना है, वह होगा – ऐसा वे जानते हैं; इसलिए मुनि को ऐसा विकल्प नहीं होता। यहाँ सम्यग्दर्शन के उपरान्त वीतरागता की बात चलती है। सम्यग्दृष्टि को आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों होते हैं। मुनि को रौद्रध्यान तो होता ही नहीं; आर्तध्यान में भी निदानरूप आर्तध्यान नहीं होता – ऐसी वीतरागीदशा मुनि की होती है; वह उत्तमशौचधर्म है।

आँखें अच्छी होंवे तो भगवान के दर्शन हों, शास्त्र पढ़े जा सकें – इत्यादि प्रकार का लोभ, मुनि स्वयं के लिए या फिर पर के लिए भी नहीं करते हैं। जैसे, ऊँट का एक पैर कटे तो वह वहीं मर जाता है; इसी प्रकार अङ्ग दुर्बल, कमजोर पड़े तो मुनिराज समाधि कर डालते हैं। इसलिए लम्बा आयुष्य, अच्छी इन्द्रियाँ और निरोगता हो तो अच्छा – ऐसी बुद्धि, मुनि को नहीं होती है। यहाँ तक तो शरीराश्रितभाव की बात आयी। अब, सूक्ष्म बात करते हैं।

मुनि को उपयोग का लोभ नहीं होता। शुद्ध उपयोग रहे और अन्तर में स्थिर हो जाऊँ, तथा शुभाशुभभाव मिट जाएँ – ऐसा विकल्प, मुनि को नहीं उठता क्योंकि मुनि को सहज शुद्ध

उपयोग होता है। पर का लोभ तो मुनि को होता ही नहीं, परन्तु यह तो स्व के उपयोग की बात है तथापि उसका भी लोभ नहीं होता; वह वास्तव में उत्तमशौचधर्म है। जिन्हें स्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति वर्तती है, उन्हें इस काल में शुद्ध उपयोग होवे तो ठीक – ऐसा लोभ नहीं होता; उन्हें तो सहज ही शुद्ध उपयोग हो जाता है।

जैसे, हीरा के काँटे में पाव रती का भी अन्तर नहीं चलता; उसी प्रकार स्वभावदृष्टि में और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में शुद्ध उपयोग को मैं करूँ – ऐसा विकल्प करना नहीं चलता। यहाँ तो कहते हैं कि अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि होने से शुद्ध उपयोग करूँ – ऐसा शुभविकल्प भी मुनि को नहीं उठता – ऐसे उत्तमशौचधर्म की बात यहाँ है। मुनि खींचतान करके ऐसे परिणाम नहीं करते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ०३ में साधु के स्वरूप का वर्णन करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि बाह्य नाना प्रकार के निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कहीं भी मुनिराज सुख-दुःख नहीं मानते हैं तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है परन्तु उसे खींचतान कर, नहीं करते और अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते। इस प्रकार किसी उपयोग की इच्छा मुनि को नहीं है, इस तरह मुनि, चार प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति से रहित है; उसे उत्तमशौचधर्म कहते हैं।

मुनि की ऐसी दशा होती है कि उपयोग बदलने की इच्छा भी उन्हें नहीं होती – ऐसा मुनिधर्म है। उसे परमभक्ति से जाननेयोग्य है – ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं। जिसे जैसी रुचि हो, उसका पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता है और उसमें वह विघ्न को नहीं गिनता है। इसी प्रकार मुनिराज, स्वरूप के उपयोग में विघ्न को नहीं गिनते हैं। ●●

गाथा ३९८

अब, उत्तमसत्यधर्म को कहते हैं —

जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो॥

यदि पाल सकता हो नहीं, पर जिनवचन ही बोलता।
व्यवहार में भी असत् वच, नहिं कहे सत्वादी सदा॥

अन्वयार्थ : [जिणवयणमेव भासदि] जो मुनि, जिनसूत्र के ही वचन को कहते हैं, **[तं पालेदुं असक्कमाणो वि]** उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहते **[जो ववहारेण वि अलियं ण वददि]** और जो व्यवहार से भी अलीक (असत्य) नहीं कहते, **[सो सच्चवाई]** वह मुनि सत्यवादी हैं; उनके उत्तमसत्यधर्म होता है।

भावार्थ : जो जिनसिद्धान्त में आचार आदि का जैसा स्वरूप कहा हो, वैसा ही कहे। ऐसा नहीं कि जब आप से पालन न किया जाए, तब अन्य प्रकार कहे, यथावत् न कहे; अपना अपमान हो, इसलिए जैसे-तैसे कहे। व्यवहार जो भोजन आदि का व्यापार तथा पूजा-प्रभावना आदि का व्यवहार, उसमें भी जिनसूत्र के अनुसार वचन कहे; अपनी इच्छा से जैसे-तैसे न कहे। यहाँ दश प्रकार के सत्य का वर्णन है - नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, समयसत्य। मुनियों का मुनियों से तथा श्रावकों से वचनालाप का व्यवहार है। यदि बहुत भी वचनालाप हो, तब भी सूत्रसिद्धान्त अनुसार इस दश प्रकार के सत्यरूप वचन की प्रवृत्ति होती है।

१– अर्थ और गुण के न होने पर भी, वक्ता की इच्छा से किसी वस्तु का नाम (संज्ञा) रखा जाए तो नामसत्य है।

२– जो रूपमात्र से कहा जाए, जैसे चित्र में किसी का रूप लख (देख) कर कहे कि सफेद रंग का अमुक व्यक्ति है, वह रूपसत्य है।

३– किसी प्रयोजन के लिये किसी की मूर्ति स्थापित कर कहें, वह स्थापनासत्य है।

४– किसी प्रतीति के लिये किसी को आश्रय करके कहना, वह प्रतीतिसत्य है। जैसे, ताल– यह परिणामविशेष है, उसको आश्रय करके कहे 'यह पुरुषताल है' अथवा लम्बा कहे तो छोटे को प्रतीत्य (आश्रय) कर कहे।

५– लोकव्यवहार के आश्रय से कहे, वह संवृत्तिसत्य है; जैसे, कमल के उत्पन्न होने में अनेक कारण हैं तो भी पंक में हुआ; इसलिए पंकज कहते हैं।

६– वस्तुओं को अनुक्रम से (क्रमपूर्वक) स्थापित करने का वचन कहे, वह संयोजनसत्य हैं; जैसे, दशलक्षण का मण्डल बनावे, उसमें अनुक्रम से चूर्ण के कोठे करे और कहे कि यह उत्तमक्षमा का है, इत्यादि जोड़रूप नाम कहे, अथवा दूसरा उदाहरण – जैसे, जौहरी मोतियों की लड़ियाँ करता है, उनमें मोतियों की संज्ञा स्थापित कर रखी है। वह जहाँ जो चाहिए, उस ही अनुक्रम से मोती पिरोता है।

७– जिस देश में जैसी भाषा हो, वैसी कहे, वह जनपदसत्य है।

८– ग्राम-नगर आदि का उपदेशकवचन, वह देशसत्य है; जैसे, जिसके चारों तरफ बाड़ा हो, उसको ग्राम कहना।

९– छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर और संयमादिक पालने के लिये जो वचन, वह भावसत्य है; जैसे, किसी वस्तु में छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर जीव हों तो भी अपनी दृष्टि में जीव न देखकर, आगम के अनुसार कहे कि यह प्रासुक है।

१०– जो आगमगोचर वस्तु है, उसे आगम के वचनानुसार कहना, वह समयसत्य है; जैसे, पल्य, सागर इत्यादि कहना।

दश प्रकार के सत्य का कथन गोम्मटसार में है, वहाँ सात नाम तो ये ही हैं और तीन

के नाम यहाँ तो देश, संयोजना, समय हैं और वहाँ सम्भावना, व्यवहार, उपमा – ये हैं। उदाहरण अन्य प्रकार हैं, सो विवक्षा का भेद जानना; विरोध नहीं है।* ऐसे सत्य की प्रवृत्ति होती है सो जिनसूत्रानुसार वचन–प्रवृत्ति करे, उसके सत्यधर्म होता है।

गाथा ३९८ पर प्रवचन

अब, उत्तमसत्यधर्म की बात करते हैं।

यह मुनिदशा का वर्णन है। उसका विचार सम्यग्दृष्टि भी करता है क्योंकि उसे भी मुनि होना है। निर्ग्रन्थ गुरु के वचन प्रमाण हैं तथा मुनिधर्म मोक्षमार्ग है – ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टि करता है। मुनिपने में वस्त्र नहीं होते; एक बार आहार होता है – ऐसी मुनिदशा है। मुनि अन्य, अर्थात् विपरीत प्रकार से कथन नहीं करते हैं। काल बदल गया है; इसलिए मुनिपना वस्त्रसहित नहीं मनवाते हैं तथा जिनकल्पी मुनि नग्न होते हैं और स्थविरकल्पी वस्त्रसहित होते हैं – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। किसी आचार में स्वयं असमर्थ होवें तो भी अन्य प्रकार से नहीं कहते हैं।

कोई पूजा–प्रभावना तथा मन्दिर में लाखों का खर्च करे; इसलिए उसे धर्म होता है – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। पञ्च कल्याणक कराने से आठ भव में मुक्ति होती है – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। वस्तुतः यह सब शुभ के प्रकार हैं, इनसे धर्म नहीं होता; रागरहित स्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता से धर्म होता है। इस प्रकार मुनि जैसा है, वैसी प्ररूपणा करते हैं; इसलिए वे सत्यवादी हैं और उन्हें ही उत्तमसत्यधर्म होता है।

निर्ग्रन्थ मुनि, खड़े–खड़े एक बार आहार लेते हैं। शरीर जीर्ण हो जाए और खड़े नहीं रह सकें तो आहार नहीं लेते हैं। उनका पुरुषार्थ सिंहवृत्ति के समान है। सिद्धान्त का एक भी अक्षर नहीं बदलते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सूत्रपाहुड़ में कहते हैं कि एक भी न्याय बदल जाए तो अनन्त तीर्थङ्करों और मुनियों की अशातना होती है। भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार

---

* **जणवदसम्मदिठवणाणामे रूवे पडूच्च् च ववहारे।**
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं॥ (गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २२२)

अर्थात्, जनपद में, संवृत्ति, या सम्मति में, स्थापना में, नाम में, रूप में, प्रतित्व में, व्यवहार में, सम्भावना में, भाव में, और उपमा में – ऐसे दश स्थानों में दश प्रकार से सत्य जानना। (इन दश सत्यसम्बन्धी विशेष व्याख्या के लिए, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २२३–२२४ की टीका देखना चाहिए।)

गणधरों ने शास्त्रों की रचना की है, उनके अनुसार आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की है। जैसे, लड़की के पैसे लेनेवाला खानदानी नहीं गिना जाता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ के अनुसार जो शास्त्र का कथन करता है, वह खानदानी है। वह एक शब्द भी उल्टा-सीधा नहीं कहता। अभी जैन सम्प्रदाय में भगवान के नाम से आचाराङ्ग आदि शास्त्र कल्पित बनाये हैं; इसलिए सत्य क्या है ? – उसकी समझ करना चाहिए। यह बात अपूर्व है ! जीव को विचार करना चाहिए।

भगवान महावीर के छह सौ वर्ष बाद दुष्काल पड़ा था, उस समय कोई जीव, मुनिपने का पालन नहीं कर सके, वे वस्त्र रखने लगे और उन्होंने कहने पर भी प्रायश्चित्त नहीं लिया। फिर उन्होंने प्ररूपणा बदल डाली और वस्त्रसहित मुनिपना मनवानेवाला सम्प्रदाय शुरु किया। मुनिमार्ग वैसा नहीं हो सकता है। भगवान के श्रीमुख से अर्थ निकलते हैं, उनमें से गणधरदेव सूत्र की रचना करते हैं। उनकी परम्परा में से जो जीव, सूत्र बदल देता है, वह अनन्त संसारी है। काल बदल गया है; इसलिए वस्त्रसहित मुनिपना मनवावे अथवा बैठे-बैठे आहार ले – ऐसा मार्ग सिंहवृत्ति में नहीं होता। अपना मान भङ्ग होगा – ऐसा मानकर गड़बड़ नहीं चलाते, अपने लिए बनाया हुआ आहार होवे तो मुनि उसे ग्रहण नहीं करते। अपने पेट में बहुत दर्द हो तो भी दवा नहीं माँगते – ऐसी मुनिदशा है। अन्तर वीतरागता बढ़ गयी हो, उसे बाह्य नग्न अवस्था होती है – ऐसी पर्याय की निमित्तता तथा उस पर्याय को द्रव्य का आश्रय है – ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

व्यवहार, जो भोजनादि व्यापार तथा पूजा, प्रभावनादि व्यवहार शास्त्रानुसार कहते हैं; पूजा से कल्याण होगा, उपवास से धर्म होगा – ऐसा नहीं कहते हैं। शास्त्र से विरुद्ध कुछ नहीं कहते हैं।

यहाँ दश प्रकार से सत्य का वर्णन है। नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीतिसत्य, सम्वृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, तथा समयसत्य। अब, मुनिजनों का मुनिजनों के तथा श्रावक के साथ वचनालापरूप व्यवहार है। मुनि, आत्मा के आनन्द में बढ़ गये हैं, वे वार्तालाप करें तो मुनि अथवा श्रावक के साथ करते हैं परन्तु अन्य के साथ बात करते हैं – ऐसा नहीं कहा है। बहुत वचनालाप होवे तो भी सिद्धान्तानुसार करते हैं। यह दश प्रकार से सत्यरूप वचन की प्रवृत्ति होती है –

● गुण के बिना बोलनेवाले की इच्छा से किसी का नाम दे / रखे, वह **नामसत्य** है। जैसे कि किसी का नाम लक्ष्मीचन्द रखा हो और वह हो निर्धन। कोई पापी प्राणी हो और नाम धर्मविजय हो, यह नाम की अपेक्षा से सत्य है। कितने ही जीव, प्रतिमा का नाम लेने से द्वेष करते हैं और उसे पत्थर कहते हैं और प्रतिमा की पूजन को जड़पूजन कहते हैं तो वह द्वेष है। नाम अपेक्षा से, नाम लेने में आपत्ति नहीं है।

● कोई चित्र में देखकर कहता है कि यह श्वेतवर्णवाला पुरुष है। वह पुरुष तो चित्र में नहीं है परन्तु रूप की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है, वह **रूपसत्य** है।

● भगवान की प्रतिमा की स्थापना करके ऐसा कहना कि ये भगवान हैं, वह **स्थापनासत्य** है। वह पत्थर है, यह तो ख्याल है, तथापि आगम में 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' कही है। वह स्थापनासत्य है। जैसे, भगवान के सन्मुख जाकर धर्मी जीव कहता है कि 'जिनेन्द्र भगवान की जय हो!' इसी प्रकार प्रतिमा के समक्ष जाकर भी कहता है कि 'आपके अक्रिय चैतन्यबिम्ब की जय हो!' किसकी जय कहता है? भगवान की प्रतिमा में उपचार करता है। राग है, वहाँ तक प्रतिमा के प्रति लक्ष्य जाता है। हे नाथ! आपके अनन्त चतुष्टय की जय हो! महाविदेह में आप हैं, उसका आरोप आपकी प्रतिमा में करते हैं - ऐसा कहकर अपना भाव मिलाता है। शतरंज में अथवा चौपड़ में बादशाह, रानी इत्यादि का आरोप करते हैं; इसी प्रकार भगवान का आरोप / उपचार, प्रतिमा में करना, वह असत्य नहीं, परन्तु **स्थापनासत्य** है।

यह सत्यधर्म, निर्विकल्प है। इसमें शुभराग की भी मुख्यता नहीं है। वीतरागता वर्तती है, ज्ञान में सत्य का न्याय वर्तता है। भाषा, धर्म नहीं है परन्तु ज्ञान में विवेक वर्तता है, वह सत्य-धर्म है।

स्थापनानिक्षेप का निषेध करने योग्य नहीं है। महाविदेह में भी भगवान की प्रतिमा होती है। सर्वत्र साक्षात् भगवान नहीं विचरते हैं, पाँचों परमेष्ठियों की प्रतिमा होती है और वह स्थापनासत्य है।

● किसी प्रतीति के लिए आश्रयपूर्वक कहा जाए, वह प्रतीतिसत्य है। जैसे कि किसी व्यक्ति को ताड़ जैसा ऊँचा कहने में आता है; इसलिए वह मनुष्य, ताड़ जितना ऊँचा नहीं है तथा उसके अनादर के लिए नहीं कहा जाता है परन्तु ठिगने व्यक्तियों की अपेक्षा से लम्बा

बताने के लिए ताड़ जैसा कहा जाता है, वह अपेक्षा से सत्य है।

●लोकव्यवहार के आश्रय से कहना, वह संवृत्तिसत्य है। जैसे, कमल की उत्पत्ति में कारण तो पानी, खादर, कीचड़ इत्यादि बहुत हैं परन्तु कीचड़ की प्रधानता से उसे पंकज कहते हैं। वह असत्य नहीं, परन्तु सत्य है।

●वस्तु को अनुक्रम से स्थापित करने का वचन कहना, वह संयोजनसत्य है। जैसे, दशलक्षण का मण्डल बनाये, उसमें अनुक्रमपूर्वक चूर्ण के कोठा बनाते हैं और कहते हैं कि यह उत्तमक्षमा का कोठा है। पूजन-विधि करते समय लाल, पीले, चावल करके मण्डल बनाते हैं और कहते हैं कि यह अमुक धर्म का कोठा है तो वह संयोजनसत्य है। ज्वैलर्स कीमती मोतियों के नाम रखता है और जहाँ चाहिए, वहाँ अनुक्रम से मोती पिरोता है। यह सब संयोजन सत्य है।

●जिस देश में जैसी भाषा हो, वह कहना, यह **जनपदसत्य** है।

●ग्राम, नगरादि का उपदेशक वचन, वह **देशसत्य** है। जैसे कि चारों तरफ बाड़ हो, उसे ग्राम कहते हैं।

●छद्मस्थ के ज्ञान से अगोचर और संयमादिक पालन के लिए जो वचन बोले जाते हैं, वह **भावसत्य** है। पानी में लौंग डालकर अचित्त हो जाता है, अपने ख्याल में अचित्त है तथापि कोई जीव, अपने ज्ञान से अगोचर होवे तो भी आगम के अनुसार उसे प्रासुक कहते हैं; वह भावसत्य है।

●आगमगोचर वस्तु को आगम के वचनानुसार कहना, वह **समयसत्य** है। जैसे कि पल्योपम, सागर इत्यादि कहना।

इन दश प्रकार के सत्य का कथन गोम्मटसार में भी है। वहाँ सात नाम तो इसमें हैं, वे ही हैं तथा तीन नाम - देश, संयोजना, और समय की जगह, वहाँ सम्भावना, व्यवहार, और उपमा हैं और उदाहरण भी अन्य प्रकार से है। इसे विवक्षा का भेद समझना, विरोध नहीं है। इस प्रकार जिनसूत्र अनुसार सत्यवचन की प्रवृत्ति करे, उसे उत्तमसत्यधर्म होता है। यहाँ बोलने की प्रधानता नहीं है, भाषा तो भाषा के कारण से निकलती है; ज्ञान में एकाग्रता करना, वह धर्म है।●●

गाथा ३९९

अब, उत्तमसंयमधर्म को कहते हैं —

जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकज्जेसु।
तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमधम्मो हवे तस्स॥

जीव रक्षा में सदा, रत रहे गमनागमन में।
तृणमात्र छेदन नहिं करे, जो उसे संयमधर्म है॥

अन्वयार्थ : [जो जीवरक्खणपरो] जो मुनि, जीवों की रक्षा में तत्पर होता हुआ **[गमणागमणादिसव्वकज्जेसु]** गमन-आगमन आदि सब कार्यों में **[तणछेदं पि ण इच्छादि]** तृण का छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है, **[तस्स संजयधम्मो हवे]** उस मुनि के संयमधर्म होता है।

भावार्थ : संयम, दो प्रकार का कहा गया है - इन्द्रिय, मन का वश करना और छह काय के जीवों की रक्षा करना। सो यहाँ मुनि के आहार-विहार करने में, गमन-आगमन आदि का काम पड़ता है तो उन कार्यों में ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्र का भी छेद नहीं करूँ, मेरे निमित्त से किसी का अहित न हो, ऐसे यत्नरूप प्रर्वतता है, जीवदया में ही तत्पर रहता है।

यहाँ टीकाकार ने अन्य ग्रन्थों से संयम का विशेष वर्णन किया है, उसका संक्षेप — संयम दो प्रकार का है — (१) उपेक्षासंयम, जो स्वभाव ही से राग-द्वेष को छोड़कर, गुप्तिधर्म में कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा स्थिर हो, वहाँ उसके उपेक्षासंयम है। उपेक्षा का अर्थ उदासीनता या वीतरागता है। (२) अपहृतसंयम, अपहृतसंयम के तीन भेद हैं-उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। चलते या बैठते समय जो जीव दिखायी दे, उससे आप बच जाए, जीव को

नहीं हटावे, वह उत्कृष्ट है; कोमल मयूरपंख की पीछी से जीव को हटाना, वह मध्यम है; और अन्य तृणादिक से हटाना, वह जघन्य है।

यहाँ अपहृतसंयमी को पञ्च समिति का उपदेश है। आहार-विहार के लिये गमन करे सो प्रासुकमार्ग देख जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखते हुए, मन्द-मन्द अति यत्न से गमन करना, वह ईर्यासमिति है। धर्मोपदेश आदि के निमित्त वचन कहे, सो हितरूप मर्यादापूर्वक सन्देहरहित स्पष्ट अक्षररूप वचन कहे, बहु प्रलाप आदि वचन के दोष हैं, उनसे रहित बोले, वह भाषासमिति है। काय की स्थिति के लिये आहार करे, सो मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगैं, ऐसा दूसरे से दिया हुआ, छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर, चौदह मलरहित अपने हाथ में खड़े होकर अति यत्न से शुद्ध आहार करना, वह एषणासमिति है। धर्म के उपकरणों को अति-यत्न से भूमि को देखकर उठाना -धरना, वह आदाननिक्षेपणसमिति है। अंग के मल-मूत्रादिक को, त्रस-स्थावर जीवों को देख, टाल (बचा) कर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनासमिति है। ऐसे पाँच समिति पाले, उसके संयम का पालन होता है क्योंकि ऐसा कहा है कि जो यत्नाचार से प्रवर्तता है, उसके बाह्य में जीव बाधा होने पर भी बन्ध नहीं है और यत्नरहित प्रवृत्ति करता है, उसके बाह्य में जीव मरे या न मरे, बन्ध अवश्य होता है।

अपहृतसंयम के पालन के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश है — (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनयशुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) प्रतिष्ठापनाशुद्धि, (७) शयनासनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि।

भावशुद्धि तो, जैसे शुद्ध (उज्ज्वल) भींति (दीवार) में चित्र शोभायमान दिखायी देता है, वैसे ही कर्म के क्षयोपशमजनित है; इसलिए उसके बिना तो आचार ही प्रगट नहीं होता है। दिगम्बररूप, सब विकारों से रहित, यत्नरूप जिसमें प्रवृत्ति, शान्तमुद्रा, जिसको देखकर दूसरों को भय उत्पन्न नहीं होता है तथा आप भी निर्भय रहता है - ऐसी कायशुद्धि है। अरहन्त आदि में भक्ति, गुरुओं के अनुकूल रहना, वह विनयशुद्धि है। मुनि, जीवों के सब स्थान जानते हैं; इसलिए अपने ज्ञान से, सूर्य के प्रकाश से, नेत्रइन्द्रिय से मार्ग को अतियत्न से देखकर गमन करते हैं, वह ईर्यापथशुद्धि है। भोजन के लिये गमन करे, तब पहले तो अपने मल-मूत्र की

बाधा की परीक्षा करें, अपने अङ्ग का अच्छी तरह प्रतिलेखन करे, आचारसूत्र में कहे अनुसार देश-काल-स्वभाव को विचारें और इतनी जगह आहार के लिये नहीं जावें — जिनके गीत, नृत्य, वादित्र की आजीविका हो, उनके घर पर नहीं जावें; जहाँ प्रसूति हुई हो, वहाँ नहीं जावें; जहाँ मृत्यु हुई हो, वहाँ नहीं जावें; वेश्या के नहीं जावें; पापकर्म-हिंसाकर्म जहाँ हो, वहाँ नहीं जावें; दीन के घर, अनाथ के घर, दानशाला, यज्ञशाला, यज्ञ, पूजनशाला, विवाह आदि मङ्गल जहाँ हो रहे हों, इन सबके आहार के लिए नहीं जावें; धनवान के जाना या निर्धन के जाना - ऐसा विचार न करें; लोकनिंद्यकुल के घर नहीं जावें; दीनवृत्ति नहीं करें; प्रासुक आहार लें। आगम के अनुसार दोष-अन्तराय टालकर निर्दोष आहार लें, वह भिक्षाशुद्धि है। यहाँ लाभ -अलाभ, सरस-नीरस में समानबुद्धि रखता है।

भिक्षा, पाँच प्रकार की कही है। (१) गोचर, (२) अक्षम्रक्षण, (३) उदराग्निप्रशमन, (४) भ्रमराहार, (५) गर्तपूरण।

गौ की जैसे, दातार की सम्पदादिक की तरफ न देखे; जैसा पावे, वैसा आहर लेने ही में चित्त रखे, वह गोचरीवृत्ति है। जैसे, गाड़ी की वांगि (पहियों में तेल देकर) ग्राम पहुँचे; वैसे संयम के साधक, काय को निर्दोष आहार देकर संयम साधे, वह अक्षम्रक्षण है। आग लगने पर जैसे-तैसे जल से बुझा कर घर को बचावे, वैसे ही क्षुधाअग्नि को सरस-नीरस आहार से बुझा कर, अपने परिणाम उज्ज्वल रखें, वह उदराग्निप्रशमन है। भौंरा, जैसे फूल को बाधा नहीं करता है और वासना (गंध) लेता है; वैसे ही मुनि, दातार को बाधा न पहुँचा कर आहार लें, वह भ्रमराहार है। जैसे, गर्त (गड्ढा) को जैसे-तैसे भरत से भरते हैं; वैसे ही मुनि, स्वादु -निःस्वादु आहार से उदर भरें, वह गर्तपूरण है। ऐसे भिक्षाशुद्धि होती है।

मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक आदि का जीवों को देखकर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनाशुद्धि है। जहाँ स्त्री, दुष्ट जीव, नपुंसक, चोर, मद्यपायी, जीववध करनेवाले नीच लोग रहते हों, वहाँ न रहना, वह शयनासनशुद्धि है। शृंगार, विकार, आभूषण, सुन्दरवेश - ऐसी वेश्यादिक की क्रीड़ा जहाँ होती हो, सुन्दर गीत, नृत्य, वादित्र जहाँ होते हों, जहाँ विकार के कारण नग्न गुह्यप्रदेश जिनमें दिखाई दे - ऐसे चित्र हों; जहाँ हास्य महोत्सव घोड़े आदि को शिक्षा देने का स्थान तथा व्यायामभूमि हो, वहाँ मुनि न रहे। जहाँ क्रोधादिक उत्पन्न हो - ऐसे

स्थान पर न रहे, वह शयनासनशुद्धि है। जब तक कायोत्सर्ग खड़े रहने को शक्ति हो, तब तक स्वरूप में लीन होकर खड़े रहें, बाद में बैठे तथा खेद को दूर करने के लिये अल्प काल सोवे। जहाँ आरम्भ की प्रेरणारहित वचन प्रवर्ते; युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशुन्य, कठोर, परपीड़ा करनेवाले वाक्य न प्रवर्ते, विकथा के अनेक भेद हैं, वैसे वचन नहीं प्रवर्ते; जिनमें व्रत-शील का उपदेश हो; अपना व पर का हित हो, मीठे, मनोहर, वैराग्य के कारण; अपनी प्रशंसा, दूसरे की निन्दा से रहित; संयमीयोग्य वचन प्रवर्तें, वह वाक्यशुद्धि है। ऐसा संयमधर्म है।

संयम के पाँच भेद कहे हैं - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात - ऐसे पाँच भेद हैं, इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थों से जानना।

गाथा ३९९ पर प्रवचन

अब, अविकारी वीतरागी श्रद्धासहित अन्तर रमणता का वर्णन, निमित्तअपेक्षा से करते हैं। मुनि को हिलते-चलते हुए एक तिनके के दो टुकड़े करने की भी वृत्ति नहीं होती तो जीव को दु:ख देने की वृत्ति कैसे उत्पन्न होगी? उत्पन्न ही नहीं होती। यद्यपि परजीव की रक्षा कोई नहीं कर सकता, परन्तु परजीवों को दु:ख देने का भाव नहीं होता, उसे पर की रक्षा की - ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के समय स्व और पर का भेदज्ञान हुआ है, विशेष आगे बढ़ने से राग और पर से पृथक्पने के ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन के - भेदज्ञान के बाद, स्थिरता के कारण से स्थिरता का भेदज्ञान वीतरागदशा होने तक होता है - ऐसे मुनि को संयमभाव होता है।

संयम दो प्रकार का कहा गया है - (१) इन्द्रिय-मन का वश करना, तथा (२) छह काय के जीवों की रक्षा करना। मुनिराज, दर्शन करने के जाएँ, आहार लेने जाएँ - उस समय गमनादिक में ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्र का भी छेद / नाश नहीं करूँ। मेरे निमित्त से किसी का भी अहित न हो - ऐसे प्रयत्नरूप वर्तते हैं, जीवदया में तत्पर रहते हैं। अन्य ग्रन्थों में संयम का विशेष वर्णन किया है, उसे यहाँ टीकाकार संक्षिप्त में कहते हैं।

संयम दो प्रकार का है - एक, उपेक्षासंयम, तथा दूसरा अपहतसंयम। देहादिक से भिन्न अपने चिदानन्द आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, वह उपेक्षासंयम है। उपेक्षा नाम उदासीनता या वीतरागता का है। दूसरे, अपहतसंयम के तीन भेद हैं। (१) वहाँ चलते-बैठते

जो जीव दिखें तो उन्हें टालकर जाए परन्तु जीव को खिसकाये नहीं, वह उत्कृष्ट है। शरीर की क्रिया को या इस जीव को मुझ से बचा दूँ, ऐसा अहङ्कार नहीं है परन्तु जहाँ जीव हो वहाँ बैठे नहीं – ऐसी सहजदशा, वह उत्कृष्ट है। (२) बैठने की जगह छोटी हो तो मोरपिच्छी से जीव का परिमार्जन करके बैठे, वह मध्यम है। (३) अन्य तृणादिक से सरकावे, वह जघन्य है। यह अन्दर के भाव की बात है; बाहर की क्रिया की बात नहीं है।

यहाँ अपहतसंयमी को पाँच समिति का उपदेश है। वहाँ आहार–विहार के लिए गमन करे तो प्रासुकमार्ग देखकर चार हाथ भूमि को देखकर मस्त हाथी की तरह शान्तचित्त से विहार करते हैं, वह ईर्यासमिति है।

धर्मोपदेशादि के लिए वचन कहें तो हितरूप और मर्यादापूर्वक कहते हैं। अलग–अलग देश की भाषा अलग–अलग होवे तो भाषा की शैली समझकर मर्यादा समझे और सन्देहरहित स्पष्ट अभिप्राय से धर्म का स्वरूप कहे; कुछ गड़बड़ नहीं करे। अति प्रलाप आदि वचन के दोषरहित बोले। भाषा पर आत्मा काबू रख सकता है – ऐसा यहाँ नहीं कहना है परन्तु मर्यादारहित और अप्रिय भाषा बोलने का विकल्प, मुनि को उत्पन्न नहीं होता है; वे प्रत्येक वचन तौल–तौलकर बोलते हैं – ऐसी वीतरागीदशा होती है, वह भाषासमिति है।

यह धर्मभावना का अधिकार है, इसमें उत्तमसंयमधर्म की बात चल रही है। सम्यग्दृष्टि और मुनि यह भावना भाते हैं क्योंकि वीतरागतामार्ग कैसा होता है? उसे जाने बिना, सच्ची धर्मभावना नहीं होती। वीतरागदशा कहो, चारित्रदशा कहो, मोक्षमार्ग अथवा संवरतत्त्व कहो या गुरुपद कहो – ये सब एक ही हैं और उसका श्रद्धा–ज्ञान यथार्थ होना, वही देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति है। देव–गुरु–शास्त्र के यथार्थस्वरूप का जिसे पता नहीं है, वह गृहीत–मिथ्यादृष्टि है।

जो सत्य–संयममार्ग से विरुद्ध कथन करता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। जिसको एक तत्त्व में अन्तर पड़ा, उसको नव तत्त्व, छह द्रव्य, निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध और देव–गुरु–शास्त्र, सब में अन्तर पड़ जाता है। जो यथार्थ संयममार्ग से विरुद्ध प्ररूपणा होती है, अथवा लिखते हैं, वे सब गृहीतमिथ्यादृष्टि द्वारा कहा गया है – ऐसा जानना चाहिए।

छठवें गुणस्थान की मुनिदशा है, वह संवरतत्त्व है। जिसने उसके स्वरूप में अन्तर

किया, उसके सब तत्त्व मिथ्या हैं; इसलिए मुनिपनेरूप संयमधर्म का स्वरूप भक्तिपूर्वक जानने योग्य है – ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है। परमभक्ति से, अर्थात् परमश्रद्धा से जानने योग्य है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, व्यवहारभक्ति है और आत्मा की श्रद्धा करना, निश्चयभक्ति है। इसलिए मुनिदशा कैसी होती है ? – उसकी श्रद्धा नहीं करनेवाले की सब भूल है। जीवतत्त्व की भूल, अजीवतत्त्व की भूल, देव-शास्त्र-गुरु की भूल, संवरतत्त्व की भूल, मोक्षमार्ग की भूल, निमित्त-नैमित्तिक की भूल – इस प्रकार एक भूल से, सब भूल होती हैं। जो निर्ग्रन्थ सन्त की विधि को नहीं जानता, वह चारित्र को भी नहीं जानता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थाश्रम में हो, उसके परिणाम कैसे होते हैं ? – वह कहते हैं। उसके परिणाम में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, यथार्थ होनी चाहिए। जिसे उनकी श्रद्धा नहीं है, वह निश्चयसम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिए यह संयममार्ग किसे कहा जाता है ? – यह अवश्य जानने योग्य है। छठवें गुणस्थान में आत्मा की लीनता कैसी होती है और उस समय कैसा राग नहीं होता और कैसा राग होता है और उस राग के निमित्त भी कैसे होते हैं ? यह जानना चाहिए। जिसे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थस्वरूप पता नहीं है, उसे संयमधर्मरूपी मुनिदशा का पता भी नहीं है और उसे संवरतत्त्व या मोक्षमार्ग का भी पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अहो ! अभी जगत् में इस जैन सम्प्रदाय में आकर भी मूल तत्त्व की बात को चूककर ऊपर-ऊपर से सब बात चलती है। व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है; मुनिदशा को इतना अधिक विकृत कर दिया है। भगवान के द्वारा कथित निश्चय संयममार्ग तो रहने ही नहीं दिया, परन्तु व्यवहारसंयम का भी ठिकाना नहीं है और उसके निमित्त कैसे होते हैं ? उसका भी पता नहीं है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। उसे सम्यग्दर्शन कैसा, अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है।

कोई यह कहता है कि यह लकड़ी ऊँची हुई, वह उसके कारण से हुई है; हाथ के कारण से नहीं; हाथ तो निमित्तमात्र है तो इतने से निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान यथार्थ हुआ है – ऐसा नहीं है परन्तु जब आत्मा में छठवें गुणस्थान की भूमिका होती है, तब कैसा राग होता है और किस प्रकार का राग छूट जाता है तथा उस समय निमित्त कैसे होते हैं ? इन सबका यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान नहीं है तो वह निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को भी यथार्थ नहीं समझा है; वह

गृहीतमिथ्यादृष्टि है क्योंकि वीतरागमार्ग – निर्ग्रन्थमार्ग के सच्चे अनुयायी को देव–शास्त्र–गुरु की यथार्थश्रद्धा होती है। वह वस्त्र–पात्रवाले को साधु नहीं मानता। चक्षु–मुकुटवाले को जिनप्रतिमा नहीं मानता। अठारह दोषरहित अरहन्तभगवान हैं, इसके अलावा अरहन्तदेव को अन्य कल्पित रोग, क्षुधा आदि दोषवाला नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि धर्मानुप्रेक्षा का विचार करता है, उसमें मुनिदशा कैसी होती है, उसे जानकर श्रद्धा करता है। यह साँकल है; जैसे, साँकल में से एक कड़ी पृथक् पड़ जाए तो धारावाही साँकल नहीं रहती; इसी प्रकार एक मुनिपने की, अर्थात् संवरतत्त्व की भूल हो जाए तो (सात तत्त्वों की) धारावाहिता नहीं रहती, अर्थात् समस्त तत्त्वों में भूल होती है; सम्पूर्ण निर्दोष श्रद्धा नहीं होती। इसीलिए संयमधर्म को जानने की आवश्यकता है।

संयमधर्म में पाँच समिति की बात चल रही है। मुनि को वचनसमिति होती है, यह बात आ गयी है। अब, ऐषणासमिति की व्याख्या करते हैं। मुनिराज, काया की स्थिति के लिए आहार करते हैं, वह भी मन–वचन, काय–कृत–कारित–अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगें – ऐसा पर के द्वारा दिया गया; छयालीस दोष, बत्तीस अन्तराय, और चौदह मल दोषरहित, अपने करपात्र में, खड़े–खड़े, अतियत्नपूर्वक शुद्ध आहार करते हैं – वह एषणासमिति है। मुनि को रोग हुआ हो परन्तु स्वयं के लिए दवा चाहिए – ऐसा नहीं कहते हैं। ऐसी सहज वीतरागदशा सन्तों की होती है। नव–नव कोटि से छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायरहित आहार ग्रहण करते हैं। बारह महीने के उपवास के पारणे में आहार लेने गये हों तो भी दोषरहित आहार लेते हैं। आहार में चींटी आ गयी हो, मक्खी का पंख दिखाई दे तो आहार नहीं लेते हैं। सहज ही आहार की वृत्ति तोड़ डालते हैं; हठ से वापस नहीं फिरते क्योंकि मुनि को तीन कषाय का तो अभाव हो गया है। आहार लेते–लेते भी अप्रमत्तदशा हो जाती है। देखो, ऐसी मुनिदशा होती है। अभी तो जिन्होंने मुनिदशा को कृत्रिम बना दिया है, वे संयमधर्म को नहीं जानते हैं।

अति यत्नाचारपूर्वक भूमि को देखकर धर्म के उपकरण उठाना–रखना, वह आदान –निक्षेपणसमिति है, यह चौथी समिति है। कोई 'आपान भण्डमत निखेवणि' यह समिति कहते हैं, वह मिथ्या है क्योंकि मुनि को भण्डमत, अर्थात् वस्त्र–पात्र होते ही नहीं हैं। वीतराग

के मार्ग में धर्म के उपकरण मोरपिच्छी और कमण्डलु होता है। उन्हें यत्नपूर्वक लेना-रखना, उसे आदान-निक्षेपणसमिति कहा गया है।

त्रसजीवों को देखकर-टालकर, यत्नपूर्वक शरीर के मल-मूत्रादिक का क्षेपण करना, वह पाँचवीं प्रतिष्ठापनसमिति है।

इस प्रकार पाँच समिति का पालन करते हैं, उनसे संयम पलता है। सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि यदि यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तन करता है, तो उससे बाह्य जीवों को बाधा होवे तो भी उसे बन्ध नहीं होता तथा यत्नाचाररहित प्रवर्तता है, उसे बाह्य जीव मरे या न मरे, परन्तु बन्ध अवश्य होता है।

अपहतसंयम के पालन के लिए आठ शुद्धियों का उपदेश है। (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनयशुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) प्रतिष्ठापनाशुद्धि, (७) शयनासनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि। इनमें —

(१) भावशुद्धि - यह तो कर्म के क्षयोपशमजनित है, इसके बिना आचार प्रगट नहीं होता। जैसे, शुद्ध उज्ज्वल दीवार पर चित्र शोभायमान दिखता है; इसी प्रकार मुनि को तीन कषाय का क्षयोपशम तो हो गया है, अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने से बहुत शुद्धि प्रगट हुई है। इसीलिए मुनि को पञ्चाचार होते हैं; अज्ञानी को पञ्चाचार नहीं होते क्योंकि उसे मुनिपने के स्वरूप का पता नहीं है। इसलिए वह इस आचार में भी गड़बड़वाला है, अर्थात् मुनि को वस्त्र-पात्र के पोटले रखना ठहराया है; इसलिए उसे आचार के स्वरूप की समझ में भूल है। वीतरागमार्ग की यथार्थ समझ के बिना, मिथ्या मुनिपने में मन्दकषाय का भी ठिकाना नहीं होता, तो उसे भावशुद्धि तो होगी ही कैसे ? यहाँ तो पहले भावशुद्धि की बात करके अब दूसरी कायशुद्धि कहते हैं।

(२) कायशुद्धि - दिगम्बररूप, सर्व विकारों से रहित यत्नरूप प्रवृत्ति है, जिसमें ऐसी शान्तमुद्रा को देखकर अन्य को भय उत्पन्न नहीं होता और स्वयं भी निर्भय रहे - ऐसी कायशुद्धि है। अहो! मुनि के शरीर की स्थिति भी अन्तर वीतरागता प्रगट कराये - ऐसी होती है।

(३) विनयशुद्धि – मुनिमार्ग में अरहन्तादिक में भक्ति तथा गुरुजनों के अनुकूल रहना – ऐसी विनयशुद्धि होती है। मुनिराज, भगवान की प्रतिमा की भक्ति करते हैं परन्तु वह वीतरागमुद्रा होती है, उस पर शृङ्गार, गहने इत्यादि नहीं होते – ऐसी प्रतिमा की भक्ति करते हैं। इससे विपरीत हो तो उसे नहीं मानते हैं। अठारह दोषरहित भगवान को स्वीकार करते हैं और उनकी भक्ति करते हैं, वह विनयशुद्धि है।

(४) ईर्यापथशुद्धि – जीवों के सर्व स्थान मुनिराज जानते हैं; इसलिए अपने ज्ञान द्वारा सूर्य के उद्योत से नेत्रइन्द्रिय के द्वारा मार्ग में अतियत्नपूर्वक देखकर चलना, वह ईर्यापथशुद्धि है। मुनिराज अन्ध नहीं होते – ऐसा इस बात से निर्णय होता है। किसी मुनि को आँख के रोग के कारण अन्धापना हो गया हो तो वे सहज वीतरागी मुनि निरालम्बन आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ की उग्रता बढ़ाकर, समाधिमरण करते हैं। मुनियों की सहज ऐसी दशा होती है। वे जीवों के स्थान के ज्ञाता होते हैं तथापि अन्धकार में देख नहीं सकते; इसलिए सूर्य के उजाले में देखकर चलते हैं, उसे ईर्यापथशुद्धि कहते हैं।

(५) भिक्षाशुद्धि – मुनिराज, भोजन के लिए जाने से पहले अपने मल–मूत्र की बाधा को परखते हैं, अपने अङ्गों का ठीक से प्रतिलेखन करते हैं। आचारसूत्र में कहे अनुसार देश, काल, स्वभाव का विचार करते हैं और उतनी जगह आहार के लिए प्रवेश नहीं करते — जहाँ गीत, नृत्य, वाद्ययन्त्र द्वारा जिनकी आजीविका हो, उनके घर नहीं जाते। जहाँ प्रसूति हुई हो, वहाँ नहीं जाते। जहाँ मृत्यु हुई हो, वहाँ नहीं जाते। वेश्या के घर नहीं जाते। स्थूलिभद्र वेश्या के घर रहे, यह बात मिथ्या है। कोई कहता है कि ब्रह्मचर्य की परीक्षा के लिए रहे थे परन्तु जैसे जगत् में जहर को चखकर कोई परीक्षा नहीं करता; इसी प्रकार ऐसी परीक्षा नहीं होती। मुनिराज वेश्या के घर नहीं जाते। जहाँ पापकर्म–हिंसाकर्म होता हो, वहाँ नहीं जाते। दीन –अनाथ के घर नहीं जाते। दानशाला में, यज्ञशाला में, यज्ञ–पूजनशाला में तथा जहाँ विवाह आदि मङ्गल हों, उसके घर आहार के लिए मुनिराज नहीं जाते। धनवान के घर जाना या निर्धन के घर जाना – ऐसा विचार नहीं करते हैं। सेठ के घर जाने से धर्म की प्रभावना बढ़ेगी – ऐसा विचार करके वहाँ नहीं जाते हैं क्योंकि धर्म की प्रभावना सेठ के घर है या अपनी आत्मा में है ? जो अपना मोक्षमार्ग प्रकाशित रखता है, वह वास्तव में धर्म की प्रभावना है। इसलिए

धनवान के यहाँ जाना या निर्धन के यहाँ जाना – ऐसा विचार नहीं करते। लोकनिन्द्यकुल के घर नहीं जाते। दीनवृत्ति नहीं करते। आगम में कहे अनुसार दोष–अन्तराय टालकर, निर्दोष प्रासुक आहार लेते हैं, वह भिक्षाशुद्धि है।

मुनि, ऐसे श्रावक के यहाँ आहार लेने जाते हैं कि जो स्वयं अपने लिए ही शुद्ध आहार बनाता हो; इसलिए वहाँ अशुद्धि नहीं होती। अभी तो सम्प्रदाय में ऐसी पद्धति हो गयी है कि पर्यूषण के समय आठ–आठ दिन का आटा रखते हैं, उसमें त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है तथा अचार बनाते हैं, उसमें भी त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है – ऐसा त्रस का आहार तो वास्तव में श्रावक को होता ही नहीं। ऐसे घर मुनिराज आहार लेने नहीं जाते, क्योंकि त्रस की हिंसा के भोजन का त्याग तो सहज निचलीदशा में होता है।

वहाँ लाभ–अलाभ, सरस–नीरस में समानबुद्धि रखते हैं। ऐसी भिक्षा, पाँच प्रकार की कही गयी है – (१) गोचरी, (२) अक्षमृक्षण, (३) उदराग्निप्रशमन, (४) भ्रमराहार, (५) गर्तपूरण।

गाय की तरह दातार की सम्पत्ति की तरफ नहीं देखते हुए जैसा प्राप्त हुआ, वैसा आहार लेने में ही चित्त रखें, वह **गोचरीवृत्ति** है। जैसे, गाड़ी को चिकनाहट लगाकर गाँव पहुँचाए, वैसे ही संयम की साधक काया को निर्दोष आहार देकर संयम साधे, वह **अक्षमृक्षणवृत्ति** है। जैसे, अग्नि लगी हो, उसे जैसे–तैसे पानी से बुझाकर घर को बचाते हैं, वैसे ही क्षुधाग्नि को सरस–नीरस आहार से बुझाकर अपने परिणाम उज्ज्वल रखें, वह **उदराग्निप्रशमनवृत्ति** है। जैसे, भ्रमर, फूल को बाधा न पहुँचे और पराग ले लेता है; वैसे ही मुनि, दातार को बाधा / कष्ट पहुँचाए बिना आहार लें, वह **भ्रमराहारवृत्ति** है। जैसे शुभ्र, अर्थात् गड्डे को जैसे तैसे भरती करके भर दिया जाता है; वैसे ही मुनिराज, स्वाद–बेस्वाद आहार से उदर को भरते हैं, वह **गर्तपूरणवृत्ति** है। इस प्रकार भिक्षाशुद्धि है।

(६) प्रतिष्ठापनाशुद्धि – जीवों को देखकर यत्नपूर्वक मल–मूत्र, पसीना, थूक, इत्यादि क्षेपण करते हैं, वह प्रतिष्ठापनाशुद्धि है। मुनिराज को यह सब सहज होता है।

(७) शयनासनशुद्धि – जहाँ स्त्री, नपुंसक, दुष्ट जीव, चोर, मद्यपानी और जीववध करनेवाले नीच मनुष्य रहते हों, वहाँ मुनि निवास नहीं करते, यह शयनासनशुद्धि है तथा श्रृंगार,

विकारी आभूषण, सुन्दर वेष धारक वेश्या आदि की क्रिया जहाँ हो; सुन्दर गीत, नृत्य, वाद्ययन्त्र जहाँ होते हों; जहाँ विकार के कारणरूप नग्न, गुप्त प्रदेश जिसमें दिखाई दे – ऐसे चित्र हों; जहाँ हास्य महोत्सव, घोड़ा आदि को शिक्षा देने का स्थान हो, व्यायामभूमि हो तथा जिससे क्रोधादि उत्पन्न हो जाए – ऐसी जगह मुनिराज निवास नहीं करते, वह भी शयनासनशुद्धि है। जैसे, कायोत्सर्गपूर्वक खड़े रहने की शक्ति हो, वहाँ तक स्वरूप में लीन रहकर खड़े रहें, फिर बैठें तथा किसी समय खेद मिटाने के लिए अल्प काल सोयें, यह भी शयनासनशुद्धि है।

(८) वाक्यशुद्धि – जहाँ आरम्भ की प्रेरणारहित वचन प्रवर्तें, परन्तु युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशून्य / चुगली, कठोर, परपीड़ाकारक वचन नहीं प्रवर्तें; अपना तथा पर का जिससे हित हो – ऐसे मीठे मनोहर वैराग्य हेतुरूप, स्वात्मप्रशंसा और परनिन्दारहित संयमी के योग्य वचन प्रवर्तें, वह वचनशुद्धि है। मुनि, किसी राजा को छुपाते नहीं हैं। कोई युद्ध की बात नहीं करते, किसी की सगाई नहीं करा देते – ऐसा मुनि का व्यवहार है। इसका जिसे ठिकाना नहीं, वह मुनि कैसा ? अर्थात्, उसे मुनिपना नहीं होता। मुनि को तो मधुर और निर्दोष वचन होता है, वह वाक्यशुद्धि है।

इस प्रकार मुनि को संयमधर्म होता है। इस संयम के पाँच भेद होते हैं। (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय, और (५) यथाख्यात – ऐसे पाँच भेद हैं। उनका व्याख्यान अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। ●●

जगत के धर्मपिता

अहो ! मुनि भगवन्त को स्वभावसन्मुखता की उग्रता वर्तती है। जिनके रोम-रोम में वैराग्य की धारा बहती हो, जिन्हें देखते ही ऐसा लगे मानो जगत के परमेश्वर हों। जिनको आत्मा के असंख्य प्रदेशों में निर्विकल्प आनन्दधारा बहती है, जो अन्तरङ्ग स्वरूप में झूलते हैं, ऐसे मुनि जगत के धर्मपिता हैं। अहो ! अभी तो ऐसे वीतरागी सन्त-मुनि के दर्शन भी नहीं हैं। अभी तो लोगों को ऐसी मुनिदशा का स्वरूप समझना भी कठिन हो गया है। *—प्रवचनसार, २१२, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, १६-४-१९५१*

गाथा ४००

अब, उत्तमतपधर्म को कहते हैं —

इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥

इस लोक या पर लोक सुख, निरपेक्ष हो समभाव से।
जो विविध कायक्लेश करता, धर्म निर्मल तप उसे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि, **[इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो]** इस लोक-पर लोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ, **[समभावो]** सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण -कंचन, निन्दा-प्रशंसा आदि में राग-द्वेषरहित समभावी होता हुआ, **[विविहं कायकिलेसं]** अनेक प्रकार कायक्लेश **[करेदि]** करता है, **[तस्स णिम्मलो तवधम्मो]** उस मुनि के निर्मल तपधर्म होता है।

भावार्थ : चारित्र के लिये जो उद्यम और उपयोग करता है, वह तप कहा है। वह कायक्लेशसहित ही होता है; इसलिए आत्मा की विभावपरिणति के संस्कार को मिटाने के लिए उद्यम करता है। अपने शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है – ऐसा बल करना ही तप है। वह बाह्य-आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का कहा गया है। उसका वर्णन आगे चूलिका में होगा। ऐसे तपधर्म का वर्णन किया।

गाथा ४०० पर प्रवचन

जो मुनिराज इस लोक-पर लोक के सुख की अपेक्षारहित होकर तथा सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कञ्चन और निन्दा-प्रशंसादिक में राग-द्वेषरहित समभावी होकर, अनेक प्रकार से कायक्लेश तप करते हैं, उन मुनिराज को उत्तमतपधर्म होता है। यहाँ तप, अर्थात्

मुनिपना है, उस मुनिपने में कायक्लेश करते हैं – ऐसा कहा है, वह निमित्त का कथन है; वस्तुतः तो ज्ञान को राग और मन से पृथक् करके आत्मा में रमते हैं, वह तप है।

चारित्र के लिए जो उद्यम और उपयोग करता है, उसे तप कहा गया है। आत्मा में पुरुषार्थपूर्वक अपना उपयोग जोड़ना, वह चारित्र अथवा तप है। वीतरागदशा प्रगट करना, तप है। उस समय कायक्लेश होता है परन्तु उससे आत्मा में विभावपरिणति का संस्कार होता है, उसे मिटाने का उद्यम मुनिराज करते हैं, अर्थात् कायक्लेश में शरीर कृश हो, अङ्गोपाङ्ग भी शिथिल हो जाएँ – इत्यादि निमित्त से विभावपरिणति–अरुचि–द्वेष न हो, परन्तु स्वभाव में विशेष लीनता हो – ऐसा उद्यम मुनिराज करते हैं और अपने शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में स्थिर करते हैं, वह भी जोर से स्थिर करते हैं, वह जोर करना, यही तप है। वह बाह्य –अभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का है। उसका वर्णन आगे चूलिका प्रकरण में किया जाएगा। ●●

आत्मा का भान होने पर भी वस्त्रसहित मुनिपना नहीं

भगवान का इसी भव से मोक्ष जाना निश्चित है, परन्तु बाह्य में समस्त परिग्रह छोड़कर, वीतरागी मुनि हुए बिना भगवान को भी केवलज्ञान नहीं होता। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने तो ऐसी दशा से केवलज्ञान साधा है और अन्य जीव इससे विरुद्ध माने तो वे जीव तीर्थङ्कर के मत से बाह्य हैं। निमित्त से लाभ–हानि मानें तो सम्यग्दर्शन भी नहीं है तो फिर मुनिपद, आचार्यपद, तो उसे होगा ही कैसे ? जिसे आत्मा का भान हो, उसे भी वस्त्रसहित मुनिपना नहीं होता। *— प्रवचनसार, २१९, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद , दैनिक, २०-४-१९५१*

गाथा ४०१

अब, उत्तमत्यागधर्म को कहते हैं —

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥

जो मिष्ट भोजन को तजे, रागादि जनक पदार्थ भी।
मोह का कारण वसतिका तजे वह त्यागी मुनि॥

अन्वयार्थ : [जो मिट्ठभोज्जं चयदि] जो मुनि, मिष्ट भोजन को छोड़ता है, **[रायदोससंजणयं उवयरणं]** राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरण को छोड़ता है, **[ममत्तहेदुं वसदिं]** ममत्व का कारण वसतिका को छोड़ता है, **[तस्स चायगुणो हवे]** उस मुनि के त्याग नाम का धर्म होता है।

भावार्थ : मुनि के संसार-देह-भोग के ममत्व का त्याग तो पहले ही है। जिन वस्तुओं से काम पड़ता है, उनको यहाँ मुख्यरूप से कहा है। आहार से काम पड़े तो सरस-नीरस का ममत्व नहीं करे; धर्मोपकरण - पुस्तक, पीछी, कमण्डलु जिनसे राग तीव्र बँधे - ऐसे न रखे; जो गृहस्थजन के काम न आवे - ऐसी बड़ी वसति का रहने की जगह से काम पड़े तो ऐसी जगह न रहे जिससे ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे त्यागधर्म का वर्णन किया।

गाथा ४०१ पर प्रवचन

जो मुनिराज, मिष्ट भोजन छोड़ते हैं; राग-द्वेष को उत्पन्न करानेवाले उपकरणों का त्याग करते हैं और ममत्व के कारणरूप वस्तिकाओं का त्याग करते हैं, वह मुनि का उत्तमत्यागधर्म है।

मुनिराज को मिष्ट भोजन तो होता है परन्तु यहाँ विशेष राग छोड़ते हैं, तब मिष्ट भोजन नहीं होता – ऐसे तप की यहाँ व्याख्या है। उस समय, विशेष पुरुषार्थ होता है और मिष्ट भोजन का योग नहीं होता; इसलिए उसे छोड़ते हैं – ऐसा कहा गया है।

उपकरणों में घड़ी इत्यादि नहीं रखते हैं। जो कोई राग–द्वेष उत्पन्न करानेवाले उपकरणों के रखता है, उसे वो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है और वैसे मुनि को निश्चयचारित्र तो होता ही नहीं है। निश्चयचारित्रपूर्वक, व्यवहार होता है, वह मुनिपना है। ऐसे सच्चे मुनि की श्रद्धा कहो या संवरतत्त्व की श्रद्धा कहो, वह एक ही है। इसलिए मुनिधर्म का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

मुनिराज को उत्तमत्यागधर्म होता है। सच्चे मुनि कैसे होते हैं और उन्हें किसका त्याग होता है ? – यह बताते हुए इससे विरुद्ध भाव हों, उसमें मुनिपना नहीं रहता है – ऐसा कहा गया है। यह बात कोई दूसरों के दोष निकालने के लिए नहीं हैं परन्तु ऐसे दोष अपने में हों तो मिटाने योग्य हैं – ऐसा कहते हैं। पर में ऐसे दोष हों तो ज्ञान करने योग्य हैं। यदि सम्यग्दृष्टि, मुनिपद की भावना करता है तो उसमें राग घटकर संवर होता है और उसे आनन्द की वृद्धि होती है।

मुनिराज को संसार–देह–भोग के ममत्व का त्याग तो पहले से ही होता है। यहाँ तो जिस वस्तु से कार्य की आवश्यकता ज्ञात हो, उसे मुख्य करके कहा है। आहार से काम पड़ता है तो वहाँ मुनि, सरस–नीरस आहार में ममत्व नहीं करते, छियालीस दोषरहित आहार लेते हैं परन्तु उसमें मुनिराज गृद्धिभाव नहीं करते। पुस्तक, पिच्छी, कमण्डल, इन धर्म उपकरण में जिनसे राग तीव्र बढ़े, उस प्रकार उन्हें नहीं रखते हैं। मुनि, गृहस्थ के काम में नहीं आवे ऐसे उपकरण रखते हैं। इसके अतिरिक्त मुनि, पोस्टकार्ड, घड़ी, फाउन्टेन पैन, इत्यादि नहीं रखते और पोस्टकार्ड किसी के पास रखाते भी नहीं हैं। मुनि, आत्मा के ज्ञान–ध्यान में वर्तते हैं, उपशमरस में झूलते हैं। कोई बड़ी वस्तिका, अर्थात् रहने की जगह से काम पड़े तो वहाँ ऐसी जगह में नहीं रहते कि जिससे ममत्व उत्पन्न हो! आलीशान बँगले में मुनिराज नहीं रहते – ऐसा ममत्वभाव मुनिराज को नहीं होता है।

मुनिराज का त्यागधर्म ऐसा होता है। ऐसा चारित्र न हो और मुनिपना मनवाले तो वह

जीव, निगोद का आराधन कर रहा है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि कोई मुनि नाम धराकर वस्त्र का धागा भी रखता है तो वह निगोद का कामी है; वह मुनि नहीं, परन्तु गृहीतमिथ्यादृष्टि है। शास्त्र में तो मिथ्यात्व का पोषण करनेवाले को सात व्यसन से भी महान पाप कहा गया है। मुनिपना नहीं होने पर भी मुनिपना माने-मनवावे तो वह जीव, निगोद का आराधन कर रहा है। इसलिए यहाँ मुनि के त्यागधर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मुनि को दूसरा सब तो त्याग है परन्तु उपकरणादि का त्याग नहीं होने पर भी उनमें ममत्व नहीं करते, वह उत्तमत्यागधर्म है।●●

छठवें गुणस्थान की पर्याय का स्वभाव कैसा ?

देखो तो सही! कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमद् के गुरु हैं। **पञ्चास्तिकाय (पद्यानुवाद) में माङ्गलिक में नमस्कार करते हुए श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं** कि 'नमः सद्गुरुवे' – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस मुनिदशा का वर्णन किया है। इससे विरुद्ध मुनिदशा माननेवाले को श्री कुन्दकुन्द भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। उस जीव को जैनधर्म की खबर नहीं है। मुनिदशा का वस्त्ररहित निर्ग्रन्थ दिगम्बरस्वरूप कहनेवाले कुन्दकुन्द प्रभु को गुरुरूप से स्वीकार करनेवाला, वस्त्रसहित मुनिपना कैसे मान सकता है? कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो वस्तुस्वरूप स्पष्ट किया है।

छठवें गुणस्थान की पर्याय का स्वभाव कैसा है ? – वहाँ वस्त्रादि ग्रहण करने का अथवा लौकिक कार्यों में पड़ने का रागभाव होता ही नहीं। केवलज्ञानपर्याय का स्वभाव ऐसा है कि वहाँ आहार-पानी की वृत्ति अथवा वस्त्र-पात्र इत्यादि होते ही नहीं, इसके बदले केवली भगवान के आहार मानने और मुनि को वस्त्रादि माननेवाले ने देव-गुरु-धर्म को नहीं जाना है अर्थात् वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। भाई! ऐसा मुनिपना अपने को भले ही वर्तमान में न मिल सके, परन्तु श्रद्धा तो ऐसी ही रखना चाहिए। जैसा मुनिपना हो, उससे विपरीत स्वरूप माने तो वहाँ मिथ्याश्रद्धा है।

— प्रवचनसार, २१७, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, १९-४-१९५१

गाथा ४०२

अब, उत्तमआकिञ्चन्यधर्म को कहते हैं —

तिविहेण जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो, णिग्गंथत्तं हवे तस्स॥

चेतन अचेतन सङ्ग को, मन-वचन-तन से परित्यजे।
जो रत नहीं व्यवहार में, निर्ग्रन्थता उसको कहें॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि, **[लोयववहारविरदो]** लोकव्यवहार से विरक्त होकर **[चेयणमियरं च सव्वहा संगं]** चेतन-अचेतन परिग्रह को सर्वथा **[तिविहेण विवज्जदि]** मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़ता है, **[तस्स णिग्गंथत्तं हवे]** उस मुनि के निर्ग्रन्थत्व होता है।

भावार्थ : मुनि, अन्य परिग्रह तो छोड़ता ही है परन्तु मुनित्व के योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य संघ और अचेतन पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु धर्मोपकरण और आहार, वसतिका, देह - ये अचेतन, इनसे भी सर्वथा ममत्व छोड़कर ऐसा विचारता है कि मैं तो आत्मा ही हूँ; अन्य मेरा कुछ भी नहीं है; मैं अकिञ्चन हूँ - ऐसा निर्ममत्व हो, उसके आकिञ्चन्यधर्म होता है।

गाथा ४०२ पर प्रवचन

जो मुनिराज, मन-वचन-काया; कृत-कारित-अनुमोदनापूर्वक समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं, कैसे होते हुए? लोकव्यवहार से विरक्त होते हुए त्याग करते हैं, उन मुनिराज को निर्ग्रन्थपना होता है।

मुनिराज, अन्य परिग्रह तो छोड़ते ही हैं परन्तु मुनिपने में योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य संघ

तथा अचेतन पुस्तक, पिच्छी, कमण्डलु आदि धर्मोपकरण और आहार, वस्तिका, देह इनसे सर्वथा ममत्व का त्याग करते हैं। वे ऐसा विचार करते हैं कि मैं तो एक आत्मा ही हूँ; अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, मैं आकिञ्चन हूँ। जिनके ऐसा निर्ममत्व हो, उसे उत्तमआकिञ्चन्यधर्म होता है।

मुनिराज को किसी सांसारिक चेतन पदार्थों का परिग्रह नहीं होता, परन्तु जो शिष्यादि होते हैं, उनके प्रति भी मुनिराज को ममत्वभाव नहीं होता और पर्याय में राग होता है, वह भी मेरी स्थायी चीज नहीं है; मैं तो परवस्तु के सम्बन्धरहित हूँ – ऐसा मुनिराज विचार करते हैं।

यह तो चारित्रदशा की बात है। निर्ग्रन्थपद कैसा होता है? उसका भी जिसे पता नहीं है, उसने तो मुनिपद को नष्ट कर डाला है, अर्थात् मुनि के मार्ग को तोड़ डाला है। इस काल में भावलिङ्गी मुनि सुनने में या देखने में नहीं आये। द्रव्यलिङ्गी हो तो उनकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ वीतरागीदशा प्रगट हुई हो और आनन्द में झूलते हों, ऐसे मुनि को बाहर में मोरपिच्छी, कमण्डलु आदि उपकरण होते हैं परन्तु उन्हें उनमें ममत्वभाव नहीं होता। उनका असंगपना विचार करते हैं, चित्त का भी संग छोड़ देते हैं और निर्ममत्व होते हैं, वह आकिञ्चनधर्म है।

अहो! कितनों ने ही तो मुनिधर्म कैसा होता है? यह सुना भी नहीं है। इसलिए उन्हें धर्म कहाँ से होगा? नहीं होता। इसलिए तू अपनी श्रद्धा सुधारने के लिए मुनिपने के स्वरूप को जान! गुण को यथार्थ जानने से, गुण का आदर हुए बिना नहीं रहेगा और इससे श्रद्धा में विपरीतता नहीं रहती है। इस बात को समझे बिना दो-दो महीने की समाधि करे, परन्तु उसे मिथ्यात्व होने के कारण निगोद का आराधन हो रहा है। वह कदाचित् स्वर्ग में जाए तो वह अपवादमार्ग है परन्तु मिथ्यात्वी तो निगोद में जाता है, यह उत्सर्गमार्ग है। यह बात किसी का तिरस्कार या अनादर करने के लिए नहीं है (अपितु यह तो वस्तुस्थिति है)। यह बात पहले कह गये हैं कि अपने में विपरीतता न आवे, इसके लिए यह बात कही जा रही है। इसलिए जीवों को मूढ़ता मिटाकर मुनिपने का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। इस प्रकार मुनि को उत्तमआकिञ्चन्य, अर्थात् ममत्वरहित धर्म कहा गया है। ●●

गाथा ४०३

अब, उत्तमब्रह्मचर्यधर्म को कहते हैं —

जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणिरीहो, णव विह बंभं हवे तस्स॥

नारियों का तजे सङ्ग, नहिं रूप उनका देखता।
तजे, काम-कथादि, नव विध ब्रह्मचर्य उसे कहा॥

अन्वयार्थ : [जो महिलाणं संगं परिहरेदि] जो मुनि, स्त्रियों की सङ्गति नहीं करता है, **[रूवं णेव पस्सदे]** उनके रूप को नहीं देखता है, **[कामकहादिणिरीहो]** काम की कथा आदि शब्द से, स्मरणादिक से रहित हो, **[णव विह]** ऐसा नवधा, अर्थात् मन-वचन-काय; कृत-कारित-अनुमोदना और तीनों काल से-नव कोटि से करता है, **[तस्स बंभं हवे]** उस मुनि के ब्रह्मचर्यधर्म होता है।

भावार्थ : ब्रह्म, आत्मा है; उसमें लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। परद्रव्यों में आत्मा लीन हो, उनमें स्त्री में लीन होना प्रधान है क्योंकि काम, मन में उत्पन्न होता है; इसलिए यह अन्य कषायों से भी प्रधान है और इस काम का आलम्बन, स्त्री है; अत: इसका संसर्ग छोड़ने पर अपने स्वरूप में लीन होता है। इसलिए स्त्री की सङ्गति करना, रूप निरखना, कथा करना, स्मरण करना जो छोड़ता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। यहाँ टीका में शील के अठारह हजार भेद ऐसे लिखे हैं —

अचेतन स्त्री - काष्ठ पाषाण और लेपकृत। इन तीनों को मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदान, इन छह से गुणा करने पर अठारह हुए। पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर,

नव्वे (९०) हुए। द्रव्य और भाव से गुणा करने पर, एक सौ अस्सी (१८०) हुए। क्रोध मान माया लोभ, इन चारों से गुणा करने पर सात सौ बीस (७२०) हुए।

चेतन स्त्री – देवांगना, मुनष्यणी। उनको कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर नौ (९) हुए। इनको मन-वचन-काय इन तीन से गुणा करने पर सत्ताईस (२७) हुए। पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस (१३५) हुए। द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर (२७०) हुए। इनको चार संज्ञा-आहार, भय, मैथुन, परिग्रह से गुणा करने पर एक हजार अस्सी (१०८०) हुए। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभरूप सोलह कषायों से गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी (१७२८०) हुए। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस (७२०) भेद मिलाने पर अठारह हजार (१८०००) भेद हो जाते हैं। ये भेद अन्य प्रकार से भी किये हैं, उन्हें अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए[१]। ये आत्मा की परिणति के विकार के भेद हैं; अत: सबही को छोड़कर, अपने स्वरूप में रमण करे, तब ब्रह्मचर्यधर्म उत्तम होता है।

गाथा ४०३ पर प्रवचन

जो मुनि, स्त्रियों की सङ्गति न करता, उनके रूप को न निरखता, काम की कथा और उनके स्मरणादि से रहित होता है; इस प्रकार मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना – ऐसे नौ प्रकार से उसका त्याग करे, उस मुनि को उत्तमब्रह्मचर्यधर्म होता है। देखो, यहाँ मुनि के ब्रह्मचर्य की बात है। मुनि, स्त्री के रूप को सुन्दरता को, कोमलता को, राग से नहीं देखता और उसका स्मरण भी नहीं करता, उसे सच्चा ब्रह्मचर्य होता है।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि ब्रह्म नाम आत्मा का है; उसमें लीन होना, ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार शास्त्र में ब्रह्मचर्य का अर्थ आता है। वह पढ़कर जिसे आत्मा का भान नहीं है और कुदेवादि की श्रद्धा से भी जो छूटा नहीं है, ऐसे गृहीतमिथ्यादृष्टि इस प्रकार आत्मा की बात

---

१) अशुभ मन-वचन-काय को त्रिगुप्ति द्वारा घात करे, वह शील के नौ भेद; उनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं से गुणा करने से ९ x ४ = ३६ हुए; उनको पञ्चेन्द्रिजय से गुणा करने से १८० भेद; उसे पृथ्वी आदि पाँच स्थावर और त्रसकायिकों में दो-तीन-चार – संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, यह १० भेद से गुणने पर १८०० हुए। उसको उत्तम क्षमादि १० धर्मों से गुणने पर १८००० भेद हुए। **(षट्प्राभृतादि संग्रह, पृ० २६७)**

करता है; जिसे सच्चे देव–शास्त्र–गुरु का पता नहीं है, अर्थात् यथार्थ पदार्थ कौन कहता है, इसकी जिसे परीक्षा नहीं है, उसे यह बात कहाँ से होगी ? अर्थात्, होगी ही नहीं। जैसे, नकली गहनों के व्यापारी और हीरे के व्यापारी की परीक्षा जिसे न हो, वह नकली गहनों के व्यापारी से हीरा लेने जाये तो उसे नहीं मिलेगा। इसी प्रकार जिसे सच्चे देवादि की श्रद्धा नहीं हो और उसकी नकल करे तो उसे ब्रह्म आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

दया, दान, भक्ति के शुभभाव से धर्म होता है – ऐसी जिसकी प्ररूपणा है, उसे गृहीतमिथ्यात्व पड़ा है परन्तु शास्त्र के आड़ में अध्यात्म की बात करता है, वह भी गृहीतमिथ्यात्व को पुष्ट करता है। गृहीतमिथ्यात्व के अभाव के बिना, ब्रह्म, अर्थात् आत्मा का सच्चा कथन भी नहीं आता है। बहुत लोग सुनने जाएँ, इसलिए सत्य प्ररूपणा होगी – ऐसा लोग मानते हैं परन्तु वह सत् का प्रमाण नहीं है। सत् का प्रमाण तो सत् की कसौटी है। देश का नेता हो और भाषण करे, उसमें भी बहुत लोग सुनने जाते हैं। मुसलमान कुरान पढ़ें तो उसमें भी बहुत लोग होते हैं परन्तु वस्तुस्थिति को यथार्थ जाने बिना, सत् नहीं होता है। मोक्षमार्ग किस प्रकार प्रगट होता है ? – उसे जानकर, उसकी श्रद्धा करके, मोक्षमार्ग प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया हो, उसके द्वारा कथित मार्ग ही सत्यमार्ग है। जो ऐसे देवादिक को नहीं जानता, श्रद्धा नहीं करता, वह राग से – पुण्य से धर्म मानता और मनवाता है, उसे आत्मा का पता नहीं है तो आत्मा में लीन होना तो उसे होता ही नहीं।

परद्रव्य में आत्मा लीन होता है, अर्थात् राग में लीन होता है; उसमें स्त्री के राग में लीन होना प्रधान है क्योंकि काम, मन में उत्पन्न होता है; इसलिए वह अन्य कषायों से भी प्रधान है और उस काम का अवलम्बन, स्त्री है; इसलिए उसका संसर्ग छोड़कर, मुनि अपने स्वरूप में लीन होते हैं। स्त्री की सङ्गति करना, रूप निरखना, उसकी कथा करना, स्मरण करना, वह सब प्रकार से छोड़नेवाले को ब्रह्मचर्य होता है। काम का मूल तो कल्पना है और कल्पना की दौड़ लम्बी चलती है, उसमें विकल्पों का विस्तार होता है। क्रोध, मान, माया, और लोभ तो बाहर दिखते हैं परन्तु काम की कल्पना तो अन्दर ही अन्दर में चलती रहती है। विशेष हो, तब बाहर में दिखती है। उस कल्पना को छोड़कर, आत्मा में लीन होना, ब्रह्मचर्य है। परपदार्थ का चिन्तवन करनेवाला, स्वपदार्थ की लीनता को छोड़ता है। वह भाव, अब्रह्मचर्य का कारण है।

यहाँ तो मुनिपने की बात है। आत्मा का भान होने के बाद निरन्तर आत्मा में रमणता करता है, वह ब्रह्मचर्य है।

अब, संस्कृत टीका में शील के अठारह हजार भेद कहे हैं, वह कहते हैं।

अचेतन स्त्री — काष्ठ, पाषाण, और लेपकृत, उसे मन-वचन-काय तथा कृत -कारित-अनुमोदना - ये छह, इनसे गुणा करने से अठारह भेद हुए; उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर नब्बे भेद हुए; उन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर १८० भेद हुए; उन्हें क्रोध-मान -माया-लोभ, इन चार से गुणा करने परे ७२० भेद हुए। इस प्रकार अचेतन स्त्री निमित्तक कुशील के ७२० भेद हुए। चेतन स्त्री — देवांगना, मनुष्यनी, और तिर्यञ्चनी, इन तीनों को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर नौ भेद हुए; उन्हें मन-वचन-काया, इन तीन से गुणा करने पर सत्ताईस भेद हुए; उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस भेद हुए; उन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए; उन्हें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह - इन चार संज्ञा से गुणा करने पर १०८० भेद हुए; उन्हें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप क्रोध, मान, माया, लोभ - सोलह कषायों से गुणा करने पर ७०२८० भेद हुए। उनमें ऊपर के अचेतन स्त्रीनिमित्तक ७२० मिलाने से, कुशील के १८००० भेद होते हैं।

इन भेदों को अन्य प्रकार से भी कहा गया है, जिन्हें अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। यह सब आत्मा की परिणति - विकार के भेद हैं; इन सबको छोड़कर, जब आत्मा अपने स्वरूप में रमण करता है, तब उत्तमब्रह्मचर्य होता है।

यह शील के १८००० भेद किसे होते हैं ? तो कहते हैं कि यह १८००० भेद में से एक भी विकल्प, वस्तुस्वभाव में नहीं है; प्रथम ऐसी प्रतीति करे, उसे होते हैं क्योंकि ऐसी प्रतीति हुए बिना अस्थिरता के विकल्प का अभाव नहीं होता। यहाँ अकेले ब्रह्मचर्य की बात नहीं है। वस्तु के स्वभाव को समझे बिना, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धारहित बाहर के त्याग से साधुपना मनवावे तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि में तो पाप मनवावे और मात्र कथाएँ पढ़कर जगत् के जीवों को मुग्ध करे, परन्तु उसमें धर्म नहीं है; कथा तो चारण भी करता है। साधु नाम धराकर भी तत्त्व का पता नहीं हो और व्यवहार का भी ठिकाना न हो

तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है; इसलिए जीव को परीक्षा करना चाहिए। ऐसा का ऐसा मान लेने की यह बात नहीं है।

सारी दुनिया कहती है कि हमारी बात सत्य है परन्तु जिसे पाँच रुपये देने की ताकत नहीं है, वह कहे कि कल मैं लाख रुपये दूँगा तो वह बात मिथ्या है। इसी प्रकार सुदेव–गुरु –शास्त्र का तो पता नहीं और आत्मा की बात करे, तो वह मिथ्या है। जिसे तत्त्व और अतत्त्व का पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त, अन्यत्र कहीं ऐसी अखण्ड आत्मा की बात नहीं होती है।

अब, आगे शीलवान का माहात्म्य बताते हुए दूसरे शास्त्र की गाथा का आधार लेते हैं।

जो ण वि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि।
सो चेव सूरसूरो, रणसूरो णो हवे सूरो॥ १॥
बिद्ध नारी नैन शर से, पर न लेश विकार है।
शूर में भी शूर वह, रणशूर तो नहीं शूर है॥

अर्थात्, *जो पुरुष स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों से आहत होकर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है, वह शूरवीरों में प्रधान है और जो रण में शूरवीर है, वह शूरवीर नहीं है।*

युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्रियों के वश में नहीं होते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं – ऐसे विरले ही हैं; वे ही बड़े साहसी हैं, शूरवीर हैं; काम को जीतनेवाले ही बड़े सुभट हैं।

जो पुरुष, स्त्रीजन के कटाक्षरूपी बाणों से विंधता हुआ भी विकार को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् जिसे परद्रव्य के प्रति आसक्ति छूट गयी है, उसके ज्ञान में स्त्री के कटाक्ष का ख्याल आवे, परन्तु वह विकार को प्राप्त नहीं होता, वह शूरवीरों में प्रधान है, अर्थात् उसकी ज्ञान की उग्रता विशेष होती है। जिसे राग की उत्पत्ति नहीं होती, वही शूरवीर है परन्तु रण में सिर कटा दे, वह शूरवीर नहीं है क्योंकि ऐसा तो अभव्य भी करता है। इसलिए ऐसी शूरवीरता अनन्त बार की है परन्तु वह वास्तविक शूरवीर नहीं है। चारणों की जमीन जब कोई दूसरा कब्जा कर लेता है, तब चारण, कपास की गाड़ी भरकर उसमें केरोसिन छिड़ककर, चोगान में जलाकर,

स्वयं जल मरते हैं; शोर भी नहीं करते, हुँकार भी नहीं करते तथा कोई राजा का कुँवर, युद्ध में जाएँ, वहाँ युद्ध करके मरे, वह भी वास्तविक शूरवीरता नहीं है परन्तु जिसे विकार के परिणाम नहीं होते, वह शूरवीरों में प्रधान है, अर्थात् उसे सच्ची शूरवीरता है।

युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्री के वश न होकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, ऐसे जीव विरले ही हैं; वे ही बहुत साहसी, अर्थात् शूरवीर और काम को जीतनेवाले महा सुभट हैं।

इस प्रकार दश प्रकार से यतिधर्म का व्याख्यान किया। अब, धर्मानुप्रेक्षा में मुनि के दश प्रकार के धर्म की बात का उपसंहार करते हैं। ●●

वस्त्ररहित मुनिपना मानने में निमित्त का जोर नहीं

वस्त्रसहित मुनिपना नहीं होता, इससे निमित्त का कहीं जोर नहीं आ जाता; निमित्त के कारण मुनिपना रुक गया, यह भी इस कथन का आशय नहीं है; परन्तु ऐसे निमित्त के सङ्ग के समय अन्दर स्वयं को अशुद्धभाव है, इसलिए ही मुनिदशा नहीं होती। बाहर में अभक्ष्य आहार सेवन करता हो और कहे कि हमें अन्दर में अशुभभाव नहीं है तो यह कैसे सम्भव है? अशुभभाव के बिना ऐसे निमित्त के प्रति लक्ष्य नहीं जा सकता। इसी प्रकार तीव्रराग के बिना वस्त्रादिक के ग्रहण का भाव होता ही नहीं और जहाँ ऐसा तीव्रराग हो, वहाँ मुनिपना हो ही नहीं सकता।

— प्रवचनसार, २१९, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २०-४-१९५१

गाथा ४०४

अब, इसको सङ्कोच करते हैं —

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणे हवे णियमा।
अण्णे हवदि धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि॥

यह दश तरह का धर्म, दस लक्षण स्वरूपी है कहा।
अन्यत्र किञ्चित् जहाँ हिंसा, वहाँ धर्म कदापि ना॥

अन्वयार्थ : [एसो दहप्पयारों धम्मो णियमा दहलक्खणो हवे] यह दश प्रकार का धर्म ही नियम से दश लक्षणस्वरूप धर्म है **[अण्णो जत्थत्थि सुहमा वि हिंसा धम्मो ण हवदि]** और अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होवे, वह धर्म नहीं है ।

भावार्थ : जहाँ हिंसा हो और उसको कोई अन्यमती धर्म मानता हो तो उसे धर्म नहीं कहते हैं। यह दश लक्षणस्वरूप धर्म कहा है, वही नियम से धर्म है।

गाथा ४०४ पर प्रवचन

यह दश प्रकाररूप धर्म है, वही नियम से दश लक्षणस्वरूप धर्म है, अर्थात् वीतरागी –दशा, वह नियम से दश प्रकार का धर्म है परन्तु दूसरा जहाँ कि सूक्ष्म भी हिंसा हो, वह धर्म नहीं है। जहाँ राग की तीव्रता होती है, वहाँ धर्म नहीं होता है।

आशय यह है कि जहाँ हिंसा करके, उसमें कोई अन्यमती धर्म की स्थापना करता है, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। यह दश लक्षणरूप धर्म कहे गये हैं, वही निश्चय से धर्म हैं।

इस गाथा में कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होती है, वहाँ धर्म नहीं है। अब, इसी अर्थ को स्पष्टतापूर्वक कहते हैं।●●

गाथा ४०५

इस गाथा में कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा पायी जाए, वह धर्म नहीं है। इसी अर्थ को अब स्पष्ट करते हैं —

हिंसारंभे ण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो॥

देव-गुरु के निमित्त भी, हिंसा कार्य न शुभ अरे।
हिंसा कही है पापमय, अरू दयामय है धर्म रे॥

अन्वयार्थ : [हिंसा पावं ति मदो जदो धम्मो दयापहाणो] जिससे हिंसा हो, वह पाप है; धर्म है, वह दया प्रधान है - ऐसा कहा गया है। **[देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु हिंसारंभो सुहो ण]** इसलिए देव के निमित्त तथा गुरु के कार्य के निमित्त भी, हिंसा आरम्भ, शुभ नहीं है।

भावार्थ : अन्यमती, हिंसा में धर्म मानते है। मीमांसक तो यज्ञ करते हैं, उसमें पशुओं को होमते हैं और उसका फल, शुभ कहते हैं। देवी और भैरों (भैरव) के उपासक बकरे आदि मारकर देवी और भैरों के चढ़ाते हैं और उसका शुभफल मानते हैं। बौद्धमती हिंसासहित माँसादिक आहार को शुभ कहते हैं। श्वेताम्बरों के कई सूत्रों में ऐसा कहा है कि देव-गुरु-धर्म के निमित्त चक्रवर्ती की सेना का नाश कर देना चाहिए। जो साधु ऐसा नहीं करता है, वे अनन्त संसारी होता है। कहीं मद्य-माँस का आहार भी लिखा है - इन सबका निषेध इस गाथा से जानना चाहिए। जो देव-गुरु के निमित्त, हिंसा का आरम्भ करता है; वह भी शुभ नहीं है। धर्म तो दयाप्रधान ही है। पूजा, प्रतिष्ठा, चैत्यालय का निर्मापण, संघयात्रा तथा वसतिका का

निर्मापण, ये गृहस्थों के कार्य हैं; इनको भी मुनि न आप करता है, न कराता है, न अनुमोदना करता है। यह धर्म, गृहस्थों का है। अत: जैसे इनका सूत्र में विधान लिखा है, वैसे गृहस्थ करता है। यदि गृहस्थ, मुनि से इनके सम्बन्ध में प्रश्न करे तो मुनि उत्तर देवे कि जैन सिद्धान्त में गृहस्थ का धर्म, पूजा-प्रतिष्ठा आदि लिखा है, वैसे करो। ऐसा कहने में हिंसा का दोष तो गृहस्थ के ही है। इसमें जो श्रद्धा, भक्ति, धर्म की प्रधानता हुई, उस सम्बन्धी पुण्य हुआ, उसके साथी मुनि भी हैं। हिंसा, गृहस्थ की है, उसके साथी नहीं है। गृहस्थ भी हिंसा करने का अभिप्राय रखे (करे) तो अशुभ ही है। पूजा-प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करता है, कार्य में हिंसा होती है, उससे गृहस्थ कैसे बचे? सिद्धान्त में ऐसा भी कहा है कि जिस कार्य के करने में पाप, अल्प हो और पुण्य, अधिक हो तो ऐसा कार्य, गृहस्थ को करना योग्य है। गृहस्थ जिसमें लाभ समझता है, वह कार्य करता है। थोड़ा द्रव्य देने पर अधिक द्रव्य आवे, वह कार्य करता है किन्तु मुनियों के ऐसा कार्य नहीं होता है, उनके तो सर्वथा यत्न प्रवर्तन ही योग्य है - ऐसा जानना चाहिए।

गाथा ४०५ पर प्रवचन

हिंसा होती है, वह पाप है तथा जिसमें दया प्रधान है, वह धर्म है - ऐसा कहा है। इसलिए देव के लिए या गुरु के कार्य के लिए हिंसा-आरम्भ करना, शुभ नहीं है। पर की अकेली दया, वह शुभभाव है; यहाँ तो आत्मा के भानपूर्वक रागरहित दशा होती है, वह अहिंसाभाव, धर्म है और उस समय अहिंसा का शुभभाव होता है, वह व्यवहार से धर्म है परन्तु देव-शास्त्र-गुरु के लिए हिंसा आदि का परिणाम करना, वह शुभ नहीं है।

अन्यमती हिंसा में धर्म मानते है। मीमांसक तो यज्ञ करते हैं, उसमें पशुओं का होम करते हैं और उसका फल, शुभ कहते हैं। देवी और भैरों (भैरव) के उपासक बकरे आदि मारकर देवी और भैरों के चढ़ाते हैं और उसका शुभफल मानते हैं। बौद्धमती हिंसासहित माँसादिक आहार को शुभ कहते हैं।

अब, श्वेताम्बरों के कितने ही सूत्रों में ऐसा कहा है कि देव-गुरु-धर्म के लिए चक्रवर्ती की सेना का नाश कर देना चाहिए। जो साधु ऐसा नहीं करता, वह अनन्त संसारी होता है तथा कहीं मद्य-माँस का आहार भी उनमें लिखा है, उन सबका इस गाथा से निषेध किया है - ऐसा

समझना चाहिए। जो देव-गुरु के कार्य के लिए भी हिंसा का आरम्भ करता है, वह शुभ नहीं है। धर्म तो दया प्रधान ही है।

यह बात कड़क लगती है क्योंकि घर की बात आवे, तब कड़क पड़ती है परन्तु यह समझे बिना छूटकारा नहीं है। जब बात आवे, तब तो भलीभाँति स्पष्ट होना चाहिए। श्वेताम्बर में भगवतीसूत्र का पन्द्रहवाँ शतक है, उसमें पृष्ठ ८९१ पर आगमोदय में संस्कृत टीका में आता है कि 'देव-गुरु-धर्म के लिए चक्रवर्ती की सेना को पेल डालना चाहिए। जो साधु, इस प्रकार नहीं करता, वह अनन्त संसारी होता है।' अपुलाक मुनि कैसे होते हैं? उसके अधिकार में श्वेताम्बर आचार्य ने संस्कृत टीका की है, उसमें लिखा है। मुनि के शिथिलपने की बात है परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं होता है। मध्यस्थता से विचार करें तो ऐसा शिथिलपना मुनि को नहीं होता है; इसलिए यहाँ निषेध किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि श्वेताम्बरमतवाले निन्दक को मारने में पाप नहीं है – ऐसा कहते हैं। अब, तीर्थङ्कर आदि के अस्तित्व में भी अन्यमती निन्दक हुए, उन्हें इन्द्रादिक ने नहीं मारा। यदि पाप न होता हो तो उन्हें इन्द्रादिक ने क्यों नहीं मारा? अत: निन्दक के मारने में पाप नहीं है – यह बात सत्य नहीं है।

भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक, पृष्ठ ६९१ में मद्य-माँस का आहार भी भगवान के लिए लिखा है। इन सबका इस गाथा से निषेध होता है।

भगवतीसूत्र में गोशाला के अधिकार में संस्कृत टीका में लिखा है कि भगवान को रोग हुआ है और भगवान, सिंहोंगार मुनि को बुलाकर कहते हैं कि रेवती के यहाँ दो कबूतर पक्षी के शरीर, बिल्ली द्वारा कल से मारे हुए हैं, उसका पाक / भोजन बनाया है, वह ले आओ; आज का ताजा मारा हुआ है, वह मत लाना – ऐसी विपरीतदृष्टि से भगवान को माँस का आहार बतलाते हैं। अरे! माँस का आहार तो सम्यग्दृष्टि को भी नहीं होता है।

आचारांग में साधु को पुराना मधु नहीं चलता – ऐसा लिखा है। इससे ताजा मधु लेने में आपत्ति नहीं है – ऐसा मानकर साधु, मधु का प्रयोग करते हैं परन्तु नामधारी जैन को भी मधु / शहद नहीं चलता है। शास्त्र में पाठ आता है कि मधु / शहद खानेवाले को सात गाँव जलाने जितना पाप लगता है; इसलिए जैन को मधु, माँस, शराब का आहार नहीं होता। मधु

में तो त्रसघात है। वह तो मक्खियों का वमन है। औषधि में भी उसका प्रयोग नहीं होता है। श्वेताम्बर के शास्त्रों में बहुत जगह माँसाहार की बात आती है, वह सब विपरीतता है। भगवान महावीर के बाद बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा और मुनिपना निभ नहीं सका; इसलिए वस्त्रादि रखकर शिथिलपना हो गया है।

खन्धक के अधिकार में आता है कि भगवान हमेशा भोजन करते थे और इससे उनका शरीर सुन्दर था। यह अत्यन्त कल्पित बात है क्योंकि छठवें गुणस्थान के बाद मुनि को आहार नहीं होता तो फिर भगवान को आहार हो – ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार श्वेताम्बर शास्त्रों में जो अन्यथा निरूपण किया है, उसका निषेध इस गाथा से होता है – ऐसा समझना चाहिए। जो देव–गुरु के कार्य के लिए भी हिंसा का आरम्भ करता है, वह शुभ नहीं है; धर्म तो दया –प्रधान ही है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

इस प्रकार भी समझना कि पूजा–प्रतिष्ठा, चैत्यालय का निर्माण, संघयात्रा तथा वस्तिका का निर्माण आदि गृहस्थ के कार्य हैं। उन्हें भी मुनि स्वयं नहीं करते, नहीं कराते, नहीं अनुमोदन करते, क्योंकि वह गृहस्थों का धर्म है। वह जैसे इन (गृहस्थधर्म के) सूत्रों में विधान लिखा हो, वैसा गृहस्थ करे। गृहस्थ, मुनि से इस सम्बन्धी प्रश्न करे तो मुनि ऐसा कहते हैं कि जिन सिद्धान्त में पूजा–प्रतिमादि की प्रतिष्ठा, गृहस्थधर्म लिखा है, वैसा करो। इस प्रकार कहने में हिंसा का दोष तो गृहस्थ को ही है; मात्र यह श्रद्धान–भक्ति–धर्म की, उसमें जो प्रभावना हुई, उस सम्बन्धी जो पुण्य हुआ, उसके भागीदार मुनि भी है परन्तु हिंसा तो गृहस्थ की है; उसके वे भागीदार नहीं हैं। यदि गृहस्थ भी हिंसा करने का अभिप्राय करे तो वह अशुभ ही है। पूजा, प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करता है, उस कार्य में गृहस्थ को हिंसा होती है तो वह कैसे टले ? उसका समाधान यह है कि —

सिद्धान्त में ऐसा भी कहा है कि अल्प अपराध लगने पर भी यदि बहुत पुण्य होता हो तो – ऐसा कार्य गृहस्थ को करने योग्य है। गृहस्थ तो जिसमें फायदा जानता है, वह कार्य करता है। जैसे, थोड़ा द्रव्य देने से भी यदि बहुत द्रव्य आता हो तो वह कार्य करता है परन्तु मुनिराज को ऐसा कार्य नहीं होता; उन्हें तो सर्वथा यत्नपूर्वक ही प्रवर्तन करना योग्य है – ऐसा समझना चाहिए।

जिन मन्दिर में प्रतिष्ठा, पूजा, भक्ति, यात्रा आदि में हिंसा तो होती है परन्तु वह गृहस्थधर्म है – ऐसा राग, गृहस्थ को आये बिना नहीं रहता है। इन्द्र आकर भगवान की पूजा करते हैं। भरत चक्रवर्ती ने बहत्तर जिनबिम्ब अष्टापदपर्वत पर स्थापित किये हैं, वह गृहस्थधर्म है; मुनिराज को हिंसा आदिक के ऐसे कार्य नहीं होते। ●●

शरीर, आहार, शास्त्रादि संयम के निमित्त हैं, वस्त्रादि नहीं

प्रश्न – मुनियों को जिस प्रकार बिना ममत्व के शरीरादि होते हैं; उसी प्रकार बिना ममत्व के वस्त्र भी माने जाएँ तो इसमें क्या आपत्ति है?

उत्तर – शरीर, आहार, पुस्तक इत्यादि तो संयम के निमित्त हैं; वस्त्र संयम का निमित्त नहीं है, वस्त्र तो राग या असंयम का निमित्त है। बुद्धिपूर्वक वस्त्र रखे, वस्त्र की ओर का विकल्प हो; तथापि कोई कहे कि मुझे उसके प्रति राग नहीं है तो उसकी बात मिथ्या है।

वस्त्र का संयोग तब निर्ममत्वरूप से गिना जाता है कि जब मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त आत्मध्यान में लीन हों एवं बाह्य पदार्थों का लक्ष्य ही न हो, उस समय अन्य कोई आकर उनके ऊपर वस्त्र डाल जाए तो उस समय उस वस्त्र को परीषह माना जाता है, क्योंकि उस समय उन मुनि को वह वस्त्र, राग का नहीं, किन्तु ज्ञान का निमित्त है; उस वस्त्र के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

वस्त्र-धारण करने का राग होने पर भी यदि मुनिपना माने तो उस जीव के सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। मुनिदशा और निर्ग्रन्थता का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु मुनिदशा और वस्त्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र के प्रति ममत्व छूट जाने के पश्चात् वस्त्र धारण करने की बुद्धि हो ही नहीं सकती। वस्त्र त्याग करने की क्रिया आत्मा की नहीं है; वस्त्र तो स्वयं उनके अपने कारण से छूटते हैं, किन्तु वस्त्र का राग छोड़ने पर बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्र का सङ्ग होता ही नहीं — ऐसा नियम है।

— *दश धर्म प्रवचन, पृष्ठ ९४-९५*

गाथा ४०६

देवगुरुण णिमित्तं[१], हिंसासहिदो वि होदि जदि धम्मो।
हिसारहिदो धम्मो, इदि जिणवयणं हवे अलियं॥

देव-गुरु के निमित्त भी, यदि हिंसा यति का धर्म हो।
तो 'धर्म, हिंसा रहित है', यह जिनवचन नहिं सत्य हो॥

अन्वयार्थ : [**जदि देवगुरुण णिमित्तं**] यदि देव-गुरु के निमित्त भी, [**हिंसासहिदो वि धम्मो होदि**] हिंसा का आरम्भ यति का धर्म हो तो [**धम्मो हिंसारहिदो**] 'धर्म, हिंसारहित है' [**इदि जिणवयणं अलियं हवे**] - ऐसा जिनेन्द्रभगवान का वचन, अलीक (झूठा) सिद्ध होगा।

भावार्थ : क्योंकि भगवान ने धर्म, हिंसारहित कहा है; इसलिए देव-गुरु के कार्य के निमित्त भी मुनि, हिंसा का आरम्भ नहीं करते हैं। जो श्वेताम्बर कहते हैं, वह मिथ्या है।

गाथा ४०६ पर प्रवचन

यदि देव-गुरु के लिए भी हिंसा का आरम्भ यति का धर्म हो तो जिनेन्द्रभगवान के यह वचन कि 'धर्म, हिंसारहित है', मिथ्या सिद्ध होंगे।

यहाँ मुनिराज के धर्म की बात चल रही है, अर्थात् मुनिराज को आरम्भ आदि हिंसा के भाव नहीं होते हैं। वे शास्त्रों की रचना करते हैं, उनमें, प्रतिमाजी कैसी होती है ? उसकी प्रतिष्ठा कैसे करें ? इत्यादि सब आता है; उसमें दोष नहीं है। पञ्चाध्यायी में कहा गया है कि किसी समय देव-गुरु के ऊपर आपत्ति आवे तो उसके रक्षण के लिए गृहस्थ, सामना करे....;

---

१ मुदित प्रति में 'णिम्मित्तं' पाठ है।

प्रभावना के लिए पैसा भी खर्च करे, यह गृहस्थ का धर्म है। जैसे, परिवार के लिए उसका राग होता है, इसलिए पैसा खर्च करता है, और स्त्री पर कोई हमला करे तो सामना भी करता है; इसी प्रकार धर्मी को देव–गुरु–शास्त्र के प्रति राग होता है; इसलिए शुभराग आये बिना नहीं रहता, परन्तु यहाँ तो मुनि की बात है; इसलिए मुनि को ऐसा राग नहीं होता – यह कहते हैं।

यह बात मध्यस्थता से समझने योग्य है। यह कोई वाड़े की बात नहीं है, 'जहाँ–जहाँ, जो–जो योग्य है, वहाँ समझना वही'। अनन्त काल में मनुष्यभव मिला है, वहाँ यदि यथार्थ ज्ञान नहीं करे तो भव का अन्त नहीं आयेगा। अनन्त भव चले गये हैं और यह भव भी चला जाएगा; इसलिए यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है ? – उसका निर्णय कर लेने योग्य हैं। ●●

वस्त्ररहितपने और मुनिपने का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध

जैसे अन्तरङ्ग में माँसभक्षण का भाव न हो तो वहाँ 'माँस अच्छा है' – ऐसी भाषा भी नहीं होती तथा अन्तरङ्ग में ब्रह्मचर्य का भाव हो वहाँ 'स्त्री का सङ्ग अच्छा है' – ऐसी भाषा भी नहीं होती। यद्यपि भाषा तो भाषा के कारण होती है, तथापि भाव और भाषा का ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार वस्त्ररहितपने और मुनिपने का भी ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरङ्ग में मुनिदशा का निर्मल वीतरागभाव हुआ हो और भाषा में ऐसा कहे कि 'वस्त्रादि रखने में भी बाधा नहीं है' – ऐसा होता ही नहीं; जहाँ वस्त्रादि रखने की बुद्धि है, वहाँ मुनिपना नहीं है। इस प्रकार होने से सर्वज्ञ भगवन्तों ने वस्त्रादि परिग्रह का निषेध किया है।

— प्रवचनसार, २१९, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद , दैनिक, २०-४-१९५१

गाथा ४०७

अब, इस धर्म की दुर्लभता दिखाते हैं —

इदि एसो जिणधम्मो, अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि।
मिछत्तसंजुदाणं, जीवाणं लद्धिहीणाणं॥

जिनदेव का यह धर्म पाया, नहिं अनादि काल से।
पहले कभी मिथ्यात्वयुत अरु, लब्धि विरहित जीव ने॥

अन्वयार्थ : [इदि एसो जिणधम्मो] इस प्रकार से यह जिनेश्वरदेव का धर्म **[अणाइकाल वि]** अनादि काल में **[लद्धिहीणाणं]** जिनको स्व-काल आदि की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे **[मिछत्तसंजुदाणं जीवाणं]** मिथ्यात्वसहित जीवों के **[अलद्धपुव्वो]** अलब्धपूर्व है, अर्थात् पहिले कभी नहीं पाया गया (प्राप्त हुआ)।

भावार्थ : अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण जीवों को जीव-अजीवादि तत्त्वार्थ का श्रद्धान कभी नहीं हुआ। बिना तत्त्वार्थश्रद्धान के अहिंसाधर्म की प्राप्ति कैसे हो?

गाथा ४०७ पर प्रवचन

अब, धर्म का दुर्लभपना दर्शाते हैं।

अनादि से आत्मा के स्वरूप को समझे बिना, जीव, अज्ञान से संसार में भटक रहा है। स्व-पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हुई; पूर्व में कभी भी यथार्थमार्ग की प्राप्ति नहीं हुई। अनन्त काल में एक सैकेण्डमात्र के लिए भी वीतराग द्वारा कथित निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ; इसलिए कहीं-कहीं गड़बड़ रह गयी है। अभी तो जैनसम्प्रदाय में भी बहुत फेरफार हो गया है; इसलिए शान्ति से विचारना चाहिए। स्वयं समझे तो समझ सकता है। बहुत पहलूओं से / अपेक्षाओं से कहा जाता है, जो समझेगा, वह परमात्मा होगा।

किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष करने योग्य नहीं है परन्तु मार्ग का स्वरूप जैसा है, वैसा कहे बिना समझ में भी नहीं आ सकता है। इसलिए ऐसा ही विकल्प भी आता है और वाणी तो वाणी के कारण से होती है; इसलिए पक्षपात छोड़कर सत्य का विचार करना चाहिए और यदि मेल न खाये तो पूछना चाहिए।

जीवों को अनादि काल से मिथ्यात्व की ऐसी गाँठ है कि उन्हें जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान भी कभी नहीं हुआ और तत्त्वार्थश्रद्धान के बिना अहिंसाधर्म की प्राप्ति कैसे होगी? ●●

उपसर्ग अवस्था में वस्त्र का संयोग परीषह

कोई मुनि ध्यान में बैठे हों और कोई उन पर वस्त्र डाल जाए तो वहाँ तो उपसर्ग है, वह परिग्रह नहीं है, क्योंकि वहाँ पर मुनि को वस्त्र-ग्रहण की वृत्ति नहीं है। वस्त्र रखकर भी मुनिपना है — ऐसा कोई कहे तो भगवान कहते हैं कि नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्त्रसहित सम्यग्दृष्टिपना हो सकता है, पाँचवाँ गुणस्थान हो सकता है, ब्रह्मचारीपना हो सकता है, परन्तु मुनिपना तो हो ही नहीं सकता। आचार्य भगवान कहते हैं - भाई! वस्तुस्थिति तो ऐसी है। तुझसे इस स्थिति तक नहीं पहुँचा जा सके तो भी श्रद्धा में तो डाँवाडोलपना मत करना। श्रद्धा में तो जैसा है, वैसा स्वीकार करना।

— प्रवचनसार, २१९, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २०-४-१९५१

गाथा ४०८

अब कहते हैं कि अलब्धपूर्व धर्म को पाकर केवल पुण्य के ही आशय से सेवन नहीं करना —

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजणया, पर पुण्णत्थं ण कायव्वा॥

दशधर्म है यह पापनाशक, पुण्य-उत्पादक कहा।
किन्तु केवल पुण्य करने के लिये कर्तव्य ना॥

अन्वयार्थ : [**एदे दहप्पयारा**] ये दश प्रकार के धर्म के भेद, [**पावकम्मस्स णासिया**] पापकर्म को तो नाश करनेवाले [**य पुण्णस्स संजणया**] और पुण्यकर्म को उत्पन्न करनेवाले [**भणिया**] कहे गये हैं [**पर पुण्णत्थं ण कायव्वा**] परन्तु केवल पुण्य ही के प्रयोजन से इनको अङ्गीकार करना उचित नहीं है।

भावार्थ : सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं; चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र, ये पापकर्म कहे गये हैं; दश-लक्षण धर्म को पाप का नाश करनेवाला और पुण्य को उत्पन्न करनेवाला कहा है, सो केवल पुण्योपार्जन का अभिप्राय रखकर इनका सेवन उचित नहीं है क्योंकि पुण्य भी बन्ध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातियाकर्म, उसका नाश करनेवाले हैं और अघातिया में अशुभप्रकृतियों का नाश करते हैं। पुण्यकर्म, संसार के अभ्युदय को देते हैं; इसलिए इनसे (दश धर्म से) पुण्य का भी व्यवहार अपेक्षा बन्ध होता है, सो स्वयमेव होता ही है; उसकी वांछा करना तो संसार की वाँछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ; मोक्षार्थी के यह होता नहीं है। जैसे,

किसान, खेती अनाज के लिये करता है, उसके घास स्वयमेव होती है; उसकी वाँछा क्यों करे? वैसे ही मोक्षार्थी को पुण्यबन्ध की वाँछा करना योग्य नहीं है।

गाथा ४०८ पर प्रवचन

आत्मा का धर्म कहो या मुनि का धर्म कहो, वह एक ही है। ऐसे दश प्रकार के धर्म का फल कहते हैं। वीतराग क्या कहते हैं? उसकी अनन्त काल में प्राप्ति नहीं हुई, अर्थात् ज्ञान–दर्शनपूर्वक आत्मा में रमणता होना, वह धर्म है; उसकी प्राप्ति नहीं हुई। दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रतादि अनन्त बार किये हैं परन्तु धर्म नहीं किया; इसलिए अब कहते हैं कि ऐसे अलब्धपूर्व, अर्थात् पूर्व में किसी समय नहीं प्राप्त किये हुए धर्म को प्राप्त करके, केवल पुण्य के ही आशय से सेवन नहीं करो।

इस प्रकार जो जीव, अनादि काल से मिथ्यात्व से संयुक्त है; जिसे कालादिलब्धि प्राप्त नहीं हुई, उसे यह जिनेश्वरदेव का धर्म, अलब्धपूर्व है, अर्थात् पूर्व में कभी भी उसे प्राप्त नहीं हुआ है।

आत्मा, शुद्ध पवित्र चैतन्यस्वभाव है। उसके अवलम्बन से जो दशा होती है, वह दशलक्षण धर्म है। उससे पाप का नाश होता है। मुनि को वीतरागदशा बहुत बढ़ गयी है परन्तु अभी अपूर्णता है; इसलिए राग के कारण शुभभाव होता है। इससे उस धर्म के कारण पुण्य उपार्जन होता है – ऐसा कहा है परन्तु केवल पुण्य के लिए धर्मी को उसका सेवन नहीं होता है। वस्तुतः धर्म तो गुण का उपार्जन है परन्तु शुभभाव आये बिना नहीं रहता है; इसलिए पुण्य का उपार्जन करता है – ऐसा व्यवहार से कहा गया है परन्तु पुण्य की इच्छा रखनेवाले को तो सम्यग्दर्शन रहता नहीं है।

सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र को तो पुण्यकर्म कहते हैं तथा चार घातिकर्म, असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र को पापकर्म कहते हैं। अब, यहाँ यह दशलक्षण धर्म, पाप को नष्ट करनेवाला और पुण्य को उपार्जन करनेवाला कहा गया है; वहाँ केवल पुण्य उत्पन्न करने का अभिप्राय रखकर उसका सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुण्य भी बन्ध ही है और धर्म तो, पाप जो घातिकर्म है, उसका नाश करनेवाला है तथा अघाति में जो अशुभप्रकृति है, उसका नाश करता है। पुण्यकर्म है, वह सांसारिक अभ्युदय को

देता है। अब उससे (दशलक्षण धर्म से) व्यवहार-अपेक्षा से पुण्य का भी बन्ध होता है तो वह स्वयमेव ही होता है परन्तु उसकी वाँछा करना तो संसार की ही वाँछा करने के समान है और वह तो निदान, अर्थात् चौथा आर्तध्यान हुआ; वह मोक्ष के जिज्ञासु को नहीं होता है। जैसे, किसान, अनाज के लिए खेती करता है, उसे घास तो स्वयमेव ही होती है; वह उसकी वाँछा किसलिए करेगा? इसी प्रकार मोक्ष के अर्थी को पुण्यबन्ध की वाँछा करना उचित नहीं है।

निश्चय से तो आत्मा, जब स्वभाव का आश्रय करता है, तब व्यवहार से वह पाप का नाश करता है और पुण्य को उत्पन्न करता है – ऐसा कहा जाता है। ज्ञानी को भी राग होता है, उसमें सातावेदनीय बँधती है; इस कारण पैसा, प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्रादिक प्राप्त होते हैं परन्तु धर्मी को उनकी रुचि नहीं होती है। इस प्रकार उसे (ज्ञानी को) सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र – इन चार अघातिकर्मों में इन आधे का बन्ध पड़ता है और शेष आधे का – चार अघाति के अशुभ का तथा घातिकर्म का वह नाश करता है। इस प्रकार धर्मी जीव, पाप का नाश और पुण्य का उपार्जन करता है परन्तु पुण्य को चाहता नहीं है। पुण्य की रुचि करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। जैसे, दुष्काल में अनाज के बदले घास मिले तो प्रसन्नता होती है; इसी प्रकार अज्ञानी, पुण्य करने से प्रसन्न होता है क्योंकि उसे वहाँ धर्म का दुष्काल वर्तता है। अच्छा किसान तो अनाज के लिए खेती करता है, उसमें घास हो जाती है; इसी प्रकार ज्ञानी को धर्म की भावना होती है, उसमें शुभभाव हो जाता है; धर्मी को शुभभाव की इच्छा नहीं होती है।

आत्मा की पहचानपूर्वक का जो शुभभाव होता है, उसका पुण्यबन्ध जगत के दूसरे साधारण प्राणियों की तुलना में दूसरे प्रकार का होता है। चक्रवर्ती, इन्द्रपद, बलदेव आदि के उत्कृष्ट पुण्यकर्म, धर्मी को होते हैं परन्तु वे उनकी रुचि नहीं करते। देखो, समयसार, प्रवचनसार आदि अध्यात्मग्रन्थों में तो पुण्य का निषेध आता है परन्तु यहाँ स्वामी कार्तिकेयाचार्य भी पुण्य का निषेध करते हैं क्योंकि वीतरागी शान्ति के अर्थी को पुण्य की इच्छा करना योग्य नहीं है। सर्वज्ञ का धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है; बीच में शुभभाव आवें, उनकी वाँछा करना योग्य नहीं है।●●

गाथा ४०९

अब, इसी बात को विशेष दृढ़ करते हैं —

पुण्णं पि जो समच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुग्गई हेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं॥

जो पुण्य को है चाहता, संसार ही वह चाहता ।
पुण्य शुभ गति हेतु एवं मोक्ष, शुभ क्षय से कहा॥

अन्वयार्थ : [जो पुण्णं पि समच्छदि] जो पुण्य को चाहता है, **[तेण संसारो ईहिदो होदि]** वह पुरुष, संसार ही को चाहता है **[पुण्णं सुग्गई हेदुं]** क्योंकि पुण्य, सुगति के बन्ध का कारण है **[णिव्वाणं पुण्णखएणेव]** और मोक्ष, पुण्य के भी क्षय से होता है।

भावार्थ : पुण्य से सुगति होती है; इसलिए जिसने पुण्य को चाहा, उसने संसार ही को चाहा क्योंकि सुगति है, वह संसार ही है। मोक्ष तो पुण्य का भी नाश होने पर होता है; इसलिए मोक्षार्थी को पुण्य की वाँछा करना योग्य नहीं है।

गाथा ४०९ पर प्रवचन

जो पुण्य को भी चाहता है, उस पुरुष ने वास्तव में संसार को चाहा है। इसका कारण यह है कि पुण्य, सुगति के बन्ध का कारण है और मोक्ष तो पुण्य का भी क्षय करने से प्राप्त होता है। वीतरागीधर्म, वीतरागता के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। वीतराग के वाड़ा में / सम्प्रदाय में आकर भी यदि पुण्य की इच्छा करे तो उसे धर्म नहीं होता है। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह बन्ध की इच्छा करता है और इसलिए वह संसार के परिभ्रमण का कारण होता है। पुण्यबन्ध से देव या मनुष्य होगा, परन्तु उससे कहीं आत्मा का कल्याण नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तो पुण्यकर्म के नाश से होता है और इसलिए पुण्य, मोक्ष का कारण नहीं होता है।

अज्ञानी कहता है कि 'धर्म से ही धन प्राप्त होता है और धन से धर्म होता है' परन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि धन का योग तो पुण्य से होता है; धर्म से नहीं होता है और धन से धर्म तो होता ही नहीं, परन्तु पुण्य भी धन से नहीं होता, क्योंकि पैसा परवस्तु है। पुण्य और धर्म तो आत्मा के परिणाम से होता है। उसमें पुण्य तो बन्ध का कारण है; इसलिए पुण्य की चाह भी नहीं करना चाहिए - ऐसा यहाँ कहते हैं।।

आशय यह है कि पुण्य से सुगति प्राप्त होती है; इसलिए जिसने पुण्य चाहा है, उसने संसार ही चाहा है क्योंकि सुगति भी संसार ही है। मोक्ष तो पुण्य का भी क्षय होने पर होता है; इसलिए मोक्षार्थी को पुण्य भी वाँछा करने योग्य नहीं है।●●

मुनिराज को आहार के समय रोने की आवाज से अन्तराय

अहा! मुनिराज तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में झूलनेवाले हैं! कभी आहार की वृत्ति उत्पन्न हो और आहार लेने जाएँ, वहाँ किसी के रोने की आवाज कान में पड़ जाए तो वापस मुड़ जाते हैं। अरे! हम तो आनन्द-मङ्गलकारी मोक्षदशा को साधने निकले हैं, वहाँ यह रुदन कैसा? हम चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले, वहाँ बीच में ऐसे रुदन के निमित्त क्यों? इस प्रकार अन्तरङ्ग में आनन्द की उग्रता द्वारा आहार की वृत्ति को एकदम तोड़ देते हैं। जहाँ कोई रो रहा हो, वहाँ मुनि आहार नहीं लेते। आनन्द के जोर से आहार की वृत्ति सहज टूट जाती है, परन्तु 'आज हमारे आहार का अन्तराय पड़ा' - ऐसा मुनि को नहीं लगता। मुनिदशा अत्यन्त आनन्दमयदशा है।

— प्रवचनसार, कलश १४, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २०-४-१९५१

गाथा ४१०-४११

जो अहिलसेदि पुण्णं, सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही, विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
पुण्णासाए ण पुण्णं, जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण, जइणो, पुण्णे वि म आयरं कुणह॥

कषाययुत हो विषय तृष्णा से जो चाहे पुण्य को।
उसको विशुद्धि दूर है, जो मूल कारण पुण्य की॥
पुण्य वाञ्छा से न हो, इच्छा रहित को पुण्य हो।
यह जानकर भी हे यतीश्वर! पुण्य-आदर मत करो॥

अन्वयार्थ : [जो सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए पुण्णं अहिलसेदि] जो कषायसहित होता हुआ, विषयसुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, **[तस्स विसोही दूरे]** उसके (मन्दकषाय के अभाव के कारण) विशुद्धता दूर है **[पुण्णाणि विसोहिमूलाणि]** और विशुद्धता है मूलकारण जिसका, ऐसा पुण्यकर्म है।

[जदो पुण्णासाए पुण्णं ण] क्योंकि पुण्य की वाँछा से तो पुण्यबन्ध होता नहीं है **[णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती]** और वाँछारहित पुरुष के पुण्य का बन्ध होता है; **[जइणो इय जाणिऊण]** इसलिए हे यतीश्वरों! ऐसा जानकर **[पुण्णे वि म आयरं कुणह]** पुण्य में भी आदर (वाँछा) मत करो।

भावार्थ : विषयों की तृष्णा से पुण्य को चाहना, तीव्रकषाय है। पुण्य का बन्ध, मन्दकषायरूप विशुद्धता से होता है; इसलिए जो पुण्य चाहता है, उसके आगामी पुण्यबन्ध भी नहीं होता है; निदानमात्र फल हो तो हो।

यहाँ मुनिराज को उपदेश है कि पुण्य की वाँछा से पुण्यबन्ध नहीं होता है; आशा मिटने पर होता है, इसलिए पुण्य की भी आशा मत करो; अपने स्वरूप की प्राप्ति की आशा करो।

गाथा ४१०-४११ पर प्रवचन

जो जीव, कषायसहित होता हुआ, विषयसुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उसे मन्दकषाय के अभाव से विशुद्धता दूर वर्तती है और पुण्यकर्म है, वह तो विशुद्ध, अर्थात् जिसका मूलकारण मन्दकषाय है – ऐसा है।

पुण्य की रुचिवाले को विषयसुख की तृष्णा है, अर्थात् उसे आत्मा की रुचि नहीं है; इसलिए वह पापभाव है; वहाँ तो पुण्यभाव भी नहीं है। अभी तो जगत् में धर्म के नाम से ऐसी मूढ़ता चल रही है कि पुण्य करो.... पुण्य करो तो धर्म होगा.... परम्परा से धर्म होगा। अभी पुण्य किया होगा तो भविष्य में महाविदेहक्षेत्र में जाऊँगा और वहाँ धर्म प्राप्त करूँगा – ऐसा माननेवाले को पुण्य की रुचि है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे पुण्य की भावना से उच्च पुण्यबन्ध भी नहीं होता है।

दया, दान, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव होते हैं, उनकी जिसे भावना है, उसे विषयों की तृष्णा है क्योंकि उन भावों के फल में आत्मा नहीं मिलता, परन्तु पाँच इन्द्रिय के विषय ही मिलते हैं और इसलिए वह पापभाव है। इस प्रकार आत्मा के वीतरागीधर्म की अपेक्षा से पुण्य तो बन्ध का कारण होने से, पुण्य के ऊपर तो घन पड़ते हैं क्योंकि पुण्यबन्ध से धर्म नहीं होता और पुण्य की इच्छा से पाप होता है; इसलिए पुण्य की इच्छा करने योग्य नहीं है।

अहमदाबाद के माणिकचौक में एक जवाहरात का व्यापारी था। उसका पुण्य परिवर्तित हुआ तो सारी स्थिति परिवर्तित हो गयी, परन्तु अन्दर में से मिठास नहीं गयी थी। वह ऐसी भावना भाता था कि मरकर माणिकचौक का जवाहरात का व्यापारी होऊँ तो अच्छा! अब यह तो पापभाव है; इसलिए व्यापारी तो नहीं होगा, परन्तु झवेरी की गाड़ी का घोड़ा होगा। जब वह भोजन करने बैठता, तब चावल के दाने डालकर पन्द्रह-बीस कौओं को बुलाकर फिर भोजन करता था क्योंकि जब उसकी स्थिति अच्छी थी, तब पन्द्रह-बीस लोगों को साथ में लेकर भोजन करता था। उसकी मिठास मिटी नहीं थी; इसलिए व्यर्थ प्रयत्न करता था परन्तु ऐसे माँगने से (कहीं कुछ) मिलता नहीं है। ज्ञानी तो पुण्य को भी नहीं चाहता है; चक्रवर्ती का

राज्य हो या इन्द्रपद हो, परन्तु उसे तिनके के समान मानता है; उसे चाहता नहीं है। अज्ञानी, पुण्य को चाहता है; इसलिए उसे पुण्यबन्ध तो होता नहीं, परन्तु निदानमात्र फल होवे तो होता है। इसका कारण यह है कि पुण्य के वाँछा से कहीं पुण्यबन्ध नहीं होता, अपितु वाँछारहित पुरुष को पुण्यबन्ध होता है। ऐसा जानकर हे यतीश्वर! तुम पुण्य में भी वाँछा -आदरभाव मत करो।

कोई राजा या सेठपद की वाँछा करता है तो उसे पुण्यबन्ध तो नहीं होता, परन्तु अकेला पापबन्ध होता है। 'त्यागे, उसके आगे और माँगे, उससे भागे' - इस कहावत के अनुसार जिसे पुण्य की इच्छा नहीं है, उसे अच्छा पुण्य बँधता है और जिसे इच्छा है, उसे पुण्यबन्ध नहीं होता, अपितु पापबन्ध होता है। यहाँ यतीश्वर को, अर्थात् मुनि को सम्बोधित करके कहा गया है परन्तु श्रावक की बात भी इसमें गर्भितरूप से आ जाती है; अर्थात्, ज्ञानी / धर्मी को पुण्य की इच्छा करना योग्य नहीं है - ऐसा समझना चाहिए। ●●

सवस्त्र मुनिपना माननेवाले को सच्चा श्रावकपना भी नहीं

आत्मद्रव्य में मुनिपने की निर्मलपर्याय प्रगट हो, उसका स्वभाव तो ऐसा है। जो उस निर्मल पर्याय के स्वभाव को नहीं पहिचानता, उसने द्रव्य को नहीं पहचाना है। वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले को तो सच्ची श्रावकदशा भी नहीं रहती। उसकी अपेक्षा तो सच्ची श्रद्धावाला श्रावक अच्छा है। अहो! सन्तों ने ऐसा मुक्तिमार्ग कहा है, ऐसा मुक्तिमार्ग है, उसका अपवाद नहीं करना, विपरीत नहीं मानना। भाई! यह कोई पक्ष नहीं है। जो इसका विरोध करेगा, वह संसार में परिभ्रमण करेगा, परन्तु मार्ग अन्य प्रकार से नहीं होगा। *— प्रवचनसार, २१९, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २०-४-१९५१*

गाथा ४१२

पुण्णं बंधदि जीवो, मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया, हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा॥

परिमाण मन्द कषाय से है, पुण्य बँधता जीव को।
इसलिए मन्द कषाय हेतु, पुण्य का, नहिं वाञ्छा॥

अन्वयार्थ : [जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो] जीव, मन्दकषायरूप परिणमता हुआ, **[पुण्णं बंधदि]** पुण्यबन्ध करता है, **[तह्मा पुण्णस्स हेऊ मंदकसाया]** इसलिए पुण्यबन्ध का कारण मन्दकषाय है; **[वंछा ण हि]** वाँछा, पुण्यबन्ध का कारण नहीं है।

भावार्थ : पुण्यबन्ध, मन्दकषाय से होता है और इसकी वाँछा है, वह तीव्रकषाय है; इसलिए वाँछा नहीं करना चाहिए। निर्वांछक पुरुष के पुण्यबन्ध होता है। यह लोक में भी प्रसिद्ध है कि जो चाह करता है, उसको कुछ नहीं मिलता है; बिना चाहवाले को बहुत मिलता है, इसलिए वाँछा का तो निषेध ही है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि अध्यात्मग्रन्थों में तो पुण्यनिषेध बहुत किया और पुराणों में पुण्य ही का अधिकार है; इसलिए हम तो यह जानते हैं कि संसार में पुण्य ही बड़ा है, इसी से तो यहाँ इन्द्रियों के सुख मिलते हैं और इसी से मनुष्यपर्याय, उत्तम संगति, उत्तम शरीर, मोक्षसिद्धि के उपाय मिलते हैं; पाप से नरक-निगोद में जावे, तब मोक्ष का भी साधन कहाँ मिलेगा? इसलिए ऐसे पुण्य की वाँछा क्यों नहीं करना चाहिए?

इसका **समाधान** – यह कहा, सो तो सत्य है परन्तु भोगों की लिए पुण्य की वाँछा का अत्यन्त निषेध है। जो भोगने के लिए पुण्य की वाँछा करता है, उसके पहले तो सातिशय पुण्यबन्ध ही नहीं होता है और यहाँ तपश्चरणादिक से कुछ पुण्य बाँध कर भोग पाता है तो

अति तृष्णा से भोगों को भोगता है, तब नरक-निगोद ही पाता है। बन्ध-मोक्ष के स्वरूप साधने के लिए पुण्य पाता है, उसका निषेध नहीं है। पुण्य से मोक्ष साधने की सामग्री मिले - ऐसा उपाय रखे तो परम्परा से मोक्ष ही की वाँछा हुई; पुण्य की वाँछा तो नहीं हुई। जैसे, कोई पुरुष भोजन करने की वाँछा से रसोई की सामग्री इकट्ठी करता है, उनको वाँछा पहले होवे तो भोजन ही की वाँछा कहना चाहिए और भोजन की वाँछा के बिना, केवल सामग्री ही की वाँछा करे तो सामग्री मिलने पर भी प्रयासमात्र ही हुआ; कुछ फल तो नहीं हुआ - ऐसा जानना चाहिए। पुराणों में पुण्य का अधिकार भी मोक्ष ही के लिये है; संसार का तो वहाँ भी निषेध ही है।

दशलक्षण धर्म, दयाप्रधान है और दया, सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है क्योंकि सम्यक्त्व, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - इन तत्त्वार्थ के ज्ञानपूर्वक श्रद्धानस्वरूप है। इसके यह होवे, तब सब जीवों को अपने समान ही जानता है। उनको दुःख होता है तो अपने समान जानता है, तब उनकी करुणा होवे ही और अपना शुद्धस्वरूप जाने, कषायों को अपराध (दुःख) रूप जाने, इनसे अपना घात जाने, तब अपनी दया, कषायभाव के अभाव को मानता है; इस तरह अहिंसा को धर्म जानता है, हिंसा को अधर्म जानता है - ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उसके निःशङ्कित आदि आठ अङ्ग हैं, उनको जीवदया ही पर लगाकर कहते हैं।

गाथा ४१२ पर प्रवचन

वीतराग के मार्ग में कोई भी शास्त्र लो तो एक ही बात कहते हैं कि आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है; पुण्य के आश्रय से धर्म नहीं होता। जो शास्त्र, पुण्य से धर्म होना कहते हैं, वे आत्मा से धर्म होता है - ऐसा नहीं कहते; इसलिए उन शास्त्रों को नहीं मानना चाहिए।

शुभभाव, परम्परा से मोक्ष का कारण है - इस प्रकार जिसका शुभभाव पर वजन है, उसे भी विकार की रुचि है। जिसने पुण्य को मधुर माना है, उसे धर्म तो होता ही नहीं, परन्तु सच्चा पुण्य, (अर्थात्, पुण्यानुबन्धी पुण्य) भी नहीं होता, क्योंकि परिणाम में लोभ घटाना, वह पुण्य का कारण है परन्तु पुण्य की इच्छा, पुण्य का कारण नहीं है; इसलिए पुण्य की इच्छा छोड़ने योग्य है।

अब, प्रश्नकार **प्रश्न** करता है कि अध्यात्मग्रन्थों में तो पुण्य का बहुत निषेध किया है और पुराणों में, अर्थात् प्रथमानुयोग में पुण्य का ही अधिकार है; इसलिए हम तो ऐसा जानते

हैं कि संसार में पुण्य ही बड़ी वस्तु है, उससे तो यहाँ इन्द्रियों का सुख प्राप्त होता है – मनुष्य-पर्याय, उत्तम सङ्गति, भला शरीर और मोक्षसाधन के उपाय, पुण्य से प्राप्त होते हैं; जबकि पाप से तो नरक-निगोद की प्राप्ति होती है तो वहाँ मोक्ष का साधन भी कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिए ऐसे पुण्य की वांछा क्यों नहीं करना चाहिए?

देखो! शिष्य कहता है कि आदिपुराण, पद्मपुराण आदि में पुण्य के स्वरूप का वर्णन किया है; इसलिए पुण्य आदरणीय है। शिष्य ने दो बातें पकड़ी हैं कि पुराण क्या कहते हैं और अध्यात्मग्रन्थों में क्या कहते हैं? अध्यात्मशास्त्र में तो पुण्य की इच्छा नहीं करना – ऐसा कहा है, वह यथार्थ है परन्तु संसार में पुण्य बड़ी वस्तु है। पुण्य होवे तो 'गाँजीभाई' कहलाता है; पुण्य के बिना उसे 'गांगली' कहा जाता है। पुण्य के कारण, लक्ष्मी इत्यादि गयी हुई वस्तु वापस प्राप्त होती है और पाप का उदय होवे तो सुरक्षित रखी हुई वस्तु चली जाती है; इसलिए पुण्य अच्छा है – ऐसा शिष्य कहता है और पुण्य के कारण गुरुवाणी का योग होता है, पुण्य के कारण से महाविदेह में भगवान के पास जाया जा सकता है और पुण्य होवे तो सोनगढ़ में रहा जा सकता है! – ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

श्रीगुरु **उत्तर** देते हैं कि पुण्य से तो बाहर की सामग्री प्राप्त होती है, उसमें आत्मा को क्या लाभ! आत्मा — मैं चैतन्यद्रव्य हूँ – ऐसी दृष्टि नहीं करे तो महाविदेह में जाए या सोनगढ़ में रहे, परन्तु उसके आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है।

शिष्य फिर से कहता है कि पुण्य से खाने-पीने के साधन प्राप्त होते हैं, मनुष्यभव मिलता है, लोगों में आदर होता है और मोक्ष के निमित्त भी पुण्य के निमित्त से मिलते हैं तथा पाप के कारण जीव, नरक-निगोद में जाता है और वहाँ मोक्ष के साधन प्राप्त नहीं होते; इसलिए पुण्य की इच्छा करना चाहिए।

श्रीगुरु उसका **समाधान** करते हैं — यह कहा, वह तो सत्य है परन्तु मात्र भोग के लिए पुण्य की वाँछा का अत्यन्त निषेध है क्योंकि भोग की वाँछा से अच्छा पुण्य भी नहीं होता; इसलिए पुण्य भी इच्छा करने योग्य नहीं है। पुण्य से तो बाहर की सामग्री प्राप्त होती है परन्तु आत्मा का धर्म नहीं होता; इसलिए पुण्य भी आदरणीय नहीं है।

यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि अध्यात्मग्रन्थों में पुण्य का निषेध बहुत किया है। आत्मा

शुद्ध चिदानन्द है, ज्ञान ही वस्तु है, उसका ही आदर होना चाहिए। उसकी रुचि करके–आदर करके एकाग्र उसमें होवे, वह धर्म है। पुण्य का आदर करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है – ऐसा अध्यात्मग्रन्थों में कहा है, जबकि पुराणों में पुण्य का बड़ा अधिकार है। भगवान ने भी पुण्य की बात की है। पुण्य बड़ी चीज है। पुण्य से लोग सम्मान देते हैं, निर्विघ्नरूप से धर्म होता है तथा इन्द्रिय सुख के साधन प्राप्त होते हैं, अच्छी सम्पत्ति मिलती है, त्रिलोकनाथ तथा उनकी वाणी भी पूर्व के पुण्य से प्राप्त होती है, निरोगी शरीर मिलता है और मोक्षसाधन के निमित्त देव–गुरु–शास्त्र इत्यादि भी पुण्य से प्राप्त होते हैं, जबकि पाप से तो नरक–निगोद में जाए तो वहाँ मोक्ष का साधन भी कहाँ से मिलेगा? इसलिए ऐसे पुण्य की वांछा क्यों नहीं करना चाहिए?

इसका **समाधान** यह है कि पुण्य से ऐसे निमित्त प्राप्त होते हैं, यह बात तो सत्य है परन्तु भोग के लिए पुण्य की इच्छा करने का अत्यन्त निषेध है। पुण्य की इच्छा करना, वह अशुभभाव, अर्थात् तीव्रकषाय है; इसलिए सातिशय पुण्य नहीं बँधता है। यहाँ तपश्चरण करके, व्रत करके दया, दानादि परिणाम से पुण्य बाँधकर, भोग प्राप्त करता है परन्तु मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ – ऐसी रुचि नहीं हुई; इसलिए विषयों को भोगेगा और तत्त्व का विरोध करेगा तो निगोद में जाएगा और तीव्रपाप करेगा तो नरक में जाएगा।

बन्ध–मोक्ष का स्वरूप क्या है? – उसका ज्ञान होने से देव–गुरु–शास्त्र का योग मिले, वैसा पुण्य पाये, उसका तो निषेध नहीं है क्योंकि अपूर्णदशा में ऐसा राग आये बिना नहीं रहता है; बिलकुल ऐसा राग आता ही नहीं – ऐसा नहीं है।

प्रश्न : विपरीत प्ररूपणा करनेवालों का योग मिले और आत्मज्ञान सुनानेवाले मिलें – इन दोनों के पुण्य में क्या अन्तर है?

समाधान : कुदेव–कुगुरु आदि मिलें और उनके निमित्त से राग मन्द किया, उस पुण्य के फल में विपरीत प्ररूपणा करनेवाले मिलते हैं और सच्चे देव तथा वीतरागमार्ग की अनुमोदना करके राग मन्द किया हो, उसके फल में सच्ची बात कहनेवाले मिलते हैं। ऐसा योग अनन्त बार मिल चुका है। दिव्यध्वनि सुनी, परन्तु निमित्त और राग से रहित आत्मा की रुचि के बिना सच्चा ज्ञान नहीं हुआ है।

पुण्य से मोक्षसाधन की सामग्री मिले – ऐसा उपाय रखे, अर्थात् जीव को स्वरूप की पूर्ण शुद्धि न हो, वहाँ तक वैसे विकल्प आते हैं। मेरा आत्मा, शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसे निमित्तरूप से भगवान मिलें – ऐसी इच्छा में भी परम्परा मोक्ष की इच्छा है, आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रधानता है; पुण्य की इच्छा नहीं है। जैसे कोई पुरुष, भोजन करने की इच्छा से रसोई की सामग्री इकट्ठी करे तो भोजन की इच्छा कहलाती है परन्तु भोजन की इच्छा के बिना, मात्र सामग्री की इच्छा करे और सामग्री इकट्ठी किया करे तो वह प्रयासमात्र हुआ, परन्तु कुछ फल नहीं हुआ। एक व्यक्ति पैसे के बिना जैनशालाओं में जिमावे, संघ को जिमावे, परन्तु उसके खर्च के पैसे नहीं चुकावे तो जैसे वह व्यक्ति ठग है, वैसे ही शुद्ध आत्मा कौन है ? – उसकी रुचि के बिना, पुण्य इकट्ठा करना चाहता है, वह ठग है।

पुराणों में पुण्य का अधिकार है। वहाँ भी पुण्य का अभाव करके मोक्ष की शुद्धता प्रगट कर – ऐसा कहा है परन्तु पुण्य से मोक्ष होता है – ऐसा नहीं कहा है। पुण्य होगा तो देव में जाऊँगा और वहाँ से भगवान के पास जाऊँगा; भगवान की वाणी सुनूँगा – ऐसा कितने ही कहते हैं। यहाँ पुण्य की रुचि करके भगवान का विरोध करता है तथा विरोध लेकर हो जाता है तो भगवान से तू क्या समझनेवाला था ? इसलिए पुण्य की रुचि छोड़कर, आत्मा की रुचि कर – ऐसा कहकर वहाँ संसार का निषेध किया है।

दशलक्षण धर्म है, वह दया प्रधान है। रागरहित आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। मुनिराज के धर्म के दश दिन भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से चतुदर्शी तक आते हैं। रागरहित आत्मा का स्वभाव, वही दया है – ऐसी आत्मदया, वही सम्यग्दर्शन का मुख्य चिह्न है; राग अथवा पुण्य, समकित का चिह्न नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व नव तत्त्वार्थों के ज्ञानपूर्वक श्रद्धास्वरूप है। मैं जीव हूँ, वैसे ही दूसरे जीव भी हैं। मैं दूसरे जीव को बचा सकता हूँ या मार सकता हूँ, यह बात है ही नहीं। इसी प्रकार अजीव को अजीव मानें; पुण्य को पुण्य मानें; पाप को पाप मानें; आस्रव को आस्रव; बन्ध को बन्ध मानें; संवर को संवर; निर्जरा को निर्जरा; मोक्ष को मोक्ष मानें – इस प्रकार शुद्धस्वभाव को शुद्ध स्वीकार करना, पुण्य इत्यादि को बन्ध का कारण स्वीकार करना योग्य है।

दूसरे जीवों को स्वतन्त्र मानना, वह अहिंसा है। मैं पर को मार सकता हूँ या बचा सकता

हूँ – ऐसा माननेवाले ने जीव के ज्ञानस्वरूप को नहीं माना है। शुभराग से धर्म माना, वह हिंसा है। जीव को अनादि से ऐसी उल्टी बात जम गयी है। आत्मा, ज्ञानस्वभावी है, ज्ञान की मूर्ति है, इस प्रकार ज्ञान में पकड़ाये बिना, लाख व्यवहार करे तो उसमें कुछ दम नहीं है। वीतरागदेव कहते हैं कि हम तुझसे पर हैं, वाणी पर है, तेरा शुभभाव भी तेरे शुद्ध चैतन्य से पर है; उससे तुझे लाभ नहीं है; तेरे शुद्ध चैतन्य के आश्रय से लाभ है। इस प्रकार जीव को जीवरूप से; पुण्य को पुण्यरूप से मानकर इत्यादि – नव तत्त्वों को मिलावट नहीं होने दे – ऐसे ज्ञानपूर्वक श्रद्धा, वह सम्यक्त्व है। इस प्रकार उसका निशान, वह दया है, वह अरागी तत्त्व है। जो पर की, राग की और निमित्त की सन्धि तोड़ता है, वह स्वभाव की सन्धि जोड़ता है, यह समकित का चिह्न है।

यदि ऐसा हो तो समस्त जीवों को अपने समान अवश्य जाने कि सभी जीव, शक्ति अपेक्षा से समान हैं। 'उन्हें दुःख होता है तो स्वयं के दुःख के समान जाने', अर्थात् अपने निमित्त से सामनेवाले जीव को दुःख होवे तो समझे कि मुझे अभी राग है तथा सामनेवाले जीव को अभी राग है; इसलिए उसकी करुणा अवश्य होती है। यहाँ करुणा का अर्थ समझनेयोग्य है। अपना आत्मा, शुद्ध चैतन्यमूर्ति है – ऐसा ज्ञान होने पर नव के नव तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा –ज्ञान होते हैं। अपना आत्मा, स्वभाव से परिपूर्ण भगवान है, और पर्याय में राग है परन्तु वह राग, स्वभाव में नहीं है – ऐसा समझकर अनन्त जीव भी, द्रव्य से परिपूर्ण भगवान हैं और पर्याय में राग है; इस प्रकार जैसे हैं, वैसे समझ में रखना, वह करुणा है। ऐसी जीव की सत्ता की स्वीकृति, वह जीव की करुणा है। वह जीव, उसके शरीर को रख नहीं सकता तो तू उसके शरीर को किस प्रकार रख सकता है ? चैतन्यस्वभाव परिपूर्ण है और क्षणिक पर्याय में अपूर्ण है – ऐसी प्रतीति और ज्ञान करना, वह करुणा है।

जो ऐसा मानता है कि मैं पर की दया पालन कर सकता हूँ, उसने पर्याय स्वतन्त्र नहीं मानी है; इसलिए उसने अपने स्वभाव का घात किया है।

जब अपने आत्मा को शुद्धस्वरूप जाने, तब राग-द्वेषादि को दुःखरूप जाने और उन भावों से अपना घात जाने, तब कषायभावों के अभाव को अपनी दया माने और दूसरे को दुःख होवे – ऐसा भाव न होने दे, वह पर की दया है। इस प्रकार अहिंसा को धर्म जानकर तथा हिंसा को अधर्म माने – ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उसके निशंकितादि आठ अङ्ग हैं, उन्हें जीवदया पर ही लगाकर यहाँ कहते हैं। ●●

गाथा ४१३

पहले नि:शङ्कितअङ्ग को कहते हैं —

किं जीवदया धम्मो, जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादिसंका, तदकरणं जाण णिस्संका॥

क्या जीव रक्षा धर्म है, या यज्ञ हिंसा भाव में।
इत्यादि शंका जो करे नहिं, वह नि:शंकित अंग हैं॥

अन्वयार्थ : [किं जीवदया धम्मो] यह विचार करना कि क्या जीवदया धर्म है? **[जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो]** अथवा यज्ञ में पशुओं के वधरूप हिंसा होती है, वह धर्म है? **[इच्चेवमादिसंका]** इत्यादि धर्म में संशय होना, वह शङ्का है। **[तदकरणं णिस्संका जाण]** इसका नहीं करना, वह नि:शङ्का है – ऐसा जान।

भावार्थ : यहाँ आदि शब्द से क्या दिगम्बर यतीश्वरों को ही मोक्ष है अथवा तापस पञ्चाग्नि आदि तप करते हैं, उनको भी है? क्या दिगम्बर को ही मोक्ष है या श्वेताम्बर को भी है? केवली कवलाहार करते हैं या नहीं करते हैं? स्त्रियों को मोक्ष है या नहीं? जिनदेव ने वस्तु को अनेकान्त कहा है, वह सत्य है या असत्य है? – ऐसी आशङ्काएँ नहीं करना, सो नि:शङ्कितअङ्ग है।

गाथा ४१३ पर प्रवचन

यह विचार करना कि क्या जीवदया, धर्म है? अथवा यज्ञ में पशुओं के वधरूप हिंसा होती है, वह धर्म है? 'इत्यादि' धर्म में संशय होना, वह शङ्का है, और ऐसी शङ्का नहीं करना, वह नि:शङ्कितगुण है।

यहाँ 'आदि' शब्द से यह कहा गया है कि दिगम्बर मुनि का ही मोक्ष है या पञ्चाग्नि

तप करनेवलो का भी मोक्ष है ? जो लोग अग्नि में शरीर को जलाते हैं, उनका भी मोक्ष होता होगा – ऐसी शङ्का, धर्मी को नहीं होती है। धर्मी तो नि:शङ्करूप से समझता है कि शरीरादि की क्रिया तो बाह्यक्रिया है वहाँ किञ्चित राग मन्द करे, वह भी धर्म नहीं है। शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार – ऐसे पाँच आचार, वे पञ्चाग्नि के करनेवाले हैं और वही मोक्ष का कारण है।

दिगम्बर का मोक्ष है या श्वेताम्बरादि का भी है – ऐसी शङ्का नहीं होना चाहिए और वह निशङ्कितअङ्ग है। वस्त्र रखने का राग रखकर मोक्ष होता होगा या वस्त्ररहित निर्ग्रन्थदशा में मोक्ष होता होगा ? – ऐसी शङ्का नहीं होना, वह निशङ्कितपना है।

प्रश्न : मूर्च्छा के बिना वस्त्र रखे तो क्या आपत्ति है ?

समाधान : मुनिराज को छठवे गुणस्थान की भूमिका में अरागी / वीतरागी अहिंसा है, उन्हें शरीर के अतिरिक्त किसी भी संयोग के प्रति मूर्च्छा (अर्थात्, अस्थिरताजन्य राग) नहीं होती है। केवलज्ञान लेने की तैयारीवाले मुनि तो क्षण में सातवें और क्षण में छठवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते हैं, आनन्द में झूलते हैं; उन्हें वस्त्र के रागवाली दशा नहीं होती है। रागवाली दशा को चारित्र मानना, हिंसा है।

जिस प्रकार पञ्चाग्नि तप करनेवाले और दिगम्बर मुनि के बीच अन्तर है; वैसा ही अन्तर श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच है। परमार्थ से श्रद्धा-अपेक्षा से श्वेताम्बर और पञ्चाग्नि तपवाले में कोई अन्तर नहीं है। इस मार्ग में ढीलापन / शिथिलता चले – ऐसा नहीं है। सर्वज्ञ के मार्ग में निर्ग्रन्थ मुनिपना एक ही प्रकार से है।

प्रश्न : पञ्चम काल है, इसलिए छूट देनी पड़ेगी न ?

समाधान : मुनिपने का पालन न कर सके तो श्रावक और ब्रह्मचारीरूप में रह सकता है। दूधपाक बनने में देरी हो तो लड़के को दो घण्टे भूखा रखकर भी दूधपाक तैयार होने देता है परन्तु जहर-गरल पड़ा हुआ भोजन खाने को नहीं दिया जाता। इसी प्रकार मुनिपने का पालन न किया जा सके तो श्रावक और ब्रह्मचारी रहे, परन्तु वस्त्रसहित मुनिपना नहीं माना जा सकता।

जिसे वीतरागमार्ग समझना हो, उसे प्रत्येक वस्तु समझना पड़ेगी। छठवें गुणस्थान में कितना राग घटा है और निमित्त का कितना अवलम्बन घटा है? – यह समझना चाहिए। जो जो जीव, भगवान को आहार मानते हैं, और भोजन मिले तो क्षुधा मिटती है – ऐसा मानते हैं, वे तीर्थङ्कर को प्रबल असाताकर्म मानते हैं, अर्थात् उनके जीव ने पूर्व में उस प्रकार का राग नहीं तोड़ा, जिस कारण असाता में तीव्ररस होता है और इसलिए भगवान को आहार के बिना नहीं चल सकता – ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु यह बात मिथ्या है। चारित्रदशा प्रगट करके ध्यान में ऐसा राग टूट जाता है, उसके कारण से असाताकर्म में तीव्ररस नहीं रहता है। लोगों को विचार करना पड़ेगा। छठवें गुणस्थान के बाद आहार होता ही नहीं है और दूसरी बात ऐसी है कि वेदनीयकर्म की उदीरणा के बिना आहार नहीं हो सकता। यदि वेदनीयकर्म के उदयमात्र से आहार होवे तो प्रत्येक समय आहार होना चाहिए क्योंकि वेदनीयकर्म का उदय तो प्रत्येक समय है; इसलिए निश्चित होता है कि वेदनीयकर्म का उदय होने पर भी, उसकी उदीरणा होने पर ही आहार ग्रहण करने का भाव होता है। छठवें गुणस्थान के बाद उदीरणा है ही नहीं तो फिर तेरहवें गुणस्थान में उदीरणा कहाँ से होगी? उदय और उदीरणा में बड़ा अन्तर है। इसलिए भगवान को कवलाहार नहीं होता – यह निशङ्कितपना है।

स्त्री को मोक्ष है या नहीं? – यह शङ्का नहीं करना, वह निशङ्कितअङ्ग है। स्त्री को मुनिपने का वीर्य / पुरुषार्थ ही उल्लसित नहीं होता – ऐसी ही उसकी पर्याय है तो फिर उसे मोक्ष कहाँ से होगा? नहीं होगा।

जो लोग, स्त्री को मुनिपना मनवाते हैं और मोक्ष मनवाते हैं, वे स्वरूप में शङ्का लाते हैं, और उस स्वरूप की हिंसा करते हैं।

जिनदेव के द्वारा कथित वस्तु, सत्य है या असत्य है? – यह शङ्का नहीं करना, वह निशङ्कितअङ्ग है। मुनिदशा में भी बहुत राग मिटा है, उसमें निमित्तरूप से वस्त्र नहीं होते हैं और राग मिटने पर भी वस्त्र रहे – ऐसा नहीं होता है। इस प्रकार अनेकान्त को समझना, निशङ्कितअङ्ग है।

जगत् में कितने ही लोग शङ्का में डाँवाडोल होते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि को शङ्का नहीं होती है। कोई तो हिंसा में धर्म मानता है। यज्ञ में पुण्य होता होगा या धर्म होता होगा? – ऐसी

शङ्का, ज्ञानी को नहीं होती है। आत्मा, अकषायस्वरूपी है। प्राणी को मारने का भाव तो हिंसा है, उससे रहित अपना स्वरूप है – ऐसा मानना अहिंसा है। ऐसी निशङ्कता होना, वह दयाधर्म है। अपनी कमजोरी के कारण शुभभाव होवे, उसे भी ज्ञानी, धर्म नहीं मानते हैं।

आत्मा में (मुनि के योग्य) अकषायभाव होने पर बाहर में नग्नपना होता है, उसकी मुक्ति होती होगी या अन्यमती नग्न होकर जङ्गल में रहता हो, उसकी मुक्ति होती होगी – ऐसी शङ्का सम्यग्दृष्टि को नहीं होती है। जैन में दिगम्बर की मुक्ति होती होगी या श्वेताम्बर की मुक्ति होती होगी? – ऐसी शङ्का करना भी हिंसा कहा जाता है। आत्मा में तीन कषायरहित परिणाम होते हैं, तब शरीर में नग्नपना आदि होता है। अब, जिसे वस्त्र-पात्रादि हों और तीन कषायरहित परिणाम नहीं होते, उसकी भी मुक्ति होती है – ऐसा माननेवाले ने तो राग में धर्म माना है, उसे यहाँ हिंसा कहते हैं। रागवाली दशा को मुनिपना माननेवाला, मिथ्यादृष्टि है। मुनि को वस्त्र-पात्रादि का राग नहीं होता है।

देखो! यह स्वामी कार्तिकेय का लिखा हुआ शास्त्र है। श्रीमद् राजचन्द्र ने उनका गुणगान किया है और पण्डित जयचन्दजी ने इसका भावार्थ लिखा है। उसमें कहते हैं कि श्वेताम्बर साधु भी साधु है और दिगम्बर साधु भी साधु है – जो ऐसा मानता है, वह मुनिपने की पर्याय को भी नहीं समझता है। वस्त्र-पात्रादि रखने का भाव, वह राग का चिह्न है परन्तु वीतरागता का चिह्न नहीं है। राग और वीतराग, दोनों प्रकारों को समान मानना, वह निशङ्कपना नहीं है।

जिन्हें पूर्ण वीतरागदशा हुई हो, उन्हें तीव्र असाता का उदय नहीं होता है कि जिससे वे आहार ग्रहण करें। कवलाहार तो तीव्र असाता में जुड़ान होने पर, राग होने से ही होता है; अतः जिसने भगवान को कवलाहार माना, उसने भगवान में वीतरागता नहीं मानी, अर्थात् रागवाली दशा मानी, उसे यहाँ हिंसा कहते हैं।

स्त्री को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता ही नहीं, तो स्त्री को केवलज्ञान हो – ऐसा कभी नहीं होता। दो कषाय के नाश में तीन कषाय का नाश और सर्वथा अकषायपना बतानेवाला, राग में वीतरागता बताता है, वह भी हिंसा है। जो कषायरहित नहीं हुआ है, उसे कषायरहित मानना, मिथ्यादृष्टि है। स्त्री का शरीर है; इसलिए अकषायपरिणाम नहीं होते –

ऐसा नहीं है परन्तु उस जीव की ऐसी ही योग्यता है। स्त्री को मुनिदशा, तीन काल में नहीं होती – इसमें शङ्का करना, वह हिंसा है।

कोई कहता है कि अपने को उदारता वर्तना चाहिए.... परन्तु हम किसी के घर गये हों.... वहाँ माँस की कढ़ी बनायी हो और वह अपने से आग्रह करे तो क्या अपने को उदारता बताकर वह खा लेना चाहिए? नहीं! वह कोई उदारता नहीं कहलाती। उदारता तो सत्य और असत्य का विवेक करना है। अविवेक को उदारता मानना, मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार से धर्म नहीं होता और निश्चय से ही धर्म होता है – ऐसा भगवान का मार्ग है। इस अनेकान्त मार्ग में शङ्का करने को यहाँ हिंसा कहा गया है। आत्मा, अकषायीस्वरूप है, उसमें जो निशङ्क है, वह अहिंसाधर्म है। उसमें क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा, छह द्रव्य – पञ्चास्तिकाय की श्रद्धा इत्यादि आ जाती है। जैसा है, वैसा माने तो निशङ्क हुआ जाता है। यह मध्यस्थ होकर विचार करने की बात है; इसका जगत् के साथ सम्बन्ध नहीं है। भगवान की वाणी में तो अनेक प्रकार के वचन आते हैं; इसलिए उनका यथार्थ निर्णय करना ही दयाधर्म है। ●●

बाह्य में वस्त्र, अन्तरङ्ग राग के सूचक

जिसको बाह्य में वस्त्र आदि विद्यमान हैं, उसको अन्तरङ्ग में राग की लालिमा है ही। वस्त्र छोड़ देने पर भी अन्तरङ्ग में राग रहे — ऐसा तो हो सकता है, परन्तु अन्तरङ्ग में राग का अभाव हो और शरीर पर वस्त्र रहे — ऐसा नहीं हो सकता। वस्त्र का धागा भी हो और अन्तरङ्ग में रागभाव न हो — ऐसा नहीं हो सकता। शरीर पर वस्त्र पहने हों और कहे कि 'हम तो मुनि हैं, हमको परिग्रह का राग नहीं है' तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह मुनि नहीं, किन्तु पाखण्डी है; उसकी बात मिथ्या है, क्योंकि अन्तरङ्ग में राग छूटने पर बाह्य में वस्त्र भी छूट ही जाते हैं। इस प्रकार हमने अपने अनुभव और आगम की साक्षी से मुनिदशा की बात की है। *— प्रवचनसार, २२०, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २१-४-१९५१*

गाथा ४१४

दयभावो वि य धम्मो, हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो, णिस्संका णिम्मला होदि॥

दयामय ही धर्म है, नहिं धर्म हिंसाभाव में।
इस तरह निःसन्देह श्रद्धा, वह निःशंकित अंग है॥

अन्वयार्थ : [दयभावो वि य धम्मो] निश्चय से दयाभाव ही धर्म है, **[हिंसाभावो धम्मो ण भण्णदे]** हिंसाभाव धर्म नहीं कहलाता है – **[इदि]** ऐसा निश्चय होने पर **[संदेहाभावो]** सन्देह का अभाव होता है, **[णिम्मला णिस्संका होदि]** वह ही निर्मल निःशङ्कितगुण है।

भावार्थ : अन्य मतवालों के माने हुए देव–धर्म–गुरु तथा तत्त्व के विपरीतस्वरूप का सर्वथा निषेध करके, जैनमत में कहे हुए का श्रद्धान करना, सो निःशङ्कितगुण है। जब तक शङ्का रहती है, तब तक श्रद्धान निर्मल नहीं होता है।

गाथा ४१४ पर प्रवचन

अकषायभाव, दया है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में उस–उस भूमिका के योग्य जितना अकषायभाव प्रगट हुआ, वह अहिंसा है परन्तु राग से लाभ माने तो वह हिंसा है। मिथ्यादृष्टि को ऐसा सन्देह होता है; ज्ञानी को सन्देह नहीं है। कोई कम कषाय में अकषायपना मानता है परन्तु वह धर्म नहीं है – ऐसा निशङ्कपना मानना चाहिए।

आज उत्तमआर्जवधर्म का दिन है; इसलिए इस धर्म में कुटिलता / वक्रता नहीं होने देना चाहिए। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ज्ञेय को जानकर, कुटिलता नहीं होने देना, वह सरलता

धर्म है। आत्मा का आर्जवस्वभाव है; उसमें दम्भ का अभाव है, इसलिए सम्यग्दृष्टि को कुटिलता का अभाव होता है। मिथ्यादृष्टि को कुटिलता का यथार्थ अभाव नहीं होता है। मिथ्यात्व का त्याग ही कुटिलता का त्याग है और वह सरलता, धर्म है।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि उत्तमक्षमादि धर्म की प्रधानता मुनिराजों को होती है परन्तु आत्मा के भानसहित श्रावक को भी अंशरूप में वे क्षमादि धर्म होते हैं। जितने प्रकार धर्म के वर्णित हैं, उतने श्रावक को भी अंशरूप से होते हैं।* ●●

सिंहवृत्तिवाले मुनिराजों को गृहस्थों की अपेक्षा नहीं

अहा! मुनिवर तो जगत से एकदम निस्पृह और सिंहवृत्ति से विचरनेवाले हैं। मुनिपना, गौशाला के ढोर जैसा नहीं होता। जिस प्रकार सिंह को गोली लगे तो वह कहीं गौशाला में पट्टियाँ नहीं बँधवाता; इसी प्रकार मुनिराज को गृहस्थों की अपेक्षा नहीं होती, आरम्भ नहीं होता, परिग्रह आदि नहीं होता,... जिसको परिग्रह हो, उसे तो गृहस्थों की अपेक्षा होती है, वह तो गौशाला के पशु की तरह गृहस्थों का गुलाम है। उसे वस्त्र धोने इत्यादि का आरम्भ है, असंयम है, वस्त्र की मूर्च्छा है। ऐसा वह जीव आत्मा में लीन होकर आत्मा को किस प्रकार साध सकता है? — ***प्रवचनसार, २२१, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २१-४-१९५१***

*** नोट : पूज्य गुरुदेवश्री का यह प्रवचन, भाद्रपद शुक्ल ६, मङ्गलवार, २६-०८-१९५२ के दशलक्षणपर्व के आर्जवधर्म के दिन का है।**

गाथा ४१५

अब, निःकांक्षितगुण को कहते हैं —

जो सग्गसुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।
मोक्खं समीहमाणो, णिक्खंखा जायदे तस्स॥

जो स्वर्ग सुख के लिये, दुर्धर तपश्चरण नहीं करे।
धर्म करता मोक्ष के ही लिए निःकाँक्षित वही॥

अन्वयार्थ : [जो] जो सम्यग्दृष्टि, **[दूसहतवेहिं]** दुद्धर तप से भी **[मोक्खं समीहमाणो]** मोक्ष की ही वाँछा करता हुआ **[सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि]** स्वर्गसुख के लिये धर्म का आचरण नहीं करता, **[तस्स णिक्खंखां जायदे]** उसके निःकांक्षितगुण होता है।

भावार्थ : जो, धर्म का आचरण तथा दुद्धर तप, मोक्ष के ही लिये करता है; स्वर्गादिक के सुख नहीं चाहता है, उसके निःकांक्षितगुण होता है।

गाथा ४१५ पर प्रवचन

अब, निःकाँक्षितगुण का वर्णन करते हैं।

धर्मी को बारह-बारह महीने के उपवास करके भी पुण्य की इच्छा नहीं होती, क्योंकि पुण्य की इच्छा मिथ्यादृष्टि को होती है। वस्तुतः पुण्य की इच्छावाले को भोगों की इच्छा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि को पुण्य की इच्छा नहीं है। वह तो अन्तरस्वभाव में लीन है। धर्मी को मोक्ष की इच्छा है - ऐसा कहना भी व्यवहार से है क्योंकि इच्छा तो राग है और धर्मी को राग की भावना नहीं होती है। स्वर्ग की इच्छा नहीं है - यह बतलाने के लिए मोक्ष की इच्छा है - ऐसा कहा गया है।

किसी भी प्रकार की इच्छा न होना, वह निःकांक्षितगुण है और वह दयाधर्म है। रागरहित परिणाम, अहिंसा है और चैतन्यस्वभाव को चूककर राग की रुचि होना ही हिंसा है। हिंसा या अहिंसा बाहर में नहीं है। यहाँ निशङ्कितादि आठों ही गुणों को अहिंसा में उतारा है।

जो एकमात्र मोक्षाभिलाषा से ही धर्म का आचरण करता है, अर्थात् दुद्धर तप करता है परन्तु स्वर्गादि के सुख की आकाँक्षा नहीं करता, उसके निःकांक्षितगुण होता है।

जो, अपने भाव में रमता है, वह पर की इच्छा नहीं करता; इसलिए वह निःकाँक्षित है। राग की इच्छा करके राग में धर्म माना, वह हिंसक और अधर्मी है। ज्ञानी को भी राग होता तो है परन्तु उन्हें राग की रुचि नहीं होती है। दया, दानादिक की भावना की रुचि भी उन्हें नहीं होती; उसकी रुचि करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है, वह भी हिंसा है। ●●

गृहस्थ को केवलज्ञान की योग्यता का अभाव

वस्त्रादि परिग्रहवाले गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, परन्तु वस्त्रसहित दशा में वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, उसको मुनिदशा नहीं होती। अहो! यह तो अन्दर का एकदम निवृत्तिमय शान्तमार्ग है। आत्मार्थी को वस्त्र-पात्र की उपाधि और उन्हें रङ्गने इत्यादि की प्रवृत्ति, अन्तरङ्ग में रुचिकर नहीं लगती। मुनिराज तो वस्त्र-पात्ररहित, उपाधिरहित होते हैं। आत्मानन्द के अनुभव की श्रेणी में गतिशील मुनि को बाहर की उपाधि क्यों हो? जिसके हृदय में वस्त्रादि परिग्रह की मूर्च्छा होने पर भी, जो अपने को मुनि मानता है, वह जीव वीतरागमार्ग को नहीं जानता। वीतरागमार्ग में सन्त मुनिराज को परिग्रह की मूर्च्छा और आरम्भ की वृत्ति नहीं हो सकती।

— *प्रवचनसार, २२१, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, २१-४-१९५१*

गाथा ४१६

अब, निर्विचिकित्सागुण को कहते हैं —

दहविहधम्मजुदाणं, सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु।
जं णिंदणं ण कीरइ, णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु॥

दुर्गन्ध एवं अशुद्धि तन, दश धर्म युत मुनिराज का।
लख कर नहीं निन्दा करे, सो निर्विचिकित्सा गुण कहा॥

अन्वयार्थ : [दहविहधम्मजुदाणं] दश प्रकार के धर्मसहित शरीर, **[सहावदुग्गंध -असुइदेहेसु]** जो स्वभाव से दुर्गन्धित और अशुचि है और स्नानादि संस्कार के अभाव से बाह्य में विशेष अशुचि और दुर्गन्धित दिखाई देता है; उसकी **[जं णिंदणं ण कीरइ]** निन्दा (अवज्ञा) नहीं करना, **[सो हु णिव्विदिगिंछा गुणो]** वह निर्विचिकित्सागुण है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि पुरुष की प्रधान दृष्टि, सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र गुणों पर पड़ती है। देह तो स्वभाव ही से अशुचि और दुर्गन्धित है; इसलिए मुनिराज की देह की तरफ क्या देखे? उनके रत्नत्रय की तरफ देखे, तब ग्लानि क्यों आवे? ऐसी ग्लानि का उत्पन्न न होना ही निर्विचिकित्सागुण है। जिसके सम्यक्त्वगुण, प्रधान नहीं होता है, उसकी दृष्टि पहले देह पर पड़ती है, तब ग्लानि उत्पन्न होती है, वहाँ यह गुण नहीं होता है।

गाथा ४१६ पर प्रवचन

अब, निर्विचिकित्सागुण का स्वरूप कहते हैं।

देखो! शरीर का स्वभाव अपवित्र है। मुनिराज अपने उत्तम-क्षमादि धर्मों में झूलते होते हैं। मुनिराज के शरीर पर मैल इत्यादि देखकर, जो उनका अनादर करता है, वह हिंसक /

अधर्मी है – ऐसा यहाँ कहते हैं। मुनिराज, कमण्डल रखते हैं परन्तु वह तो मात्र अशुचि मिटाने के लिए होता है। मुनिराज, स्नान नहीं करते; इसलिए शरीर में मैल इत्यादि होवें तो उसे देखकर कोई कहे कि मुनिराज स्नान करते होते तो ठीक! तो वह राग की प्रशंसा करता है और अरागी–परिणाम की घृणा करता है; इसलिए उस जीव को अरागीपरिणाम का पता नहीं है।

आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण पड़े होते हैं। देह तो स्वभाव से ही अशुचि, अर्थात् दुर्गन्धरूप है; इसलिए मुनिराज के देह की ओर क्या देखे और उनके रत्नत्रय की ओर देखे तो ग्लानि कैसे आयेगी? उस ग्लानिमय परिणाम का उत्पन्न नहीं होना, वही निर्विचिकित्सागुण है परन्तु जिसे सम्यक्त्वगुण, प्रधान नहीं है, उसकी दृष्टि पहले देह के प्रति जाते ही उसे ग्लानि उत्पन्न होती है और तब यह गुण उसे नहीं है – ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञानी, शरीर के स्वभाव को जानता तो है परन्तु उसकी दृष्टि, गुणों पर होने से उनकी मुख्यता में शरीर की मुख्यता नहीं होती; इसलिए मुनिराज के शरीर की अशुचि से उसे ग्लानि नहीं होती। आत्मा की पवित्र वीतरागता प्रगटी है, उसकी दृष्टिवाले को अशुचिरूप देह की ग्लानि नहीं होती है।●●

वस्त्रसहित मुनिपना मानना एकेन्द्रियत्व का कारण

भाई! वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले की त्रसपर्याय की स्थिति पूरी होने को आ गयी है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्टीकरण करते हैं कि वस्त्र–पात्रसहित मुनिपना माने, भावि नैगमनय से मुनिपना माने, उसकी त्रस की स्थिति पूर्ण होने को आई है। 'दर्शनपाहुड़ गाथा १२' के भावार्थ में कहा है – इस पञ्चम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोक में सम्यग्दृष्टियों से विनय–पूजादिक चाहते हैं, उनके लिए जानना चाहिए कि उनका त्रसराशि का काल पूरा हुआ है और वे एकेन्द्रिय होकर निगोद में निवास करेंगे।

— *अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ ३२६*

गाथा ४१७

अब, अमूढ़दृष्टिगुण को कहते हैं —

भयलज्जालाहादो, हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिणवयणे लीणो, अमूढदिट्ठी हवे सो दु॥

भय लाज या लाभादि से जो धर्म हिंसारम्भ में।
नहिं मानता, रत जिनवचन में मूढ़ दृष्टि नहिं उसे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[भयलज्जालाहादो हिंसारंभो धम्मो ण मण्णदे]** भय, लज्जा और लाभ से हिंसा के आरम्भ को धर्म नहीं मानता है, **[जिणवयणे लीणो]** और जिनवचनों में लीन है; भगवान ने धर्म, अहिंसा ही कहा है – ऐसी दृढ़ श्रद्धा युक्त है, **[सो दु अमूढदिट्ठी हवे]** वह पुरुष अमूढदृष्टिगुण संयुक्त है।

भावार्थ : अन्य मतवाले, यज्ञादिक हिंसा में धर्म मानते हैं; उसको राजा के भय से, किसी व्यन्तर के भय से, लोकलाज से और कुछ धनादिक के लाभ से इत्यादि अनेक कारणों से धर्म न माने – ऐसी श्रद्धा रखे कि धर्म तो भगवान ने अहिंसा ही कहा है, वह अमूढ़दृष्टिगुण है। यहाँ हिंसारम्भ के कहने में हिंसा के प्ररूपक देव–शास्त्र–गुरु आदि में भी मूढदृष्टि नहीं होता है। – ऐसा जानना।

गाथा ४१७ पर प्रवचन

अब, अमूढ़दृष्टिगुण का स्वरूप कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव, जगत के किसी भी भय से हिंसा में धर्म नहीं मानता है, और राग में भी धर्म नहीं मानता है। राग, मिटा न होने पर भी, राग मिट गया है – ऐसा मानकर राग में धर्म

मनवानेवाले हिंसा में धर्म मानते हैं। ज्ञानी, उसमें धर्म नहीं मानता है; ज्ञानी तो अकषायपरिणाम में ही धर्म मानता है – ऐसी उसकी दृढ़ श्रद्धा है।

भगवान के पञ्च कल्याणक आदिक में यज्ञ होता है, उसकी यहाँ बात नहीं है क्योंकि वहाँ शुभभाव की प्रधानता है और वह श्रावक का धर्म है। भगवान ऋषभदेव, अष्टापद से मोक्ष पधारे, तब साथ में गणधर और मुनि भी मोक्ष पधारे थे। उस समय इन्द्र आकर यज्ञ करके पूजा करते हैं, वहाँ अग्नि में केवलज्ञान का उपचार करते हैं। उसमें शुभभाव की मुख्यता होने पर भी, जितना अकषायभाव है, उतना धर्म है। राग में अरागपना मनवानेवाले देव–शास्त्र–गुरु में ज्ञानी, मूढ़दृष्टि नहीं होने देता। कुदेवादि का अनुमोदन, वह हिंसाभाव है। जो ऐसा मूढ़भाव नहीं होने देता, वह अहिंसाधर्म है।

यह दशलक्षणपर्व के दिन चल रहे हैं। आज, उत्तमसत्यधर्म का दिन है।

आत्मा, शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसके भानपूर्वक दिगम्बरदशा और अट्ठाईस मूलगुण आदि का पालन, वह मुनिपना है। वह मुनि, आगमानुसार प्ररूपणा करता है, कुछ छुपाता नहीं है; विपरीत प्ररूपणा नहीं करता और मुनिपना जैसा है, वैसा ही कहता है; उसमें झूठ नहीं बोलता। त्रिलोकनाथ के कथनानुसार कदाचित् स्वयं को मुनिपना न हो तो भी मुनिपने का अन्यथा स्वरूप वह नहीं कहता है। विपरीत बात नहीं करता है। जैसे, कोई देनदार हो, वह पैसा देने में समर्थ न हो तो भी दूसरी बात नहीं करता। मुझे तुम्हारे रुपये दूध से धोकर देना है (अर्थात् निश्चितरूप से देना है) – ऐसा वह कहता है। इसी प्रकार वीतराग भगवान ने जो कहा हो, तद्नुसार मुनिराज कहते हैं और वे व्यवहारमार्ग में भी झूठ नहीं बोलते हैं, वह उत्तमसत्य है। जिसे आगम की पहचान न हो और आत्मा की पहचान भी न हो, उसकी यहाँ बात नहीं है क्योंकि उसे यह उत्तमसत्यधर्म ही नहीं होता। आत्मा की पहचानपूर्वक निश्चयव्यवहार का ज्ञान जिसे होता है, उसे उत्तमसत्यधर्म होता है।●●

गाथा ४१८

अब, उपगूहनगुण को कहते हैं —

जो परदोसं गोवदि, णियसुकयं जो ण पयासदे लोए।
भवियव्वभावणरओ, उवगूहणकारओ सो हु॥

पर दोष को जो ढाँकता, निज गुण प्रतिद्ध नहीं करे।
भवितव्य को भावे सदा जो, उसे उपगुहन कहें॥

अन्वयार्थ : [जो परदोसं गोवदि] जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषों को छिपाता है, **[णियसुकयं लोए जो ण पयासदे]** अपने सुकृत (पुण्य) को लोक में प्रकाशित नहीं करता फिरता है, **[भवियव्वभावणरओ]** ऐसी भावना में लीन रहता है कि जो भवितव्य है, वह होता है तथा होगा, **[सो हु उवगूहणकारओ]** वह उपगूहनगुण करनेवाला है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि के ऐसी भावना रहती है कि कर्म के उदय के अनुसार मेरी लोक में प्रवृत्ति है, वह होनी है सो होती है – ऐसी भावना से अपने गुणों को प्रकाशित नहीं करता फिरता है, दूसरों के दोष प्रगट नहीं करता है। साधर्मी जन तथा पूज्य पुरुषों में किसी कर्म के उदय से दोष लगे तो उसका छिपावे, उपदेशादि से दोष को छुड़ावे, ऐसा न करे जिससे उनकी निन्दा हो, धर्म की निन्दा हो। धर्म, धर्मात्मा में से दोष का अभाव करना है, सो दोष को छिपाना भी अभाव ही करना है क्योंकि जिसको लोग न जाने, वह अभावतुल्य ही है, ऐसे उपगूहनगुण होता है।

गाथा ४१८ पर प्रवचन

अब, सम्यग्दृष्टि के पाँचवें उपगूहनअङ्ग की चर्चा करते हैं। आत्मा शुद्ध है, उसके

आश्रय से निर्विकल्प पवित्रदशा प्रगट होती है, वह धर्म है और राग तथा निमित्त होता है, वह व्यवहार है परन्तु उससे धर्म नहीं होता, यह कहते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे के दोष को ढँकता है और अपने सुकृत, अर्थात् पुण्य-गुणों को लोक में प्रकाशित नहीं करता, अर्थात् नहीं कहता परन्तु ऐसी भावना में लीन रहता है कि 'जो भवितव्य है, वह होता है तथा होगा' - वह उपगूहनअङ्गवाला है।

धर्मात्मा, दूसरों के दोष प्रकाशित नहीं करता है। किसी सम्यग्दृष्टि जीव को क्रोध, मान, माया, लोभादिक के दोष होते हों तो धर्मी उन्हें ढँकता है। जहाँ-तहाँ अवर्णवाद या निन्दा नहीं करता है। यहाँ धर्मी की बात है, कोई मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी बनकर पापकार्य करता है, उन्हें ढँकने की बात यहाँ नहीं है क्योंकि जिसे सच्ची श्रद्धा का ही पता नहीं है, उसके आचरण में तो दोष ही है परन्तु किसी धर्मी जीव में दोष होवे तो उन्हें ढँकना, वह उपगूहनअङ्ग है। कोई मिथ्याशास्त्र पढ़कर (मिथ्या) प्ररूपणा करता हो अथवा जिसे नीति का भी ठिकाना न हो - ऐसे जीवों की बात यहाँ नहीं है।

धर्मी जीव अपने गुणों को जगत् के समक्ष कहता नहीं फिरता, अर्थात् अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता। सम्यग्दृष्टि को निर्णय है कि जो होना है, वह होता है और वैसा ही होगा, उसमें किसी के हाथ की बात नहीं है। देखो, यहाँ भी भवितव्य की बात आयी है। (ज्ञानी) जानता है कि जिस काल में जो होना है, वही होता है; इसीलिए वह पर के दोषों को प्रकाशित नहीं करता और अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता है। बाहर में ऐसा उदय हो तो ज्ञानी की भी कदाचित् निन्दा होती है और अज्ञानी की प्रशंसा होती है परन्तु ज्ञानी जानता है कि पर की पर्याय मुझसे परिवर्तित नहीं होती और मेरी पर्याय पर से नहीं बदलती है; इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि जो सम्यक्रूप से भवितव्य को मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है। पर की पर्याय उसके काल में उसके कारण से होती है - ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि को होती है। स्वभावदृष्टिपूर्वक 'जो होना है, वह होता है' - ऐसा वह मानता है परन्तु एकान्त से भवितव्य को ही माने तो मिथ्यादृष्टि है।

बाहर में पूर्वकर्म के उदयानुसार यश या अपयश होता है। एक सेठ था, वह पैसा तो खर्च करता था परन्तु उसे यश नहीं मिलता था। एक बार उसने अपनी जाति को प्रीतिभोज

दिया और उसमें मिष्ठान बनाये थे। 'उनमें अधिक घी डालूँगा तो जातिवाले उसे अच्छा बोलेंगे' – ऐसा विचार कर वह रात्रि में उठा और एक कौने में पाँच डिब्बे अरण्डी के तेल से रखे हुए थे, उन्हें घी का समझकर मिठाई में डाल दिया। जब सबेरे जातिवाले भोजन करने बैठे, तब अपने को कैसा अच्छा बोलते हैं – यह देखने के लिए निकला तो जाति में खुसर-फुसर होने लगी – ऐसा उसका अपयश का उदय था। इसलिए सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि लोक में जो होना है, वह होता है – ऐसा जानकर वह आकुलता नहीं होने देता है।

देखो! यह सम्यक् भवितव्य की बात जगत् को नहीं रुचती और वह पुकार करता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं रहता है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जो होना है, वह होता है – ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ है। धर्मात्मा अपने साधर्मी भाईयों – श्रावक-श्राविकाओं में कोई दोष ज्ञात हो तो एकान्त में कहकर उस दोष को छुड़ाता है परन्तु बाहर में प्रसिद्धि नहीं करता और धर्म की निन्दा हो – ऐसा भी नहीं करता। यह धर्मी जीव के चारित्र के दोष की बात है उन्हें परन्तु जिन्हें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा न हो और आत्मा का भान न हो, वे दोष करें और उन्हें छुपावें – उन्हें चलावे – ऐसे जीव की बात नहीं है परन्तु किसी धर्मी जीव को कदाचित् रागादिक का दोष होता जाने तो उसे छुपाता है। ●●

सम्पूर्ण तत्त्वों की भूल

मुनिराज तो पर से सहज पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देह मात्र जिनको परिग्रह है। मुनि के एक शरीर ही है जोकि छूटता नहीं है। इसके अलावा अन्य कोई चीज नहीं होती। सच्चे सन्त / भावलिङ्गी सन्त के पास वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता। यदि वस्त्र का टुकड़ा रखकर अपने को मुनि मानें, मनवावे तो वह निगोदगामी है। क्या इसने अतिश्योक्ति करके बताया है? ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा है? भाई! ऐसा नहीं है। इस भूल में तो पूरे नौ तत्त्वों की भूल है। — *प्रवचन नवनीत, भाग २, पृष्ठ १४*

गाथा ४१९

अब, स्थितिकरणगुण को कहते हैं —

धम्मादो चलमाणं, जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं सुदिढयदि, ठिदिकरणं होदि तस्सेव॥

यदि कोई च्युत हो धर्म से तो, उसे स्थापित करे।
स्वयं को भी दृढ़ करे, जो उसे स्थितिकरण है॥

अन्वयार्थ : [जो धम्मादो चलमाणं अण्णं धम्मम्मि संठवेदि] जो धर्म से चलायमान होते हुए दूसरे को धर्म में स्थापित करता है, **[अप्पाणं सुदिढयदि]** और अपने आत्मा को भी चलायमान होने से दृढ़ करता है, **[तस्सेव ठिदिकरणं होदि]** उसके निश्चय से स्थितिकरणगुण होता है।

भावार्थ : धर्म से चिगने, अर्थात् चलायमान होने के अनेक कारण हैं, इसलिए निश्चय –व्यवहाररूप धर्म से दूसरे को तथा अपने को चलायमान होता जानकर उपदेश से तथा जैसे बने वैसे दृढ़ करे, उसके स्थितिकरणगुण होता है।

गाथा ४१९ पर प्रवचन

अब, स्थितिकरणगुण का स्वरूप कहते हैं।

अपने अतिरिक्त अन्य श्रावक-श्राविका को या स्वयं को श्रद्धा या धर्म से चलायमान होता जाने तो धर्म में स्थिर करना, वह स्थितिकरणगुण है। जिसे आत्मा का भान हो, वह स्थिर करेगा परन्तु जिसे भान नहीं हो, वह क्या स्थिर करेगा ? स्थितिकरणअङ्ग में श्रेणिक राजा के पुत्र कुमार वारिषेण का दृष्टान्त शास्त्र में आता है। एक विद्युत नामक चोर था। उसने वेश्या

के प्रेम के कारण एक सेठ के यहाँ से वेश्या को देने के लिए हार की चोरी कर ली परन्तु सिपाहियों को पता लगने से वे उसके पीछे पड़ गये। वारिषेणकुमार श्मशान में ध्यान कर रहे थे, उनके समीप हार डालकर वह चोर भाग निकला। पुलिस ने कुमार पर चोरी का आरोप लगा दिया, तथापि वे कुमार कुछ नहीं बोले। कर्म के उदयानुसार जो होना है, वह होगा – यह सोचकर वे धर्म से विचलित नहीं हुए। पुलिस, (राजाज्ञा से) उन पर तलवार का वार करती है परन्तु तलवार शरीर पर नहीं लगती है। उसी समय देव पुष्पवृष्टि करते हैं। लोगों को राजकुमार के प्रति अत्यन्त प्रीति थी, इसलिए यह बात सुनकर लोग बहुत आनन्दित हो गये। 'जो होना होगा, वह होगा' – इस दृढ़ता में कुमार वारिषेण स्थिर रहे। राजा श्रेणिक ने आकर कुमार से क्षमायाचना की। कुमार कहने लगे – पिताजी! दुःखी मत होओ। ऐसा कहकर वे स्वयं मुनिपना अङ्गीकार करते हैं। तत्पश्चात् विद्युतचोर आकर अपना अपराध स्वीकार करता है और वह भी जिनदीक्षा अङ्गीकार कर लेता है। इस प्रकार धर्मी जीव किसी का दोष कहते नहीं हैं।

धर्मी अपने धर्म से भी विचलित नहीं होते हैं। धर्मी को पाप का उदय हो तो शरीर में रोग भी आता है और अज्ञानी को पुण्य का उदय हो तो अच्छा शरीर भी होता है। जगत् के लोग कहते हैं कि 'कषायी के यहाँ कुशल और धर्मी के यहाँ डाका' – .....परन्तु उनकी यह बात मिथ्या है क्योंकि यह सब तो बाहर के संयोग की बात है। धर्मी वर्तमान में बाहर की प्रतिकूलता को नहीं गिनता, वह स्वयं विचलित नहीं होता, अस्थिर नहीं होता; इसलिए धर्मी सदा अन्तरङ्ग में सुखी ही है और अधर्मी दुःखी ही है। ●●

गाथा ४२०

अब, वात्सल्यगुण को कहते हैं —

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स॥

धर्मीजनों में भक्तियुत, अनुचरण उनका जो करे।
प्रिय वचन श्रद्धासहित बोले, उसे गुण वात्सल्य है॥

अन्वयार्थ : [जो धम्मिएसु भत्तो] जो सम्यग्दृष्टि जीव, धार्मिक, अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावकों तथा मुनियों में भक्तिवान् हो, **[अणुचरणं कुणदि]** उनके अनुसार प्रवृत्ति करता हो, **[परमसद्धाए पियवयणं जंपतो]** परम श्रद्धा से प्रिय वचन बोलता हो, **[तस्स भव्वस्स वच्छल्लं]** उस भव्य के वात्सल्यगुण होता है।

भावार्थ : वात्सल्यगुण में धर्मानुराग प्रधान है, विशेषकर धर्मात्मा पुरुषों से जिसके भक्ति अनुराग हो, उनसे प्रिय वचन सहित बोले, उनका भोजन, गमन, आगमन आदि की क्रिया में अनुचर होकर प्रवृत्ति करे। गाय, बछड़े का सा प्रेम रखे, उसके वात्सल्यगुण होता है।

गाथा ४२० पर प्रवचन

अब, वात्सल्यगुण का स्वरूप कहते हैं।

धर्मी को अन्य धर्मी के प्रति प्रेम उछलता है। सम्यग्दृष्टि को सच्चे गुरु के प्रति या साधर्मी के प्रति प्रेम आये बिना नहीं रहता है; वह उनसे द्वेष नहीं करता है। मेरी प्रतिष्ठा की तुलना में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी है – ऐसा द्वेष नहीं करता है। कदाचित् शिष्य पहले मोक्ष जाए तो भी गुरु को द्वेष नहीं होता है। जैसे, जिसे अपने पुत्र के प्रति प्रेम होता है और वह पैसे

में बढ़ जाए तो उसके प्रति द्वेष नहीं करता है, अपितु प्रेम और उल्लास प्रदर्शित करता है। उसी प्रकार शिष्य की दशा बढ़ती हुई जानकर उसके प्रति धर्मात्मा को द्वेष नहीं होता है।

शास्त्र में रेवतीरानी का दृष्टान्त आता है। एक मुनिराज, रेवतीरानी को एक ब्रह्मचारी के साथ धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहलाते हैं। तब वह ब्रह्मचारी विचार करता है कि यह रेवतीरानी कैसी और मुनि कैसे? उनकी परीक्षा करता है। वह स्वयं एक-एक दिन ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करता है। चौथे दिन पच्चीसवें तीर्थङ्कर का रूप धारण करके समवसरण आदि की रचना करता है। लोग रेवतीरानी से कहते हैं कि चलो, पच्चीसवें तीर्थङ्कर पधारे हैं। उत्तर में रानी कहती है कि पच्चीसवें तीर्थङ्कर होते ही नहीं हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं अपने असलीरूप में आता है और रेवतीरानी का आदर करता है। वहाँ भोजन करता है और वमन कर देता है परन्तु वह रानी घृणा नहीं करती। तब ब्रह्मचारी कहता है - अरे बहिन! मुनिराज ने आपको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा है। (आपकी परीक्षा के लिए ही मैंने यह सारा स्वाँग रचा है।) इस प्रकार सारा गाँव विचलित हो गया परन्तु रेवतीरानी अपने धर्म में अडिग रहीं।

आशय यह है कि धर्मी, धर्मी के प्रति प्रेम प्रसिद्ध करता है। स्वयं सेवक बनता है, धर्मी आवे तो उन्हें लेने जाता है, जाये तब छोड़ने जाता है, उनके अनुकूल वर्तन करता है। बोलने में, चलने में धार्मिक प्रेम प्रसिद्ध करता है। जिस तरह गाय को बछड़े के प्रति प्रेम होता है, बछड़ा गाय को घास लाकर दे या चाकरी करे, उसकी आशा नहीं है परन्तु सहज ही उसके प्रति प्रेम होता है; उसी प्रकार धर्मी जीव को धर्मी के प्रति प्रेम होता है। ●●

गाथा ४२१-४२२

अब, प्रभावनागुण को कहते हैं —

जो दसभेयं धम्मं, भव्वजणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि, णाणेण पहावणा तस्स॥

जिणसासणमाहप्पं, बहुविहजुत्तीहि जो पयासेदि।
तह तिव्वेण तवेण य, पहावणा णिम्मला तस्स॥

जो भव्य जीवों में प्रकाशित करे दशविध धर्म को।
निज ज्ञान से निज को प्रकाशे, प्रभावना उस भव्य को॥

बहु भाँति युक्ति और अति तप, से प्रकाशित जो करे।
माहात्म्य जिन शासन करे, निर्मल प्रभावना हो उसे॥

अन्वयार्थ : [जो दसभेयं धम्मं भव्वजणाणं] जो सम्यग्दृष्टि दश भेदरूप धर्म को भव्यजीवों के निकट **[णाणेण]** अपने ज्ञान से **[विमलं पयासदे]** निर्मल प्रगट करे **[अप्पाणं पि पयासदि]** तथा अपनी आत्मा को दश प्रकार के धर्म से प्रकाशित करे, **[तस्स पहावणा]** उसके प्रभावनागुण होता है।

[जो बहुविहजुत्तीहि] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञान के बल से, अनेक प्रकार की युक्तियों से वादियों का निराकरण कर तथा न्याय, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार, साहित्य, विद्या से उपदेश वा शास्त्रों की रचना कर **[तह तिव्वेण तवेण य]** तथा अनेक अतिशय, चमत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा और महान दुद्धर तपश्चरण से **[जिणसासणमाहप्पं]** जिनशासन के माहात्म्य को **[पयासेदि]** प्रगट करे, **[तस्स पहावणा णिम्मला]** उसके प्रभावनागुण निर्मल होता है।

भावार्थ : धर्म को विख्यात करना, प्रभावना गुण है। इसलिए उपदेशादि से तो दूसरों में धर्म को प्रगट करे और अपनी आत्मा को दश प्रकार का धर्म अङ्गीकार कर, कर्मकलङ्क से रहित करके-प्रगट करे, उसके प्रभावनागुण होता है।

यह प्रभावना गुण बड़ा गुण है, इससे अनेकानेक जीवों के धर्म की रुचि / श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुषों के अवश्य होता है।

गाथा ४२१-४२२ पर प्रवचन

अब, प्रभावनागुण का स्वरूप कहते हैं।

धर्मात्मा दश प्रकार के धर्मों से अपनी शुद्धि करता है और पूर्ण दशा नहीं है, इसलिए राग आये बिना नहीं रहता, वह व्यवहार प्रभावना है। जितनी शुद्धि हुई, वह निश्चय प्रभावना है। वर्तमान में अशुद्धता है, उसकी गौणता करके शुद्धता की मुख्यता करे, वह धर्म की सच्ची प्रभावना है।

यह प्रभावनागुण महान है। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को प्रभावनागुण अवश्य होता है। मिथ्या -देवादिक की बात सुनकर ज्ञानी को ऐसा विकल्प आता है कि यह बात मिथ्या है और स्वयं का पुण्य देखे तो वाद-विवाद करके भी धर्म की प्रभावना करता है। वह जिनदेव की पूजा आदि करता है, वह सब व्यवहार प्रभावना है और आत्मा की शुद्धता की वृद्धि करता है, वह निश्चय प्रभावना है। ऐसी निश्चय प्रभावना के समय लोगों में प्रभावना होती है, वह व्यवहार प्रभावना है।

यह प्रभावनागुण महान् है। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को प्रभावनागुण अवश्य होता है। मिथ्या देवादिक की बात सुनकर ज्ञानी को ऐसा विकल्प आता है कि यह बात मिथ्या है और यदि स्वयं का पुण्य हो तो वादविवाद भी करता है तथा धर्म की प्रभावना करता है। पूजा आदि भी करता है, यह सब व्यवहारप्रभावना है और आत्मा में शुद्धि की वृद्धि करता है, वह निश्चयप्रभावना है - ऐसी निश्चयप्रभावना के समय लोगों में प्रभावना होती है, वह व्यवहारप्रभावना है।

देखो! आज दश लक्षण धर्म में उत्तमसंयमधर्म का दिन है। आत्मा के भान बिना संयम नहीं होता है। पाँच इन्द्रियादि का संयम होना, अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और विकार से रहित है

– ऐसी दृष्टिपूर्वक आत्मा में लीनता करना, वह उत्तमसंयम है। अकषायपरिणाम, संयम है; मात्र एकेन्द्रियादि की हिंसा न करना और उसमें उपयोग रखना, वह संयम नहीं है। ऐसा भाव तो अभव्य भी करता है, उसमें कुछ नया नहीं है। मिथ्यादृष्टि ऐसे भाव अनन्त बार कर चुका है परन्तु अपने स्वभाव की रुचिपूर्वक अन्तरलीनता होने पर सहज शान्ति की उत्पत्तिरूप संयमभाव उसे नहीं है। परजीव की रक्षा करने का भाव, शुभभाव है। स्वभाव में लीन होने पर शुभाशुभभाव नहीं होने देना, स्वदया है। शुद्धता होने पर अशुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती, वह उत्तम–संयमधर्म है।

दशलक्षण पर्व अनन्त बार आ गया है। बारह महीनों में माघ, चैत्र, और भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी से चतुर्दशी तक दशलक्षणधर्म पर्व आता है परन्तु उसमें भाद्रपद के पर्व की प्रधानता है। आज धूप दशमी है। जो अपने में संयमभाव प्रगट करता है, उसे सच्ची सुगन्ध दशमी कही जाती है। बहुत से लोग धूप को जलाते हैं और इससे कर्म का नाश हो जाता है – ऐसा मानते हैं परन्तु पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ — ऐसा मानने में आत्मा का धर्म जल जाता है; इसलिए वह वस्तुतः सुगन्ध दशमी नहीं है परन्तु आत्मा में पर की क्रिया है ही नहीं – ऐसे भानपूर्वक शुद्ध आत्मा में लीन होने से विकार होता ही नहीं, उसका नाम सुगन्धी दशमी है।●●

इसका फल निगोद

यह वीतराग का मार्ग है। इसमें बड़ी प्रतिज्ञा नहीं लेने का दण्ड नहीं है, परन्तु बड़ी प्रतिज्ञा लेकर भङ्ग करना दण्डनीय है। वस्त्रसहित मुनिपना मानने का फल निगोद है। व्यवहार में शुभभाव होने से स्वर्ग में जाकर अनुक्रम से निगोद जाएगा। सनातन सत्यमार्ग नग्न दिगम्बर मुनि का ही है। वस्त्रसहित मुनिपना मानना और मनवाना मिथ्यादृष्टिपना है।

जैनधर्म में तो अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु यह प्रसिद्ध वचन है और वस्त्र –पात्रसहित निर्ग्रन्थपना सम्भव नहीं है। *— मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन, पृष्ठ २३०, २४१*

गाथा ४२३

अब, नि:शङ्कित आदि गुण किस पुरुष के होते हैं? – वह कहते हैं —

जो ण कुणदि परतत्तिं, पुणु पुणु भावेदि सुद्धमप्पाणं।
इंदियसुहणिरवेक्खो, णिस्संकाईगुण तस्स॥

निन्दा न पर की करे, निज शुद्धात्म को भावे सदा।
चाहे न इन्द्रिय सौख्य को, हों गुण निशंकादिक उसे॥

अन्वयार्थ : [जो परतत्तिं ण कुणदि] जो पुरुष दूसरों की निन्दा नहीं करता है, **[सुद्धमप्पाणं पुणु पुणु भावेदि]** शुद्ध आत्मा को बार-बार भाता (भावना करता) है **[इंदियसुहणिरवेक्खो]** और इन्द्रियसुख की अपेक्षा (वाँछा)-रहित होता है, **[तस्स णिस्संकाईगुणा]** उसके नि:शङ्कित आदि अष्ट गुण अहिंसा धर्मरूप सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ : यहाँ तीन विशेषण हैं, उनका तात्पर्य यह है कि जो दूसरों की निन्दा करता है, उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य गुण कैसे हो? इसलिए दूसरों की निन्दा न करे, तब ये चार गुण होवें। जिसको अपनी आत्मा के वस्तु-स्वरूप में शङ्का (सन्देह) हो तथा मूढदृष्टि हो, वह अपनी आत्मा को बारम्बार शुद्ध कैसे भावे? इसलिए जो आपको शुद्ध भावे, उसी के नि:शङ्कित तथा अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं और प्रभावना गुण भी उसी के होता है। जिसके इन्द्रियसुख की वाँछा हो, उसके नि:कांक्षित गुण नहीं होता है; इन्द्रियसुख की वाँछा से रहित होने पर ही नि:कांक्षित गुण होता है। ऐसे आठ गुण सम्भव होने के तीन विशेषण हैं।

गाथा ४२३ पर प्रवचन

अब, नि:शङ्कित आदि गुण किस पुरुष के होते हैं? – वह कहते हैं।

देखो, इस गाथा में आठ गुणों का वर्णन आ जाता है। धर्मात्मा को कोई दोष आ गया हो तो ज्ञानी उसकी निन्दा नहीं करता। पूरी दुनिया बुरी बातें करे तो भी ज्ञानी उसमें उलझता नहीं है। पर की बात सच्ची होगी – ऐसी इच्छा नहीं करता है। मैं चैतन्यस्वरूपी ज्ञायक हूँ, पर की क्रिया मेरी नहीं है – ऐसे भान में ज्ञान एकाग्र होता है, उसमें आठों गुणों का समावेश हो जाता है और वही अहिंसाधर्म है।

– यहाँ तीन विशेषण हैं, उनका तात्पर्य यह है कि —

(१) जो दूसरों की निन्दा करता है, उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य गुण कैसे हो ? इसलिए दूसरों की निन्दा न करे, तब ये चार गुण होते हैं।

(२) जिसको अपनी आत्मा के वस्तु-स्वरूप में शङ्का अर्थात् सन्देह हो तथा मूढदृष्टि हो, वह अपनी आत्मा को बारम्बार शुद्ध कैसे भायेगा ? इसलिए जो अपनी आत्मा को शुद्ध भाता है, उसी के नि:शङ्कित तथा अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं, प्रभावना गुण भी उसी के होता है।

(३) जिसके इन्द्रियसुख की वाँछा हो, उसके नि:कांक्षित गुण नहीं होता है; इन्द्रियसुख की वाँछा से रहित होने पर ही नि:कांक्षित गुण होता है। इस प्रकार आठ गुण सम्भव होने के ये तीन विशेषण कहे गये हैं।

यह सम्यग्दृष्टि के गुण की बात है। जिसे आत्मा का भान नहीं है, उसे ऐसे गुण यथार्थ नहीं होते हैं। वह आत्मा का चिन्तवन भी नहीं कर सकता है। आत्मवस्तु आनन्दकन्द है, उसमें पुण्य-पाप ऊपर तैरते हैं, वे अन्दर प्रवेश नहीं करते – ऐसी निशङ्क प्रतीति जिसे नहीं होती, वह आत्मा का यथार्थ चिन्तवन नहीं कर सकता है। ●●

गाथा ४२४

अब, यह कहते हैं कि ये आठ गुण जैसे धर्म में कहे, वैसे देव–गुरु आदि के लिए भी जानने —

णिस्संकापहुडिगुणा, जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो, सम्मत्तविसोहया एदे॥

ये अष्ट गुण ज्यों धर्म में, त्यों देव–गुरु–अरु तत्त्व में।
जानों इन्हें सिद्धान्त से, सम्यकत्व की शुद्धि करें॥

अन्वयार्थ : [णिस्संकापहुडिगुणा जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे] ये निःशङ्कित आदि आठ गुण जैसे धर्म में प्रगट होते कहे गये हैं, वैसे ही देव के स्वरूप में तथा गुरु के स्वरूप में और षड्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थों के स्वरूप में होते हैं, **[जिणमयादो जाणेहि]** इनको प्रवचन सिद्धान्त से जानना चाहिए। **[एदे सम्मत्तविसोहया]** ये आठ गुण सम्यक्त्व को निरतिचार विशुद्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ : देव–गुरु–तत्त्व में शङ्का न करना; इनकी यथार्थ श्रद्धा से इन्द्रियसुख की वाँछारूप काँछा न करना; इनमें ग्लानि न लाना; इनमें मूढदृष्टि न रखना; इनके दोषों का अभाव करना तथा उनको छिपाना; इनका श्रद्धान दृढ़ करना; इनमें वात्सल्य विशेष अनुराग करना; इनकी महिमा प्रगट करना – ऐसे आठ गुण इनमें जानना चाहिए। पहले जो सम्यग्दृष्टि हुए हैं, उनकी गाथाएँ जैन शास्त्रों से जानना। ये आठों गुण सम्यक्त्व के अतिचार दूर करके उसे निर्मल करनेवाले हैं।

गाथा ४२४ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि जैसे ये आठ गुण धर्मों में कहे गये हैं, वैसे ही देव-गुरु आदि में भी समझ लेना चाहिए।

धर्मी को शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त पुण्यादि की रुचि या इच्छा नहीं होती है; धर्मी को धर्म के प्रति घृणा नहीं होती है। कुदेवादिक की विपरीत प्ररूपणा से वह उलझता नहीं है, यह सब समकित के गुण हैं।

ज्ञानी को अरहन्त के स्वरूप में भी शङ्का नहीं होती है। भगवान को क्षुधा, तृषा, रोग आदि नहीं होते और ऐसे अरहन्त अन्य में नहीं होते; इसलिए ऐसे अरहन्त में शङ्का नहीं करना। सत्तास्वरूप में 'स्थाननिर्णय' में आया था कि सच्चे अरहन्त तो एक ही स्थान में होते हैं; इसलिए दूसरे में होंगे ऐसी शङ्का या इच्छा नहीं करना। एक केवली अनन्त केवली को और लोकालोक को जानते हैं - ऐसी केवली की एक समय की पर्याय कितनी बड़ी होगी! उसमें धर्मी को उलझन नहीं होती। अरहन्त के स्वरूप की प्रीति में वह आत्मा को जोड़ता है, उसमें स्थिर करता है और उसकी प्रभावना करता है; इस प्रकार अरहन्त में लेना।

निशङ्कित आदि आठ गुण अरहन्त की तरह गुरु में भी सम्यग्दृष्टि को व्यवहार से होते हैं। निर्ग्रन्थ भावलिङ्गी मुनिपना शुद्धोपयोगस्वरूप है और पञ्च महाव्रतादि का राग है, वह व्यवहार है - ऐसा गुरु का स्वरूप होता है। इसमें समकिती निशङ्क होता है। ऐसे गुरु के अतिरिक्त वस्त्रादिवाले गुरु होंगे - ऐसा ज्ञानी नहीं विचारता है। निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति ग्लानि नहीं करता है। वीतरागी नग्न दिगम्बर सन्त के अतिरिक्त दूसरा गुरु नहीं होता, इसलिए अन्य में नहीं उलझता है। गुरु को किसी चारित्र की अस्थिरता के कारण कोई दोष हुआ हो तो उसे छुपाता है, गुरु की भक्ति में स्थिर रहता है और प्रभावना करता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्म में भी निशङ्क होता है; दूसरे धर्म की वाँछा नहीं करता; ग्लानि भी नहीं करता; धर्म में मूढ़ भावना नहीं होती; वह धर्म में स्थिरभाव करता है तथा धर्म की प्रभावनादि भी करता है। वह छह द्रव्य में निशङ्क होता है। दूसरे लोग कालद्रव्य को नहीं मानते, इसलिए पाँच द्रव्य होंगे या क्या..... ? वह पञ्चास्तिकाय के स्वरूप में निशङ्क होता है। जीवद्रव्य असंख्य प्रदेशी है; आकाश अनन्त प्रदेशी है; धर्म-अधर्मद्रव्य भी असंख्य प्रदेशी है;

पुद्गलद्रव्य असंख्य और अनन्त प्रदेशी है, उसमें धर्मी को शङ्का नहीं होती है। इसके अतिरिक्त पञ्चास्तिकाय का दूसरा स्वरूप होगा – ऐसी दूसरे प्ररूपणा करें तो उसकी इच्छा नहीं करता है; उसमें मूढ़भाव या ग्लानि नहीं करता है और इसमें ही, अर्थात् इनके सत्यस्वरूप में ही स्थिरभाव तथा प्रभावना करता है।

धर्मी, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ के स्वरूप में भी निशङ्क होता है। शुद्ध उपयोग है, वही संवर है – ऐसा जानता है। निर्जरा तथा मोक्षादि तत्त्व में ज्ञानी को शङ्का नहीं होती है। तत्त्व का स्वरूप कोई दूसरे प्रकार से बताता हो तो उसकी वाँछा नहीं करता, उसमें मूढ़भाव का सेवन नहीं करता। इसमें स्थिरता आदि आठों गुण ले लेना चाहिए।

देव–गुरु और तत्त्व में शङ्का नहीं करना; उनकी यथार्थ श्रद्धा के द्वारा इन्द्रियसुख की वाँछारूप काँक्षा नहीं करना; उनमें ग्लानि; नहीं करना; उनमें मूढ़दृष्टि नहीं रखना; उनके दोषों का अभाव करना या उन्हें ढँकना; उनका श्रद्धान दृढ़ करना; उनमें वात्सल्य, अर्थात् विशेष अनुराग करना और उनका माहात्म्य प्रगट करना – ये आठ गुण, देव–गुरु तथा तत्त्वादि में जानना। आगे जो सम्यग्दृष्टि हो गये हैं, उनका वृतान्त जिन प्रवचन से जानना। इस प्रकार ये आठों ही गुण अतिचार दोष को दूर करके सम्यक्त्व को निर्मल करनेवाले हैं – ऐसा जानना चाहिए।

इस गाथा में देव–गुरु आदि की बहुत बात आयी है। अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि ऐसे धर्म को जाननेवाले तथा उसका आचरण करनेवाले दुर्लभ हैं। ●●

सन्तों को परम आनन्द की दशा

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दु:ख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शस्वभावी है; वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अत: उसे संयोगों का दु:ख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि होने से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई है, उसमें परम–आनन्द की लहरें बढ़ जाती हैं।

— *महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २८*

गाथा ४२५

अब, इस धर्म को धारण करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ हैं – ऐसा कहते हैं —

धम्मं ण मुणदि जीवो, अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कदि, मोहपिसाएण भोलविदो॥

धर्म को जाने नहीं, यदि जान भी ले कष्ट से।
भ्रमित होकर मोह से, यह धर्म कर सकता नहीं॥

अन्वयार्थ : [जीवो धम्मं ण मुणदि] इस संसार में पहले तो जीव, धर्म को जानता ही नहीं है **[अहवा कह व कट्ठेण जाणेइ]** अथवा किसी बड़े कष्ट से जान भी जाता है तो **[मोहपिसाएण भोलविदो]** मोह पिशाच से भ्रमित किया हुआ **[काउं तो वि ण सक्कदि]** करने को समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : अनादि संसार से मिथ्यात्व द्वारा भ्रमित यह प्राणी पहले तो धर्म को जानता ही नहीं है और किसी काललब्धि से*, गुरु के संयोग से, ज्ञानावरणी के क्षयोपशम से जान भी जाए तो उसका करना दुर्लभ है।

गाथा ४२५ पर प्रवचन

धर्म किसे कहना? प्रथम तो अज्ञानी उसे जानता नहीं है। लोग बाहर में अष्टाह्निका आदि के उपवास करके उसमें धर्म मनवाते हैं और कहते हैं कि क्या हम अधर्म कर रहे हैं? परन्तु अरे भाई! जिसे धर्म क्या है? – उसका पता न हो, वह मिथ्यात्वरूपी महान अधर्म का ही सेवन कर रहा है। फिर भले ही बाहर में त्याग दिखायी देता हो या मन्दकषाय हो परन्तु

* स्वकाल की प्राप्ति से

सम्यग्दर्शन के बिना उसे धर्म नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि को स्वरूप का भान है और राग घटने पर बाहर में आहारादि की इच्छा नहीं होती, तब सहज वैसे संयोग भी छूट जाते हैं, उसे व्यवहार से तप कहा जाता है। अज्ञानी को राग का अभाव तो होता ही नहीं परन्तु यथार्थत: उसे राग घटता भी नहीं है।

कोई तो ऐसे हैं कि आत्मा के पुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव को जानते हैं परन्तु अन्दर से आशक्तिभाव का अभाव नहीं करते, इसलिए धर्म को दुर्लभ कहा है। यहाँ सम्यग्दृष्टि के आचरण की बात है। जहाँ तक अस्थिरतारूपी दोष का अभाव नहीं करें, वहाँ तक आचरण भी यथार्थ (पूर्ण) नहीं होता है; इसलिए पुरुषार्थपूर्वक आचरण करने के लिए यहाँ धर्म की दुर्लभता बतलायी गयी है।

अनादि से आत्मा एक तो अपने धर्म को नहीं जानता; कदाचित् अपने पुरुषार्थ से जान ले फिर भी उसका आचरण दुर्लभ है – ऐसा कहते हैं। ख्याल में आने पर भी उसका अन्तर परिणमन होकर अन्तर आचरण में तत्पर होना दुर्लभ है। स्वभाव से सहज होने पर भी अनन्त काल में पुरुषार्थ नहीं किया होने से दुर्लभ है। पुरुषार्थ पर में रुका हुआ है, इसलिए धर्म दुर्लभ हो गया है।

इस गाथा में धर्म को दुर्लभ कहा गया है। अब आगामी गाथा में धर्म सहज और सुलभ है – ऐसा बतलाकर अनेकान्त कहते हैं और धर्म के ग्रहण का महात्म्य बतलाते हैं। ●●

मुनिराजों को सैकड़ों बार नमस्कार

मुनिराज तो संवर और निर्जरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। मुनि-विरोध का अर्थ है - संवर और निर्जरातत्त्व की अस्वीकृति। जो सात तत्त्वों को भी न माने, वह कैसा जैन? हमें तो मुनिराजों के स्मरणमात्र से रोमाञ्च हो आता है। 'ण्मो लोए सव्व साहूणं' के रूप में हम तो सभी त्रिकालवर्ती मुनिराजों को प्रतिदिन सैकड़ों बार नमस्कार करते हैं।

— *चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ-३६*

गाथा ४२६

अब, धर्म के ग्रहण का माहात्म्य दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

जह जीवो कुणइ रइं, पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे, तो लीलाए सुहं लहदि॥

यह जीव करता जिस तरह रति, नारि सुत भोगादि में।
जिनधर्म में हो प्रतीति वैसी, सुख लहे क्षणमात्र में ॥

अन्वयार्थ : [जह जीवो] जैसे यह जीव **[पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु रइं कुणइ]** पुत्रकलत्र में तथा काम भोग में रति (प्रीति) करता है, **[तह जइ जिणिंदधम्मे तो]** वैसे ही यदि जिनेन्द्र के वीतराग धर्म में करे तो **[लीलाए सुहं लहदि]** लीलामात्र (शीघ्र काल) में ही सुख को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ : जैसी इस प्राणी के संसार में तथा इन्द्रियों के विषयों में प्रीति है, वैसी यदि जिनेश्वर के दश लक्षण धर्म स्वरूप वीतराग धर्म में प्रीति होवे तो थोड़े ही समय में मोक्ष को पावे।

गाथा ४२६ पर प्रवचन

पाँच इन्द्रियों के विषयों में और स्त्री-पुत्रादि के प्रेम में पुरुषार्थ को रोककर प्रीति, रति आदि करता है, वह आत्मा का विपरीत पुरुषार्थ है। पुत्र का विवाह हो, तब सगे-सम्बन्धी आते हैं तो हर्षित होता है और 'तुम आये तो बहुत अच्छा किया' - ऐसा कहकर हर्षित हो जाता है। इस प्रकार जीव को प्रेम करना तो आता है। अब उस प्रेम को वीतरागमार्ग में जोड़े और दिशा बदले तो आत्मा सहजमात्र में मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आत्मा की रुचि करके अपनी तरफ पुरुषार्थ लगाये तो लीलामात्र में, अर्थात् सुलभरूप से मोक्ष प्राप्त होता है।

संसार की रुचिवाले जीवों को रात्रि में स्वप्न भी उसी के आते हैं और उसकी ही रटन्त होती है। दिन में जो चिन्तन किया हो, वह स्वप्न में खड़ा होता है। संसार की प्रीतिवाले को कोई यह कहे कि तू मरकर देव होगा तो वह प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है और ज्योतिषी कहे कि तुझे करोड़ रुपये मिलेंगे तो वह आनन्दित हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा की रुचिवाले को कोई कहे कि तू वीतराग होगा और केवलज्ञान तुझे प्रगट होगा तो इसमें उसे प्रीति आये बिना नहीं रहती है। उसका पहलू बदल गया है, इसलिए आत्मा की प्रीति करता है। उसमें प्रीति करे तो धर्म हुए बिना नहीं रहता और वही सच्ची सुगन्ध दशमी है। इसीलिए दशलक्षणधर्म जो कि आत्मा की शुद्धता है, उसमें ही प्रीति कर – ऐसा कहते हैं। ●●

बाघ-सिंह तो हमारे मित्र हैं

'जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों – ऐसे जङ्गल में मैं अकेले आत्मस्वरूप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जाएँगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरूप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान आत्मा हूँ... मुझे कौन खाएगा? यदि बाघ आकर शरीर को खा जाएँ तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।'

— यह मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए किया गया कथन है, लेकिन मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं होते, उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह-सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते। *—महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३४*

गाथा ४२७

अब कहते हैं कि जो जीव, लक्ष्मी चाहता है, सो धर्म बिना कैसे हो? —

लच्छिं वंछेइ णरो, णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ।
बीएण विणा कत्थ वि, किं दीसदि सस्सणिप्पत्ति॥

लक्ष्मी को चाहते पर, धर्म में प्रीती नहीं।
लक्षमी कैसे मिले ज्यों धान्य बीज बिना नहीं॥

अन्वयार्थ : [णरो लच्छिं वंछेइ] यह जीव, लक्ष्मी को चाहता है **[सुधम्मेसु आयरं णेव कुणइ]** और जिनभाषित मुनि-श्रावक धर्म में आदर (प्रीति) नहीं करता है, सो लक्ष्मी का कारण तो धर्म है, उसके बिना कैसे आवे? **[वीएण विणा सस्सणिप्पत्ति कत्थ वि किं दीसदि]** जैसे बीज के बिना धान्य की उत्पत्ति क्या कहीं दिखाई देती है? नहीं दिखाई देती है।

भावार्थ : जैसे बीज के बिना धान्य नहीं होता है, वैसे धर्म के बिना सम्पत्ति नहीं होती है - यह प्रसिद्ध है।

गाथा ४२७ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जीव, लक्ष्मी को चाहता है परन्तु धर्म के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती है।

लक्ष्मी तो सबको चाहिए है। घर में हाथी झूलता हो, मोटर हो, महल हो - ऐसे गृहस्थ को देखकर पैसे की रुचिवाले को पैसे की इच्छा हो जाती है परन्तु पुण्य के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती है। सम्यग्दर्शनरूपी धर्म के बिना अच्छा पुण्य भी नहीं होता है, इसलिए धर्म के बिना धन नहीं मिलता - ऐसा कहा है। 'धर्म के बिना धन नहीं और धन के बिना धर्म नहीं'

– ऐसा लोग कहते हैं, वह बात तो मिथ्या है। यहाँ तो पुण्य के बिना धन नहीं मिलता – ऐसा कहते हैं।

वर्तमान के अमुक विद्वान कहते हैं कि समाज की व्यवस्था ठीक नहीं है, इसलिए पैसा नहीं मिलता। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि यह बात मिथ्या है। वस्तुतः पुण्य के बिना तीन काल में भी किसी को पैसा नहीं मिलता है। जैसे, बीज के बिना धान्य नहीं होता है; इसी प्रकार पुण्य के बिना लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है – ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी पण्डित लोग अपनी कल्पना से नये-नये फतवे निकालते हैं। कोई पण्डित कहता है कि निमित्त से उपादान में कार्य होता है – ऐसे अनेक प्रकार से गप्प मारते हैं। निमित्त और उपादान दोनों स्वतन्त्र होने पर भी पण्डित निमित्त में अटककर उसके बिना कार्य नहीं होता – ऐसा मानते हैं। साथ ही कहते हैं कि सूत्र का आधार देते हैं, फिर भी उपादानवाले नहीं मानते.... तथा कहते हैं कि पहले ब्रिटिश / अंग्रेजों के गीत गाते थे और अब कांग्रेस के गाने लगे हैं। ऐसा दृष्टान्त देकर कहते हैं कि अष्टसहस्री की प्रतिष्ठा घटाकर उसका पद अब समयसार ने ले लिया है। इस प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। समयसार की महिमा होती है, यह बात उन्हें रुचती है।

अहो! दिगम्बर आचार्यों के अष्टसहस्री आदि या समयसारादि चाहे जो शास्त्र लो तो उन सबका एक ही आशय है परन्तु उनके अर्थ को यथार्थ समझे बिना उनमें विरोध मानते हैं। चारों अनुयोगों का सार एक वीतरागता ही है, उसमें विरोध नहीं है। अभी समयसार के पढ़नेवाले बहुत हो गये हैं और जो आत्मा के आकाँक्षी हैं, उनके समक्ष इन पण्डितों की विपरीत मान्यता अब चले – ऐसा नहीं है। इस बात को समझनेवाले बहुत तैयार हो गये हैं और उसका जवाब भी ठीक से देते हैं। पण्डितों को ऐसा लग गया है कि हम बहुत पुराने संस्कृत व्याकरण, न्याय ग्रन्थों के अनुभवी हैं और यह नये स्थानकवासी में से निकलकर हमारी बात को मिथ्या सिद्ध करते हैं.... परन्तु अरे भाई! सत्य तो सत्य ही रहेगा, उसमें झूठ नहीं चल सकती। (अध्यात्म की) इस बात को प्रसिद्ध करने योग्य है, गुप्त रखने योग्य नहीं है।

आशय यह है कि जिस प्रकार बीज के बिना धान्य नहीं होता है, उसी प्रकार धर्म के बिना सम्पत्ति नहीं होती है, यह बात प्रसिद्ध है।●●

गाथा ४२८-४२९

अब, धर्मात्मा जीव की प्रवृत्ति और महिमा कहते हैं —

जो धम्मत्थो जीवो, सो रिउवग्गे वि कुणदि खमभावं।
ता परदव्वं वज्जइ, जणणिसमं गणइ परदारं॥

ता सव्वत्थ वि कित्ती, ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ, ता शुद्धं माणसं कुणई॥

धर्मस्थित जीव, शत्रु समूह पर धारे क्षमा।
पर-द्रव्य को नहिं ग्रहे, पर-स्त्री लखे जननी समा॥

लोक में हो कीर्ति उसकी, सब करें विश्वास भी।
प्रिय वचन सबसे कहे, वह शुद्ध निज-पर मन करे॥

अन्वयार्थ : [जो जीवो धम्मत्थो] जो जीव, धर्म में स्थित है, **[सो रिउवग्गे वि खमभावं कुणदि]** वह शत्रुओं के समूह पर भी क्षमाभाव करता है; **[ता परदव्वं वज्जइ]** दूसरे के द्रव्य को त्यागता है, ग्रहण नहीं करता है; **[परदारं जणणिसमं गणइ]** परस्त्री को माता-बहिन-कन्या के समान समझता है।

[ता सव्वत्थ वि कित्ती] जो जीव, धर्म में स्थित है तो उसकी सब लोक में कीर्ति होती है **[ता सव्वत्थ वि वीसासो हवेइ]** उसका सब लोक विश्वास करता है, **[ता सव्वं पिय भासइ]** वह पुरुष सबको प्रियवचन कहता है, जिससे कोई दुःख नहीं पाता है **[ता सुद्धं माणसं कुणई]** और वह पुरुष अपने तथा दूसरे के मन को शुद्ध (उज्जवल) करता है, किसी को इससे कालिमा नहीं रहती है, वैसे ही इसको भी किसी से कालिमा (मानसिक कुटिलता) नहीं रहती है।

भावार्थ : धर्म सब प्रकार से सुखदाई है।

गाथा ४२८-४२९ पर प्रवचन

अब, धर्मात्मा जीवों की प्रवृत्ति और महिमा कैसी होती है ? वह कहते हैं।

जो आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक लीन रहता है, वह शत्रुओं के झुण्ड होने पर भी उनके प्रति क्षमाभाव रखता है क्योंकि वह जानता है कि जो पर्याय होनी है, वह होगी ही; उसे कोई रोक नहीं सकता तथा पर की पर्याय से मुझे कुछ लाभ-हानि भी नहीं होती - ऐसा मानकर ज्ञाता-दृष्टा रहता है। चारित्र का निधान मुझमें है - ऐसा ज्ञानी जानता है, इसलिए उसमें ही स्थिर रहता है। बाहर में लोग चाहे जितना विरोध करें, अपराध के बिना परीषह आये तो भी ज्ञानी अपनी शान्ति और क्षमा से च्युत नहीं होता। शत्रु का सामना नहीं करें तो लोग कहते हैं कि नामर्द है, कायर है परन्तु ज्ञानी मानता है कि आत्मा पर में कुछ कर ही नहीं सकता है। परद्रव्य के प्रति उपेक्षाभाव करके स्वद्रव्य में रहता है। स्त्री, विषय का मुख्य निमित्त होने से उसकी उपेक्षा करता है, अर्थात् स्वभाव में रहने से उसकी उपेक्षा हो जाती है।

धर्मी जीव की लोक में प्रशंसा होती है और उसका समागम करनेवाले जीव सुधरेंगे किन्तु बिगड़ेंगे नहीं - ऐसा सब मानते हैं। धर्मी मीठे वचन बोलता है, अर्थात् भाषा तो भाषा के कारण से होती है परन्तु ऐसा भाव धर्मी को होता है। धर्मी अपने में उज्ज्वल परिणाम करता है और दूसरों को भी निमित्त होता है क्योंकि आत्मा शुद्ध निर्मलपरिणामस्वरूप है, वह सबको सुखदायक ही होता है। धर्मात्मा विश्वास, कीर्ति इत्यादि का स्थान है। धर्मी के अतिरिक्त दूसरे में यथार्थरूप से ऐसा स्थान नहीं होता है। संक्षिप्तरूप से सार यह है कि धर्म तो सम्पूर्णरूप से सुख का देनेवाला है; दु:ख को देनेवाला नहीं है, धर्म से दु:ख नहीं होता है। ●●

गाथा ४३०-४३१

अब, धर्म का माहात्म्य कहते हैं —

उत्तमधम्मेण जुदो, होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो, उत्तमधम्मेण संभवदि॥

अग्गी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तम रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति॥

धर्म से संयुक्त हो, तिर्जञ्च उत्तम देव हो।
धर्म उत्तम युक्त हो, चाण्डाल भी देवेन्द्र हो॥

अग्नि शीतल हो तथा, उत्तम रतन हो सर्प भी।
देव भी हो दास उत्तम, धर्म के सुप्रभाव से॥

अन्वयार्थ : [उत्तमधम्मेण जुदो तिरक्खो वि उत्तमो देवो होदि] सम्यक्त्वसहित उत्तमधर्म से युक्त तिर्यञ्च भी उत्तमदेव होता है, **[उत्तमधम्मेण चंडालो वि सुरिंदो संभवदि]** सम्यक्त्वसहित उत्तमधर्म से चाण्डाल भी देवों का इन्द्र हो जाता है।

[जीवस्स सुधम्मादो] इस जीव के उत्तमधर्म के प्रभाव से **[अग्गी वि य हिमं होदि]** अग्नि तो हिम (शीतल / पाला) हो जाती है; **[भुयंगो वि उत्तम रयणं होदि]** साँप भी उत्तम रत्नों की माला हो जाता है; **[देवा वि य किंकरा होंति]** देव भी किंकर हो जाते हैं।

गाथा ४३०-४३१ पर प्रवचन

सिंह, बाघ, हिरण या मछली को भी सम्यग्दर्शन हो सकता है और कितने ही तो पञ्चम गुणस्थानवाले भी होते हैं; इस कारण उन्हें भी आंशिक उत्तमधर्म होता है। वे पशु, मरकर देव

होते हैं। भगवान के समवसरण में तिर्यञ्च होते हैं। उनमें जिनकी दृष्टि अन्तर आत्मा पर पड़ी है, उतना उन्हें धर्म है और जितना राग रहा है, उसे वे जानते हैं। कोई चाण्डाल भी हो, परन्तु यदि उसे आत्मा का भान हुआ हो तो मरकर इन्द्र भी होता है। इसमें आत्मा के ज्ञान की महिमा है।

आज अपने दशलक्षण धर्म में उत्तमतपधर्म का दिन है। चारित्ररूप से धर्म के दश प्रकार हैं, इन्हें दशलक्षण धर्म कहते हैं। वह धर्म, मिथ्यादृष्टि को नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को ही तपधर्म होता है। वह तपधर्म किसे कहा जाता है ? वह बात यहाँ कह रहे हैं। यहाँ तपधर्म में मुनि की प्रधानता से बात है। आत्मा के आनन्द की अभिलाषा करनेवाले को इस लोक या पर लोक की अभिलाषा नहीं होती, क्योंकि वह बारम्बार अपने आत्मानन्द का अनुभव करना चाहता है। जैसे, किसी को हीरा-माणिक की खान मिल जाये तो वह कपास के व्यापार में लक्ष्य नहीं देता है.... उसका लक्ष्य तो हीरे की खान में से हीरे निकलने की ओर ही रहता है और वह हीरा ही निकाला करता है। इसी प्रकार आत्मा, अमृत का कन्द-सहजानन्द की मूर्ति है - ऐसा उसने जाना है; इसलिए उस खान में ही धर्मी बारम्बार खोज किया करता है। आत्मा, मन, वाणी, देह से रहित पुण्य-पाप से रहित चैतन्यनिधान है। उसकी शान्ति का पार नहीं है। उसके खजाने में कमी हो - ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए मुनिराज बारम्बार छठवें में से सातवें गुणस्थान के अनुभव में झूलते हैं और श्रावक को भी उसकी भूमिकानुसार अनुभव होता है। मुनिराज, शत्रु-मित्र में समभाव रखते हैं। शरीर कदाचित् शिथिल पड़े, परन्तु मुनिराज का आत्मा तो पुष्ट होता है - ऐसे मुनिराज को उत्तमतपधर्म होता है।

आत्मा के स्वरूप में रमणता करना, अर्थात् उपयोग को स्वभाव में लगाना, वह वास्तव में तप है। अकषायस्वभाव में पुरुषार्थ लगाना, तप है। उस समय आहार लेने की वृत्ति नहीं होती और आहार लेने की वृत्ति लेने की क्रिया भी सहज ही नहीं होती। उसके कारण शरीर शिथिल पड़ जाता है। शरीर में झुर्रियाँ / सिलवट पड़ जाती हैं परन्तु मुनिराज तो आत्मा के आनन्द में होते हैं। शरीर को जीव-जन्तु काटे - डाँस-मच्छर का परीषह हो, उस समय भी मुनि अपने शुद्ध उपयोग को आत्मा के आनन्द में स्थिर करते हैं; वह वास्तव में तप है। आत्मा की समझ किये बिना, मात्र कायक्लेश करनेवाले की यह बात नहीं है। अभी तो कितने ही लोग आत्मा के भान बिना, अभिग्रह और तप करते हैं; वह वास्तव में तप नहीं है।

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित उत्तम-धर्मयुक्त जीव, भले ही तिर्यञ्च हो तो भी देवपद को प्राप्त करता है और सम्यक्त्वसहित उत्तमधर्म से चाण्डाल भी देवों का इन्द्र होता है।

धर्मी जीव को आत्मा का भान होता है और उस भूमिका में जो शुभराग होता है, उससे जो पुण्य बँधता है, उसके फल में किसी समय अग्नि का परीषह हो तो वह भी शीतल हो जाती है। सीताजी को अग्निपरीक्षा के समय पुण्य का योग था तो अग्नि का पानी हो गया और उसमें कमल की रचना हो गयी। लक्ष्मणजी को सीताजी के प्रति माता के समान प्रेम था। रामचन्द्रजी का हुक्म अग्निपरीक्षा का हुआ, तब उन्होंने बहुत खेद व्यक्त किया, परन्तु बड़े भाई के प्रति विनय बहुत था; इसलिए कुछ बोल नहीं सके, परन्तु वे भगवान की स्तुति करते हैं कि सती सीता का यह काम पार पाड़ दो। धर्म के प्रताप से पूर्व के पुण्य का फल आया, इस प्रकार धर्म के कारण अग्नि भी शीतल हो जाती है – ऐसा कहा गया है। शास्त्र में सुभद्रा का बात आती है कि घड़े के अन्दर सर्प रखा है और अन्दर हाथ डालने पर वह पुष्पहार बन जाता है; यह भी पूर्व का पुण्य था, तो हुआ है। इसे उपचार से धर्म के कारण हुआ कहा जाता है।

मुनिराज ध्यान में विराजमान हों और पुण्य का योग न हो तो सिर पर अग्नि रखे और शरीर जल जाता है, बाघ, सिंह खा जाते हैं। अन्दर में धर्म प्रगट हुआ है; इसलिए बाहर में आपत्तियाँ हों ही नहीं – ऐसा नहीं है परन्तु जिसके पुण्य का योग होता है, यहाँ उसकी बात है। कोई अज्ञानी हो और उसके पुण्य का योग हो तो बाहर में आपत्ति नहीं होती। ज्ञान का विकास हो तो कब मरण होगा ? यह भी कदाचित् कह दे.... और ज्ञानी मुनि हों.... मार्ग में मरण को प्राप्त हो जायें, इसके साथ धर्म का कुछ सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो जिसे आत्मा का धर्म प्रगट हुआ है और राग, शेष रह जाता है तो उसका कैसा पुण्य होता है ? उसकी महिमा बतलायी गयी है।

यहाँ सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बतलाते हुए, अन्य गाथा का आधार देते हैं —

तिक्खं खग्गं माला, दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा।
हालाहलं पि अमियं, महापया संपया होदि॥

तलवार भी माला बने, अरु शत्रु दुर्जय मित्र हो।
हलाहल विष, अमृत बने, विपत्ति सम्पति अहो॥

अर्थात् **,** उत्तम धर्मसहित जीव के तीक्ष्ण खड्ग, फूलमाला हो जाती है; दुर्जय शत्रु भी सुख देनेवाला मित्र हो जाता है; हालाहल विष भी अमृत हो जाता है; अधिक कहाँ तक कहें, बड़ी आपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है।

जिसे दश प्रकार का धर्म, आत्मा में प्रगट हुआ हो, उसे पुण्य के योग से बाहर में तलवार के बदले फूल की माला हो जाती है। वारिषेणकुमार पर पुलिस, तलवार का वार करती है, वहाँ पुष्पवृष्टि हो जाती है। अकम्पनाचार्य के साथ रहनेवाले मुनि पर उपसर्ग आया, राजा के मन्त्री ने उन पर तलवार उठायी, वह मुनि के पुण्ययोग से स्तम्भित हो गया। धर्म का माहात्म्य बतलाना हो, तब पुण्य का फल आया हो, उसका उपचार किया जाता है परन्तु वस्तुतः तो पुण्य के कारण से बाह्य संयोग की प्राप्ति नहीं होती और धर्म की पर्याय के कारण पुण्य की पर्याय नहीं है। वस्तुतः एक द्रव्य की पर्याय, दूसरे द्रव्य के कारण से नहीं होती है; इसलिए गाथा में जो कथन है, उसका सही अभिप्राय समझना चाहिए।

आत्मा अपना मित्र हो गया, अर्थात् आत्मा की पर्याय स्वसन्मुख हुई, उसका आरोप बाहर में किया गया है कि शत्रु भी धर्मी का मित्र बन जाता है परन्तु यदि पूर्व का पुण्य होवे तो ऐसा होता है। किसी मुनि को बाहर में असाता का उदय हो और शरीर जलता भी हो, शरीर को पानी में डुबो दे, फिर भी आत्मा में लीन होकर वे मुनिराज मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिसे धर्म प्रगट हुआ हो, उसे बाह्य में पुण्य का उदय होता ही है – ऐसा नहीं है परन्तु यहाँ तो जिसे पुण्य का उदय होता है, उसकी बात है। आत्मा अमृतमय है – ऐसी दृष्टि हुई तो बाहर में पुण्य का योग हो तो जहर का अमृत हो जाता है; इसलिए वह धर्म की महिमा है – ऐसा कहा जाता है। अधिक क्या कहें! महान अपदाएँ भी सम्पदा बन जाती है, यह सब धर्म का माहात्म्य है।●●

गाथा ४३२

अलियवयणं पि सच्चं, उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती।
धम्मपहावेण णरो, अणओ वि सुहंकारो होदि॥

झूठे वचन भी सत्य हों, उद्यम रहित धनवान हो।
सत् धर्म के सुप्रभाव से, नर के सुखद सब कार्य हों॥

अन्वयार्थ : [धम्मपहावेण णरो] धर्म के प्रभाव से जीव के **[अलियवयणं पि सच्चं]** झूठ वचन भी सत्य वचन हो जाते हैं; **[उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती]** उद्यमरहित को भी लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है, **[अणओ वि सुहंकारो होदि]** और अन्याय कार्य भी सुख के करनेवाले हो जाते हैं।

भावार्थ : यहाँ ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि यदि पहले धर्मसेवन किया हो तो उसके प्रभाव से यहाँ झूठ बोले सो भी सच हो जाए; उद्यम बिना भी सम्पत्ति मिल जाए; अन्यायरूप प्रवृत्ति करे तो भी सुखी रहे।

गाथा ४३२ पर प्रवचन

देखो! यहाँ धर्मी को बाहर में पुण्य का उदय कैसा होता है – वह कहते हैं। कदाचित् धर्मात्मा सच्चा ज्ञानी पुरुष कोई तुक्का लगा दे तो वह मिथ्या नहीं पड़ता – ऐसा कहते हैं। सच्चा परिणाम आवे और झूठ छुप जाए – ऐसा मेल हो जाता है।

वादिराज मुनि के शरीर में कोढ़ था। उनका भक्त–श्रावक हमेशा उनके दर्शन करने आता था। एक बार राज्यसभा में किसी ने चुगली की कि इस श्रावक के गुरु कोढ़ी हैं, यह श्रावक हमेशा उनके दर्शन करके आता है और सबको चेप लगाता है। राजा ने श्रावक से पूछा।

श्रावक के मन में ऐसा हुआ कि मेरे गुरु को कोढ़ी सिद्ध करते हैं परन्तु मुझसे ऐसा कैसे कहा जाए ? यह विचार कर उसने बोल दिया कि मेरे गुरु कोढ़ी नहीं हैं। राजा ने कहा कि मैं कल दर्शन करने आऊँगा। श्रावक उन मुनिराज के समीप गया और सारी बात कह सुनायी। मुनिराज ने कहा – तू उदास मत हो। मुनिराज, भगवान की स्तुति करने बैठे – अहो प्रभु ! जिस नगरी में आप पधारते हो, उस नगरी को इन्द्र स्वर्णमयी बना देते हैं तो आपने मेरे आत्मा में स्थान लिया और यह शरीर स्वर्णमयी न हो – ऐसा कैसे हो सकता है ? अर्थात्, यह स्वर्णमयी हुए बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार स्तुति करते हुए सम्पूर्ण शरीर स्वर्णमयी जैसा बन गया। एक अंगुली का भाग कोढ़वाला रखा। राजा आये; उन्होंने मुनि के दर्शन किये और सारी वार्ता मुनिराज के समक्ष कह सुनायी। मुनिराज ने कहा कि लोग झूठे नहीं हैं, देखो ! इस अंगुली में कोढ़ है परन्तु यहाँ तो यह कहना है कि ज्ञानी ने तुक्का लगाया, तो भी पूर्व पुण्य का उदय था तो सच्चा हो गया। श्रावक का हेतु तो यह था कि धर्म की निन्दा न हो। कोई मेरे गुरु को कोढ़ी कहे, वह उसे रुचता नहीं था।

शास्त्र में बात आती है कि रामचन्द्रजी ने वज्रकर्ण राजा की सहायता की। सिंहोदर राजा बड़ा होने से उसके प्रति लौकिकदृष्टि से वज्रकर्ण को नमस्कार करना चाहिए, परन्तु वह देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करता था; इसलिए उसे रामचन्द्रजी ने मदद की। लौकिक अपेक्षा से तो यह अन्याय कहलाता है परन्तु पुण्यशाली को सब सुलटा पड़ जाता है। सिंहोदर को बाँध लिया गया, वह अन्याय प्रसिद्ध नहीं हुआ और सफलता मिल गयी।

सीताजी सती थीं। रामचन्द्रजी को हृदय में अत्यन्त विश्वास था कि सीताजी सती हैं, तथापि लौकिकमर्यादा के लिए अग्निपरीक्षा की, परन्तु पूर्व के पुण्य के कारण सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। सीताजी के प्रति अन्याय हुआ था परन्तु वह सुलटा पड़ गया। अब वे ही रामचन्द्रजी जब सीताजी को रावण हरकर ले गया, तब वृक्षों और पर्वतों से 'सीता है' – ऐसा पूछते थे। लौकिक अपेक्षा से ऐसा कार्य एक सामान्य मनुष्य भी नहीं करता। वसुदेव की मृत्यु होती है, तब बलदेव जो कि धर्मात्मा हैं, वे उन्हें कन्धे पर लेकर घुमते हैं। ऐसा तो एक साधारण बुद्धिवाला नहीं करता, तथापि पुण्य के उदय के कारण वे चतुर कहलाये। दोनों

भाईयों में बहुत प्रेम था; इसलिए ऐसा हुआ। इस प्रकार धर्मी को पुण्य के कारण उलटा प्रसङ्ग भी सुलटा पड़ जाता है।

कोई धर्मी, व्यापार-धन्धा न करता हो और दूसरों को आलसी लगे, परन्तु उसको पुण्य के कारण निधान मिल जाते हैं। धर्मी को निश्चय से आत्मा की शान्ति होती है और व्यवहार से पुण्य का उदय होता है तो बाहर में पैसा आदि मिलता है - ऐसा यहाँ बताया गया है। धर्मी को तो केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी का निधान प्रगट होता है। बाहर से लक्ष्मी / धनादिक प्राप्त होना, वह वर्तमान परमार्थ का कार्य नहीं है। कल का कारीगर हो और देव हो जाता है। इस प्रकार धर्म का माहात्म्य है। अज्ञानी अधर्मी हो और पाप का उदय हो तो सुलटा प्रसङ्ग भी उलटा पड़ जाता है। ज्ञानी को जरा सा चारित्र का राग होता है परन्तु अन्तर-वेदन होने से, उस राग को सुलटेपने में लिया जाता है; यह धर्म का माहात्म्य है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि यदि पूर्व में धर्म का सेवन किया हो तो उसके प्रभाव से यहाँ झूठ बोले तो भी सत्य बन जाता है; उद्यम के बिना भी सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती है; अन्यायरूप वर्ते तो भी सुखी रहता है अथवा झूठ वचन का तुक्का लगावे तो भी अन्त में वह सत्य हो जाता है। 'अन्याय किया' - ऐसा लोग कहते हैं तो वहाँ न्यायवाले की सहायता ही होती है - ऐसा समझना चाहिए। ●●

मुनिवरों के हम दासानुदास हैं...

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। **दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं!** अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? **ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।**

— *गुरुदेवश्री के वचनामृत, १४२, पृष्ठ ९०*

गाथा ४३३

अब, धर्मरहित जीव की निन्दा करते हैं —

देवो वि धम्मचत्तो, मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ, णिवडइ, णरए ण संदेहो॥

मिथ्यात्व से हो धर्मच्युत, सुर जन्म ले एकेन्द्रि में।
शंका नहीं कि धर्मच्युत, चक्री जनम ले नरक में॥

अन्वयार्थ : [धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण] धर्मरहित, मिथ्यात्व के वश से **[देवो वि तरुवरो होदि]** देव भी वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हो जाता है; **[धम्मरहिओ चक्की वि णरए णिवडइ]** धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरक में जा पड़ता है, **[ण संदेहो]** उसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

गाथा ४३३ पर प्रवचन

अब, धर्मरहित जीव की निन्दा करते हैं।

इन पूर्व कथित दश प्रकार के धर्मों से रहित जो जीव है, वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिए कदाचित् वह जीव, पुण्यबन्ध करता है तो देवपर्याय प्राप्त करके वहाँ से पुनः एकेन्द्रियादि में उत्पन्न होता है क्योंकि धर्म तो आत्मा में है, इस बात का उसे पता नहीं है। वह पुण्य के फल में देवगति में जाता है परन्तु वापस वहाँ से फूल में उत्पन्न होता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नरक में गया है क्योंकि उसे आत्मा का भान नहीं था। यहाँ हीरा-माणिक के पलंग पर सोता था और सोलह हजार देव उसकी सेवा करते थे परन्तु अपनी आत्मा की शरण नहीं थी; इसलिए मरकर नरक गया है।

पहले धर्म के फल का वर्णन किया था। धर्मी जीवों को पुण्यबन्ध होता है, इस कारण बाहर में सब सुलटा होता है और अज्ञानी को मिथ्यात्व के कारण अन्तर शान्ति तो नहीं, परन्तु अच्छा पुण्य भी उसे नहीं होता है। वह कदाचित् मन्द कषाय करे तो देवलोक में जाता है परन्तु वहाँ से वापस, संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो, आज दशलक्षण पर्व का आठवाँ दिन है। उत्तमत्यागधर्म का दिन है। इस शास्त्र की गाथा ४०१ में त्यागधर्म की बात की जा चुकी है, उसमें मुख्यरूप से तो मुनिपने की बात है परन्तु उसके अन्तर में सम्यग्दृष्टि और श्रावक की बात भी आ जाती है।

जो मुनिराज, मिष्ट-भोजन का परित्याग करते हैं, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले उपकरणों का त्याग करते हैं और ममत्व के कारणरूप बस्तिकाओं का त्याग करते हैं, उन मुनिराज को उत्तमत्यागधर्म होता है। आत्मा, परद्रव्य का त्याग नहीं कर सकता; इसलिए वस्तुतः तो आत्मा, मिष्ट-भोजन को नहीं छोड़ता, परन्तु उसके प्रति होनेवाले राग को छोड़ता है - ऐसा कहना भी व्यवहार का कथन है क्योंकि जिसका त्याग करना है, ऐसा राग भी आत्मा में नहीं है। जिस समय, पर्याय में विकार होता है, उसी समय उसे आत्मा छोड़े - ऐसा नहीं होता परन्तु ज्ञानस्वरूपी आत्मा में लीन होने पर, राग की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए राग को छोड़ा - ऐसा कहा जाता है और उस समय मिष्ट भोजन का योग नहीं होता; इसलिए उसे छोड़ता है - ऐसा निमित्त अपेक्षा से कथन है।

आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि हैं, वे आत्मा से तद्रूप हैं; इसलिए वे छूट नहीं सकते, परन्तु चार गति का भाव अथवा जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह भाव भी आत्मा के साथ तन्मय नहीं है; वह छूट सकता है। विकार एक समय की पर्याय है, वह छूट सकती है। आत्मा, विकाररूप हुआ ही नहीं है - ऐसी दृष्टि होने के बाद ही राग का सच्चा त्याग होता है। शास्त्र के कथनों का क्या रहस्य है ? यह ख्याल में नहीं आये, तब तक धर्म नहीं होता और उसे सच्चा त्याग भी नहीं होता है।

मुनिराज को मोरपिच्छी, कमण्डल और पुस्तक के अतिरिक्त दूसरे उपकरण नहीं होते हैं। मुनिराज को वस्त्र-पात्र तो होते ही नहीं हैं; स्वरूप की लीनता होने पर मुनिराज को चारित्र की उग्रता वर्तती है, उसमें आहार का राग छूट जाने पर मिष्ट भोजनादिक का योग नहीं होता

है। आहार छोड़ना नहीं पड़ता, क्योंकि आत्मा में परद्रव्य का ग्रहण–त्याग नहीं है। कोई परद्रव्य का ग्रहण–त्याग मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के स्वभाव में राग का ग्रहण–त्याग भी नहीं है तो फिर परद्रव्य को आत्मा, ग्रहण करता है या छोड़ता है – ऐसा तो होता ही नहीं है। यह बात समयसार में स्पष्टरूप से आयी है, फिर भी यहाँ मिष्ट भोजन को त्यागता है – ऐसा कहा है तो उसका अर्थ सही ढंग से समझना चाहिए। आत्मा के आनन्द के स्वाद में मिष्ट भोजन की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती; इसलिए आहार का त्याग करता है – ऐसा उपचार से कहा गया है।

मुनिराज को मोरपिच्छी और कमण्डल होता है परन्तु उनके प्रति ममत्वभाव नहीं होता है। अज्ञानी, त्याग के स्वरूप को जाने बिना, बाहर से आहार छूट गया हो, उसे धर्म मान लेता है। जिसे देव–गुरु–शास्त्र कैसे होते हैं – ऐसा भान नहीं है और आत्मा क्या त्याग कर सकता है और क्या ग्रहण कर सकता है? इस बात का भी जिसे पता नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है, अपितु मात्र अधर्म ही होता है।

वस्तुतः आत्मा, मिष्ट भोजन का स्वाद लेता ही नहीं है परन्तु राग का स्वाद लेता है। वैसा राग मुनिराज को अस्थिरता के कारण होता है। स्वरूप में लीन होने पर तो वह राग भी मुनिराज को नहीं होता, उसे यहाँ उत्तमत्यागधर्म कहा है। चैतन्य ज्ञातास्वरूप आत्मा की दृष्टिपूर्वक उपकरण और मकानादि के प्रति आसक्ति का भाव भी मुनिराज नहीं होने देते हैं, वह उत्तमत्यागधर्म है। ●●

दीक्षा कल्याणक का अपूर्व अवसर

जिस समय भगवान का साक्षात् दीक्षा कल्याणक होता होगा, उस समय कैसा लगता होगा? अहो! जो चक्रवर्ती थे, कामदेव थे और तीर्थङ्कर थे; उन्होंने जिस समय दीक्षा ली होगी, उस समय की दशा की क्या बात करना! छह खण्ड में जिनका उत्तम रूप था, उत्तम भोग थे, जो तीर्थङ्कर थे – ऐसे भगवान, चारित्रदशा धारण करके प्रमत्त–अप्रमत्तभाव में झूल रहे हैं। एक क्षण में महाव्रतों की या भेद की शुभवृत्ति उठती है तो दूसरे ही क्षण उसे तोड़कर पुनः आत्मानुभव में लीन हो जाते हैं। *— महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३५*

गाथा ४३४

धम्मविहीणो जीवो, कुणइ असक्कं पि साहसं जइ वि।
तो ण वि पावदि इट्ठं, सुट्ठुअणिट्ठं परं लहदि॥

धर्म विरहित जीव करता, अति पराक्रम भी यदि।
पर इष्ट प्राप्ति हो नहीं, अनिष्ट हो उत्कृष्ट भी॥

अन्वयार्थ : [धम्मविहीणो जीवो] धर्मरहित जीव, **[जइ वि असक्कं साहसं पि कुणइ]** यद्यपि बड़ा असह्य साहस (पराक्रम) भी करता है **[तो इट्ठं सुट्ठु ण वि पावदि]** तो भी उसको इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है; **[परं अणिट्ठं लहदि]** केवल उल्टी उत्कट अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : पाप के उदय से अच्छा करते हुए भी, बुरा होता है, यह जगत्प्रसिद्ध है।

गाथा ४३४ पर प्रवचन

जिसे पूर्व कथित दशलक्षण धर्म का पता नहीं है / प्रतीति नहीं है, वह धर्मरहित जीव, व्रत-तपादि करता है परन्तु उसके आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है। आत्मा, चिदानन्द, विकाररहित, शरीरादि से पार है, उसका जिसे भान नहीं है, वह जीव, शरीर के खण्ड-खण्ड जितने टुकड़े कर देने पर भी क्रोध नहीं करता तो भी उसकी मुक्ति नहीं होती है। चैत्र महीने की धूप में भूख-प्यासा खड़ा रहे परन्तु आत्मा के भान बिना, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती है। वीतरागमार्ग में दश प्रकार का धर्म कहा गया है, जिसे वह धर्म नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती है।

आत्मा, ज्ञानस्वभावी है और विभावरहित है - ऐसी दृष्टि के अभाव में शरीर को कृष

करे तो भी आत्मा का कल्याण नहीं होता है क्योंकि जिसमें से कल्याण होता है और जो कल्याणस्वरूप है, उसे वह नहीं जानता है। जिसने मात्र बाहर की क्रिया से धर्म माना है, उसे शान्ति उपलब्ध नहीं होती; उसे आकुल-व्याकुल परिणाम हुए बिना नहीं रहते हैं। उपवास करे और फिर प्यास लगी हो, गर्मी सहन न कर सके और संथारा किया हो वह अकेला आर्तध्यान और रौद्रध्यानरूप परिणाम करके मरण को प्राप्त करता है क्योंकि आत्मा, शान्तस्वरूप है, इसका उसे पता नहीं है।

कोई अज्ञानपूर्वक हठाग्रह से तप करता है, इस कारण उसे आत्मा के धर्म का लाभ तो नहीं होता परन्तु आर्तध्यान करता है; इसलिए उलटा पापभाव होता है और कदाचित् कोई जीव शुभपरिणाम करे तो पुण्य बँधता है परन्तु आत्मा का भान नहीं है; इसलिए उसकी भी मुक्ति नहीं होती है। जिसे स्वभाव की शान्ति नहीं है, उसे तप में अनादरबुद्धि होती है और वह चार गतियों में परिभ्रमण करता है।

आशय यह है कि पाप के उदय से भला करते हुए भी, बुरा होता है, यह बात जगत में प्रसिद्ध है। ●●

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं — ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं — ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं।

— दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ १२

गाथा ४३५

अब, बारह भावना के अधिकार की अन्तिम गाथा कहते हैं।

इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहप्पं।
धम्मं आयरह सया, पावं दूरेण परिहरह॥

इस तरह धर्म अधर्म की, बहुभाँति महिमा देख कर।
धर्म का आदर करो, नित पाप तज दो दूर से॥

अन्वयार्थ : [इय धम्माहम्माण विविहमाहप्पं पच्चक्खं पेच्छह] हे प्राणियों! इस प्रकार से धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर, **[सया धम्मं आयरह]** तुम सदा धर्म का आदर करो **[पावं दूरेण परिहरह]** और पाप को दूर ही से छोड़ो।

भावार्थ : आचार्य ने दश प्रकार के धर्म का स्वरूप कहकर, अधर्म का फल दिखाया। यहाँ यह उपदेश दिया है कि प्राणियों! प्रत्यक्ष धर्म-अधर्म का फल, लोक में देखकर धर्म का आदर (पालन) करो और पाप का त्याग करो। आचार्य बड़े उपकारी हैं अकारण ही, जिनको कुछ चाह नहीं है - निस्पृह होते हुए, जीवों के कल्याण ही के लिये बारबार कहकर प्राणियों को चेत (ज्ञान) कराते हैं, ऐसे श्रीगुरु वन्दने पूजनेयोग्य हैं। ऐसे यतिधर्म का वर्णन किया।

गाथा ४३५ पर प्रवचन

हे प्राणी! इस प्रकार धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर, तुम धर्म का आदर करो और पाप को दूर से ही छोड़ दो! धर्म का अनेक प्रकार से माहात्म्य बतलाया है और अधर्म का अनेक प्रकार से फल बतलाया है। उन दोनों को ज्यों का त्यों

जानकर, धर्म को ग्रहण करना और अधर्म को छोड़ना चाहिए। यहाँ तो धर्म और अधर्म दोनों प्रत्यक्ष हैं – ऐसा कहा गया है।

धर्म का फल तो प्रत्यक्ष शान्ति और समाधान है और अधर्म का फल, प्रत्यक्ष अशान्ति तथा दु:ख है। धर्मी नाम धराकर ऐसा माने कि हम धर्मी हैं; इसलिए हमारा आदर होना चाहिए, उसमें अनेक प्रकार से अशान्ति का वेदन किया करता है। उसे आत्मा का पता नहीं है; इसलिए वास्तव में शान्ति प्राप्त नहीं होती। धर्मी, बाहर में किसी का दोष नहीं निकालते। मैं सहन नहीं कर सकता, यही मेरा दोष है – ऐसा वे जानते हैं। ज्ञाता–दृष्टारूप रहकर सहन करना, वही मेरा कर्तव्य है। (रागादिरूप) वृत्ति उत्पन्न होती है, वह अपराध है; उसे भी धर्मी, हिंसा गिनता है। ऐसा जानकर वह धर्म का ही आदर करता है; अधर्म का आदर नहीं करता, अर्थात् अधर्म नहीं होने देता है।

आचार्य, महान निष्कारण उपकारी हैं; उन्हें स्वयं के लिए कुछ नहीं चाहिए। निस्पृह होते हुए जीवों के कल्याण के लिए ही बारम्बार कहकर प्राणियों को जगाते हैं। ऐसे श्रीगुरु वन्दन–पूजनयोग्य हैं। मुनिराज, निस्पृही होते हैं, उन्हें कुछ लेना नहीं है; इसलिए पर की दरकार उनको नहीं होती है, मात्र करुणाबुद्धि से उपदेश देते हैं कि तुम धर्म को पहचानो.... बारम्बार कहते हैं कि चेतो....! चेतो....!!

इन स्वामी कार्तिकेय की महिमा श्रीमद् राजचन्द्र ने भी की है। वे मुनि का स्वरूप ऐसा वर्णन करते हैं। दशलक्षणधर्म, साधुधर्म या यतिधर्म कहो, वह एक ही है। जो शुद्धता का यत्न करता है, वह यति है; विकार या पुण्य का यत्न करनेवाला, यति नहीं है। इस प्रकार मुनिधर्म का वर्णन किया है।

दोहा

मुनि-श्रावक के भेद तैं, धर्म दोय परकार।
ताकूं सुनि चितवो सतत, गहि पावौ भवपार॥

धर्म दो प्रकार का है — एक मुनिधर्म है और दूसरा श्रावकधर्म है। जो मुनिधर्म का पालन न कर सके, उसे श्रावकधर्म का पालन करना चाहिए, परन्तु मुनि नाम धराकर मुनिधर्म

का पालन न करे तो पाप होता है। इसलिए इस धर्म के स्वरूप को जानकर, श्रावक अथवा मुनिधर्म को ग्रहण करो और यह धर्म पालन करके तुरन्त मुक्ति को प्राप्त करो।

इस प्रकार बारह भावनाओं में यह अन्तिम धर्मभावना का अधिकार पूर्ण हुआ।

यह ग्रन्थ, बारह भावनाओं का होने पर भी, कार्तिकेयस्वामी ने इसमें बारह तप का स्वरूप बतलाया है। आत्मा के भानपूर्वक यह बारह प्रकार का तप होता है। अब, उस तप का वर्णन करते हैं। ●●

मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न – यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या?

उत्तर – भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी – यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा – मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सच्चे सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते–देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है।

— ***वचनामृत प्रवचन, २/२२२***

गाथा ४३६

द्वादश तप निरूपण

अब, धर्मानुप्रेक्षा की चूलिका को कहते हुए आचार्य, बारह प्रकार तप के विधान का निरूपण करते हैं —

बारसभेओ भणिओ, णिज्जरहेऊ तवो समासेण।
तस्स पयारा एदे, भणिज्जमाणा मुणेयव्वा॥

निर्जरा के हेतु कहे, बारह तप संक्षेप में।
अब भेद उनके जो कहेंगे, तुम उन्हें भी जान लो॥

अन्वयार्थ : [णिज्जरहेऊ तवो बारसभेओ समासेण भणिओ] कर्मनिर्जरा का कारण तप, बारह प्रकार का संक्षेप से जिनागम में कहा गया है, **[तस्स पयारा एदे भणिज्ज माणा मुणेयव्वा]** उसके भेद जो अब कहेंगे, सो जानना चाहिए।

भावार्थ : निर्जरा का कारण, तप है, यह बारह प्रकार है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश – ये छह प्रकार का बाह्यतप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का अन्तरङ्गतप है। इनका व्याख्यान अब करेंगे।

गाथा ४३६ पर प्रवचन

अब, धर्मानुप्रेक्षा की चूलिका कहते हुए आचार्यदेव बारह प्रकार के तपविधान का निरूपण करते हैं। सर्वज्ञ–वीतराग की दिव्यध्वनि में बारह प्रकार के तप का वर्णन आया है,

ऐसे तप से निर्जरा होती है। लोग तो आहार न लेने से निर्जरा होती है – ऐसा मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। आत्मसन्मुख परिणाम होने पर आहार की वृत्ति ही नहीं होती, वह निर्जरा है।

तीन प्रकार से निर्जरा है —

(१) आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना,

(२) अशुद्धता का नाश होना, और

(३) जड़कर्म का खिरना।

कर्म का खिरना, वह द्रव्यनिर्जरा है और अशुद्धता का नाश होना तथा शुद्धि की वृद्धि होना, वह भावनिर्जरा है। वस्तुतः आत्मा, कर्म को छोड़ता नहीं है परन्तु स्वरूप में लीन होने पर अशुद्धता नहीं होती, तब कर्म उनके कारण से छूट जाते हैं – ऐसी तप की व्याख्या है, उसे लोग नहीं समझते हैं। अभी लोग (बाह्यकिया) को तप मानते हैं – ऐसा तप तो अभव्य ने अनन्त बार किया है परन्तु आत्मा में प्रतपन होकर शुद्धता प्रगट नहीं की है; इसीलिए उसे सच्चा तप नहीं हुआ है।●●

अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार, पूर्ण सुख-सुविधाओं में जिनका पालन -पोषण हुआ हो, वे भी जब सम्यग्दर्शनसहित आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए वन में जाते हैं; तब कहते हैं – 'माता! मुझे कहीं अच्छा नहीं लगता, मुझे जहाँ अच्छा लगता है, ऐसे अपने स्वरूप में ही मैं जाना चाहता हूँ। मेरा नाथ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें आवरण, अशुद्धि या अपूर्णता नहीं है। मेरा ज्ञायक प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसके आनन्द को लूटने के लिए, अनुभवने के लिए मैं तो जाता हूँ। अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

— द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ६५२

गाथा ४३७

अब, पहले अनशनतप को चार गाथाओं से कहते हैं —

उवसमणं अक्खाणं, उववासो वण्णिदो मुणिंदेहि।
तम्हा भुंजुंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा॥

इन्द्रियों के उपशमन उपवास मुनिवर ने कहा।
आहार करते हुए भी हैं, जितेन्द्रिय उपवास युत॥

अन्वयार्थ : [मुणिंदेहि अक्खाणं उवसमणं उववासा वण्णिदो] मुनिन्द्रों ने संक्षेप में इन्द्रियों को विषयों में न जाने देने को; मन को अपने आत्मस्वरूप में लगाने को उपवास कहा है; **[तम्हा जिदिंदिया भुंजुंता वि य उववासा होंति]** इसलिये जितेन्द्रिय, आहार करते हुए भी उपवाससहित ही होते हैं।

भावार्थ : इन्द्रियों को जीतना उपवास है; इसलिए यतिगण भोजन करते हुए भी उपवाससहित ही हैं क्योंकि वे इन्द्रियों को वश में करके प्रवर्तते हैं।

गाथा ४३७ पर प्रवचन

अब, अनशनतप की व्याख्या करते हैं।

आत्मा, अतीन्द्रिय है। उसमें एकाग्र होने पर इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छूट जाए, उसे यहाँ इन्द्रियों का उपवास कहते हैं। द्रव्य इन्द्रियाँ तो आत्मा में नहीं हैं परन्तु भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड हैं, उनका लक्ष्य भी छूट जाना और इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले शुभाशुभभावों का भी आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होने देना, उसे यहाँ इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना कहा जाता है। तीर्थङ्कर के वजीर गणधरदेव ने ऐसे शुद्धपरिणाम को उपवास कहा है। मुनिराज

आत्मा में एकाग्र होते हैं; इसलिए उन्हें शुभाशुभवृत्ति नहीं होती है। वे मुनिराज, आहार करते समय भी उपवासी कहलाते हैं।

इन्द्रियों को जीतना, वह उपवास है। इसलिए भोजन करते होने पर भी यतिपुरुष, उपवासी ही है क्योंकि वे इन्द्रियों को वश करके प्रवर्तते हैं। सर्वज्ञ भगवान, उपवास किसे कहते हैं ? इन्द्रियों को जीतना, वह उपवास है, अर्थात् इन्द्रियाँ मुझमें हैं ही नहीं, इस प्रकार जानकर इन्द्रियों का लक्ष्य छूट जाना, वह उपवास है। आत्मा, अतीन्द्रिय है; जिसे उसका भान नहीं है, वह आहार का राग घटाता है तो शुभभाव होता है परन्तु साथ में मिथ्यात्व का पाप होता है क्योंकि उससे लाभ मानता है। उपदेश सुनना या भगवान के दर्शन करना भी शुभभाव है; इसलिए उसकी ओर का लक्ष्य भी छूट जाना, उसे भगवान, उपवास कहते हैं। वस्तुस्थिति ऐसी है। सर्वज्ञ भगवान, महाविदेह में विराजमान हैं और अनन्त केवली भगवान हो गये हैं, वे सब यह एक ही मार्ग कहते हैं। दो हजार वर्ष पहले यह स्वामी कार्तिकेय हो गये हैं। वे स्वयं कहते हैं कि इन्द्रियों का जीतना, वह उपवास है। आत्मा, इन्द्रियों को तो जीत नहीं सकता परन्तु उनकी ओर का लक्ष्य छोड़ना, वह भी व्यवहारकथन है क्योंकि पर का लक्ष्य छोड़ने जाने से राग होता है परन्तु आत्मा, अखण्ड ज्ञानस्वभावी है; उसकी रुचि और वेदन होने पर पर की इच्छा होती ही नहीं, उसने इन्द्रियों को जीता है – ऐसा कहा जाता है।

आत्मा के भानपूर्वक इच्छा को तोड़ना, वह सच्चा उपवास है; बाकी सब लंघन है। जैसे, निंबोली को नीलमणि नहीं कहा जाता; इसी प्रकार मिथ्या उपवास करने से कहीं निर्जरा या आत्मा की शान्ति नहीं होती। आत्मा के भानसहित मुनि होने से उन्हें निर्दोष आहार लेने की क्रिया होती है, फिर भी वह उपवास है – ऐसा कहते हैं क्योंकि आत्मा, अनाहारी है, उसका लक्ष्य उन्हें छूटा नहीं है; अतीन्द्रिय आनन्द नहीं छूटता है। अल्प राग होने पर भी अन्तर्मुख घोलन नहीं छूटता है; इसलिए वे उपवासी हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी यह बात लागू पड़ती है – ऐसा समझ लेना। आत्मा, आहार को व्यवहार से भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, उसकी ओर का राग, आत्मा के स्वभाव में नहीं है – ऐसा जिसे भान है, वे मुनिराज, चौबीस घण्टे में एक बार बस्ती में जाते हैं और खड़े-खड़े हाथ में निर्दोष आहार लेते हैं। शुभविकल्प होने पर भी अन्तरमग्नता की मुख्यता कभी नहीं छूटती है; इसलिए वे उपवासी हैं। ●●

गाथा ४३८-४३९

जो मणइंदियविजई, इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसइ, सज्झायपरायणो होदि॥
कम्माणणिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए।
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि॥

निरपेक्ष हो इस लोक परभव सौख्य मन इन्द्रियजयी।
स्वाध्याय में तत्पर सदा, निज रूप में लवलीन हैं॥
एक दिन परिमाण ले, आहार त्यागे हर्ष से।
कर्म क्षय के लिए जो जिन कहें अनशन तप उसे॥

अन्वयार्थ : [जो मणइंदियविजई] जो मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला है, **[इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो]** इस भव और पर भव के विषयसुखों में अपेक्षारहित है, वाँछा नहीं करता है; **[अप्पाणे विय णिवसइ]** अपने आत्मस्वरूप में ही रहता है **[सज्झायपरायणों होदि]** तथा स्वाध्याय में तत्पर है **[एगदिणादिपमाणं]** और एक दिन की मर्यादा से, **[कम्माण णिज्जरट्ठं]** कर्मों की निर्जरा के लिये **[लीलाए आहारं परिहरेइ]** लीलामात्र ही क्लेशरहित हर्ष से आहार को छोड़ता है, **[तस्स अणसणं वतं होदि]** उसके अनशनतप होता है।

भावार्थ : इन्द्रिय और मन-विषयों में प्रवृत्ति से रहित होकर, आत्मा में वसे (निवास करे), वह उपवास है। इन्द्रियों को जीतना, इस लोक-पर लोकसम्बन्धी विषयों की वाँछा न करना, या तो आत्मस्वरूप में लीन रहना, या शास्त्र के अभ्यास स्वाध्याय में मन लगाना

– उपवास में ये कार्य प्रधान हैं और क्लेश उत्पन्न न हो, जैसे क्रीड़ामात्र, एक दिन की मर्यादारूप आहार का त्याग करना सो उपवास है। ऐसे उपवास का नाम अनशनतप होता है।

गाथा ४३८-४३९ पर प्रवचन

अब, अनशनतप की विशेष व्याख्या करते हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिपने का वर्णन करते हैं। उसका जिसे पता नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। इसीलिए यह जानने की विशेष आवश्यकता है। आठ पंखुडी के कमल के आकाररूप हृदयस्थान में मन होता है, उसका संग मुनिराज को नहीं है। भगवान आत्मा, असंग है, उसमें एकाग्रता वर्तती है, वह उपवास है। उस आनन्द की भावनावाला सुखामृत का स्वादी है। ऐसे मुनि को इस लोक और पर लोक की इच्छा नहीं होती है – ऐसा मुनिमार्ग और उपवास का स्वरूप पहचानना चाहिए। सर्वज्ञकथित सन्तों का मार्ग दुर्लभ है। अभी तो ऐसे सन्तों के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। इतना ही नहीं, परन्तु सुनना भी दुर्लभ है। सच्चे मुनि कहीं दिखते नहीं हैं। छठे गुणस्थानवाले मुनि की जाति ऐसी है। जैसी बात हो, वैसी होती है। मुनि मुख्यरूप से आत्मा में लीन होते हैं। जब राग होता है, तब स्वाध्याय में रहते हैं। मुनि तो जंगल में बसते हैं। स्त्री को मुनिपना होता ही नहीं है। आज मानो, कल मानो, या अनन्त भव में मानो, परन्तु यह माने बिना छूटकारा नहीं है। सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में यह मार्ग आया है; इसे समझने से ही छूटकारा है।

मुनिराज, सर्वज्ञ के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं; मिथ्यादृष्टि के बनाये हुए शास्त्र नहीं पढ़ते हैं। आचार्य परम्परा से सन्तों के द्वारा कथित शास्त्रों का, आत्मा में लीन न रह सकें, तब स्वाध्याय करते हैं और ध्यान में रहते हैं। मुनि के उपवास, आनन्द और मौज में होते हैं। उपवास का काल, क्रीड़ामात्र में व्यतीत हो जाता है। काल कैसे गया – इसका पता भी नहीं पड़ता। आनन्द.... आनन्द.... करते हुए उपवास का काल व्यतीत होता है। वीतरागदेव द्वारा कथित मार्ग की ऐसी पद्धति है। मात्र आहार छोड़ देना, वह कहीं उपवास का या मुनिपने का स्वरूप नहीं है। व्यापारी, दुकान पर बैठा हो, उसे कमायी होती हो तो उसके रस में एक टाइम खाना भी भूल जाता है; इसी प्रकार आत्मा के आनन्द की आमदनी में मुनिराज को आहार की इच्छा ही नहीं होती, वह उपवास है। मुनि को उपवास में जरा भी खेद या क्लेश नहीं हैं।

क्रीड़ामात्र में आनन्द से समय व्यतीत करते हैं। स्वभावदृष्टि की लीनता में उन्हें क्लेश नहीं होता है। इसका नाम अनशनतप है।

उपवास का अर्थ यह है कि इन्द्रियों तथा मन के विषयों में प्रवृत्तिरहित होकर, आत्मा में रहना उपवास है। इस लोक, पर लोक सम्बन्धी विषयों की वाँछा नहीं करना, वह इन्द्रियजय है तथा आत्मस्वरूप में लीन रहना या शास्त्र का अभ्यास, स्वाध्याय में मन लगाना, वह उपवास में प्रधान है। जिस प्रकार क्लेश उत्पन्न न हो, उस प्रकार से क्रियामात्ररूप से एक दिन की मर्यादारूप आहार का त्याग करना, इस प्रकार उपवास नामक अनशनतप होता है। जो आत्मा के भान बिना यह तप करता है, उसे क्लेश होता है, यह बात आगामी गाथा में कही जा रही है।●●

वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। '**मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।**' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ीं - वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है - ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है।

— *वचनामृत प्रवचन, २/१९८*

गाथा ४४०

उववासं कुव्वाणो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अवरं, कम्माणं णेव णिज्जरणं॥

उपवास करता हुआ भी, आरम्भ करता मोह से।
क्लेश हो उसको क्षुधा का, कर्मक्षेय होवे नहीं॥

अन्वयार्थ : [जो उववासं कुव्वाणो] जो उपवास करता हुआ, **[मोहादो आरंभं करेदि]** मोह से आरम्भ (गृहकार्यादि) को करता है, **[तस्स अवरं किलेसो]** उसके पहले तो गृहकार्य का क्लेश था ही; दूसरा भोजन के बिना क्षुधा-तृषा का और क्लेश हो गया; **[कम्माण णिज्जरणं णेव]** कर्मों का निर्जरण तो नहीं हुआ।

भावार्थ : आहार को तो छोड़े और विषय-कषाय-आरम्भ को न छोड़े, उसके पहले तो क्लेश था ही और दूसरा क्लेश भूख-प्यास का और हो गया - ऐसे उपवास में कर्म की निर्जरा कैसे हो? कर्म की निर्जरा तो सब क्लेश छोड़कर, साम्यभाव करने से होती है।

गाथा ४४० पर प्रवचन

जो उपवास करके व्यापार-धन्धा करता है या घर के कार्य करता है, उसे निर्जरा नहीं होती है। मैं चैतन्य ज्ञाता हूँ, इस प्रकार जिसे स्वभाव का भान हो, व्यापार आदि के अशुभकार्य में नहीं लगे, अपितु स्वाध्याय-ध्यानादि करके आत्मा के विशेष चिन्तवन में उपयोग लगाये तो उसे तप और निर्जरा होती है परन्तु ताश या शतरंज के खेल में अथवा नींद में उपयोग लगाये तो उसे उस प्रकार का क्लेश तो है, तदुपरान्त भूख-प्यास का अधिक क्लेश होता है। ऐसा क्लेश होने पर उसे पाप ही होता है; इसलिए निवृत्ति लेकर सम्यग्दर्शनपूर्वक आहार की इच्छा

न करे और शान्तस्वरूप आत्मा के विचार में समय व्यतीत करे तो निर्जरा होती है। उपवास करके, क्लेश में समय व्यतीत करनेवाले को निर्जरा नहीं होती है।

आशय यह है कि जो आहार का परित्याग तो करता है परन्तु विषय-कषाय-आरम्भ का परित्याग नहीं करता, उसे तो पहले ही क्लेश था और अब यह दूसरा क्लेश भूख-प्यास का हुआ। ऐसे उपवास में कर्मों की निर्जरा कैसे सम्भव है? कर्मों की निर्जरा तो सम्पूर्ण क्लेश छोड़कर, साम्यभाव करने से ही होती है।

आहार की इच्छा तो छोड़े, परन्तु संसार की तृष्णा-आरम्भादिक के भाव का त्याग नहीं करे तो उसे अनशनतप का फल प्राप्त नहीं होता है। देखो, यह आचार्य दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं और श्रीमद् ने इन्हें वन्दन किया है। ये कहते हैं कि आत्मा-शुद्ध चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा है। सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ होता है, उसे मैं जानने-देखनेवाला हूँ — ऐसी दृष्टिपूर्वक, राग-द्वेष न होने देना, वह साम्यभाव है और वह तप है, उससे ही निर्जरा होती है।

इस प्रकार अनशनतप की व्याख्या पूर्ण हुई।●●

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद -पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

— दृष्टि ना निधान, बोल १२१

गाथा ४४१-४४२

अब, अवमौदर्यतप को दो गाथाओं में कहते हैं —

आहारगिद्धिरहिओ, चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं।
अप्पयरं जो भुञ्जइ, अवमोदरियं तवं तस्स॥

जो पुण कित्तिणिमित्तं, मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं।
अप्पं भुञ्जदि भोज्जं, तस्स तवं णिप्फलं बिदियं॥

आहार गृद्धि से रहित, शास्त्रोक्त प्रासुक योग्य जो।
आत्यल्प ले आहार, अवमोदर्य तप होता उसे॥

कीर्ति एवं मिष्ट भोजन, चाहकर मायादि से।
जो करे अवमोदर्य उसका, तप सभी निष्फल अरे॥

अन्वयार्थ : [**जो आहारगिद्धिरहिओ**] जो तपस्वी, आहार की अति चाह से रहित होकर, [**चरियामग्गेण जोग्गं पासुगं**] शास्त्रोक्त चर्या की विधि से, योग्य प्रासुक आहार [**अप्पयरं भुंजइ**] अति अल्प लेता है, [**तस्स अवमोदरियं तवं**] उसके अवमौदर्य-तप होता है।

[**जो पुण कित्तिणिमित्तं**] जो मुनि, कीर्ति के निमित्त तथा [**मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं**] माया (कपट) से और मिष्ट भोजन के लाभ के लिये [**अप्पं भोज्जं भुंजदि**] अल्प भोजन करता है, अर्थात् तप का नाम करता है, [**तस्स बिदियं तवं णिप्फलं**] उसके दूसरा अवमौदर्यतप निष्फल है।

भावार्थ : मुनि, आहार के छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर, चौदह मलदोषरहित

प्रासुक, योग्य भोजन लेते हैं तो भी ऊनोदनतप करते हैं; अपने आहार के प्रमाण से थोड़ा लेते हैं। एक ग्रास से बत्तीस ग्रास तक आहार का प्रमाण कहा गया है, उसमें इच्छानुसार घटाकर लेना, वह अवमौदर्यतप है।

जो ऐसा विचार करे कि अल्प भोजन करने से मेरी कीर्ति होगी तथा कपट से लोगों को धोखा देकर कुछ प्रयोजन सिद्ध कर लूँगा और थोड़ा भोजन करने पर भोजन मिष्टरससहित मिलेगा – ऐसे अभिप्रायों से ऊनोदरतप करे तो वह निष्फल है; वह तप नहीं, पाखण्ड है ।

गाथा ४४१-४४२ पर प्रवचन

अब, अवमौदर्य / ऊनोदरतप के विषय में दो गाथाओं में कहते हैं।

जो कोई धर्मात्मा, आत्मा का लक्ष्य रखकर शास्त्र में कहे अनुसार आत्मा की शान्ति का अवलम्बन करके, दोषरहित थोड़ा आहार लेता है, उसे ऊनोदरतप होता है। निर्दोष प्रासुक आहार में भी राग घटानेवाले को निर्जरा होती है। यहाँ मात्र आहार छोड़ने की बात नहीं है क्योंकि वह तो आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है। आत्मा, आहार लेता या छोड़ता है, यह तो निमित्त का कथन है। यहाँ तो कहते हैं कि स्वभाव के लक्ष्य से राग घटता है, उतना स्वभाव पुष्ट होता है, इसका नाम ऊनोदरतप है। यह साक्षात् मुनिराज की बात है और श्रावक को भी आंशिक ऊनोदरतप होता है, यह बात इसमें अन्तरगर्भित है।

मुनिराज, आहार हेतु गमन कर रहे हों, वहाँ यदि अग्नि की ज्वाला देखे या बालक को रोता देखे अथवा सामने मुर्दा आता हुआ मिले तो आहार की इच्छा को तोड़कर वापस (वन में) चले जाते हैं। आत्मा का आनन्द, अमृत आहार है, उसे ऐसा योग क्यों ? – ऐसा विचार कर वापस चले जाते हैं। उन्हें अन्दर में खेद नहीं होता, वह तप है। उग्र तपश्चर्या करने के बाद आहार के लिए जाते हैं परन्तु यदि निर्दोष आहार नहीं मिले तो खेद को प्राप्त नहीं होते, अपितु आत्मा के आनन्दपूर्वक वापस आ जाते हैं।

रामचन्द्रजी (वनवास के समय) जंगल में रहते थे। एक बार आकाशमार्ग में दो मुनिराज विहार करते हुए आ रहे थे। उन्होंने यह अभिग्रह धारण किया था कि राजकुमार हो, जंगल में हो और अपने हाथ से ताजा मिट्टी के बर्तनों में भोजन बनाया हो तो उसके हाथ से

आहार ग्रहण करेंगे। रामचन्द्रजी ने मिट्टी के बर्तन बनाये थे और आहार तैयार किया था, तत्पश्चात् (उन्होंने आहारदान की) भावना भायी। इतने में मुनिराज नीचे उतरे और रामचन्द्रजी ने आहारदान किया। ऐसा उग्र अविग्रह था, फिर भी बाहर का योग होना था तो मेल मिल गया। ऐसा अविग्रह हो और कदाचित् आहार नहीं मिले तो संथारा करते हैं। मुनिराज, अन्तर के आनन्द का प्रयोग करते हैं। मुनिराज को उसमें खेद नहीं होता; उन्हें आत्मा में अशान्ति नहीं होती, वह तप है।

आत्मा को समझे बिना, मात्र माया / कपट से ऊनोदरतप करनेवाले को कोई लाभ नहीं होता है। जो मुनि, कीर्ति के लिए या छल-कपट से अथवा मिष्ट भोजन के लाभ के लिए अल्प भोजन करके, उसे तप का नाम देता है, उसका वह तप निष्फल है।

जो कोई साधु नाम धराकर, जगत में कीर्ति के लिए अवमौदर्यतप करता है, अर्थात् अल्प भोजन करता है, उसे धर्म नहीं होता; वह मायावी / कपटी होने से, उसे मिथ्याभ्रान्ति और अज्ञान का लाभ होता है। मान, प्रतिष्ठा के लिए और जगत् को दिखाने के लिए तप करनेवाले की दृष्टि स्व-स्वभाव पर नहीं है, अपितु बाहर में है; इसलिए उसे आत्मा की शान्ति का लाभ नहीं होता है।

कोई यह विचार करे कि मैं अल्प आहार करूँगा तो जगत् में मेरी महिमा होगी अथवा थोड़ा खाऊँगा तो आहार अच्छा मिलेगा - ऐसी बुद्धि से ऊनोदरतप करता है, वह तो पाखण्ड है। वीतराग के मार्ग में तो स्वलक्ष्य से राग घटाये, तब आहार तो उसके कारण से, अर्थात् स्वयं स्वतः अल्प होता है, उसे व्रत अथवा ऊनोदरतप कहते हैं। आत्मा, आहार को अल्प नहीं करता। वस्तुतः आत्मा ने राग घटाया; इसलिए आहार अल्प लिया गया है - ऐसा भी नहीं है और आहार अल्प लिया; इसलिए राग घटा है - ऐसा भी नहीं है। उस समय उतना ही आहार आने का था। बत्तीस ग्रास के आहार में से सात ग्रास कम लिए तो वह आत्मा की इच्छा के कारण कम लिए गये हैं - ऐसा नहीं है परन्तु उस काल में उतने ही आने योग्य थे क्योंकि वह स्वतन्त्र द्रव्य है। पूर्व में यह बात आ गयी है कि मुनिराज को आहार करने पर भी पाँच इन्द्रियों के विषयों का राग छूट गया है; अतः वह उपवास है परन्तु जो मात्र बाहर से संसार में प्रतिष्ठा की इच्छा से तप करता है, वह तो अकेला अज्ञानभाव है, पाखण्ड है। ●●

गाथा ४४३

अब, वृत्तिपरिसंख्यानतप को कहते हैं —

एगादिगिहपमाणं, किं वा संकप्पकप्पियं विरसं।
भोज्जं पसुव्व भुंजदि, वित्तिपमाणं तवो तस्स॥

एकादि गृह परिमाण ले, दातार-रस की प्रतिज्ञा।
पशुवत करे भोजन उसे है वृत्तिपरिसंख्यान तप॥

अन्वयार्थ : [एगादिगिपमाणं] जब मुनि, आहार के लिए चले, तब पहले मन में ऐसी प्रतिज्ञा करे की आज एक ही घर आहार मिलेगा तो लेंगे, नहीं तो लौट आवेंगे तथा दो घर तक जाएँगे। **[किं वा संकप्पकप्पिय विरसं]** एक रस की, देनेवाले की, पात्र की प्रतिज्ञा करे कि ऐसा दातार, ऐसी रीति से, ऐसे पात्र में लेकर देगा तो लेंगे तथा आहार की प्रतिज्ञा करे कि सरस-नीरस या अमुक अन्न मिलेगा तो लेंगे - इत्यादि वृत्ति की संख्या (गणना) प्रतिज्ञा मन में विचार कर चले, वैसी ही विधि से मिले तो आहार ले अन्यथा न ले **[भोज्जं पसु व्व भुंजदि]** और आहार, पशु-गौ आदि की तरह करे (जैसे, गौ इधर-उधर नहीं देखती है, चरने ही की तरफ देखती है), **[तस्स वित्तिपमाणं तवो]** उसके वृत्तिपरिसंख्यानतप है।

भावार्थ : भोजन की आशा को निराश करने के लिये यह तप है। सङ्कल्पानुसार विधि मिलना, दैवयोग है, यह बड़ा कठिन तप महामुनि करते हैं।

गाथा ४४३ पर प्रवचन

अब, वृत्तिपरिसंख्यानतप का स्वरूप कहते हैं।

मुनिराज, जंगल में से आहार करने के लिए बस्ती में आते हैं, तब स्वभाव की शान्तिपूर्वक चिदानन्द का प्रयोग / आजमाइश करते हैं कि अमुक घर से आहार मिलेगा तो लेना, वरना वापस आ जाऊँगा; इस प्रकार वृत्ति को मर्यादा में रखते हैं। जैसे, धार लगानेवाला छुरी या चाकू को धार लगाते समय बारम्बार देखा करता है; इसी प्रकार मुनिराज अपने में कितनी शुद्धपरिणति बढ़ती है, इसका प्रयोग बारम्बार करते हैं। उसमें देह की क्रिया वापस फिरने की या अमुक घर जाने की, उसके स्वयं के कारण और उसके काल में होती है परन्तु उस समय मुनिराज को जो शान्ति रहती है, वह तप है।

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए मुनिराज ऐसा नियम करते हैं कि आज तो एक ही रस लेना है। पानी का टपका भी भोजन में हो तो नहीं लेना है; इस प्रकार चैतन्य के पुरुषार्थ को आजमाते हैं। वस्तु छूट गयी है, उस पर तो मुनिराज का लक्ष्य नहीं है परन्तु उसके प्रति राग छूट गया है, उस पर भी उनका लक्ष्य नहीं रहता है; मुनिराज तो निजस्वभाव में ही रमण करते हैं। वे ऐसा भी अभिग्रह करते हैं कि बैल के सींग में गुड़ की भेली देखने के बाद आहार के लिए भिक्षार्थ जाना है और आहार मिलने का योग हो तो ऐसा योग भी बन जाता है। गुड़ की भेली की गाड़ी हो, कोई बैल उसमें सिर मारे और सिर ऊँचा करे, तब उसमें गुड़ की भेली लग जाए - यह सब क्रिया तो स्वयं-स्वतः होती है परन्तु मुनिराज अपनी शान्ति की वृद्धि के लिए ऐसे प्रयोग करते हैं और आहार की वृत्ति को तोड़ते हैं, वह वृत्तिपरिसंख्यानतप है।

छह महीने के उपवास का पारणा हो, उसमें दाल अथवा उसके छिलके मिलें तो आहार ग्रहण करूँगा - ऐसी भी वृत्ति की मर्यादा करते हैं। जिस प्रकार व्यापारी अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए व्यापार में अनेक प्रकार के प्रयोग करता है - अमुक पूँजी जवाहरात में, अमुक रुपये रुई में, अमुक अनाज में, अमुक किराना में - इस प्रकार अनेक प्रकार से आमदनी के लिए प्रयोग करता है; उसी प्रकार मुनिराज भी आत्मा के आनन्द की आमदनी के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग करते हैं। पैसा तो पुण्योदय हो तो मिलता है परन्तु पैसा प्राप्त करने का भाव तो करता है। इसी प्रकार मुनिराज चैतन्य के आनन्द के लिए पुरुषार्थ कर रहे हैं। उसमें आहार नहीं मिले तो विकल्प को तोड़ देते हैं। जैसे, गाय को कोई कुछ खिलाये तो उसका लक्ष्य खाने

पर रहता है परन्तु खिलानेवाला कौन है ? – उसके सन्मुख वह नहीं देखती है; इसी प्रकार मुनिराज का लक्ष्य निज आत्मा की ओर ही होता है, उसे ही वृत्तिपरिसंख्यानतप कहते हैं। आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। आहार मिलना तो पुण्य के उदयानुसार है और नहीं मिले तो भी मुनिराज को खेद नहीं होता है। इस प्रकार अनशन तथा वृत्तिपरिसंख्यान, इन दो तपों की व्याख्या हुई। ●●

चिदानन्द आत्मा ही हमारा देश

अहा! धर्मात्मा मुनि निरन्तर आनन्द झरते हुए अपने प्रचुर स्वसम्वेदन में से अर्थात् आनन्दस्वरूप निज आत्मा में से बाहर आयें, व्रतादि या धर्मोपदेश का विकल्प आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि अरेरे! हम कहाँ इस परदेश में आ गये ? ज्ञानियों की परिणति, धर्मात्मा की दशा, विभाव से विमुख होकर स्वरूपोन्मुख हो रही है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णतया स्थित होने को तरसते हैं! यह शरीर तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि तो हमारे हैं ही नहीं, परन्तु यह विभावभाव भी हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो अन्तर में विद्यमान चिदानन्द आत्मा है।

– ऐसा है वीतरागमार्ग का स्वरूप। महाव्रतादि अथवा दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी राग है; राग हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे ? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। अशक्ति के कारण भीतर स्वरूप में स्थिर नहीं रह सके, पुरुषार्थ अल्प है; इसलिए यहाँ आ पड़े। यहाँ शुभभाव में हमारा कुछ नहीं है। जहाँ अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि हमारा परिवार निवास करता है, वह निज शुद्ध चैतन्यभूमि ही हमारा स्वदेश है। धर्मी को निरन्तर ऐसी दृष्टि होती है। अब, हम अपने उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। — *वचनामृत प्रवचन, २/३१*

गाथा ४४४

अब, रसपरित्यातप को कहते हैं —

संसारदुक्खतट्ठो, विससमविसयं विचिंतमाणो जो।
णीरसभोज्जं भुंजइ, रसचाओ तस्स सुविसुद्धो॥

संसार दुःख से तप्त हो, विषसम विषय हैं चिन्तते।
भोजन करें नीरस, उन्हें रसत्याग तप निर्मल अरे॥

अन्वयार्थ : [जो संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचिंतमाणो] जो मुनि, संसार के दुःख से तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियों के विषय, विषसमान हैं। विष खाने पर तो एक ही बार मरता है और विषय-सेवन करने पर बहुत जन्म-मरण होते हैं - ऐसा विचार कर **[णीरसभोज्जं भुंजइ]** नीरस भोजन करता है, **[तस्सं रसचाओ सुविसुद्धो]** उसके रसपरित्यागतप निर्मल होता है।

भावार्थ : रस छह प्रकार के हैं - घृत, तैल, दधि (दही), मिष्ट (मीठा), लवण (नमक), दुग्ध (दूध) और खट्टा, तथा खारा, मीठा, कडुआ, तीखा, कसायला ये भी रस* कहे गये हैं। इनका दृढ़तानुसार त्याग करना - एक दो या सब रसों को छोड़ना, रसपरित्याग है।

यहाँ कोई पूछता है कि मन ही में त्याग करने के कारण रसपरित्याग को कोई नहीं जानता है और ऐसे ही वृत्तिपरिसंख्यान होता है, तब इसमें और उसमें क्या विशेषता है?

इसका समाधान - वृत्तिपरिसंख्यान में तो अनेक प्रकार का त्याग है, यहाँ केवल रस ही का त्याग है - यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि रसपरित्याग तो बहुत दिन का

*** मूलाचारए पञ्चाचाराधिकार, गाथा १५५।**

भी होता है, उसको श्रावक जान भी जाता है और वृत्तिपरिसंख्यान बहुत दिन का नहीं होता है।

गाथा ४४४ पर प्रवचन

अब, रसपरित्यागतप का स्वरूप कहते हैं।

वास्तव में आत्मा, रस का त्याग नहीं कर सकता, परन्तु रस की ओर का राग छूट जाने पर रस का योग होता ही नहीं है, उसे निमित्त-अपेक्षा से रस का परित्याग कहा जाता है। मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने इस संसार में अनन्त अवतार किये हैं, उसमें आत्मा की समझ के बिना सर्वत्र मात्र दु:ख ही है। आशा और तृष्णा से जीव सुलग रहे हैं। आत्मा को भूलकर पर की ओर झुकाव करते हैं, वही दु:ख है - ऐसा मुनिराज मानते हैं। मीठे लड्डुओं के प्रति होनेवाला राग भी जहर है - ऐसा विचारकर मुनिराज, रस का त्याग करते हैं और आत्मा के आनन्दरस की अभिवृद्धि करते हैं, वही रसपरित्यागतप है।

सम्यग्दृष्टि जीव को चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान होने से उसके आश्रय से इच्छा टूट जाती है, उसे तप कहते हैं। यहाँ रस का त्याग करने को तप कहा गया है, यह बात समझने योग्य है। कथन की शैली अलग होती है और मर्म कुछ दूसरा होता है।

वस्तुत: आत्मा, रस का त्याग नहीं कर सकता है; आत्मा अमृतरस से भरपूर है, उसके आश्रय से रस का विकल्प नहीं होता, उसे रस का त्याग किया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। जैसे, लकड़ी स्वयं से ऊँची होती है, उसमें अँगुली निमित्तमात्र है; अँगुली ने लकड़ी को ऊँचा नहीं किया है; इसी प्रकार दूध-दही, शक्कर इत्यादि आनेवाले थे और आत्मा ने उन्हें छोड़ दिया - ऐसा नहीं है; वस्तुत: तो वह आनेवाले ही नहीं थे, उसे छोड़ा - ऐसा कहा जाता है।

वस्तुविज्ञानसार नामक दश हजार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और उसमें इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्टता आयी है परन्तु आत्मा की रुचि करके पढ़ने के लिए निवृत्त नहीं होता और समझने की दरकार नहीं करता तो कैसे समझ में आये? अभी तो विचार करने के लिए भी बहुत साधन बाहर आ चुके हैं; अत: खोज करनी चाहिए और जानना चाहिए कि पर का कार्य पर के कारण होता है और स्व का कार्य स्व के कारण होता है। पानी, अग्नि के कारण गर्म नहीं

होता, परन्तु अपनी योग्यता के कारण गर्म होता है, तब अग्नि को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी मानता है कि अग्नि के बिना पानी गर्म नहीं होता; इसलिए अग्नि से गर्म होता है परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। आत्मा में विकार होता है, वह कर्म के कारण नहीं होता, परन्तु स्वयं स्वतन्त्ररूप से करे तो होता है; कर्म तो निमित्त ही हैं।

जगत् के प्रत्येक पदार्थ की पर्याय पृथक्-पृथक् स्वयं के कारण से होती है। अपनी विकारीपर्याय भी स्वतन्त्र है – ऐसा संयोगी दृष्टिवाला निर्णय नहीं कर सकता है। विकार अपने स्वकाल में हुआ है, उसमें कर्म निमित्त है – ऐसा जाने तो संयोगी दृष्टि छोड़े, अर्थात् स्वयं परद्रव्य — स्त्री, परिवार के कारण या कर्म के उदय के कारण विकार होता है – ऐसा नहीं माने। मेरे कारण, मेरी कमजोरी से वह विकार हुआ है – ऐसा माने, उसे स्व तरफ देखने का अवकाश रहता है। जब तक संयोग की ओर दृष्टि है, तब तक स्वभाव स्वतन्त्र है – ऐसी दृष्टि नहीं होती। आत्मा की दरकार करके विचार करने का समय निकाले तो यह बात समझ में आने योग्य है। जिसे यह बात अन्दर में बैठ गयी हो, उसे स्वप्न में भी दूसरी बात नहीं बैठ सकती। यहाँ यह बात सत्य है – ऐसा कहता है और बाहर जाकर दूसरी बात सत्य है – ऐसा नहीं कहता। जैसे, अपना नाम कोई नहीं भूलता, वह उसका निर्णय नहीं करता; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा का परिणमन स्वयं से हो रहा है, यह बात जिसे बैठ गयी है, उसे किसी काल में पर से या निमित्त से अपनी पर्याय होने की मान्यता नहीं होती है।

देखो, कोई कहता है कि लकड़ी, अँगुली के कारण चलती है; अँगुली, आत्मा के विकल्प के कारण चलती है; आत्मा को विकल्प, कर्म के कारण हुआ है और कर्म का परिणमन, कालद्रव्य के कारण हुआ है.... तो कालद्रव्य का परिणमन किसके कारण हुआ है? तो कहते हैं कि उसके स्वयं के कारण हुआ है। इसलिए वास्तव में यही सिद्ध हुआ कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं के कारण से हुआ है। प्रत्येक की स्वतन्त्र पर्याय, स्वयं से ही होती है – ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा, मात्र उसका जानने-देखनेवाला स्वतन्त्रतत्त्व है – यह मान्यता होती है और यह सम्यग्दर्शन है। यह मान्यता होने के बाद उसे दूसरी कोई बात नहीं जँचती है। आत्मा का स्वभाव कैसा है? – उसे जानने के लिए जीव को विवेक करना चाहिए। कोई व्यक्ति ***बाघिरी*** के पास जाकर पूछे कि सोने का भाव कितना है? तो वह सही नहीं

कहलाता, परन्तु स्वर्ण के व्यापारी, अर्थात् स्वर्णकार को पूछे तो वह ठीक कहलाता है। इसी प्रकार यह आत्मा, ज्ञान का पिण्ड है, उसकी पर्याय में विकार है; वह स्वतन्त्र अपने कारण से होता है फिर भी वह विकार, आत्मा के त्रिकाल शुद्धस्वभाव में नहीं है। जिसे ऐसा ज्ञान करना हो, उसे ऐसा जाननेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा विवेकपूर्वक करनी पड़ेगी। दूसरे से यह सत्य मिले - ऐसा नहीं है। ऐसा स्वरूप जानने के बाद आत्मा, अपने में लीन होने पर रस की इच्छा ही नहीं होती, वह रसपरित्यागतप है। जिसे ऐसी दृष्टि नहीं हुई है, वह बाहर से कदाचित् रस छोड़ दे परन्तु उसे भाव में तो अनन्त रस चलता है / खपता है; इसलिए प्रथम आत्मा का ज्ञान करना ही जीव का कर्तव्य है।

रस के छह प्रकार हैं — घी, तेल, दही, मिठाई, नमक, और दूध - ऐसे, तथा खट्टा, खारा, मीठा, कडुवा, चरपरा, और कषायला, ये भी रस हैं। उनका भावनानुसार त्याग करना, अर्थात् कोई एक ही रस छोड़ता है, कोई दो रस छोड़ता है, या समस्त रस छोड़ता है। इस प्रकार रसपरित्यागतप होता है।

प्रश्न : कोई रसत्याग को जानता न हो और मन में ही त्याग करे तो इस प्रकार ही वृत्तिसंख्यानतप है, तब फिर उसमें और इसमें क्या अन्तर है ?

समाधान : वृत्तिपरिसंख्यान में तो अनेक पद्धतियों की संख्या है और इसमें रस का ही त्याग है, इतनी विशेषता है। यह भी विशेषता है कि रसपरित्याग तो बहुत दिनों का भी होता है और उसे श्रावक जान भी जाता है, जबकि वृत्तिपरिसंख्यानतप बहुत दिनों का नहीं होता है।

वृत्तिपरिसंख्यानतप में तो अमुक द्रव्य, अमुक काल के लिए छोड़ने की बात है। अनेक प्रकार से वृत्ति का त्याग, वह बात की है और रसपरित्याग में तो रस की वृत्ति छूट जाए, उतनी ही बात है; इसलिए दोनों में अन्तर है / भेद है।●●

गाथा ४४५

अब, विविक्तशय्यासनतप को कहते हैं —

जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयइ।
अप्पा णिव्विसय सया, तस्स तवो पंचमो परमो॥

रागादि हेतुक शयन आसन, आदि को जो परित्यजे।
लीन निज में रहे तप है, विविक्त शय्यासन उन्हें॥

अन्वयार्थ : [जो रायदोसहेदू] जो मुनि, राग-द्वेष के कारण (जो राग-द्वेष के कारण हैं, ऐसे) **[आसणसिज्जादियं परिच्चयइ]** आसन-शय्या आदि को छोड़ता है **[अप्पा णिव्विसय सया]** तथा सदा अपने आत्मस्वरूप में रहता है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता है, **[तस्स पंचमो तवो परमो]** उस मुनि के पाँचवाँ तप, विविक्तशय्यासन उत्कृष्ट होता है।

भावार्थ : आसन, अर्थात् बैठने का स्थान और शय्या, अर्थात् सोने का स्थान - आदि शब्द से मल-मूत्रादि क्षेपण करने का स्थान - ऐसा हो, जहाँ राग-द्वेष उत्पन्न न हो और वीतरागता बढ़े - ऐसे एकान्त स्थान में सोवे-बैठे, क्योंकि मुनियों को अपना आत्मस्वरूप साधना है; इन्द्रिय विषय नहीं सेवन करने हैं, इसलिए एकान्त स्थान कहा गया है।

गाथा ४४५ पर प्रवचन

अब, विविक्तशय्यासनतप का स्वरूप कहते हैं।

देखो, यह दिगम्बर सन्त-मुनिराज की मुख्यता से बात है परन्तु गौणरूप से में श्रावकों को भी अंशत: उस प्रकार का संयोग छूट गया होता है। जिसे राग है, उसे राग के निमित्त ऐसे

आसन-शय्या इत्यादि होते हैं परन्तु मुनि को तो उनका लक्ष्य छूट गया है और आत्मा में लीन रहते हैं; इसलिए निमित्त छोड़ते हैं - ऐसा कहा गया है। सन्तों की दशा ऐसी होती है कि अन्तर में केवलज्ञान लिया या लेंगे - ऐसे उग्र पुरुषार्थ के कारण वे पर से हट गये होते हैं, उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।

मुनिराज, तीन लोक के पदार्थों से उदास हैं। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव को देखते तो हैं परन्तु उनके कारण राग होता है - ऐसा नहीं मानते हैं। स्वयं की कमजोरी से राग होता है तो उस राग को भी जानते हैं। मुनिराज, दुनिया के बादशाह को भी भिखारी देखते हैं - ऐसे सन्त एकान्त गुफा में या ऊँची टेकरी के मध्य, सिंह की तरह चिदानन्द की शिखा को जलाने के लिए अन्तर में मग्न रहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

एकाकी विचरुँगा कब श्मशान में,
अरु पर्वत पर बाघ-सिंह संयोग जब;
अडोल आसन और मन में नहीं क्षोभ हो,
परम मित्र का मानो पाया योग जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

मुनिराज, चिदानन्दस्वरूप की रमणता में रमते हुए, पर से उदास हो गये हैं। वे जंगल में विचरण करते हैं। बाघ, सिंह के संयोग में रहते हैं। सोने की जगह, अर्थात् - करवट लेकर लेटने की जगह में भी मुनिराज को राग नहीं होता है। मुनिराज को दो घड़ी से अधिक की निद्रा नहीं होती है; मात्र रात्रि के पिछले पहर में मुनिराज सोते हैं और वापस सातवें गुणस्थान की जागृतदशा में आ जाते हैं - ऐसे मुनि, सिंह जैसे हैं। ऐसा मुनिपना जिसने सुना भी नहीं है, उसे मुनिपना किस प्रकार हो सकता है ? हो ही नहीं सकता। मुनिराज तो सर्व दोष से छूटने का प्रयास कर रहे हैं। जिस प्रकार निरपराधी व्यक्ति पर पुलिस ने अपराध का आरोप लगाया हो तो उसे प्रतिष्ठावाला व्यक्ति, निरपराधी सिद्ध करने के लिए प्रयास करता है; इसी प्रकार मुनि स्वयं जानते हैं कि मेरा आत्मा निरपराधी है, वह कहीं भी अपराधी नहीं होता - ऐसे पुरुषार्थ में वे वर्त रहे हैं। राग-द्वेष होता है, वही अपराध है; वह नहीं होने देने का प्रयास मुनिराज का है। उसमें एकान्त स्थान में रहने का विकल्प होता है; इस कारण उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।●●

गाथा ४४६-४४७

पूजादिसु णिरवेक्खो, संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अब्भंतरतवकुसलो, उवसमसीलो महासंतो॥
जो णिवसेदि मसाणे, वणगहणे णिज्जरो महाभीमे।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि॥

पूजादि से निरपेक्ष, तन संसार भोग विरक्त हो।
कुशल अन्तर तप, महामुनि शान्त परिणामी अहो॥
वास करते महाभयंकर, गहन वन एकान्त में।
मशान में जो रहें तप हो, विविक्तशय्यासन उन्हें॥

अन्वयार्थ : [जो पूजादिसु णिरवेक्खो] जो महामुनि, पूजा आदि में निरपेक्ष हैं, अर्थात् अपनी पूजा महिमादि नहीं चाहते हैं; **[संसारसरीरभोगणिव्विण्णो]** संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं; **[अब्भंतरतवकुसलो]** स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तरङ्ग तपों में प्रवीण हैं; ध्यानाध्ययन का निरन्तर अभ्यास रखते हैं; **[उवसमसीलो]** उपशमशील मन्दकषायरूप, अर्थात् शान्तपरिणाम ही है स्वभाव जिनका, ऐसा है तथा **[महासंतो]** महा पराक्रमी हैं; क्षमादिपरिणाम युक्त हैं; **[मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे अण्णत्थ वि एयंते णिवसेदि]** श्मशानभूमि में, गहन वन में, निर्जन स्थान में, महाभयानक उद्यान में और अन्य भी ऐसे एकान्त स्थानों में रहते हैं, **[तस्स वि एदं तवं होदि]** उसके निश्चय से यह विविक्तशय्यासनतप होता है।

भावार्थ : महामुनि, विविक्तशय्यासन तप करते हैं। वे ऐसे एकान्त स्थानों में सोते

-बैठते हैं, जहाँ चित्त में क्षोभ करनेवाले कोई भी पदार्थ नहीं होते हैं - जैसे, शून्यगृह, गिरि की गुफा, वृक्ष के मूल तथा स्वयमेव गृहस्थों के बनाये हुए उद्यान, वसतिकादि, देवमन्दिर और श्मशानभूमि इत्यादि एकान्त स्थानों में ध्यानाध्ययन करते हैं क्योंकि शरीर से तो निर्ममत्व हैं, विषयों से विरक्त हैं और अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त हैं, वे ही मुनि विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त हैं।

गाथा ४४६-४४७ पर प्रवचन

अब, इन दो गाथाओं में विविक्तशय्यासनतप की विशेष व्याख्या करते हैं।

मुनिराज, जगत में अपना माहात्म्य और मान बढ़े - ऐसा नहीं चाहते हैं। मुनिराज को चार गति के भव में वैराग्यभाव होता है। देव के भव को भी मुनिराज नहीं चाहते हैं। पाँच इन्द्रियों के भोग से जिनकी वृत्ति छूट गयी है - ऐसा बाह्यतप है, उस समय अन्तरङ्गतप भी मुनिराज को होता है। अन्तर आत्मा में आत्मा का ही प्रेम होता है। जैसे, किसी का इकलौता बीस वर्ष का पुत्र मर गया हो तो उसे मोह के कारण कलेजे में चोट लगती है, उसकी मुख्यता में जगत् के समस्त पदार्थों का प्रेम विस्मृत हो जाता है; इसी प्रकार मुनिराज को आत्मा का प्रेम है; इसीलिए पर का प्रेम नहीं होता और जिस किसी को पञ्च महाव्रतादि का प्रेम होता है, वह आत्मा के प्रेम को भूल जाता है।

मुनिराज, शास्त्र-स्वाध्याय के उपयोग में ज्ञान का ही घोलन करते हैं। जैसे, किसी गरीब मनुष्य को शक्कर की डली मिली हो तो वह मुँह में चूसता है, इधर से उधर फिराता है; इसी प्रकार मुनिराज एकान्त स्थान में अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उसका ही घोलन करते हैं। मुनिराज, महा पराक्रमी हैं; मात्र चैतन्य को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, उन्होंने उत्तमक्षमादि दश धर्मों को धारण किया हुआ है। वे श्मशान आदिक में रहते हैं और वहाँ वीतरागता की वृद्धि करते हैं।

देखो, ऐसी वीतरागदशा और आत्मा की सहज शान्ति की दशा, स्वतन्त्र है। उसे समझे बिना वर्तमान के पण्डित पराधीनता को तप सिद्ध करते हैं। निमित्त के कारण, उपादान में कार्य होता है; निमित्त के बिना नहीं होता, इस प्रकार अद्धर से ही बातें चलाते हैं परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है।

देखो, आज क्षमावाणी का दिन है। दशलक्षणपर्व पूरे हुए हैं। वस्तुतः तो आत्मा में पूर्ण केवलज्ञानदशा होती है, तब वास्तव में पर्व पूरा हुआ कहलाता है। मुनिराज ऐसी पूर्ण दशा के लिए प्रयास कर रहे हैं। जगत् में जहाँ लोगों का आवागमन न हो, वहाँ एकान्त में स्वयं (आत्मा में) स्थिर होकर ध्यान करते हैं, उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।

जिसे लोग तप मानते हैं, यह उसकी बात नहीं है परन्तु आत्मा की प्रतीति और ज्ञानपूर्वक उसमें लीन होने से राग घट जाता है, उसे तप कहते हैं। कोई आत्मा को समझे बिना मन्दकषाय करे तो पुण्यबन्ध होता है परन्तु उसे धर्म या तप नहीं होता। पर तरफ से उदास होकर स्वसन्मुख एकाग्र होता है, वह तप है, उसमें यह पाँचवें विविक्तशय्यासनतप की बात चल रही है।

महामुनिराज, विविक्तशय्यासनतप करते हैं। वे ऐसे एकान्त स्थान में सोते-बैठते हैं, जहाँ चित्त में क्षोभ करनेवाला पदार्थ न हो। ऐसे सूने घर, गिरि-गुफा, वृक्ष की कोठर, गृहस्थों के द्वारा स्वयं बनाये हुए उद्यान, वसतिका, देवमन्दिर, तथा श्मशानभूमि इत्यादि में एकान्त स्थान होता है। मुनिराज वहाँ ध्यान-अध्ययन करते हैं क्योंकि वे देह से तो निर्ममत्व हैं, विषयों से विरक्त हैं और अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त हैं। ऐसे मुनिराज, विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त होते हैं।

जिन्हें अन्तरङ्ग में भावलिङ्ग होता है और बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा होती है, वे मुनिराज हैं; उनके अतिरिक्त कोई मुनि है ही नहीं। उन मुनिराज का सोने-बैठने का स्थान ऐसा होता है कि जिसमें राग का अभाव होता है। वस्तुतः तो राग का अभाव, आत्मा के आश्रय से होता है; बाह्य कारणों से नहीं, परन्तु शास्त्र में व्यवहार से कथन आता है कि मुनिराज एकान्त स्थान में रहते हैं, वह विविक्तशय्यासनतप है। मुनिराज को परपदार्थ का लक्ष्य छूट गया होता है; इसलिए उन्हें क्षोभ नहीं होता, परन्तु आत्मा की बहुत शान्ति वर्तती है।

जैसे, कोई पैसे का संग्रह करके उसे गुप्तरीति से भोगता है, दूसरे किसी को पता नहीं पड़ने देता; इसी तरह मुनिराज गुप्तरीति से अपने आनन्द का संग्रह करते हैं और उसे भोगते हैं - ऐसा मुनि का स्वरूप है। भगवान के पश्चात् छह सौ वर्ष तक तो एक ही धारा से

वीतरागमार्ग चलता आया था; तत्पश्चात् बहुत फेरफार हो गया है। मुनिराज तो बस्ती के बाहर रहते हैं अथवा भगवान के मन्दिर में बसते हैं, श्मशान में भी बसते हैं और वहाँ ध्यान धरकर बैठते हैं। वस्तुतः तो आत्मा के आनन्दरूपी निर्भय स्थान में मुनिराज रहते हैं – ऐसे मुनिराज विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त हैं।●●

मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद

मुनि को वह विकल्प दुःखदायक लगता है। बाहर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण विकल्प के भाव आयें – उपयोग ज्यों ही बाहर जाए कि तुरन्त सहजरूप से स्वभाव की ओर ढल जाते हैं। तुरन्त ही इस शुभ को छोड़ूँ और अन्तर में स्थिर होऊँ – ऐसे विकल्प से नहीं, किन्तु सहजस्वभाव के बल से स्वोन्मुख हो जाते हैं। अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर जहाँ दृष्टि तथा अनुभव में आया, वहाँ उसके निर्विकल्प स्वाद की दशा में से उपयोग बाहर आने पर विकल्प आया, लेकिन तुरन्त ही स्वरूपानन्द में ढल जाते हैं। अहा! ऐसी है छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज की दशा!

'बाहर आना पड़े, वह बोझ या उपाधि लगता है।'

अरे! उपदेश देने का विकल्प आये, आहार लेने का विकल्प आये– वह सब बोझ या उपाधि लगता है। राग के भार से रहित ज्ञायकवस्तु में विकल्प बोझ के समान लगता है। अनाकुल आनन्द के रसिक भगवान आत्मा को राग तो आकुलता, दुःख एवं भाररूप लगता है। मुनि आनन्द में स्थित हैं, उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। अहाहा! मुनिपना, वह तो परमेश्वरपद है। मुनि पञ्च परमेष्ठियों में आते हैं न?

दो छोटे पाण्डव भ्राताओं को विकल्प आया कि तीनों ज्येष्ठ भ्राता उपसर्ग में कैसे होंगे? इतने मात्र से बन्ध हो गया और दो भव बढ़ गये। बाहर आना पड़े; विकल्प उठे, वह मुनि को बोझरूप लगता है। — ***वचनामृत प्रवचन, २/५१***

गाथा ४४८

अब, कायक्लेशतप को कहते हैं —

दुस्सहउवसग्गजई, आतावणसीयवायखिण्णो वि।
जो ण वि खेदं गच्छदि, कायकिलेसो तवो तस्स॥

वात शीताताप हो, पर जीतते उपसर्ग जो।
खेद नहिं करते उन्हें, तप काय क्लेश कहा अहो॥

अन्वयार्थ : [जो दुस्सहउवसग्गई] जो मुनि, दुःसह उपसर्ग को जीतनेवाला है; **[आतावणसीयवायखिण्णो वि]** आताप, शीत, वात पीड़ित होकर भी खेद को प्राप्त नहीं होता है; **[खेद वि ण गच्छदि]** चित्त में क्षोभ (क्लेश) भी नहीं करता है, **[तस्स कायकिलेसो तवो]** उस मुनि के कायक्लेश नामक तप होता है।

भावार्थ : महामुनि, ग्रीष्मकाल में तो पर्वत शिखर आदि पर जहाँ सूर्य की किरणों का अत्यन्त आताप होता है, नीचे भूमि शिलादिक तप्तायमान होती है, वहाँ आतापनयोग धारण करते हैं। शीतकाल में नदी आदि के किनारे पर खुले मैदानों में जहाँ अत्यन्त शीत पड़ती है, डाहे से वृक्ष भी जल जाते हैं, वहाँ खड़े रहते हैं और चातुर्मास में वर्षा बरसती है, प्रचण्ड पवन चलता है, दंशमशक काटते हैं – ऐसे समय में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं। अनेक विकट आसन करते हैं – ऐसे अनेक कायक्लेश के कारण मिलाते हैं और साम्यभाव से चलायमान नहीं होते हैं क्योंकि अनेक प्रकार के उपसर्ग जीतनेवाले हैं। इसलिए जिन के चित्त में खेद उत्पन्न नहीं होता है; (जो) अपने स्वरूप के ध्यान में लगे रहते हैं, उनके कायक्लेश नाम का तप होता है। जिनके काय तथा इन्द्रियों में ममत्व होता है, उनके चित्त में क्षोभ होता है। ये मुनि सबसे निस्पृह रहते हैं, इनको किसका खेद हो ? ऐसे छह प्रकार के बाह्यतप का वर्णन किया।

गाथा ४४८ पर प्रवचन

अब, कायक्लेशतप का स्वरूप कहते हैं। यह बाह्यतप का छठवाँ भेद है।

मुनिराज, ग्रीष्मऋतु के समय पर्वत के शिखर पर रहते हैं, वहाँ भी आत्मा उपशमरस स्वभाववाला है – ऐसे भानपूर्वक उसमें स्थिर रहने से शीतलता का अनुभव करते हैं। माघ महीने की सर्दी में खुले मैदान में नग्नदशावाले मुनिराज, ध्यान में विराजमान होते हैं तथापि उसमें मुनिराज को खेद नहीं होता है – ऐसी मुनिदशा होती है। इसका नाम कायक्लेशतप है।

आशय यह है कि —

(१) ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर आदि पर, जहाँ सूर्य की किरणों का अत्यन्त आताप हो रहा है और नीचे भूमि-शिलादिक भी तप्तायमान हैं, वहाँ महामुनि आतापनयोग धारण करते हैं।

(२) शीतकाल में नदी इत्यादि के किनारे खुले मैदान में, जहाँ प्रचण्ड शीत पड़ने से वृक्ष भी जल उठते हैं, वहाँ खड़े रहते हैं, तथा

(३) चतुर्मास में वर्षा बरसती हो, प्रचण्ड हवा चलती हो और डाँस मच्छर काट खाते हों – ऐसे समय में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं।

(४) अनेक विकट आसन करते हैं।

इस प्रकार कायक्लेश के अनेक कारण मिलाते हैं, फिर भी साम्यभाव से च्युत नहीं होते। अनेक प्रकार के उपसर्गों के विजेता हैं फिर भी चित्त में खेद उत्पन्न नहीं होता, अपितु अपने स्वरूपध्यान में निमग्न रहते हैं – ऐसे मुनिराज को कायक्लेशतप होता है। जिन्हें शरीर और इन्द्रियों के प्रति ममत्व होता है, उनके चित्त में क्षोभ होता है परन्तु मुनिराज तो इन सबसे निस्पृह वर्तते हैं; इन्हें किसका खेद होगा?

बाहर में ताप हो या शीत हो, उसमें मुनिराज को खेद अथवा क्लेश नहीं होता है क्योंकि मुनिराज ने आत्मा का शीतलस्वभाव जाना है। शुद्ध चैतन्य, देहरहित है, उसमें लीनता वर्तती है; इसलिए अन्तर में आनन्द के फब्बारे छूटते हैं, इस कारण बाहर की गर्मी या सर्दी मुनिराज

को नहीं लगती है। जैसे, अपने मकान में बगीचा हो और उसमें शीतल जल का फुब्बारा हो तो बाहर की गर्मी वहाँ नहीं लगती है; उसी प्रकार मुनिराज को कायक्लेश में दुःख या आकुलता नहीं है क्योंकि अन्तर आनन्द के घर में शीतलता का फुब्बारा है, उसमें से शान्ति की किरणें बहती हैं; वह कायक्लेशतप है।

इस प्रकार छह प्रकार के बाह्यतप की बात पूर्ण हुई।●●

गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधु पद

शान्त... शान्त... मुनिराज को अन्दर में भी अकषाय परिणमन है और बाहर में वाणी तथा शरीर में भी शान्तपना दिखता है। अहो! वे तो उपशमरस / अकषायरस में जम गये हैं। उन्हें मुनि कहते हैं, जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है। देखो! गणधर भी शास्त्र रचना के समय नमस्कार मन्त्र में कहते हैं कि हे सन्तों! तुम्हारे चरणों में मेरा नमस्कार हो। यद्यपि अन्य साधु, गणधर से छोटे हैं; इसलिए गणधर उन्हें बाहर में व्यवहार से नमस्कार नहीं करते, परन्तु वे नमस्कार मन्त्र की रचना करते हैं, उसमें साधु को नमस्कार आ जाता है। जिन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना की है, जो तीर्थङ्कर के वजीर/दीवान हैं, ऐसे गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधुपद कैसा होता है?

अहा! तीर्थङ्कर धर्मराजा हैं और गणधर उनके दीवान हैं। फिर भी जब वे शास्त्र की रचना करते हैं, तब '**णमो लोए सव्व आइरियाणं**' कहते हैं। वे आचार्य कैसे होंगे, जिनको गणधर का नमस्कार प्राप्त होता है? गणधर नमस्कार करें, वे ऐसे होते हैं कि जिनका अनाहारी परिणमन है, जिनकी वीतरागी दशा है और जिन्हें आहार लेने का राग उत्पन्न हो तो निर्दोष आहार लेने की वृत्ति है — ऐसे अन्तरङ्ग में रमणतावाले साधु अथवा आचार्य बाहर और अन्दर से शान्त होते हैं। *— प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३२*

गाथा ४४९

अब, छह प्रकार के अन्तरङ्गतप का व्याख्यान करेंगे। पहले प्रायश्चित नामक तप को कहते हैं —

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छदि, तस्स विसोही परा होदि॥

खुद नहिं करें जो दोष, पर से नहिं करावें, त्रिविध जो।
जो करें, अनुमोदें नहीं, उत्तम विशुद्धि उन्हें हो॥

अन्वयार्थ : [जो तिविहं सयं दोसं ण करेदि अण्णं पि ण कारएदि] जो मुनि, मन-वचन-काय से स्वयं दोष नहीं करता है, दूसरे से भी दोष नहीं कराता है, और **[कुव्वाणं पि ण इच्छदि]** करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता है, **[तस्स परा विसोही होदि]** उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है।

भावार्थ : यहाँ विशुद्धि नाम प्रायश्चित का है क्योंकि 'प्रायः' शब्द से तो प्रकृष्ट चारित्र का ग्रहण है - ऐसा चारित्र जिसके होता है, वह 'प्रायः', अर्थात् साधु लोक; उसका चित्त जिस कार्य में होता है, उसे प्रायश्चित कहते हैं; इसलिए जो आत्मा की विशुद्धि करता है, वह प्रायश्चित है। दूसरा अर्थ ऐसा भी है कि प्रायः नाम अपराध का है, उसका चित्त, अर्थात् शुद्ध करना, वह प्रायश्चित कहलाता है। इस तरह पहले किये हुए अपराधों की शुद्धता जिससे होती है, वह प्रायश्चित है। ऐसे जो मुनि, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से दोष नहीं लगाता है, उसके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है। यही प्रायश्चित* नाम का तप है।

---

* यत्याचारोक्तं दशप्रकारं प्रायश्चित्तं। मूलाचार-पंचाचार
आलोयण पडिकमणं, उभय विवेगो तहा विहोसग्गो।
तवछदा मूलं पि य, परिहारा चेव सद्दहण ॥१६५॥

गाथा ४४९ पर प्रवचन

अब, छह प्रकार के अन्तरङ्गतपों का व्याख्यान करते हैं। उनमें सर्व प्रथम प्रायश्चित नामक तप का स्वरूप कहते हैं।

जो मुनिराज, स्वयं दोष नहीं करते, दूसरे से दोष नहीं कराते, और कोई दोष करता हो तो उसे भला नहीं जानते, उनके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है।

आत्मा, ज्ञानस्वरूप है। उसमें लीन होना, प्रायश्चित है। साधु का चित्त, चैतन्यस्वभाव में होता है, उसे प्रायश्चित कहते हैं। आत्मा, चिदानन्द पवित्र सुखधाम है, उसमें मुनिराज का चित्त बारम्बार रहा करता है, वही मुनि का काम होने से प्रायश्चित है। जैसे, सोने को शोभा में काम लिया जाता है; उसी प्रकार चैतन्यधातु विकाररहित है, उसके भानपूर्वक विशेष शुद्धता द्वारा आत्मा को सुशोभित करता है, वह तप है। अपराधरहित होना प्रायश्चित है। नया दोष नहीं होने देना, वह निरपराध है। आत्मा, क्षण-क्षण में भावमरण से मर रहा है, उसे जीवित नहीं रखे और दूसरे जीव मर गये हों, उसका प्रायश्चित ले तो वह कोई वास्तविक प्रायश्चित नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में विशेष शुद्धता होना, प्रायश्चित है।●●

ऐसा धन्य अवसर कब प्राप्त होगा?

चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं है, धर्मात्मा श्रावक वैराग्यभावसहित सदा मुनिदशा की भावना भाता है।

तीर्थङ्करादि महापुरुष जिस चारित्र पन्थ में विचरण करके मोक्ष गये.... महापुरुषों के उस मार्ग में हम भी कब विचरेंगे, ऐसा धन्य अवसर हमारा कब आएगा। सम्पूर्ण प्रकार का बाह्याभ्यन्तर बन्धन या परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रन्थरूप मुनि होकर और केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करें। अहा! ऐसा अपूर्व अवसर हमारा कब आएगा।

— *छहढाला प्रवचन, ५/४४८*

गाथा ४५०

अह कह वि पमादेण य, दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं॥

अथवा किसी प्रमादवश, चारित्र में यदि दोष हो।
निर्दोष साधु समक्ष दसविध, दोष टाल प्रकट करे॥

अन्वयार्थ : [अह कह वि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि] अथवा किसी प्रमाद से अपने चरित्र में दोष आया हो तो उसको **[णिद्दोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदुं पयडेदि]** निर्दोष आचार्य के पास दश दोषों से रहित होकर प्रकट करे, आलोचना करे।

गाथा ४५० पर प्रवचन

इस गाथा में व्यवहारप्रायश्चित की बात की है।

यह व्यवहारआलोचना किसे होती है ? जो वीतरागी मुनि हैं, उन्हें स्वप्न में या दूसरे किसी प्रकार से कोई अल्प दोष हो गया हो तो दिगम्बर जैनाचार्य, जो कि आत्मा को उज्ज्वल करते हों, उनके समीप जाकर छुपाये बिना दोष प्रसिद्ध करते हैं, वह प्रायश्चित है।

अपने चारित्र में प्रमाद से दोष लग गया हो तो आचार्य के पास जाकर दश, दोषरहित आलोचना करते हैं। पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा, चार कषाय, चार विकथा, एक स्नेह, ये पाँच प्रमाद हैं, इनके पन्द्रह भेद हैं। विशेष भंगों की अपेक्षा बहुत (सैंतीस हजार पाँच सौ) भेद होते हैं। उनसे दोष लगते हैं।

आलोचना के दश दोष हैं – १. आकम्पित, २. अनुमानित, ३. बादर, ४. सूक्ष्म,

---

* सरल चित्त से आलोचना करना, प्रायश्चित्ततप है।

५. दृष्ट, ६. प्रच्छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. अव्यक्त, १०. तत्सेवो।

इनका अर्थ इस प्रकार है – आचार्य को उपकरणादि देकर, अपने प्रति करुणा उत्पन्न कर आलोचना करे कि ऐसा करने से थोड़ा प्रायश्चित देंगे – ऐसा विचार करना, **आकम्पितदोष** है।

वचन ही से आचार्यों की बड़ाई आदि करके आलोचना करे, अभिप्राय ऐसा रखे कि आचार्य मुझसे प्रसन्न रहेंगे तो थोड़ा प्रायश्चित देंगे, यह **अनुमानितदोष** है।

प्रत्यक्ष दिखता दोष हो, वह कहे; अदृष्ट न कहे, यह **दृष्टदोष** है।

स्थूल (बड़ा) दोष तो कहे; सूक्ष्म न कहे, यह **वादरदोष** है।

सूक्ष्मदोष ही कहे; वादर न कहे, यह बतावे कि इसने सूक्ष्म ही कह दिया सो बादर क्यों छिपाता, यह सूक्ष्मदोष है। छिपाकर ही कहे, कोई दूसरा अपना दोष कहे, तब कहे कि ऐसा ही दोष मेरे लगा है; उसका नाम प्रगट न करे, सो प्रच्छन्नदोष है। बहुत शब्द के कोलाहल में दोष कहे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि कोई और न सुने सो शब्दाकुलितदोष है। एक गुरु के पास आलोचना कर फिर अन्य गुरु के पास आलोचना करे; अभिप्राय ऐसा रक्खे कि इसका प्रायश्चित अन्य गुरु क्या बतावें, सो बहुजनदोष है। जो दोष, व्यक्त हो सो कहे; अभिप्राय ऐसा रक्खे कि यह दोष छिपाने से नहीं छिपेगा; अतः कहना ही चाहिए, वह अव्यक्तदोष है। अन्य मुनि को लगे हुए दोष की गुरु के पास आलोचना कर प्रायश्चित लिए हुए देखकर, उसके समान अपने को दोष लगा हो तो उसको प्रगट न करने के अभिप्राय से उसकी आलोचना गुरु के पास न करे; आप ही प्रायश्चित ले लेवे, वह तत्सेवीदोष है। इस तरह दश दोषरहित सरलचित्त होकर बालक के समान आलोचना करे।

दश प्रकार के दोषरहित हो, वह व्यवहारआलोचना है। मुनि की सेवा करने से प्रायश्चित्त थोड़ा देंगे – ऐसी बुद्धि से आलोचना करे तो वह आलोचना नहीं है। सरलता से अपना दोष प्रसिद्ध करे। सन्त-मुनि तो अपने स्वरूप में लीनता करते हैं, उन्हें कोई अल्प दोष रह गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करते हैं। जिस काल में, जिस क्षेत्र में और जिस निमित्त से जो होना होगा, वह होगा – ऐसी प्रतीति तो मुनिराज को पहले हुई है। इन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई

भी उसमें परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है। ऐसा विश्वास तो मुनिराज को होता है और ऐसे विश्वासपूर्वक अन्तर में विशेष शान्ति बढ़ गयी है – ऐसे मुनि को कोई दोष रह गया होता है, उसकी यह व्यवहारआलोचना है, इसे भी मुनिराज भलीभाँति जानते हैं और फिर ऐसा दोष नहीं होने देते। मुनिराज सरलचित्त से बालक की तरह आलोचना करते हैं, वह प्रायश्चिततप है।●●

भावलिङ्गी सन्तों की अलौकिक दशा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता भावलिङ्ग है — ऐसे भावलिङ्ग-सहित बाहर में दिगम्बर दशा, पञ्च महाव्रतादि, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्गी सन्त की दशा तो अलौकिक है।

'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो'.... के रूप में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पश्चात् तुरन्त ही जिनका नाम माङ्गलिकरूप में आता है – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ की १२९वीं गाथा में कहते हैं —

'अहो! जो मुनि श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक हैं, उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप भाव से सहित हैं और जिनके माया नष्ट हो गयी है – ऐसे जो भावलिङ्गी सन्त हैं, वे धन्य हैं, उनको हमारा त्रिविध नमस्कार हो।

अहो! तुम भी हमारे मुनिमार्ग में आये, मोक्षमार्ग में आये, उसका मैं प्रमोद से अनुमोदन करता हूँ। तुम धन्य हो, तुम्हें मेरा नमस्कार हो।'

जैसे बड़े श्रीमन्तों के यहाँ शादी हो और बारात आवे, वहाँ धूमधाम से बैण्ड-बाजों के साथ अगवानी करते है। वैसे ही यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सन्त तुम मुक्तिसुन्दरी को वरण करने चले, मैं आपकी अगवानी करता हूँ; धूमधाम से आपका बहुमान करता हूँ।

देखो, यह मुनिदशा का स्वरूप और उसकी महिमा!! ऐसे मुनि धन्य हैं और वन्द्य हैं।

— *अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९२*

गाथा ४५१

जं किं पि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि, किं थोवं किं पि वहुयं वा॥

जो दिया प्रायश्चित गुरु ने, ग्रहण श्रद्धा से करे।
यह अल्प है या अधिक है, उस में विकल्प नहीं करे॥

अन्वयार्थ : [जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो सद्धाए करेदि] दोषों की आलोचना करने के बाद में जो कुछ आचार्य ने प्रायश्चित दिया हो, उस सब ही को श्रद्धापूर्वक करे **[पुण हियए णो संकदि किं थोवं किंपि वहुयं वा]** और हृदय में ऐसी शङ्का न करे कि यह प्रायश्चित दिया सो थोड़ा है या बहुत है।

गाथा ४५१ पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि मुनिराज, प्रायश्चित में सन्देह नहीं करते।

दोष की आलोचना करने के बाद आचार्य ने जो कुछ भी प्रायश्चित दिया हो, उस सबको श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए, किन्तु हृदय में ऐसी शङ्का या सन्देह नहीं रखना चाहिए कि यह दिया हुआ प्रायश्चित थोड़ा है या अधिक ?

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित के नौ भेद कहे हैं – १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, ९. उपस्थापना।

दोष का यथावत् कहना, **आलोचना** है।

दोष का मिथ्या करना, **प्रतिक्रमण** है।

आलोचना-प्रतिक्रमण दोनों करना, **तदुभय** है।

आगामी त्याग करना, **विवेक** है।

कायोत्सर्ग करना, **व्युत्सर्ग** है।

अनशनादि तप करना, **तप** है।

दीक्षाछेदन, अर्थात् बहुत दिन के दीक्षित को थोड़े दिन का करना, **छेद** है।

संघ के बाहर करना, **परिहार** है।

फिर से नवीन दीक्षा देना, **उपस्थापना** है। इनके भी अनेक भेद हैं; इसलिए देश, काल, अवस्था, सामर्थ्य, दोष का विधान देखकर यथाविधि आचार्य प्रायश्चित देते हैं, उसको श्रद्धा से स्वीकार करे; उसमें संशय न करे।

यह सब बात सच्चे मुनिराज की है। जिन्हें देव-गुरु-शास्त्र का भी पता नहीं है, ऐसे मुनि की यह बात नहीं है - ऐसा समझना चाहिए।●●

मुनिराज की अरागी / अकषायी अनुकम्पा

मुनिराज को सभी के प्रति अरागी/अकषायी अनुकम्पा परिणमित हुई है, प्रगट हुई है। किसी भी जीव के प्रति 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं है' - ऐसा भाव नहीं है, उन्हें तो सभी जीव ज्ञेयरूप ज्ञात होते हैं। एकेन्द्रिय हरितकाय का एक कण हो या बड़ा नारियल एकेन्द्रिय जीव हो, इन सबके प्रति उनको अकषायी अनुकम्पा है। इन किसी के प्रति उन्हें मारने अथवा बचाने का विकल्प नहीं है। अहा! यह अनुकम्पा तो स्वयं की आत्मा के लिए है। अन्य जीव सुखी हों या न हों, यह उनके स्वयं के आधीन है।

— प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३३

गाथा ४५२-४५३

पुणरवि काउं णेच्छदि, तं दोसं जइ वि जाइ सयखंडं।
एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि॥

जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्तं वरं तस्स॥

यह दोष नहिं हो पुनः, चाहे देह के शत खण्ड हों।
निश्चय करे जो इस तरह, हो परम प्रायश्चित उसे॥

चिन्तन करे जो ज्ञानि, बारम्बार ज्ञान स्वरूप में ।
विकथादि में चित् रत नहीं, हो परम प्रायश्चित उन्हें॥

अन्वयार्थ : [**पुणरवि तं दोसं काउं णेच्छदि जइ वि सयखंडं जाइ**] लगे हुए दोष का प्रायश्चित लेकर उस दोष को करना न चाहे; यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाए तो भी न करे, [**एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि**] ऐसे निश्चयसहित प्रायश्चित नामक तप होता है।

[**जो णाणी अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो चिंतइ**] जो ज्ञानी मुनि, आत्मा को ज्ञानस्वरूप बारम्बार चिन्तवन करता है [**विकहादिविरत्तमणो**] और विकथादिक प्रमादों से विरक्त होता हुआ, ज्ञान ही का निरन्तर सेवन करता है, [**तस्स वरं पायच्छित्तं**] उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित होता है।

भावार्थ : ऐसा दृढ़ चित्त करे कि अपने शरीर के सौ टुकड़े भी जो जाएँ तो भी लगे हुए दोष को फिर न लगावे, वह प्रायश्चिततप है।

निश्चयप्रायश्चित यह है, जिसमें सब प्रायश्चित के भेद गर्भित हैं कि प्रमाद से रहित होकर अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का ध्यान करना, जिससे सब पापों का प्रलय (नाश) होता है। इस तरह प्रायश्चित नामक अभ्यन्तरतप के भेद का वर्णन किया।

गाथा ४५२-४५३ पर प्रवचन

वास्तव में प्रायश्चिततप किसे कहना? यह अब कहते हैं। यह गाथाएँ बहुत सरस हैं।

अपने को लगे हुए दोष का प्रायश्चित लेकर, वापस उस दोष को करना नहीं चाहे, अपने सैकड़ों खण्ड हो जाने पर भी वह दोष नहीं करे - ऐसे निश्चयपूर्वक प्रायश्चिततप होता है। जो ज्ञानी मुनि, आत्मा को बारम्बार ज्ञानस्वरूप चिन्तन करते हैं, विकथादिक प्रमाद से विरक्त होकर, मात्र ज्ञान का ही निरन्तर सेवन करते हैं, उन्हें श्रेष्ठ प्रायश्चित होता है।

व्यवहार की बात करके भी मुनिराज को 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' - यह बात हटती नहीं है। विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी मैं नहीं हूँ। देहरहित, केवल चैतन्य का ज्ञान जिन्हें वर्तता है और बारम्बार उसका चिन्तवन करते हैं, वह प्रायश्चित है। व्यवहार का ज्ञान कराया, परन्तु आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, उसका निर्णय और लीनता ही निश्चयप्रायश्चित है।

आत्मा, पर का तो कर्ता नहीं, परन्तु राग को करे - ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है; राग होता है, उसे जानने का स्वभाव है। मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ - ऐसा निर्णय तो धर्मात्मा को प्रथम से ही होता है। गृहस्थदशा में राग-द्वेष अधिक और मुनिदशा में अल्प होते हों, तथापि उस समय भी धर्मात्मा को यह निर्णय तो छूटता ही नहीं है कि मेरा स्वभाव तो ज्ञान है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है। निगोद में या सिद्धदशा में भी आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है - ऐसा निर्णय करके स्वरूप में स्थिर होना, प्रायश्चिततप है।

देखो, यह गाथा अलौकिक है! आत्मा, ज्ञानस्वरूप है - ऐसा बारम्बार चिन्तवन किये बिना, बाहर में कहीं धर्म नहीं है। मुनि को कदाचित् प्रमाद से अल्प दोष होता है, उसके भी मुनिराज ज्ञाता हैं। वह क्रमबद्ध है - ऐसा वे जानते हैं। विकल्प उत्पन्न हुआ, उसका ज्ञान कराते हैं परन्तु वह क्रम नहीं बदलता है। आत्मा तो जाननेवाला है, वह किसी को बदलता

या हिलाता नहीं है। कदाचित् गुरु का योग हुआ और राग भी हुआ तो उसका भी जाननेवाला रहता है। मुनिराज इस प्रकार, मात्र ज्ञान का सेवन करते हैं, वह सच्चा प्रायश्चित है और वही तप है।

आत्मा, शुद्ध ज्ञानानन्द है। उसकी पर्याय में अशुद्धता है। स्वभाव के आश्रय से (अशुद्धता मिटकर, पर्याय में) शुद्धता होती है, उसे तप कहते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम, अपराध हैं और आत्मा का स्वभाव, अपराधरहित है - ऐसा निर्णय करके स्वरूप में एकाग्रता करना, चारित्र अथवा तप है।

परवस्तु से लाभ-हानि होती है और विकार जितना ही आत्मा है - ऐसा मानकर उसका स्वीकार करता है, वह शुद्धस्वभाव का अनादर और अरुचि करता है; उसे भगवान, अपराध कहते हैं और उस अपराध का मिटना, वह प्रायश्चित है।

जो मुनिराज, ज्ञानस्वरूप का चिन्तन करते हैं, वह प्रायश्चित है। प्रथम मेरा स्वरूप, ज्ञान है - ऐसा निर्णय करे तो उसका चिन्तवन करेगा न! आत्मा किसी का कुछ करनेवाला नहीं है और आत्मा किसी से हो - ऐसा भी नहीं है किन्तु जानने-देखनेवाला है - ऐसा निर्णय किये बिना, उसका सच्चा चिन्तवन नहीं होता और उसे प्रायश्चित भी नहीं होता।

जिन्हें ज्ञानस्वभाव पूर्ण प्रगट हुआ है, वे सर्वज्ञदेव हैं; उसे साधनेवाले गुरु हैं, और उनके द्वारा कथित वे यथार्थ शास्त्र हैं। इस प्रकार देव-गुरु-शास्त्र का यथार्थ निर्णय प्रथम करना चाहिए। आत्मा अकेला पर का ही जाननेवाला है - ऐसा नहीं है परन्तु स्व को जानते हुए, पर को - देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थ जान ले - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जो अपनी कमजोरी से निमित्त के प्रति राग होता है, उसे भी सम्यग्दृष्टि भलीभाँति जानता है। आत्मा, पर का काम तो नहीं करता परन्तु आत्मा में राग होता है, उसे करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; मात्र उसे जानने का आत्मा का स्वभाव है। पर सुधरता है या बिगड़ता है, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है फिर भी अज्ञानी मूढ़ ऐसा मानता है कि मैंने ध्यान नहीं रखा, इसलिए पर-कार्य बिगड़ गया। वस्तुतः वही अपराध है और वही दुःख तथा उपाधि है। वह उपाधि, क्षणिक है; त्रिकालीस्वभाव में वह नहीं है। स्वभाव तो जानने-देखने का है और ऐसे आत्मा में बारम्बार उग्र पुरुषार्थ करना, वह चारित्र है; आत्मा का चारित्र बाहर में नहीं है। ज्ञानानन्द में

निवास करना, चारित्र अथवा उपवासरूपी तप है। ज्ञानी, आहार आता है, उसे भी जानता है परन्तु उसे मैं लाता हूँ या मैं आहार ग्रहण करता हूँ – ऐसा वह नहीं मानता है। आहार लेने का विकल्प होता है, उसका भी जाननेवाला है; इसलिए आहार के समय भी ज्ञानी धर्मात्मा उपवासी है – ऐसा कहा गया है।

यहाँ तो आत्मा के भान के उपरान्त, चारित्र की बात है; इसलिए बारम्बार आत्मा का चिन्तवन करे, वह चारित्र है, प्रायश्चित है; उससे पूर्व का अपराध नष्ट होता है। यह प्रायश्चित का जो स्वरूप लोग कहते हैं, उसकी अपेक्षा से अलग प्रकार का है। भगवान की कृपा होवे तो आत्मा का कल्याण हो जाए – ऐसा है ही नहीं। भगवान तिरा देते हैं – ऐसा माना जाए तो अभी तक भगवान ने नहीं तिराया – ऐसा हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं समझे तो उसका कल्याण होता है। आत्मा, पुण्य-पाप में एकाग्र होता है, वह भटकना है। आत्मा एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाता है, वह परिभ्रमण नहीं है। मन में कल्पना के घोड़े दौड़ाता है, वह स्वघर को छोड़कर बाहर गया है। भोजनकथा-देशकथा आदि चार विकथाएँ हैं। कमाने की कथा, घर की कथा, पुत्र की कथा, ये सब रागकथा होने से विकथा हैं; ये आत्मा से विपरीत कथा हैं, प्रमाद है। इससे रहित होकर आत्मा का चिन्तवन करना, वह प्रायश्चित है, इसे श्रेष्ठ, अर्थात् निश्चयप्रायश्चित कहते हैं।

निश्चयप्रायश्चित वह है कि जिसमें सर्व प्रायश्चित के भेद गर्भित हैं, अर्थात् प्रमादरहित होकर, अपनी शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का भान करना चाहिए, जिससे सर्व पापों का प्रलय हो जाता है।

आत्मा, ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति और लीनता में समस्त प्रायश्चित आ जाते है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, वह उसका ध्यान करता है। जैसे घर में रुई पड़ी हो तो उसकी पूनी, यन्त्र में जोड़ता रहता है; इसी प्रकार जिसकी जिससे रुचि होती है, वह उसको धुना करता है। पैसे की रुचिवाला पैसे को धुना करता है, (अर्थात्, उसी की रटन में लगा रहता है।) इसी प्रकार ज्ञानी को आत्मा की रुचि होने से आत्मा की रटन किया करता है। इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित नामक अन्तरङ्गतप की व्याख्या हुई। अब, तीन गाथाओं में विनयतप का स्वरूप कहते हैं। ●●

गाथा ४५४-४५६

अब, विनयतप को तीन गाथाओं में कहते हैं —

विणयो पंचपयारो, दंसणणाणे तहा चरित्ते य।
वारसभेयम्मि तवे, उवयारो बहुविहो णेओ॥

दंसणणाणचरित्ते, सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
वारसभेदे वि तवे, सो च्चिय विणओ हवे तेसिं॥

रयणत्तयजुत्ताणं, अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए।
भिच्चो जह रायाणं, उवयारो सो हवे विणओ॥

दृग ज्ञान चारित्र विनय एवं, भेद बारह तप विनय।
उपचार विविध प्रकार ये हैं, विनय पाँच प्रकार की॥

ज्ञान दर्शन चरित्र में, परिणाम में सुविशुद्धि है।
बारह तपों में भी विशुद्धि, यही उनकी विनय है॥

जो भृत्य नृप के प्रति करें, त्यों रत्नत्रय संयुक्त की।
जो भक्ति से अनुकुल वर्तन, यह विनय उपचार ही॥

अन्वयार्थ : [विणओ पंचपयारो] विनय, पाँच प्रकार का है। **[दंसणणाणे तहा चरित्ते य]** दर्शन में, ज्ञान में तथा चारित्र में और **[वारसभेयम्मि तवे]** बारह प्रकार के तप में विनय **[उवयारो बहुविहो णेओ]** और उपचारविनय, इस प्रकार यह अनेक प्रकार का जानना चाहिए।

[दंसणणाणचरित्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र में **[वारसभेदे वि तवे]** और बारह प्रकार के तप में **[जो सुविसुद्धो परिणामो हवेइ]** जो विशुद्धपरिणाम होते हैं, **[सो च्चिय तेसिं विणओ हवे]** वह ही उनका विनय है।

[जह रायाणं भिच्चो] जैसे राजा के नौकर, राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं; वैसे ही **[जो रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं भत्तीए चरेदि]** जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के धारक मुनियों के अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण (प्रवृत्ति) करता है, **[सो उवयारो विणओ हवे]** वह उपचारविनय है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन के शङ्कादिक अतिचाररहित परिणाम, वह दर्शनविनय है। ज्ञान का संशयादिरहित परिणाम से अष्टाङ्ग अभ्यास करना, वह ज्ञानविनय है। चारित्र को अहिंसादिक परिणाम से अतिचाररहित पालना, वह चारित्रविनय है। तप के भेदों का देखभाल कर दोषरहित पालन करना, वह तपविनय है।

जैसे, राजा के नौकर लोग, राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं; उसकी आज्ञा मानते हैं; प्रत्यक्ष में देखकर उठ खड़े हो जाते हैं; सामने जाकर हाथ जोड़ते हैं, प्रणाम करते हैं; चले तब पीछे-पीछे चलते हैं; उसकी पोशाक आदि उपकरण सजाते हैं; वैसे ही मुनियों की भक्ति करना; विनय करना; उनकी आज्ञा मानना; प्रत्यक्ष में देखे तब उठकर सम्मुख होकर, हाथ जोड़ प्रणाम करना; चले तब पीछे पीछे चलना; उपकरण सम्भालना - इत्यादिक उनका विनय करना, वह उपचारविनय है।

गाथा ४५४-४५६ पर प्रवचन

अब, विनयतप का स्वरूप कहते हैं।

विनयतप है और तप, आत्मा की शुद्धि है, तथा वह चारित्र है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, उपचार आदि अनेक प्रकार के भेद हैं।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तथा बारह भेदरूप तप जो विशुद्धपरिणाम होते हैं, वही उनका विनय है। यहाँ पाँच प्रकार का विनयतप कहा गया है, उनमें सर्व प्रथम दर्शनविनयतप की व्याख्या इस प्रकार है —

(१) शङ्कादि अतिचाररहित परिणाम होना, दर्शनविनय है।

सम्यग्दर्शन, अर्थात् क्या? वह कहते हैं। आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुण का भण्डार है, परिपूर्ण शुद्ध निर्दोष है – ऐसी शुद्धता का भास तथा निर्णय होना, वह सम्यग्दर्शन का विनय है, वह तप है, और वह चारित्र की शुद्धि है। जो ज्ञान का प्रगटपना दिखायी देता है, वह आत्मा ज्ञानशक्ति का भण्डार है, उसका अंश है – ऐसा निर्णय होना, वह सम्यग्दर्शन-विनय, अर्थात् आत्मा की विनय है।

यह विनयतप की बात है। वास्तव में कोई पर का विनय करता ही नहीं; जिसे जो रुचता है, वह उसी का गीत गाता है। पैसेवाले के गीत गाये जाते हैं, वह वस्तुतः पैसा रुचिकर हुआ है, उसके गीत गाये जाते हैं। त्यागीजन पैसेवाले के गीत नहीं गाते, परन्तु धर्मात्मा त्यागियों के गीत गाते हैं, अर्थात् आत्मा की रुचिवाले को तो जो आत्मा की साधना कर रहा है, वह रुचिकर होता है, उसी के गीत गाता है। इसलिए वास्तव में कोई पर की विनय नहीं करता है।

पर से लाभ होता है – ऐसी मान्यता नहीं होने देना, वह दर्शनविनय है। पैसा किसी को भी शरणरूप नहीं है। आत्मलक्ष्मी से भरपूर भगवान आत्मा ही स्वयं अपने को शरणभूत है। इसमें शङ्का नहीं होने देने का नाम सच्चा विनयतप है। बाहर की तपस्या कहीं आत्मा को शरणभूत नहीं है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय करना, उनका व्यवहार है – ऐसी बात इस सम्यग्दर्शन-विनय में नहीं की है क्योंकि वह तो राग है; इसीलिए उसे गौण किया गया है। यहाँ तो निश्चयतप की व्याख्या है।

(२) ज्ञान को संशय आदि रहित परिणामरूप अष्टाङ्ग अभ्यास करना, वह ज्ञानविनय है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसमें संशय नहीं होने देना, अर्थात् आत्मा, ज्ञान है या राग है – ऐसा संशय नहीं होने देना; शास्त्राभ्यास के काल में विनय करना; जिस शास्त्र के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसका विनय करना; जिस गुरु के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसका विनय करना – इत्यादि आठ प्रकार से ज्ञान की विनय करना, वह ज्ञानविनय है। गुरु का चोर नहीं होना, अर्थात् जिस गुरु के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसकी प्रशंसा-विनयादि करना, उनका बहुमान जगत में प्रसिद्ध करना, वह विनयतप है और अपने स्वरूप का आदर करना, वह

ज्ञानविनय है। स्वयं को ज्ञानस्वरूप समझे तो उसका आदर करेगा, परन्तु आत्मा को पहचाने ही नहीं तो विनय किसकी करेगा ? इसलिए प्रथम यथार्थ पहचान करना चाहिए। राजा जंगल में गन्दे व्यक्ति के वेष में घुमता हो तो कोई उसे नहीं पहचानता; अत: विनय भी नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा, चिदानन्द राजा है, वह राग-द्वेष का वेष पहनकर उतना ही अपने को माने तो उसका सच्चा विनय नहीं होगा, परन्तु जैसा स्वरूप है, वैसा ही जाने और उसमें एकाग्र होवे तो सच्चा विनय होता है।

(३) अस्थिरतारहित अहिंसादि परिणामपूर्वक चारित्र का पालन करना, वह चारित्रविनय है।

आत्मा में राग की उत्पत्ति नहीं होने देना, वह अहिंसारूप चारित्र है। वीतरागभावरूप शान्ति होना, वह चारित्रविनय है। अहिंसा, चारित्र का ऐसा स्वरूप है। पर की हिंसा या अहिंसा तो आत्मा नहीं कर सकता है। आत्मा को अपने स्वरूप को भूलकर पर की हिंसा का पापभाव या पर की अहिंसा का शुभराग होता है, वह स्व आत्मा की हिंसा है। ज्ञाता का निर्णय करके आत्मा में लीन होना, वह अहिंसा है। आत्मा, पूर्ण सत्स्वरूप है, उसका आदर करना, वह सत्य है। राग से लाभ मानना, वह चोरी है। मुझसे मुझे लाभ-नुकसान है, पर के कारण लाभ -नुकसान नहीं है - ऐसा मानना अचौर्य है। रागादिक परिणाम, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है - ऐसा समझकर ब्रह्म, अर्थात् आत्मा में विचरण करना, वह ब्रह्मचर्य है और रागादि परिग्रह से रहित होना, वह अपरिग्रह है। अज्ञानी की अहिंसादि की व्याख्या में और इस व्याख्या में अन्तर है।

(४) तपविनय : इस प्रकार तपों के भेदों को निरखकर / देखकर निर्दोषतप का पालन करना, वह तपविनय है। आत्मा के स्वभाव को पहचानकर, इच्छारहित निर्दोषदशा प्रगट करना, वह तपविनय है। यह निश्चयतप की बात की है।

(५) उपचारविनय : जिस प्रकार राजा का नौकर, राजा के अनुकूल प्रवर्तता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के धारक मुनिराजों के अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण करना, वह उपचारविनय है।

आत्मा के भानपूर्वक छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले कुन्दकुन्दाचार्यादि मुनि हो

गये हैं और ऐसे मुनि अभी महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। उनका विनय करना, उनके अनुकूल वर्तना, उनकी भक्ति करना, उनका आदर करना, वह उपचारविनय है।

जिस प्रकार राजा के नौकर, राजा के अनुकूल वर्तते हैं, उसकी सेवा करते हैं, उसकी आज्ञा का पालन करते हैं; इसी प्रकार गुरु की सेवा-भक्ति करना, वह विनयतप है। श्रीमद् ने सत्श्रुत के नाम लिखे हैं, उसमें मोक्षमार्गप्रकाशक को भी सत्श्रुत के रूप में कहा है। अब, मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अध्याय में श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि को अन्यमत में निरूपित किया है; इसीलिए वे वास्तव में जैन नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा कहे गये देव-गुरु-शास्त्र को माननेवाला, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानता है और श्रीमद् ने तो निषेध किया होने पर भी वही माननेवाले, श्रीमद् का भी अनादर करते हैं; इसलिए वास्तव में वे श्रीमद् को भी नहीं मानते हैं।

मुनिराज का स्वरूप, नग्न दिगम्बर ही है। उन्होंने जिस प्रकार से कहा है, उस प्रकार से मानना, वह व्यवहारविनय है। निश्चयविनयवाले को ऐसी व्यवहारविनय होता ही है। लोग व्यवहारविनय को भी नहीं समझते हैं। जिनसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उनका विनय नहीं करे तो वह उपचारविनय को भी नहीं समझता है; इसलिए उसे निश्चयविनय तो है ही नहीं।

यहाँ तप की चर्चा चल रही है। आत्मा की शुद्धि होना ही तपश्चर्या है। बाहर की क्रिया की बात नहीं है; अन्दर में आत्मा का भान वर्तता है, तदुपरान्त विशेष स्थिरता हुई है - ऐसे मुनिराज को राग के समय देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आता है। पर का बहुमान करना तो राग है परन्तु ज्ञानी को अन्तरभान वर्तता है और शुद्धता बढ़ती है, वह वास्तव में विनयतप है।

जिस प्रकार राजा का नौकर राजा के अनुकूल प्रवर्तता है, उसकी आज्ञा मानता है और तदनुसार वर्तता है, यह तो परोक्ष की बात हुई और वह राजा प्रत्यक्ष आने पर खड़ा होता है, सन्मुख जाता है और हाथ जोड़कर प्रणाम करता है, राजा चलता है तो उसके पीछे-पीछे जाता है और उसके वस्त्र, गहने इत्यादि सब सम्हालता है। इसी प्रकार मुनिजनों की अनुपस्थिति में मुनियों की भक्ति करना। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा को प्राप्त हों और बाह्य से नग्न-दिगम्बरदशा हो, उन्हें मुनि कहते हैं।

प्रश्न : यदि ऐसे मुनिराज दिखायी नहीं दें तो क्या करना चाहिए?

समाधान : उनकी परोक्षभक्ति करना चाहिए। सर्वज्ञदेव की वाणी के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, समन्तभद्राचार्य आदि महान आचार्य, जिन्होंने शास्त्रों की रचना करके धर्म को टिकाया है और जो धर्म के स्तम्भ हैं, उनकी भक्ति-प्रशंसा, बहुमान करना चाहिए और उनका उपकार गाना चाहिए।

इन मुनिराज से विरुद्ध, मुनि का स्वरूप बतलानेवाले की भक्ति करनेवाला जीव, मिथ्यादृष्टि है; जो सर्वज्ञ की वाणी से एक अक्षर भी आगे-पीछे करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अपने गुरु तथा शास्त्र या जिससे ज्ञान प्राप्त किया हो, उनकी विनय नहीं करना, उनका नाम छुपाना, वह महाचोरी है। वह ज्ञान में दोष करता है। व्यवहारविनय में भी आठ प्रकार के ज्ञान के दोष मिटाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य अथवा वट्टकेरस्वामी कृत मूलाचार, गाथा १०५ में कहा है कि —

कुलवय शील विहिणे सूतत्थं सम्ममाग मित्ताय।
कुलवय शील महल्ले णिण्हव दोसो हु जप्प तो॥ १०५॥

ज्ञान होने में जिस शास्त्र का निमित्त हो, उसका निमित्त न मानकर दूसरे शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया है - ऐसा कहनेवाला, बड़ा चोर है। यहाँ तीन प्रकार से बात करते हैं।

जिसकी कुल परम्परा सत्य नहीं है, वह कुलविहीन है। जिसकी परम्परा में सच्चे देव -गुरु-शास्त्र निमित्तरूप नहीं हैं, जिसकी चारित्रदशा सच्ची नहीं है, उसे कुलविहीन जानना चाहिए। सच्चा चारित्र तो निर्ग्रन्थ मुनियों में है। आत्मा के भानपूर्वक यथार्थ व्रत और तप होते हैं, उस चारित्र की परम्परा जिनमें नहीं है, उन्हें कुलविहीन जानना। ऐसे कुलहीन में होने पर भी मुझे सच्चे गुरु की बात प्राप्त हुई है - ऐसा कहना, वह दोष है... मिथ्यादृष्टि है।

तीर्थङ्कर, गणधर, तथा सप्त ऋद्धिधारी संयमी, उच्चकुल के गिने जाते हैं। इनके अतिरिक्त साधारण मुनि हलके कहलाते हैं। साधारण मुनि के समीप पढ़ने पर भी यह कहना कि मैं कुल, व्रत, शीलवान, तीर्थङ्कर, गणधर आदि के समीप पढ़ा हूँ, निह्नवदोष है।

जो शास्त्र, सर्वज्ञ की परम्परा से रचित हैं, उन शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान होने पर भी मुझे

अपने आप ज्ञान हुआ है, और शास्त्र मुझे प्राप्त ही नहीं हुए – ऐसा कहना, वह शास्त्र का, अर्थात् शास्त्रसम्बन्धी निह्नवदोष है। जिस गुरु का निमित्त है, उसे छुपानेवाला गुरु का चोर है।

जिनेन्द्र की आज्ञानुसार रचित शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान होने पर भी, मुझे उन शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान नहीं हुआ है परन्तु नैयायिक तथा दूसरे अज्ञानियों के बनाये हुए शास्त्रों से बोध हुआ है – ऐसा कहना, वह भी चोर है। वर्तमान में आत्मा के नाम से बहुत बातें चलती हैं। यहाँ से सत्य बात बाहर आयी है; इसलिए उसकी नकल करने लगे हैं। जिनकी कुल-परम्परा, साधुपना, चारित्रपरम्परा सत्य नहीं है और किसी की बातें लेकर आत्मा की बातें करता है, वह बड़ा चोर है, वह व्यवहार का भी चोर है और निश्चय का चोर तो है ही।

किसी सच्चे मुनि के समीप पढ़कर, लोक में पूजा-प्रतिष्ठा इत्यादि के लिए और जगत में बताने के लिए उसका उपयोग करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

समानतावाले मुनि के समीप पढ़कर कहे कि मैं तीर्थङ्करदेव के समीप पढ़ा हूँ, वह भी ज्ञान का चोर, व्यवहार से है। जो व्यवहार से चोर है, वह निश्चयचोर तो है ही।

इस प्रकार यथार्थस्वरूप समझकर जिन देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसका नाम नहीं छुपाना, उनका उपकार, महिमा और प्रशंसा करना चाहिए, वह बाह्य विनयतप का अङ्ग है।

मुनिराज के स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। जिनकी परम्परा में चारित्र रहता है, वे सच्चे मुनि हैं, उन मुनियों के विनय की बात चल रही है। उन्हें प्रत्यक्ष देखकर खड़े होना, सम्मुख जाना, हाथ जोड़ना, प्रणाम करना.... यद्यपि हाथ जोड़ने इत्यादि की क्रिया तो जड़ की है और उसे आत्मा नहीं कर सकता है परन्तु उसके पीछे चैतन्य का जो उत्साह वर्तता है, वह विनय है और जहाँ ऐसा उत्साह वर्तता है, वहाँ व्यवहारविनय होती है और वह होती है, वहाँ शरीर की क्रिया को लगभग निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। जिस जीव को चैतन्यस्वभाव का बहुमान है, उसे मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान आये बिना रहता नहीं है। आत्मा, स्वयं धर्मी है और धर्म उसका स्वभाव है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि **नधर्मो धार्मिकै विना,** अर्थात् धर्मी के बिना धर्म नहीं होता है। आत्मा के भान बिना, धर्म नहीं होता और धर्मी जीव को धर्मात्मा के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। जिसे धर्मी के प्रति बहुमान नहीं है, उसे

धर्म की रुचि नहीं है; इसलिए धर्मात्मा मुनियों की विनय करना, उनके उपकरण सम्हालना – इत्यादि उपचारविनय है।

मुनिराज निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हैं। उन्होंने अनादि सनातन वीतरागमार्ग को टिका रखा है। अष्टपाहुड़ में कहते हैं कि वस्त्रसहित मुनिपना माने-मनवावे, वह मिथ्यादृष्टि है, वह उन्मार्ग है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अष्टपाहुड़, समयसार, पञ्चास्तिकाय, मोक्षमार्गप्रकाशक इत्यादि को सत्‌शास्त्र कहा है। उन अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट लिखा है कि वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उसके द्वारा कथित देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप विपरीत है। सनातन जैनमार्ग तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों का एक ही है; दुनिया माने या न माने, परन्तु मार्ग तो यह एक ही है।

प्रश्न : समुद्र में रहकर मगरमच्छ के साथ वैर रखना, यह कैसे चलेगा ?

समाधान : किसी डेढ (हल्की जाति) के मेले में बनिया जा चढ़े तो बनिया भ्रम में नहीं पड़ता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्;
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करे, स्तुति करता है तो स्तुति करे, लक्ष्मी आये या जाये तथा मरण आज ही होवे या युगान्तर में हो, परन्तु नीति में निपुणपुरुष न्यायमार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते – ऐसा न्याय विचारकर, निन्दा, प्रशंसादि के भय से या लोभादिक से भी अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं! उनके आधार से तो धर्म है। उनमें शिथिलता रखने से, अन्य धर्म किस प्रकार होगा ? अधिक क्या कहना! सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना चाहिए.... क्योंकि कुदेवादिक का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और इस काल में यहाँ उनकी प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती है। इसलिए यहाँ उनके निषेधरूप निरूपण किया है, उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो। ●●

गाथा ४५७-४५८

अब, वैयावृत्यतप को दो गाथाओं में कहते हैं —

जो उवयरदि जदीणं, उवसग्गजराइखीणकायाणं।
पूजादिसु णिरवेक्खं, वेज्जावच्चं तवो तस्स॥
जो वावरइ सरूवे, समदम भावम्मि सुद्धिउवजुत्तो।
लोयववहारविरदो, वेज्जावच्चं परं तस्स॥

उपसर्ग अथवा जरा से, कृशकाय यति को जो करे।
वाञ्छा रहित उपकार, वैयातृत्य तप कहते उसे॥
शम दम स्वभावी आत्म में, शुद्धोपयोग प्रवृत्ति हो।
रत नहीं लौकिक कार्य में, तप उसे वैयावृत्य हो॥

अन्वयार्थ : [जो] जो, **[पूजादिसु णिरवेक्खं]** अपनी पूजा (महिमा) आदि में अपेक्षा (वांछा) रहित होकर, **[उवसग्गजराइखीणकायाणं जदीणं उवयरदि]** उपसर्ग पीड़ित तथा जरा-रोगादि से क्षीणकाय यातियों का अपनी चेष्टा से, उपदेश से और अल्प वस्तु से उपकार करता है, **[तस्स वेज्जावच्चं तवो]** उसके वैयावृत्य नामक तप होता है।

[जो समदम भावम्मि वावरइ सरूवे सुद्धिउवजुत्तो] जो मुनि, शमदमभावरूप अपने आत्मस्वरूप में शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है और **[लोयववहारविरदो]** लोक-व्यवहार (बाह्य वैयावृत्य) से विरक्त होता है, **[तस्स परं वेज्जावच्चं]** उसके उत्कृष्ट (निश्चय) वैयावृत्य होता है।

भावार्थ : निस्पृह होकर मुनियों की सेवा करना, वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय,

तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ – ये दश प्रकार के यति, वैयावृत्य करने योग्य कहे गये हैं। इनका यथायोग्य अपनी शक्ति अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए।

जो मुनि, सम, अर्थात् राग-द्वेषरहित साम्यभाव, और दम, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना, भावरूप अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है, उसके लोकव्यवहाररूप बाह्यवैयावृत्य किसलिये हो ? उसके तो निश्चयवैयावृत्य ही होता है। शुद्धोपयोगी मुनियों की यह रीति है।

गाथा ४५७-४५८ पर प्रवचन

किसी मुनि के शरीर में रोग हो, वृद्धावस्था हो, उन्हें अपनी चेष्टा से, उपदेश से उपकार करना, वह वैयावृत्यतप है। यहाँ मिथ्यादृष्टि की सेवा की बात नहीं है; सच्चे भावलिङ्गी सन्त की बात है। वह भी अपनी महिमा या गुणगान के लिए नहीं तथा बाद की शिष्य परम्परा रहे, इसलिए भी नहीं। सम्प्रदाय में साधु वैराग्यवाले होते हैं, सम्पूर्ण जिन्दगी वैराग्य का पालन करें परन्तु आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है। यह बात कान में पड़ना भी कठिन है। सम्प्रदाय में तो ऐसी मान्यता है कि जीव को बचाना, वह धर्म है और देह की क्रिया से पुण्य होता है परन्तु यह मान्यता, मिथ्या है। मात्र द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है; पर्याय के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, यह बात सम्प्रदाय में पुरानी दीक्षावालों ने भी नहीं सुनी है। पुण्य हो तो उनके कान में यह वस्तुस्वभाव की बात पड़ती है। उसकी हाँ करके श्रद्धा करनेवाले की तो क्या बात! वह तो धर्म प्राप्त करके भव का अभाव करता है।

आशय यह है कि स्वयं निस्पृह होकर मुनिराजों की सेवा करना, वह वैयावृत्यतप है। दश प्रकार के मुनि होते हैं – आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और जिनकी प्रशंसा बहुत हो तथा कुल अच्छा हो, पुण्य-प्रकृति में विशेष हों, ऐसे साधु को मनोज्ञ कहते हैं। उनकी यथाशक्ति सेवा करना, वह वैयावृत्य है। आत्मा के भानवाले सेवा करते हैं तो निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि, सच्चे मुनि की सेवा करता है तो उत्कृष्ट पुण्य बाँधता है और जुगलिया में (भोगभूमि में) जन्म लेता है। यहाँ शुद्ध वैयावृत्य की बात की है। जो मुनि अपनी आत्मा में शम और दमभाव करता है, इन्द्रियों का दमन करता है और

शुद्धोपयोग में प्रवर्तता है, लोकव्यवहाररूप बाह्यवैयावृत्य के विकल्प से पार होकर अन्तरङ्ग में रमता है, उसे निश्चयवैयावृत्य होती है।

मुनिराज को राग–द्वेषरहित समताभाव प्रगट हुआ है। जिन्हें अनुकूल–प्रतिकूल संयोग समान हैं; जो मुनि अतीन्द्रिय वीतरागी आत्मस्वभाव में तल्लीन हैं, उन मुनिराज को लोकव्यवहाररूप बाह्यवैयावृत्य नहीं होती है। मुनिराज के वैयावृत्य के विकल्प को भी लोकव्यवहार कहा है। यहाँ शुद्धस्वरूप में तल्लीन है – ऐसे मुनि की बात है। प्रथम, बाह्यवैयावृत्य के विकल्प की बात की थी। वहाँ भी सब क्रमबद्ध था परन्तु राग के समय लक्ष्य था, वैसे भेदों का वर्णन था। क्षुल्लक धर्मदासजी कहते हैं कि आत्मा एक और तप के बारह भेद किस प्रकार होंगे? बारह भेदों का विचार करने से राग होता है। आत्मा, एकता को प्राप्त होता है, वह सच्चा व्रत है – ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि को निश्चयवैयावृत्यतप होता है। शुद्धोपयोगी मुनि की यह विधि है।●●

ऊँचा नाम रखकर नीचा कार्य करना योग्य नहीं

यदि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेते हैं तो उनकी नवकोटि शुद्ध नहीं है, उनका आहार ही शुद्ध नहीं है – ऐसी बात है। बापू! मार्ग तो ऐसा है। अरे! ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत में महापाप है। इसके बदले तो 'हमारी ऊँची दशा नहीं है, बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं' – ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगे, लेकिन यदि बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धराकर एक कण भी खावे तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, लेकिन मैं सिर्फ एक बार खाता हूँ, इस प्रकार एकासन करे तो अकेला शुभराग है।

— प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

गाथा ४५९-४६०

अब, स्वाध्यायतप को छह गाथाओं में कहते हैं —

परतत्तीणिरवेक्खो, दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो।
तच्चविणिच्छयहेदू, सज्झाओ ज्झाणसिद्धियरो॥

पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स॥

निन्दा न पर की करे, दुष्ट विकल्प क्षय जो कर सके।
तत्त्व निर्णय ध्यान सिद्धि के लिए स्वाध्याय है॥

पूजादि से निरपेक्ष भक्ति से पढ़े जिन शास्त्र को।
कर्ममल क्षय हेतु जो, श्रुतलाभ सुखकारी उसे॥

अन्वयार्थ : [परतत्तीणिरवेक्खो] जो मुनि, दूसरे की निन्दा में निरपेक्ष (वांछारहित) होता है, **[दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो]** मन के दुष्ट विकल्पों का नाश करने में समर्थ होता है, **[तच्चविणिच्छयहेदु]** उसके तत्त्व के निश्चय करने का कारण और **[ज्झाणसिद्धियरो]** ध्यान की सिद्धि करनेवाला **[सज्झाओ]** स्वाध्याय नामक तप होता है।

[जो पूयादिसु णिरवेक्खो] जो मुनि, अपनी पूजा आदि में निरपेक्ष (वाँछारहित) होता है और **[कम्ममलसोहणट्ठं]** कर्मरूपी मैल का नाश करने के लिए **[भत्तीए जिणसत्थं पढेइ]** भक्तिपूर्वक जिनशास्त्र को पढ़ता है, **[तस्स सुयलाहो सुहयरो]** उसको श्रुत का लाभ सुखकारी होता है।

भावार्थ : जो पर की निन्दा करने में परिणाम रखता है और आर्त-रौद्रध्यानरूप खोटे

विकल्प, मन में चिन्तवन किया करता है, उसके शास्त्रों का अभ्यासरूप स्वाध्याय कैसे हो? इसलिए इनको छोड़कर जो स्वाध्याय करता है, उसके तत्त्व का निश्चय होता है और धर्म-शुक्लध्यान की सिद्धि होती है - ऐसा स्वाध्यायतप है।

जो पूजा, महिमा आदि के लिये शास्त्र को पढ़ता है, उसको शास्त्र का पढ़ना सुखकारी नहीं है। अपने कर्मक्षय के निमित्त जिनशास्त्रों को पढ़े, उसे ही सुखकारी है।

गाथा ४५९-४६० पर प्रवचन

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित तत्त्वानुसार जो शास्त्र रचे गये हों, उनकी स्वाध्याय करना, तप है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, वह उस काम की कला सीखे बिना नहीं रहता। पैसे की रुचिवाला पैसा कमाने की कला सीखता है। यद्यपि पैसा तो पुण्य से प्राप्त होता है परन्तु ऐसा राग किया करता है; उसी प्रकार आत्मा की रुचि और प्रेम है, वह आत्मा के निर्णय के लिए आत्मा के लक्ष्य से स्वाध्याय करता है। अकेले परलक्ष्य से स्वाध्याय करे, वह स्वाध्याय ही नहीं है।

आत्मा, ज्ञानानन्द चैतन्यज्योति है, उसके लक्ष्य से निर्णय करना चाहिए, परन्तु ऐसे निर्णय के लिए बिलकुल स्वाध्याय-वाँचन विचार आदि नहीं करे तो वह निर्णय कैसे होगा? इसलिए प्रथम, वीतराग द्वारा कथित शास्त्रों की स्वाध्याय नहीं करे तो उसे आत्मा का निर्णय नहीं होता, परन्तु सच्चे शास्त्रों का ऐसा स्वाध्याय करना चाहिए कि उसके विचार लम्बाने से अन्दर में ध्यान हो जाए। इसीलिए स्वाध्याय को ध्यान का कारण भी कहा गया है।

कोई कहता है कि शास्त्रादिक का स्वाध्याय करते समय दूसरे विचार आ जाते हैं, उसका क्या कारण है?

उससे कहते हैं कि वे विचार कोई मुफ्त में नहीं आते हैं परन्तु उस प्रकार की अन्दर में रुचि पड़ी होती है। उस प्रकार का विकल्प और राग, आत्मा स्वयं करता है तो होता है - ऐसे विचार नहीं होने देने के लिए भगवान ने, स्वाध्याय जैसा दूसरा तप नहीं है - ऐसा कहा है। उस स्वाध्याय के लिए प्रथम, सर्वज्ञ कौन हैं और उनके द्वारा कथित शास्त्र कौन है? - इसका भी निर्णय करना पड़ेगा। ऐसे निर्णयवाले को ही स्वाध्याय होती है।

श्री गणधरदेव के द्वारा रचित शास्त्रों में छह बाह्यतप और छह अन्तरङ्गतप की व्याख्या

आती है। इसमें स्वाध्याय को महान अनुष्ठान कहा गया है, उसके समान दूसरा अनुष्ठान नहीं है। ध्यान का कारण भी स्वाध्याय है। उस स्वाध्याय से मुनिराजों को निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि को आत्मा का निर्णय यथार्थ होने में वह स्वाध्याय, उपायरूप है। अकेले मुनि के लिए यह बात नहीं है तथा मात्र परलक्ष्य से स्वाध्याय करनेवाले की बात भी नहीं है। खोटे विकल्पवाले को स्वाध्याय नहीं होती है। स्वाध्याय ठीक से करे तो उसका फल, शुक्लध्यान और केवलज्ञान है।

बड़ी सभा में मान मिलेगा, दूसरों से मैं अधिक हूँ – ऐसा लोग मुझे मानेंगे; इस प्रकार ऐसे मान और पूजा के भाव से स्वाध्याय करता है, तो उसे कुछ लाभ का कारण नहीं होता है परन्तु शास्त्र का बहुमान करके, आत्मा के लक्ष्य से स्वाध्याय करे तो लाभ का कारण होता है। जगत् में मान के लिए या शिष्य के लोभ के लिए शास्त्र पढ़े तो उसे अकेली आकुलता और दु:ख ही होता है।

आशय यह है कि अपनी पूजा-महिमा के लिए शास्त्राभ्यास करनेवाले का शास्त्राभ्यास सुखदायक नहीं होता है, परन्तु जो मात्र कर्मक्षय के लिए ही जिनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसे सुखदायक होता है।

देखो! यहाँ अकेले वीतरागशास्त्रों का अभ्यास लाभदायक है – ऐसा कहा है; इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्र की बात नहीं की है; अत: किसी ने वीतरागधर्म के नाम से शास्त्रों की रचना की हो, वैसे शास्त्रों को पढ़े तो भी लाभ नहीं होता है; मात्र लौकिक अभ्यास करता है, वह तो पापभाव है, उसमें तो अकेला दु:ख ही है। वर्तमान में संसार की कला का विकास दिखायी देता है, वह वर्तमान पुरुषार्थ के कारण नहीं है। पूर्व का जितना विकास लेकर आया हो, उतनी लौकिककला दिखायी देती है। जहाँ तक मोह-रागादि है, वहाँ तक लौकिक पढ़ाई का विकल्प आये बिना नहीं रहता है परन्तु उस विकल्प के कारण, कला विकसित नहीं होती है। जैसे, पैसा वर्तमान पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होता है परन्तु पूर्व के पुण्योदय से मिलता है; इसी प्रकार लौकिकज्ञान भी वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। अशुभभाव, ज्ञान के विकास का कारण नहीं होता है। आत्मा में शुद्धि होती है, उसे शास्त्राभ्यास लाभकारी होता है परन्तु शास्त्र में अनेक प्रकार के कथन आते हैं, उनका अर्थ नहीं समझे और विपरीत तर्क करे तो उसे शास्त्र अभ्यास, लाभ का कारण नहीं होता है। ●●

गाथा ४६१-४६२

जो जिणसत्थं सेवदि, पंडियमाणी * फलं समीहंतो।
साहम्मियपडिकूलो, सत्त्थं पि विसं हवे तस्स॥
जो जुद्धकामसत्थं, रायदोसेहिं परिणदो पढइ।
लोयावंचणहेदुं, सज्झाओ णिप्फलो तस्स॥

फल कामना से शास्त्र पढ़ता, वहीं पंडितमन्य है।
साधर्मि के प्रतिकुल वर्ते, शास्त्र विषमय हों उसे॥
राग-द्वेष विकार हो, युद्ध-काम कुशास्त्र को।
जन वञ्चना के लिए पढ़ना, विफल यह स्वाध्याय है॥

अन्वयार्थ : [जो जिणसत्थं सेवदि फलं समीहंतो] जो पुरुष, जिनशास्त्र तो पढ़ता है और अपनी पूजा-लाभ और सत्कार को चाहता है **[साहम्मियपडिकूलो]** तथा साधर्मी - समयग्दृष्टि जैनियों के प्रतिकूल (विपरीत) है, **[पंडियमाणी]** वह पंडितमन्य है, **[तस्स सत्थं पि विसं हवे]** उसके वह ही शास्त्र विषरूप परिणमता है।

[जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो] जो पुरुष, युद्ध के शास्त्र, कामकथा के शास्त्र, राग-द्वेष परिणाम से **[लोयावंचणहेदुं पढइ]** लोगों को ठगने के लिए पढ़ता है, **[तस्स सज्झाओ णिप्फलो]** उसका स्वाध्याय, निष्फल है।

भावार्थ : जैनशास्त्र पढ़कर भी तीव्रकषायी भोगविलासी होकर जैनियों से प्रतिकूल

---

* जो पण्डित तो होता नहीं है और अपने को पण्डित माना है, उसको पण्डितमन्य कहते हैं।

रहे – ऐसे पण्डितमन्य के शास्त्र ही विष हुआ कहना चाहिए। यदि यह मुनि भी होवे तो वेषी पाखण्डी ही कहलाता है।

गाथा ४६१-४६२ पर प्रवचन

जो पुरुष, ऐसा मानकर शास्त्राभ्यास करता है कि पढ़ने से मैं महान गिना जाऊँगा और बाहर का लाभ होगा तथा जो सच्चे देवादि से विरुद्धरूप वर्तता है और मिथ्या (देवादिक) की पूजा करता है, वह स्वयं पण्डित नहीं होने पर भी अपने को पण्डित मानता है, उसे शास्त्र अभ्यास जहररूप परिणमित होता है। ज्ञानी के प्रत्यक्ष समागम के बिना जो अपनी मति-कल्पना से शास्त्राभ्यास करता है, वह स्वयं को हितरूप नहीं होता है।

वीतराग के शास्त्रों का अभ्यास करे, परन्तु तीव्रकषायी हो अथवा लोभी हो तो सच्चे धर्मी से प्रतिकूल हुए बिना नहीं रहता; इसलिए वह अभ्यास उसे जहररूप होता है, अर्थात् उसका ज्ञान, अज्ञानरूप परिणमित हो जाता है। ऐसे जीव, शास्त्र पढ़कर भी कुयुक्तियाँ निकालते हैं और शब्दों का अर्थ नहीं समझते हैं, वे मात्र भेषधारी पाखण्डी कहलाते हैं। वीतराग का मार्ग अपूर्व पुरुषार्थ से समझ में आने योग्य है; इसलिए मात्र आत्मा के हित के लिए अभ्यास करना चाहिए परन्तु दूसरे किसी आशय से शास्त्र पढ़े तो वह मुनि होने पर भी पाखण्डी है।

जो जीव, भगवान के शास्त्रों को छोड़कर, युद्ध या विषय-कषाय की वृद्धि हो – ऐसे शास्त्रों को लोगों को ठगने के लिए पढ़ता है तो उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है।

प्रश्न : लोगों के भले के लिए दूसरी कलाओं के शास्त्र पढ़े तो उसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान : वह भी राग-द्वेष का ही पोषण करता है क्योंकि कोई पर का भला-बुरा तो कर ही नहीं सकता। वस्तु है तो उसकी पर्याय उसके कारण से होती है – ऐसा न मानकर, मेरे कारण (परद्रव्य की पर्याय) होती है – ऐसा मानना, वही महान पाप है। इसलिए पर के उपकार के लिए पढ़ाई पढ़ना अच्छा है – ऐसा जो मानता है, वह महा-मूढ़ और पाखण्डी है। अब यह बात गुप्त नहीं रही है, ढिंढोरा पीटकर बाहर आयी है कि प्रत्येक वस्तु, स्वतन्त्र है, वह स्वयं से परिणमित हो रही है; निमित्त आता है, इसलिए परिणमित होती है – ऐसा नहीं है। फिर भी जो कोई पर के कारण पर्याय होना मानता है, वह मिथ्याभिमानी है।

यह बात सुनकर अब बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा के कारण पर की अवस्था नहीं होती, यह बात तो सत्य है परन्तु हम निमित्त तो होते हैं न ?

उससे कहते हैं कि निमित्त तो तब कहलाता है कि जब उपादान में स्वयं के कारण से, स्वयं के काल में स्वतन्त्र परिणमन होकर कार्य होता है। तब भी निमित्त आया, इसलिए कार्य होता है – ऐसा नहीं है और निमित्त नहीं है – ऐसा भी नहीं है। लोगों को सुखी होना हो और धर्म करना हो तो यह मानना ही पड़ेगा। प्रत्येक पदार्थ है, तो उसका वर्तमान भी है। उसके वर्तमान को न माने तो उसने वस्तु को ही नहीं माना है। यह बात अनन्त केवली कह गये हैं, वह है। ऐसी बात सुनकर बहुत से त्यागी, नकल करने लग गये हैं परन्तु जिसे अभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा नहीं है और पहचान भी नहीं है, उसे किसी प्रकार यह बात जम जाए – ऐसा नहीं है।

जब आत्मा का भान होता है, तब आत्मभानवाले जीव को धर्म का ऐसा माहात्म्य आता है कि देव-गुरु-शास्त्र के लिए लाखों रुपये खर्च करने का भाव आये बिना नहीं रहता है। वह जिनमन्दिरों के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए निरन्तर प्रयास किया करता है। अभी तो इस बात को समझनेवाले बहुत हो गये हैं, और अफ्रीका तक यह बात पहुँच गयी है; वहाँ हमेशा स्वाध्याय चलता है। जिसे जिसकी रुचि होती है, उसमें वह निरन्तर समय लगाता है।

जो पुरुष, लोगों को ठगने के लिये युद्ध के, काम कौतूहल के, मन्त्र-ज्योतिष-वैद्यक आदि के लौकिकशास्त्र पढ़ता है, उसके कैसा स्वध्याय है ?

यहाँ कोई पूछता है कि मुनि और पण्डित तो सब ही शास्त्र पढ़ते हैं, वे किसलिए पढ़ते हैं।

इसका समाधान – राग द्वेष से अपने विषय, आजीविका पुष्ट करने के लिए, लोगों को ठगने के लिए पढ़ने का निषेध है। जो धर्मार्थी होकर कुछ प्रयोजन जान, इन शास्त्रों को पढ़े, (जैसे) ज्ञान बढ़ाना, परोपकार करना, पुण्य-पाप का विशेष निर्णय करना, स्व-परमत की चर्चा जानना, पण्डित हो तो धर्म की प्रभावना हो कि जैनमत में ऐसे पण्डित हैं – इत्यादि प्रयोजन हैं, उसका निषेध नहीं है। दुष्ट अभिप्राय से पढ़ने का निषेध है।

राग-द्वेष और विषय अथवा अजीविका के लिए शास्त्र पढ़ता है तो उसका यहाँ निषेध किया है परन्तु निस्पृहरूप से शास्त्र पढ़े अथवा बनावे, उसका निषेध नहीं है। जंगल में विचरनेवाले सन्त-मुनियों ने धर्म की प्रभावना के लिए वैद्यादिक शास्त्र बनाने का किसी समय विकल्प आया और शास्त्रों की रचना हो गयी। मुनिराज तो निस्पृह होते हैं परन्तु किसी समय अन्यमतों में वैद्यक का जोर हो तो जैन में भी वैद्यक का ज्ञान है - यह बतलाने के लिए दवा कैसे बनती है, और किस रोग में कौन सी दवा लागू पड़ती है ? उसके शास्त्र की रचना करते हैं परन्तु उसमें मात्र जैनधर्म की प्रभावना का हेतु होता है; विषय-कषाय का अथवा मान-पूजा का भाव, मुनिराज को नहीं होता है; इसलिए उसका निषेध नहीं होता है।●●

अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र या मुनिपना

अहो! जिन्होंने आत्मा को हथेली की रेखा के समान अन्दर में देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर पहले से ही 'आत्मा ऐसा है' - यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्माओं को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह तो उनका स्वरूप ही है। अहो! उनका अवतार धन्य है न!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् + चित् + आनन्द अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर है। उसमें शरीर, वाणी और मन तो नहीं; परन्तु दया, दान, व्रत का राग / विकल्प भी नहीं है। उस आत्मा में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए आश्चर्यकारी बात नहीं है, क्योंकि वह धर्मात्मा की स्थिति ही है, वैसी ही उनकी दशा है, वैसा ही उनका स्वरूप है। अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र और मुनिपना है।

— प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

गाथा ४६३

जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणगस्वसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं॥

निज आत्म को जो जानता, ज्ञायक स्वभावी मैं सदा।
भिन्न अशुचि शरीर के, सब शास्त्र को वह जानता॥

अन्वयार्थ : [जो अप्पाणं असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं] जो मुनि, अपनी आत्मा को, इस अपवित्र शरीर से भिन्न **[जाणगस्वसरूवं जाणदि]** ज्ञायकस्वरूप जानता है, **[सो सव्वं सत्थं जाणदे]** वह सब शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शास्त्र अभ्यास अल्प भी करता है और अपनी आत्मा का रूप ज्ञायक, अर्थात् देखने-जाननेवाला, इस अशुचि शरीर से भिन्न, शुद्ध उपयोगरूप होकर जानता है, वह सब ही शास्त्र जानता है। अपना स्वरूप न जाना और बहुत शास्त्र पढ़े, तो क्या साध्य है?

गाथा ४६३ पर प्रवचन

इस गाथा में वीतराग जैनशास्त्रों के स्वाध्याय का सार कहते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जैनशासन का सार इस गाथा में है। समयसार-गाथा १५ में अबद्धस्पृष्ट आदि आत्मा को जानता है, वह जैनशासन को जानता है - ऐसा कहा गया है। इस गाथा में भी सनातन वीतरागमार्ग का सम्पूर्ण शासन समाहित कर दिया है; इसलिए यह गाथा भी बहुत उत्कृष्ट है। पढ़ ले, प्रश्न करे, शास्त्र का अभ्यास करे, इन सबका सार इस गाथा में है।

जो मुनिराज, इस अपवित्र शरीर से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप जानते हैं, उन्होंने

सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लिया है। आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, वह पुण्य-पाप आदि तत्त्वों से भिन्न है। आत्मा, शरीर से भिन्न है; इसलिए कार्मणशरीर से भी भिन्न है। पुण्य-पाप भी कार्मणशरीर में समाहित हो जाते हैं, उनसे भी आत्मा भिन्न है - ऐसा जानना ही चारों अनुयोगों का सार है। चारों ही अनुयोग के शास्त्रों में यह एक ही बात की गयी है कि आत्मा, रागादि और शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न है - ऐसा जानना, धर्म है। जो शास्त्र, राग से, पुण्य से, या शरीरादि निमित्त से आत्मा को लाभ होता है - ऐसा कहते हैं, वे शास्त्र ही नहीं हैं और वीतरागता के शास्त्र पढ़कर उनमें से यह सार निकाले कि राग से और पर से लाभ होता है तो वह शास्त्रों के अर्थ को भी नहीं समझा है। आत्मा, पर से भिन्न ज्ञायकस्वरूपी है - ऐसा जानना, जैनशासन का सार है; इसलिए जिसे समझना हो, उसे यही समझना / विचारना करना हो, उसे यही विचारना और प्रश्न करना हो, उसे यही प्रश्न करना - यह सार है।

* समयसार, गाथा १५ में समस्त जिनशासन का सार है। किसी को ऐसा लगे कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव दूसरा कहते हैं और समन्तभद्राचार्य दूसरा कहते हैं.... परन्तु ऐसा नहीं है। अष्टसहस्री आदि व्यवहार और न्याय के ग्रन्थों में, दूसरा पदार्थ निमित्त है, उसका ज्ञान कराते हैं परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कार्य होता है - ऐसा नहीं है। जिसे यह बात समझ में नहीं आती, उनमें खलबलाहट हुई है कि निमित्त होता है, तब ही उपादान में कार्य होता है परन्तु यहाँ तो इस गाथा में कहते हैं कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप, निमित्त और रागादि से भिन्न है - ऐसा जाना, उसने जिनशासन जाना है। इसमें समस्त शास्त्रों का सार आ जाता है। हाँ, निमित्त दूसरी वस्तु है अवश्य, परन्तु उपादान में स्वयं के कारण कार्य होता है, तब परवस्तु में निमित्तपने का आरोप आता है, ऐसा जाननेवाले ने समस्त शास्त्रों को जान लिया है। दूसरे शास्त्र, निमित्त और व्यवहार की बात करते हैं तो वहाँ निमित्त और व्यवहार है, उसका ज्ञान करना, परन्तु उससे उपादान में कुछ कार्य होता है या निश्चय प्रगट होता है - ऐसा नहीं समझना।

सर्वज्ञ भगवान ने चारों अनुयोगों में ज्ञायकस्वभावी आत्मा को शरीरादि से भिन्न कहा है। यह जानने से उसमें देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ पहचान भी आ गयी है।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से ज्ञान, आत्मा से होता है और चरणानुयोग की अपेक्षा से राग

* जिनशासन का स्वरूप जानने के लिए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन 'जैनंजयतु शासनम्' पढ़ना चाहिए।

तथा निमित्त से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण जैनशासन का सार तो यह है कि आत्मा ज्ञायकस्वरूपी है और पर से भिन्न है – ऐसा जानना। जिसने ऐसा जाना है, उसने सम्पूर्ण शास्त्र जान लिये हैं।

आत्मा, पर से भिन्न, ज्ञायक है – इस बात का जिसे पता नहीं है, वह अपनी कल्पना से शास्त्र पढ़कर ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड – इन तीन काण्ड से आत्मा में कार्य होता है – ऐसा मानता है और दूसरे को मनवाता है.... परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। आत्मा को पर की भक्ति से, कर्म से या राग से धर्म नहीं होता है क्योंकि पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पर से कार्य होता है – जो ऐसा मानता है, वह शास्त्रों के अर्थ को नहीं समझता है। आत्मा, ज्ञायक है; उसे जाना तो जो भक्ति आदि का शुभभाव होता है, उसे निमित्त कहते हैं परन्तु कर्मकाण्ड या भक्तिकाण्ड से ज्ञानकाण्ड प्रगट होता है – ऐसा नहीं है।

सर्वज्ञ वीतरागदेव के शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान हुआ, इसलिए अन्य शास्त्र क्या कहते हैं? – उसका भी ज्ञान हो जाता है। दिगम्बर सन्तों के द्वारा रचित छोटे से छोटा ग्रन्थ लो या बड़ा ग्रन्थ लो.... उन सब का सार एक ही है। समयसार की गाथा १५ में यह बात की है और यहाँ स्वाध्याय की बात करते हुए ज्ञायक की बात रखी है। इससे विरुद्ध माननेवाला स्वाध्याय को समझता भी नहीं है।

आत्मा, चैतन्यमूर्ति है। उसकी प्रति समय जो पर्याय होती है, वह अपने कारण से, अपने में होती है, तथापि द्रव्यदृष्टि को मुख्य करके, उसे अभूतार्थ कहते हैं। वस्तुदृष्टि में पदार्थ को भूतार्थ कहा गया है। अपेक्षा से अपनी पर्याय को अभूतार्थ कहा है तो फिर पर की पर्याय मुझसे होती है – ऐसा मानकर पर-पर्याय को भूतार्थ करना चाहता है, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है; उसे द्रव्यसन्मुख देखने का अवकाश भी नहीं है। अपनी पर्याय अपने से है, उसे निमित्त के कारण से मानता है, वह भूतार्थ को अभूतार्थ करना चाहता है, वह भी मिथ्या है। द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से पर्याय को अभूतार्थ करना चाहिए – ऐसा नहीं करके, निमित्त के कारण से (पर्याय होना) मानकर (पर्याय को) अभूतार्थ करता है, उसे भी तीन काल में स्वभावदृष्टि नहीं होती। शास्त्र में अभेद की दृष्टि से भेद को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा गया है, तथापि अज्ञानी, निमित्त के कारण पर्याय होती है – ऐसा मानकर

विद्यमान पर्याय को अविद्यमान मानता है, उसे द्रव्यदृष्टि होने का अवकाश नहीं है।

पर्याय, द्रव्य में अभेद होने पर भेद दिखायी नहीं देता; इसलिए पर्याय को अभूतार्थ कहा गया है परन्तु पर्याय है ही नहीं – ऐसा इसका अर्थ नहीं है और पर्याय, पर से होती है – ऐसा भी नहीं है। ऐसा होने पर भी जो यह मानता है कि पर्याय, पर से होती है अथवा पर्याय का अभाव है तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों में यह (द्रव्य-पर्याय की) बात होती है। सर्वज्ञ के नाम से जो कल्पित शास्त्रों की रचना की हैं, उनमें यह बात है ही नहीं, क्योंकि वे तो गृहीतमिथ्यादृष्टि के द्वारा रचित हैं।

आचार्य भगवान ने इस गाथा में द्वादशांग का सार भर दिया है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं छूटे और अन्तरलीनता रहे, यही मुनिपना है। जिस-जिस मुनि को, जिस-जिस काल में, जैसा-जैसा विकल्प आया, वैसे-वैसे शास्त्र उनके कारण से, अर्थात् स्वयं स्वतः रच गये हैं।

शरीरादि परद्रव्य, आत्मा से भिन्न हैं और उसके निमित्त से होनेवाले रागादि परिणाम भी हैं परन्तु वे आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं – ऐसा जानना, वह भेदाभेद का यथार्थ ज्ञान है। ऐसे विचार, साधक को होते हैं; केवली को नहीं होते हैं, इस कारण केवली को पर्याय होती ही नहीं – ऐसा नहीं है।

पर्याय को अभूतार्थ मानने में दो दृष्टियाँ हैं – एक तो पर के कारण पर्याय होती मानता है, वह विद्यमान पर्याय को अभूतार्थ मानता है, यह भ्रान्ति है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

(दूसरे) अपने त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; इसलिए अभूतार्थ है – ऐसा जो मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भाई! यह बात समझे बिना, यह मनुष्यभव पूरा हो गया तो फिर पता नहीं लगेगा। इसलिए सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा, आत्मारूपी सुई में पिरो लेना ही आत्मा का कर्तव्य है और तभी आत्मा, चौरासी के अवतार में नहीं खोएगा।

जो मुनिराज, अपनी आत्मा का स्वरूप, अशुचिमय शरीर से भिन्न और जानने-देखने के शुद्ध उपयोगवाला है – ऐसा जानते और निर्णय करते हैं, वे समस्त शास्त्रों को जानते हैं परन्तु अपने स्वरूप को नहीं जाने और हजारों ग्रन्थ पढ़े – स्वाध्याय करे तो भी इससे उसके आत्मा

को कुछ लाभ नहीं होता है। शास्त्र का थोड़ा-सा ज्ञान हो, परन्तु उसका सार निकाल ले तो शास्त्र को पढ़ा कहलाता है। जिसे आत्मा का भान होता है, वह देवादिक के स्वरूप को भी भलीभाँति जानता है, उनका उसे ठीक से विवेक होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि निमित्त के कारण उपादान में कार्य होना मानो तो निमित्त को माना कहलाता है। उसे ऐसा लगता है कि यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर हमारी विनय कौन करेगा? परन्तु वास्तव में वह शास्त्र का रहस्य समझा ही नहीं है।●●

मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे...

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! - इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं, किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि की तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में देने या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं।

— *आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५४४*

गाथा ४६४

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि॥

भिन्न तन से ज्ञानमय, निज आत्म को नहीं जानता।
पाठ आगम का करे, पर शास्त्र नहिं वह जानता॥

अन्वयार्थ : [जो अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं णवि जाणदि] जो मुनि, अपनी आत्मा को ज्ञानस्वरूपी, शरीर से भिन्न नहीं जानता है, **[सो आगमपाढं कुणंतो वि सत्थं णवि जाणदि]** वह आगम का पाठ करे तो भी शास्त्र को नहीं जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता है, वह बहुत शास्त्र पढ़ता है तो भी बिना पढ़ा ही है। शास्त्र पढ़ने का सार तो अपना स्वरूप जानकर, राग–द्वेष रहित होना था, सो पढ़कर भी ऐसा नहीं हुआ, तो क्या पढ़ा? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चयस्वाध्यायतप है। वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश – ऐसे पाँच प्रकार का व्यवहारस्वाध्याय है, सो यह व्यवहार, निश्चय के लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चय के व्यवहार सारहीन (थोथा) है।

गाथा ४६४ पर प्रवचन

जो मुनि, अपने आत्मा को नहीं जानता, वह आगमपाठ करता है तो भी उसके रहस्य को नहीं जानता है। आत्मा, शरीरादि से भिन्न है; इसलिए शरीर से आत्मा में कुछ काम नहीं होता और आत्मा से शरीर में कुछ काम नहीं होता। ऐसा माने तो दोनों को भिन्न माना कहा जाए। जिसे इस बात का पता नहीं है, वह शास्त्र को नहीं जानता है। शास्त्र को पढ़ने पर भी वह वास्तव में शास्त्र को पढ़ा ही नहीं है।

आत्मा, पुद्गलादि छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया भिन्न-भिन्न हो रही है और अपने-अपने कारण से हो रही है – ऐसा नहीं माने तो पृथक्-पृथक् द्रव्य भी सिद्ध नहीं होते और उसका ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। आत्मा और दश प्राण भिन्न-भिन्न हैं फिर भी आत्मा, प्राणों को धारण करता है – ऐसा कहना, वह व्यवहार कथन है। प्रत्येक ही परमाणु भिन्न-भिन्न है और आत्मा से शरीर के परमाणु भिन्न हैं – ऐसा शास्त्र का स्वाध्याय करके जो नहीं समझता है, वह शास्त्र को नहीं जानता है।

शास्त्र पढ़ने का और अभ्यास करने का सार तो अपने स्वरूप को जानकर, राग-द्वेषरहित होना है। अब यदि शास्त्रों को पढ़कर भी ऐसा नहीं हुआ तो वह क्या पढ़ा? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चयस्वाध्यायतप है। दिगम्बर सन्त मुनियों की एकधारा बात होती है, उनके अतिरिक्त दूसरों की बात में तो पारस्परिक मेल ही नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि की बातें पूर्वापर विरोधसहित होती हैं। ऐसे जीव तो चार गति में भटकते हैं। मिथ्या शास्त्रों को पढ़ने से लाभ नहीं होता है। इसलिए आत्मा, ज्ञायक है, उसका निर्णय करके उसमें लीन होना, वह सच्चा स्वाध्यायतप है – ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा, ज्ञायकमूर्ति है, उसके निर्णयपूर्वक लीनता होने से निश्चयस्वाध्याय होती है, उस समय व्यवहारस्वाध्याय होती है, उसके पाँच प्रकार हैं —

१. वांचना, २. पृच्छना, ३. अनुप्रेक्षा, ४. आम्नाय, और ५. धर्मोपदेश। इस प्रकार पाँच प्रकार की व्यवहारस्वाध्याय है और वह व्यवहार भी निश्चय के लिए हो तो वह व्यवहार सच्चा है, वरना निश्चयरहित व्यवहार तो व्यर्थ है।

पूर्व में यह बात आ गयी है कि अपना अभिमान पोषण करने के लिए मिथ्याशास्त्रों का वांचन-स्वाध्याय करे तो वह जहररूप परिणमित होता है। यहाँ तो भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित शास्त्र हैं, उनका वांचन करना, उसे व्यवहारस्वाध्याय कहा है। कुदेवादि के शास्त्रों का पठन तो व्यवहार भी नहीं है; अकेला मिथ्यात्व का पोषण है। जिस कुल में जन्म लिया हो, उसके शास्त्र पढ़ना, वह कहीं व्यवहार नहीं है।

देखो, जिस प्रकार व्यापारी अपने व्यापार के लिए सभी पहलुओं से पहले निर्णय करता है। जिसे रुपया देना हो, वह आसामी कैसा है? ब्याजसहित वह रुपये वापस देगा या नहीं?

और जो नौकर घरेलू काम करनेवाला है, वह खानदानी है या नहीं? यह सब निर्णय प्रथम करता है। इसी प्रकार स्वाध्याय करनेवाले को प्रथम यह निर्णय करना चाहिए कि यह शास्त्र, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित है या नहीं? और तत्पश्चात् आत्मा को समझने के लिए ऐसे शास्त्रों का स्वाध्याय करना, वांचन करना, प्रश्न करना, धारणा करना, बारम्बार रटन करना, और उनका उपदेश देना – यह व्यवहारस्वाध्याय है।

नियमसार, गाथा ८ वीं में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा के मुख में से निकली हुई वाणी, जो पूर्वापर दोषरहित और शुद्ध है, उसे आगम कहते हैं और उन्होंने जो तत्त्वार्थ कहे हैं, उनका अभ्यास करना चाहिए। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने भी कहा है कि जो शास्त्र, पूर्वापर विरोधरहित हों, उन्हें पढ़ना। कुदेवादि द्वारा कथित मिथ्याशास्त्रों को पढ़ने से आत्मा को वह जहररूप परिणमित होते हैं। ज्ञानी, धर्मात्मा अथवा मुनि या जिनकी दृष्टि खुल गयी है, जिन्हें आत्मा का यथार्थ अनुभव हुआ है – ऐसे (जीव) कदाचित् अन्य शास्त्र किस प्रकार मिथ्या सिद्धि करते हैं? – यह बात जानने के लिए पढ़ते हैं तो उसमें दोष नहीं है परन्तु उनसे लाभ होगा – ऐसी बुद्धि से पढ़ते हैं तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है; इसलिए वह व्यवहार ही नहीं है।

अज्ञानी, अपना मान–पोषण करने के लिए जिनमें पूर्वापर विरोध है – ऐसे शास्त्रों को पढ़कर, हमारे में भी आत्मा की बात है और तुम्हारे जैसी सब बात इसमें आती है – ऐसा कहकर लोगों को भ्रम में डालता है। उसे सच्चे–झूठे शास्त्रों का भेद करने का अवकाश नहीं रहता है परन्तु जो जीव, जिसके निमित्त से यह बात मिली हो, उसकी प्रशंसा करे और जहाँ से यह बात निकली हो, उसे स्वीकार करे और कहे कि अपने शास्त्रों में यह बात नहीं थी, यह बात तो अपूर्व है – ऐसी सज्जनतापूर्वक शास्त्र पढ़े, वह व्यवहारस्वाध्याय कहलाता है। जिन शास्त्रों में व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है – ऐसा कहा हो, उन शास्त्रों में निश्चय की स्वतन्त्र बात नहीं हो सकती। जिसमें पूर्वापर विरोधवाली बात होती है, उसमें अविरोध बात नहीं होती।

अभी तो यथार्थस्वरूप समझे बिना भी बहुत लोग आत्मा की बातें करनेवाले हो गये हैं। दया, दान, भक्ति, आदि शुभभाव है, उसे पाप मनवाते हैं। जिसे पुण्य–पाप का भी विवेक

नहीं है, वह कहते हैं कि हमारे साधु, अध्यात्म के साधक हैं। पूर्वापर विरोध मान्यता है, उसमें यह बात आयी कहाँ से ? जिसे शुभभाव का भी पता नहीं है, उसे उन दोनों से रहित शुद्ध आत्मा की बात नहीं हो सकती है। जिसे वीतराग की भावना होती है, वह अशुभभाव छोड़कर शुभ में लगता है परन्तु निश्चय से शुभाशुभ, दोनों भावों को बन्धनरूप जानता है। इसलिए प्रथम पुण्य-पाप का विवेक आना चाहिए। यदि सम्यग्दृष्टि जीव को शुभभाव न होवे तो मरकर स्वर्ग कैसे जाएगा ? पापभाव छोड़कर पुण्यभाव तो ज्ञानी को भी होता है और वैसा धर्मानुराग होता है, तब जिनमन्दिर आदि बनाने का तथा देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा का भाव अवश्य होता है; इसलिए जैसा है, वैसा समझनेवाले को प्रथम व्यवहारस्वाध्याय होता है। ●●

वचनातीत आनन्दमय मुनिदशा

मुनि तो आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलते हैं। अहा! उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता! जहाँ शक्ति में से व्यक्ति / प्रगटता हुई, शान्ति का, आनन्द का, स्वच्छता का, सम्यग्दर्शन का, स्वसम्वेदन का, चारित्र का ज्वार आया, वहाँ ज्ञानी आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलता है। अन्तर में आनन्द का नाथ उल्लसित हुआ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने पर, वह एकाग्रता की पर्याय आनन्द तरङ्गों में डोलती है।

यहाँ तो अनन्तगुणों से भरपूर आत्मा स्वभाव के सन्मुख हुआ और रागादि विभाव तथा पर्याय से विमुख हुआ, तब अन्तर में चमत्कारिक पर्यायों की तरङ्गें उठीं आश्चर्यजनक ज्ञानपर्याय, आश्चर्यजनक सम्यक्त्वपर्याय, आश्चर्यजनक चारित्रपर्याय, आश्चर्यजनक आनन्दपर्याय आदि अनन्त गुणों की अद्भुत पर्यायें मुनिराज को उत्पन्न हुईं। पञ्च महाव्रत या नग्नता, वह मुनिपना नहीं है, परन्तु भीतर अनन्त गुणों का समुद्र भरा है उसमें दृष्टि देने पर, उसकी प्रतीति होने पर आनन्दादि गुणों की तरङ्गें उठें वह धर्म एवं मुनिपना है। जैसे समुद्र में ज्वार और नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही साधक सन्तों की-मुनिराज को-अन्तर में आनन्दादि तरङ्गें उछलती हैं, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है।

— ***वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७७***

गाथा ४६५-४६६

अब, व्युत्सर्गतप को कहते हैं —

जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो।
मुहधोवणादिविरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो॥

ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तवो तस्स॥

तन लिप्त जल मल, तीव्र रोगी, करे नहीं प्रतिकार जो।
मुखधोवनादिक से विरक्त, न चाह भोजन सेज की॥

निजरूप चिन्तन में निरत, मध्यस्थ दुर्जन सुजन में।
तप उसे कायोत्सर्ग है, निर्मम हुआ जो देह में ॥

अन्वयार्थ : [जो जल्लमललित्तगत्तो] जो मुनि, जल्ल (पसेव) और मल से तो लिप्त शरीर हो, **[दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो]** असह्य तीव्र रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (इलाज) न करता हो, **[मुहधोवणादिविरओ]** मुँह धोना आदि शरीर के संस्कार से विरक्त हो, **[भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो]** भोजन और शय्या आदि की वाँछारहित हो, **[ससरूवचिंतणरओ]** अपने स्वरूप के चिन्तवन में रत (लीन) हो, **[दुज्जसुयणाण हु मज्झत्थो]** दुर्जन-सज्जन में मध्यस्थ हो (शत्रु-मित्र के प्रति समभावी हो); **[देहे वि णिम्ममत्तो]** अधिक क्या कहें, देह में भी ममत्वरहित हो, **[तस्स काओसग्गो तवो]** उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है।

भावार्थ : जब मुनि, कायोत्सर्ग करता है, तब सब बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह त्याग कर,

सब बाह्य आहार विहारादिक क्रिया से रहित हो, काय से ममत्त्व छोड़, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में, राग-द्वेष रहित, शुद्धोपयोगरूप हो लीन होता है, उस समय यदि अनेक उपसर्ग आवे, रोग आवे, कोई शरीर को काट ही डाले तो भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता है, किसी से राग-द्वेष नहीं करता है, उसके कायोत्सर्गतप होता है।

गाथा ४६५-४६६ पर प्रवचन

जो मुनिराज, पसीना और मल / मैल से लिप्त शरीरयुक्त हों, सहन नहीं हो सके ऐसा तीव्र रोग होने पर भी उसका इलाज नहीं करते; मेरा स्वभाव चिदानन्द है, उसका आश्रय जिन्हें वर्तता है, उन्हें शरीर का आश्रय नहीं होता है; इसलिए शरीर में रोग आता है तो उसकी दवा नहीं कराते हैं। उन्हें तो आत्मा की लगन लगी है; शरीर की लगन छूट गयी है।

मुनिराज, मुँह नहीं धोते, वे शरीर का संस्कार नहीं करते, भोजन-शय्यादि की वाँछा नहीं करते, सोने की जगह अच्छी हो तो ठीक - ऐसी इच्छा मुनिराज को नहीं होती, ऐसी सन्त-मुनि की दशा होती है। उसके बदले अभी तो मुनि के और केवली के स्वरूप को बहुत तरह से विकृत कर दिया है। अज्ञानियों ने केवली के नाम से शास्त्र लिखे हैं, उनमें केवली को समुद्घात होने के बाद मोक्ष में जाना है, उससे पहले पाट आदि गृहस्थ को वापस सौंप देते हैं - ऐसा मूलपाठ है। उन्होंने केवली को रागी जीव की तरह मान लिया है। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि को भी वस्त्र-पात्रादि नहीं होते तो केवली को वे हों, ऐसा तो होता ही नहीं। भगवान का नाम देकर बहुत न्याय विरुद्ध कहा है। **सनातनमार्ग तो एक नग्न दिगम्बर मुनि का है, उसके अतिरिक्त दूसरा सत्यमार्ग है ही नहीं।**

देखो, यह बात इतनी अधिक स्पष्ट आयी है, उसका कारण यह है कि बहुत से जिज्ञासु जीव इस बात को ठीक से समझ कर तैयार हो गये हैं। अब मिथ्या बात चल सके - ऐसा नहीं है। मुनिराज को शरीर के प्रति भी ममता नहीं होती तो फिर बाहर के शत्रु या मित्र के प्रति राग -द्वेष होते हैं - ऐसा तो होता ही नहीं है।

अधिक क्या कहें ? देह में भी ममत्वरहित होते हैं, उन्हें कायोत्सर्गतप होता है। मुनिराज कायोत्सर्ग करते हैं, तब उन्हें बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार का परिग्रह छूट गया होता है और

मात्र अपने ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा में उपयोग लगाते हैं। राग-द्वेषरहित होकर शुद्ध उपयोग में लवलीन होते हैं, उस समय भले ही अनेक प्रकार के उपसर्ग आयें तथा कोई शरीर को काट जाए, रोग आये, फिर भी वे स्वरूप से चलित नहीं होते। कोई शरीर पर चन्दन लगाये तो राग नहीं होता और शरीर को कोई उपसर्ग करे तो उसके प्रति मुनिराज को द्वेष नहीं होता। इस प्रकार किसी से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करते, उन्हें कायोत्सर्गतप होता है। ●●

आनन्दादि ऋद्धियों का प्रगट वेदन

जैसे आत्मा अपने ज्ञान और आनन्दादि त्रैकालिक स्वभाव से शून्य नहीं है और जैसे केवली भगवान केवलज्ञानादि स्वभावचतुष्टय से शून्य नहीं हैं, वैसे ही साधकसन्त स्वसम्वेदन के समय पर्याय में बुद्धिपूर्वक के रागशून्य होने पर भी वहाँ सर्वथा शून्यता नहीं है, किन्तु जागृतरूप से आनन्दादि अलौकिक ऋद्धियों का अत्यन्त स्पष्टरूप वेदन है। जैसे राग का अर्थात् पुण्य और पाप का वेदन प्रत्यक्ष है, वैसे ही राग से भिन्न हुए मुनिराज को तथा सम्यग्दृष्टि को अनुभवकाल में स्वभाव का सम्वेदन प्रत्यक्ष है; वह आनन्द और शान्ति से रिक्त नहीं है - शून्य नहीं है।

अहा! जहाँ पर्याय में अलौकिक चैतन्यऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट सम्वेदन है, प्रभु! वहाँ तू जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। जैसे बाह्य में लक्ष्य करने से राग के तथा विकार के दर्शन होते हैं, वैसे ही अन्तर में जाने पर तुझे आनन्दकन्द ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। अहा! ऐसी बात है। सच्चे मुनि हों या सम्यग्दृष्टि हों-सबके लिये यह एक ही बात है।

— ***वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७९***

गाथा ४६७

जो देहधारणपरो, उवयरणादिविसेससंसत्तो।
बाहिरववहाररओ, काओसग्गो कुदो तस्स॥

तन में रहे अनुरक्त अरु, आसक्त उपकारणादि में।
बाह्य में रत रहे, कैसे उसे कायोत्सर्ग हो॥

अन्वयार्थ : [जो देहधारणपरो] जो मुनि, देह का पालन करने में तत्पर हो, **[उवयरणादीविसेससंसत्तो]** उपकरणादि में विशेष संसक्त हो **[बाहिरववहाररओ]** और बाह्य व्यवहार (लोकरंजन) करने में रत हो (तत्पर हो), **[तस्स काओसग्गो कुदो]** उसके कायोत्सर्गतप कैसे हो ?

गाथा ४६७ पर प्रवचन

जो मुनि, देह के पालन में तत्पर हों, उपकरण आदि में विशेष आसक्त हों, लोकरंजन करने के लिए बाह्य व्यवहार में लीन हों / तत्पर हों, उन्हें कायोत्सर्गतप कैसे होगा ? इसलिए जिसे आत्मा की ओर लीनता नहीं है किन्तु पर में तत्परता है, उसे कायोत्सर्गतप नहीं होता है।

जो मुनि, बाह्य व्यवहार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि, ईर्यासमिति आदि क्रियाओं में (जिनसे लोग जानें कि यह मुनि है) तत्पर हो, देह का आहारादिक से पालन करना, उपकरणादि का विशेष सँवारना (सजाना), शिष्यजनों से बहुत ममत्व रखकर प्रसन्न होना-इत्यादि में लीन हो और अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव जिसके नहीं है, उसमें कभी लीन होता ही नहीं है। यदि कायोत्सर्ग भी करता है तो खड़े रहना आदि बाह्य विधान कर लेता है, उसके कायोत्सर्गतप नहीं होता है। निश्चय के बिना बाह्यव्यवहार निरर्थक है।●●

गाथा ४६८-४६९

अब, ध्यान का लक्षण तथा शुभ-अशुभ ध्यान के नाम एवं उनका स्वरूप कहते हैं —

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
ज्झाणं भण्णदि समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं॥

असुहं अट्ट रउद्दं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि।
अट्टं तिव्वकषायं, तिव्वतमकसायदो रुद्दं॥

अन्तर्मुहरत के लिए हो, लीन मानस ज्ञान जो।
सिद्धान्त में हैं ध्यान कहते, शुभ अशुभ हैं भेद दो पद॥

आर्त रौद्र अशुभ कहे, शुभ और शुभतर धर्म शुक्ल।
आर्त तीव्र कषाय से अरु रौद्र भी है तीव्रतम॥

अन्वयार्थ : [माणसं णाणं वत्थुम्मि अंतो मुहुत्तमेत्तं लीणं] जो मन सम्बन्धी ज्ञान, वस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र लीन होता है (एकाग्र होता है), वह **[समए ज्झाणं भण्णदि]** सिद्धान्त में ध्यान कहा गया है **[तं च असुहं सुहं च दुविहं]** और वह शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है।

[अट्टं रउद्दं असुहं] आर्तध्यान-रौद्रध्यान, ये दोनों तो अशुभध्यान हैं **[धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि]** और धर्मध्यान-शुक्लध्यान, ये दोनों शुभ और शुभतर हैं। **[अट्टं तिव्वकषायं]** इनमें आदि का आर्तध्यान तो तीव्रकषाय से होता है **[रुद्दं तिव्वतमकसायदो]** और रौद्रध्यान अति तीव्रकषाय से होता है।

भावार्थ : ध्यान, परमार्थ से ज्ञान का उपयोग ही है। जो ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय वस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र एकाग्र ठहरता है, वह ध्यान है। वह शुभ भी है और अशुभ भी है – ऐसे दो प्रकार का है।

गाथा ४६८-४६९ पर प्रवचन

देखो, यहाँ मन को ज्ञानवस्तु में जोड़ देने को ध्यान कहा है। ज्ञानवस्तु कहने से उसमें दूसरे भी गुण हैं – ऐसा गौणरूप से आ जाता है। ज्ञानवस्तु में रमणता करना, वह वास्तव में ध्यान है परन्तु ज्ञानस्वरूपी आत्मा को जाना ही न हो तो एकाग्रतारूपी ध्यान कहाँ से होगा? नहीं होगा। जैसे, पैसे की रुचिवाले को पैसा कमाने में विचार की एकाग्रता सीखना नहीं पड़ती, घण्टों-घण्टों तक उसमें वह एकाग्र हो जाता है, वह अशुभध्यान है। जिसकी जिसे रुचि होती है, उसकी उसे परम्परा चला करती है। इसी प्रकार आत्मा की रुचिवाले को आत्मा के विचारों की परम्परा चला करती है, वह ध्यान है।

जैसे कीड़ा, विष्टा की गोलियाँ घुमाया करता है क्योंकि उसमें उसे प्रेम है। इसी प्रकार संसार की रुचिवाला संसार के विचारों को घुमाया करता है। वह भी एक बुरा / अपध्यान है।

परमार्थ से ज्ञान का उपयोग ही ध्यान है, अर्थात् ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेयवस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र एकाग्र / स्थिर होता है, वह ध्यान है और वह शुभ तथा अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। जब आत्मा में एकाग्र होता है, तब व्यवहार से देवादि की श्रद्धा-भक्ति आदि का विकल्प है, उसे शुभभावरूपी ध्यान कहा जाता है परन्तु वास्तव में ज्ञान का उपयोग ही ध्यान है।

आर्त और रौद्र – ये दोनों तो अशुभध्यान हैं। संसार की विचारधारा, खाना-पीना, कमाना इत्यादि के भाव होते हैं, वह आर्त और रौद्रध्यान हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान, ये दोनों शुभ और शुभतर ध्यान हैं। उसमें पहला आर्तध्यान तो तीव्र कषाय से होता है तथा रौद्रध्यान, अति तीव्र कषाय से होता है। हिंसा आदि के भावों में आनन्द मानना, वह अति तीव्रकषाय होने से रौद्रध्यान है। मुनिराज को रौद्रध्यान नहीं होता है। पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता है परन्तु वह मिथ्यादर्शनपूर्वक नहीं होता है।●●

गाथा ४७०

मंदकषायं धम्मं, मंदतमकसायदो हवे सुक्कं।
अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि॥

धर्म मन्दकषाय है अरु शुक्ल है मन्दतम कषाय।
अकषाय हो तो शुक्ल, ध्यानी केवली पर्यन्त हो॥

अन्वयार्थ : [धम्मं मंदकषाय] धर्मध्यान, मन्दकषाय से होता है; **[सुक्कं मंदतमकसायदो हवे]** शुक्लध्यान, अत्यन्त मन्दकषाय में होता है, श्रेणी चढ़नेवाले महामुनि के होता है **[अकसाए वि सुयड्ढे वि तं होदि]** और वह शुक्लध्यान, कषाय का अभाव होने पर श्रुतज्ञानी, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, केवलीज्ञानी, सयोगी तथा अयोगी जिनके भी होता है।

भावार्थ : धर्मध्यान में तो व्यक्तरागसहित पञ्च परमेष्ठी तथा दशलक्षणस्वरूप धर्म और आत्मस्वरूप में उपयोग एकाग्र होता है; इसलिए इसको मन्दकषायसहित है – ऐसा कहा है। शुक्लध्यान के समय उपयोग में व्यक्तराग तो नहीं होता और अपने अनुभव में न आवे, ऐसे सूक्ष्मरागसहित श्रेणी चढ़ता है, वहाँ आत्मपरिणाम उज्ज्वल होते हैं; अतः शुचिगुण के योग से शुक्ल कहा है। इसको मन्दतम कषाय, अर्थात् अत्यन्त मन्दकषाय से होता है, ऐसा कहा है तथा कषाय का अभाव होने पर होता है – ऐसा भी कहा है।

गाथा ४७० पर प्रवचन

बारह प्रकार के तप में अन्तिम ध्यानतप किसे कहना – यह कहते हैं। यह उत्कृष्ट में उत्कृष्ट तप है। तप की व्याख्या, मात्र रोटी नहीं खाना, वह नहीं है परन्तु आत्मा स्वतन्त्र

ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है – ऐसा निर्णय होने के बाद, अन्तर में एकाग्र होने से जो उज्ज्वलतारूप परिणाम होते हैं, उसे भगवान तप कहते हैं और उस समय विकल्प होता है, उसे व्यवहारतप कहते हैं। आत्मा की लीनता में विशेषा उग्रता होती है, वह धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूपी तप है।

धर्मध्यान, मन्दकषाय से होता है, अर्थात् मन्दकषाय स्वयं धर्मध्यान नहीं है परन्तु आत्मा, चिदानन्द ज्ञायक है, उसकी दृष्टि और एकाग्रता की भूमिका में मन्दकषाय का विकल्प होता है, उसे व्यवहार से धर्मध्यान कहा जाता है और जब महामुनि श्रेणी चढ़ते हैं, तब आठवें गुणस्थान में आत्मा में विशेष उग्रता होने पर शुक्लध्यान होता है। उस समय उन्हें अतिशय मन्द कषाय होती है; इसलिए शुक्लध्यान अति मन्दकषाय से होता है, ऐसा कथन उपचार से किया गया है।

वस्तुतः तो शुद्धि की वृद्धि होना ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। कषाय का अभाव होने पर श्रुतज्ञानी, उपशान्तकषायी (और) क्षीणकषायी तथा केवलज्ञानी, सयोगकेवली और अयोगकेवली को भी शुक्लध्यान कहते हैं। संसार के काम में तो मात्र आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है क्योंकि उसमें मात्र आकुलता के भाव होते हैं और पुण्य-पापरहित आत्मा चैतन्यबिम्ब है, उसकी महिमा और माहात्म्य आकर लीनता होती है, वह धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। उसमें जितनी शुद्धि की वृद्धि होती है, उसके पाँच प्रकार हैं, उन पाँचों में ही कषाय का अभाव होता है।

पञ्च परमेष्ठी तथा दशलक्षणस्वरूप धर्म और आत्मस्वरूप में उपयोग एकाग्र होता है; इसलिए इसको मन्दकषायसहित है – ऐसा कहा है। शुक्लध्यान के समय उपयोग में व्यक्तराग तो नहीं होता और अपने अनुभव में न आवे – ऐसे सूक्ष्मरागसहित श्रेणी चढ़ता है, वहाँ आत्मपरिणाम उज्ज्वल होते हैं। जिसे पञ्च परमेष्ठी की पहचान नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है क्योंकि यह वीतराग का मार्ग है; किसी ऐरे-गैरे का मार्ग नहीं है। सर्वज्ञ भगवान देवादिदेव केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि के अनुसार पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप है। अठारह दोषरहित अरहन्त का स्वरूप है और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का उपयोग एक समय में एक साथ अरहन्त तथा सिद्ध को होता है और अन्तिम शरीर से किञ्चित न्यून अवगाहना सिद्ध की होती है। जैनमार्ग में मुनियों का स्वरूप नग्न दिगम्बर ही होता है। मुनिराज सिंहवृत्तिवान होते हैं, ऐसे

– पञ्च परमेष्ठी को पहचानकर, आत्मा का निर्णय करके (आत्मस्वरूप) लीनता करनेवाले को धर्म होता है।

सनातनधर्म की विधि क्या है? अनादि की कैसी रीति है? उसकी पहचान करना चाहिए। मुनिराज को दशलक्षण धर्म होता है, उन्हें पञ्च परमेष्ठी की भक्ति आदि का विकल्प होता है, वह मन्दकषाय है, उसे व्यवहार से धर्मध्यान कहते हैं। अज्ञानी को ऐसी मन्दकषाय नहीं होती है। इस सत् की एक बार हाँ करे तो हाँ की आदत पड़ने से हालत बदल जाएगी। ना यदि करेगा तो उसमें से हाँ नहीं आयेगी।

आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है, वहाँ राग है, वह ख्याल में नहीं आता, अर्थात्, (ज्ञानगोचर नहीं होता); इसलिए सूक्ष्म राग को व्यवहार से शुक्लध्यान कहा है।

देखो, इस बात को समझनेवाले बहुत थोड़े होते हैं। जवाहरात और स्वर्ण के खरीदनेवाले कम होते हैं, इससे कहीं स्वर्ण या जवाहरात की कीमत कम है – ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि धर्म को समझनेवाले हमेशा कम होते हैं, तथापि सत् तो सत् ही रहता है। बहुतों को यह बात सुनकर ऐसा लगा है कि इसका प्रचार सौराष्ट्र से बाहर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में होना चाहिए; इसलिए अब (गुरुदेव का) विहार हो तो अच्छा। इस प्रकार गुजरात और हिन्दुस्तान में से माँग आती है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि स्वयं तो पहले समझो। दूसरे आत्माएँ धर्म प्राप्त करें, उसमें इस आत्मा को क्या लाभ है? संख्या बढ़े, उसके साथ आत्मा के धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए सर्व प्रथम आत्मा को समझे तो फिर उसमें लीन होने पर, धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रगट होते हैं। ●●

दिगम्बर सन्तों का अद्भुत कार्य

अहो! ऐसा मार्ग वीतराग के सिवा अन्यत्र कहीं है नहीं; वह भी दिगम्बर सन्तों द्वारा कहा गया मार्ग ही परम सत्य है। अहा! दिगम्बर सन्तों ने अद्भुत कार्य किया है। जिनके एक-एक शब्द में, एक-एक श्लोक में गम्भीरता... गम्भीरता... गम्भीरता। भाई! गहनता इतनी है कि वह ऊपरी दृष्टि से दिखनेवाली वस्तु नहीं है। — ***वचनामृत प्रवचन, २/६५***

गाथा ४७१-४७२

अब, आर्तध्यान को कहते हैं —

दुक्खयर-विसयजोए, केम इमं चयदि इदि विचिंतंत्तो।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो, अट्टं ज्झाणं हवे तस्स॥
मणहरविसयविओगे, कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो।
संतावेण पयट्टो, सो च्चिय अट्टं हवे ज्झाणं॥

दुःखमय विषय संयोग हो, किस विधि टले यह चिन्तवे।
विक्षिप्त चित चेष्टा करे जो, आर्तध्यान कहा उसे॥
मनहर विषय वियोग हो, किस विधि मिले यह चिन्तवे।
सन्तापमय वर्तन करे, तो आर्तध्यान का उसे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष **[दुक्खयरविसयजोए]** दुःखकारी विषय का संयोग होने पर **[इदि विचिंतंत्तो]** ऐसा चिन्तवन करे कि **[इमं केम चयदि]** यह मेरे कैसे दूर हो? **[विक्खत्तो चेट्ठदि]** और उसके संयोग से विक्षिप्तचित्त होकर चेष्टा करे, रुदनादि करे, **[तस्स अट्टं ज्झाणं हवे]** उसके आर्तध्यान होता है। **[जो मणहरविसयविओगे]** जो मनोहर विषय सामग्री का वियोग होने पर **[इदि वियप्पो]** ऐसा चिंतवन करे कि **[तं कह पावेमि]** उसको मैं कैसे पाऊँ? **[संतावेण पयट्टो]** उसके वियोग से संतापरूप (दुःखस्वरूप) प्रवृत्ति करे, **[सो च्चिय अट्टं ज्झाणं हवे]** वह भी आर्तध्यान है।

भावार्थ : आर्तध्यान, सामान्यता तो दुःख क्लेशरूप परिणाम है। उस दुःख में लीन रहने पर अन्य कुछ चेत (ज्ञान) नहीं रहता है। यह दो प्रकार का है। पहले में तो दुःखदाई

सामग्री का संयोग होने पर उसको दूर करने का ध्यान रहता है। दूसरे में इष्ट (सुखदाई) सामग्री का वियोग होने पर उसके मिलने का चिन्तवन (ध्यान) रहता है, वह आर्तध्यान है। अन्य ग्रन्थों में इसके चार भेद कहे गये हैं – इष्टवियोग का चिन्तवन, अनिष्टसंयोग का चिन्तवन, पीड़ा का चिन्तवन, निदानबन्ध का चिन्तवन। यहाँ दो भेद कहे, उनमें ही ये सब गर्भित हो जाते हैं। अनिष्टसंयोग के दूर करने में तो पीड़ा का चिन्तवन आ गया और इष्ट के मिलने की वाँछा में निदानबन्ध आ गया। ये दोनों ध्यान, अशुभ हैं, पापबन्ध करते हैं; धर्मात्मा पुरुषों के त्यागने योग्य हैं।

गाथा ४७१-४७२ पर प्रवचन

जो पुरुष, दु:खकारी विषयों का संयोग होने पर ऐसा चिन्तन करता है कि यह मुझसे किस प्रकार दूर होंगे? उनके संयोग से विक्षिप्त चित्तवाला होता हुआ चेष्टा करता है तथा रुदन इत्यादि करता है, उसे आर्तध्यान होता है।

शरीर में रोग आये, लड़का मर जाए, लड़की विधवा हो जाए, मकान में आग लग जाए, दबा हुआ धन कोयला हो जाए, इत्यादि प्रतिकूल संयोगों में चिन्ता करे कि यह कब दूर होंगे? इस प्रकार पर को हटाने का भाव, वह मिथ्यादृष्टि का आर्तध्यान है और उस समय ज्ञानी को भी कमजोरी के कारण ऐसा भाव हुआ तो वह भी आर्तध्यान है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के आर्तध्यान में अन्तर है क्योंकि मिथ्यादृष्टि, संयोग को बदलना चाहता है और ज्ञानी कमजोरी के कारण, यह भाव हुआ है – ऐसा जानता है। ज्ञायक की मुख्यता रखकर वह भाव हुआ है, फिर भी वह आर्तध्यान है। मिथ्यादृष्टि, संयोग को बदलकर दु:ख मिटाना चाहता है परन्तु दु:ख, संयोग से नहीं हुआ है; दु:ख तो स्वयं ने खड़ा किया है। प्रतिकूलता के संयोग में आफत आयी – ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु संयोग में आफत नहीं है; स्वयं संयोग के कारण आफत मानता है, वही बड़ी आफत और दु:ख है। इस प्रकार ऐसा मान-प्रतिष्ठा, शरीर इत्यादि की चिन्ता करना, वह सब आर्तध्यान है।

जो मनोहर / प्रिय सामग्री का वियोग होने पर इस प्रकार चिन्तन करता है कि उसे अब मैं किस प्रकार प्राप्त करूँ? इस प्रकार उसके वियोग से सन्तापरूप, अर्थात् दु:खरूप प्रवर्तता है, वह भी आर्तध्यान है। प्रिय स्त्री मर जाए, मान-प्रतिष्ठा चली जाए, पैसा चला जाए तो उस

समय उसे प्राप्त करने की चिन्ता करना भी आर्तध्यान है। गहने गुम गये हों, घड़ी गुम गयी हो, अच्छी मोटर चोरी हो गयी हो, अच्छा घोड़ा मर गया हो, उस समय अज्ञानी उस इष्ट वस्तु के वियोग के कारण दु:ख मानता है। ज्ञानी को भी निर्बलता के कारण चिन्तवन होता है परन्तु उन दोनों के आर्तध्यान में अन्तर है। पुत्री मर जाए और कुछ नुकसान होता है तो कलेजे में तेल डाला हो ऐसा दु:खी होता है। अज्ञानी को बहुत कठोर लगता है; ज्ञानी को इतना नहीं लगता है। अज्ञानी, बाहर में सोचा हुआ नहीं होवे तो अफीम खाता है। प्रतिकूल संयोग में वह सहन नहीं कर सकता। अनन्त भवों में नरक-निगोद में पराधीनता से दु:ख सहन किया है परन्तु वह सब आर्तध्यान-रौद्रध्यान है।

सामान्यरूप से क्लेशरूप परिणाम आर्तध्यान है, वह दु:ख में ऐसा लीन रहता है कि दूसरी कोई चेतनता ही नहीं रहती। उस आर्तध्यान के दो प्रकार हैं - (१) अनिष्ट सामग्री को हटाने का भाव, (२) इष्ट सामग्री को प्राप्त करने का भाव। दूसरे ग्रन्थों में आर्तध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं - (१) इष्ट वियोग का चिन्तवन, (२) अनिष्ट संयोग का चिन्तवन, (३) निदानबन्ध चिन्तवन, (४) पीड़ा का चिन्तवन। इनमें से पीड़ा का चिन्तवन, अनिष्ट संयोग दूर करने में आ जाता है और इष्ट को प्राप्त करने में निदानबन्ध आ जाता है - ये दोनों अशुभ हैं, पापबन्ध करनेवाले हैं; इसलिए उन्हें धर्मात्मा पुरुषों को त्यागना योग्य है।

यहाँ मिथ्यादृष्टि के आर्तध्यान की बात है। वह उस आर्तध्यान में स्वभाव को भूल जाता है; इसलिए चेतनता जरा भी नहीं रहती है - ऐसा कहा है। प्रतिकूल संयोगों में आत्मा की जागृति चूककर दु:ख की लार को लम्बाया करता है, वह अकेला दु:ख ही भोगता है। जिसकी सत्ता में प्रतिकूलता दिखती है, वह सत्तावान आत्मा है। उसकी श्रद्धा और ज्ञान किये बिना, शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए आत्मा का विचार करना कि चैतन्य भगवान की सत्ता और भगवान सिद्ध की सत्ता, एक प्रकार की है।

कोई कहता है कि वह आर्तध्यान का काल था; इसलिए आर्तध्यान हुआ है तो कहते हैं कि यह बात सत्य है परन्तु जिसे स्वभावदृष्टि होती है, वह स्वभाव को चूकता नहीं है; वह आर्तध्यान को भलीभाँति जानता है। बात तो क्रमबद्ध के अनुसार ही है परन्तु उसका निर्णय करनेवाले की दृष्टि कहाँ पड़ी है ? आर्तध्यान का काल तो एक समय का है; द्रव्य का काल

त्रिकाल है, उसमें द्रव्यदृष्टिवाले को मिथ्यादृष्टि जैसा आर्तध्यान नहीं होता है क्योंकि वह संयोग के कारण आर्तध्यान होता है – ऐसा नहीं मानता है और आर्तध्यान, स्वभाव में नहीं है। जिसे ऐसा भेदज्ञान वर्तता है, वह आर्तध्यान के काल में आर्तध्यान होता है – ऐसा यथार्थ जानता है।

बहुत से लोग क्रमबद्ध को नहीं जानते और उसका निर्णय नहीं है, वे ऐसा कहते हैं कि क्रमबद्ध के अनुसार होता है तो कुदेवादिक की श्रद्धा होवे तो क्या आपत्ति है? चाहे जैसा अशुभभाव होवे तो क्या आपत्ति है? क्योंकि वह सब क्रमबद्ध है – ऐसे स्वच्छन्द में वर्तते हैं परन्तु वे क्रमबद्ध को नहीं समझे हैं और कहते हैं कि भगवान ने देखा है (वैसा होगा)। इस सम्प्रदाय में आये हैं तो इसे किसलिए बदलना पड़ेगा? पूर्वकर्म के कारण से सब है, इसलिए शीघ्रता नहीं करना चाहिए और पुरुषार्थ करना – ऐसा शास्त्र में नहीं कहा है परन्तु प्रमाद नहीं करना – ऐसा कहा है.... इस प्रकार शास्त्र के शब्दों का विपरीत अर्थ करते हैं। गजब बात है! उस मूल बात को चूक जाते हैं। केवली के मार्ग में उल्टा-सीधा नहीं चल सकता। विपरीत अर्थ करके कुदेवादिक की श्रद्धा नहीं छोड़े और विपरीत अर्थ निकाले तो वह क्रमबद्ध को नहीं समझता है। वीतराग का मार्ग अकेले पुरुषार्थ का मार्ग है। क्रमबद्ध के निर्णय में या केवली के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ है। जो होना है, वह होगा – ऐसा निर्णय कौन कर सकता है? जिसे निमित्त, व्यवहार की रुचि मिट गयी हो और स्वभाव की रुचि हुई हो, उसे सच्चा निर्णय होता है।

यह बात तो बहुत वर्ष पहले की है। सम्प्रदाय में भी ऐसे प्रश्न होते थे कि उपादान के ५१ प्रतिशत और निमित्त के ४९ प्रतिशत रखो, परन्तु दोनों के १००-१०० प्रतिशत हैं, यह बात उन्हें नहीं जमती है। यहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय में भी यह बात नहीं जमती है। पण्डित और त्यागियों में से भी यह बात आती है; इसलिए सब एक प्रकार के हैं, कोई नया नहीं है। वास्तव में तो विपरीतभाव करे, वह आत्मा का पुरुषार्थ है और सम्यक्भाव करे तो भी आत्मा का अपना पुरुषार्थ है। इसलिए आर्तध्यान में जो परिणाम होते हैं, उसमें आत्मा स्वयं पीड़ित होता है। वह ध्यान त्यागने योग्य है, अर्थात् स्वसन्मुख होने पर वह ध्यान छूट जाता है, उसे छोड़ना तो व्यवहार का कथन है। पाठ तो 'छोड़ना' – ऐसा है परन्तु वह तो उपदेश का वाक्य है। ●●

गाथा ४७३

अब, रौद्रध्यान को कहते हैं —

हिंसाणंदेण जुदा, असच्चवयणेण परिणदो जो दु।
तत्थेव अथिरचित्तो, रुद्दं ज्झाणं हवे तस्स॥

हिंसा करे आनन्द से, बोले असत्यवचन सदा।
विक्षिप्त चित वर्ते इन्हीं में, रौद्रध्यान उसे कहा॥

अन्वयार्थ : [जो हिंसाणंदेण जुदो] जो पुरुष, हिंसा में आनन्दयुक्त होता है **[असच्चवयणेण परिणदो दु]** तथा असत्यवचन से प्रवृत्ति करता रहता है **[तत्थेव अथिरचित्तो]** और इन्हीं में विक्षिप्तचित्त बना रहता है, **[तस्स रुद्दं ज्झाणं हवे]** उसके रौद्रध्यान होता है।

भावार्थ : हिंसा (जीवों का घात) करके अति हर्ष माने, शिकार आदि में आनन्द से प्रवृत्ति करे, दूसरे के विघ्न हो, तब अति सन्तुष्ट (प्रसन्न) हो और झूठ बोलकर अपने को प्रवीण माने, दूसरे के दोषों को निरन्तर देखे, कहे और उसमें आनन्द माने; इस तरह ये रौद्रध्यान के दो भेद हैं।

गाथा ४७३ पर प्रवचन

अब, रौद्रध्यान का स्वरूप कहते हैं।

जो पुरुष, हिंसा में आनन्दयुक्त होता है; असत्यवचनरूप परिणमित होता रहता है, अर्थात् वहाँ ही विक्षिप्त रहता है, उसे रौद्रध्यान होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों को मारने का भाव करके प्रसन्न-प्रसन्न होता है, वह मिथ्यादृष्टि को अज्ञानपूर्वक हुआ

रौद्रध्यान है और ज्ञानी को चारित्र के दोष के कारण होता है, उसे भी रौद्रध्यान कहते हैं।

जीवघात करना, हिंसा है, वह करके जो अत्यन्त हर्ष मानता है; शिकारादि में अत्यन्त आनन्द से प्रवर्तन करता है; पर को विघ्न होने पर अति सन्तुष्ट होता है; झूठ वचन बोलकर, उसमें स्वयं की प्रवीणता मानता है और निरन्तर पर के दोष देखा करता है, कहा करता है और उसमें आननद मानता है, वह सब रौद्रध्यान है। ●●

सन्तों ने किया है गजब का काम

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे; उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा कार्य किया है और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने अजब-गजब का काम किया है। अहो! आकाशवत् निरालम्बी मुनिराज तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। उनकी वाणी निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके निकलती है। ऐसे वीतरागी सन्तों का परम हितोपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊर्ध्व ले जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी का पहला कर्तव्य है।

अहा! सुख के सागर दिगम्बर सन्तों को देखते ही सर्वज्ञ की और जिनशासन की प्रतीति हो जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य की क्या बात! उन्होंने तो तीर्थङ्करदेव और केवली भगवन्तों को साक्षात् देखा और समयसार, प्रवचनसार इत्यादि में समस्त श्रुत का रहस्य संग्रहीत करके आत्मा का साक्षात्कार कराया है। सन्त भगवन्तों द्वारा कथित श्रुत/शास्त्र अतीन्द्रिय आत्मसुख की रुचि कराकर बाह्य विषयों से विरक्त कराता है।

नमस्कार हो, श्रुत और श्रुत प्रकाशक सन्तों को। — *रत्नसंग्रह, पृष्ठ ११*

गाथा ४७४

अब, (रौद्रध्यान के) दो भेद और कहते हैं —

परविसयहरणसीलो, सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो।
तग्गयचिंताविट्ठो, णिरंतरं तं पि रुद्दं पि॥

पर–वस्तु ग्रहण स्वभाव हो, निज वस्तु रक्षण दक्ष हो।
चित्त हो लवलीन इनमें, रौद्रध्यान उसे कहो॥

अन्वयार्थ : [परविसयहरणसीलो] जो पुरुष, दूसरे की विषय–सामग्री को हरण करने के स्वभावसहित हो, **[सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो]** अपनी विषयसामग्री की रक्षा करने में प्रवीण हो, **[तग्गयचिंताविट्ठो णिरंतरं]** इन दोनों कार्यों में निरन्तर चित्त को लवलीन रखता हो, **[तं पि रुद्दं पि]** उस पुरुष के यह भी रौद्रध्यान ही है।

भावार्थ : दूसरे की सम्पत्ति को चुराने में प्रवीण हो, चोरी करके हर्ष माने तथा अपनी विषय–सामग्री को रखने का अति यत्न करे और उसकी रक्षा करके आनन्द माने – ऐसे ये दो भेद रौद्रध्यान के हुए। इस तरह से यह चारों भेदरूप रौद्रध्यान, अतितीव्र कषाय के योग से होता है, महापापरूप है, महापापबन्ध का कारण है; इसलिए धर्मात्मा पुरुष, ऐसे ध्यान को दूर ही से छोड़ देते हैं। जितने जगत में उपद्रव के कारण हैं, वे सब रौद्रध्यानयुक्त पुरुष से बनते हैं क्योंकि जो पाप करके हर्ष (सुख) मानता है, उसको धर्म का उपदेश भी नहीं लगता है; वह तो अति प्रमादी होकर अज्ञानी पाप ही में मस्त रहता है।

गाथा ४७४ पर प्रवचन

यह ध्यान का अधिकार है। संसार और मोक्ष, दोनों ध्यान से होते हैं। विकार की और

पर की एकाग्रता से संसार है और आत्मा चिदानन्द है – ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूपी एकाग्रता से मोक्ष होता है। चिदानन्द की एकाग्रता, वह मोक्षमार्ग है और उसका फल, मोक्ष है। संसार का ध्यान, परलक्ष्यी है और मोक्ष का ध्यान, स्वलक्ष्यी है। हिंसादि में आनन्द मानना, रौद्रध्यान है और आत्मा को चूककर इष्ट–वियोग तथा अनिष्ट–संयोग में परलक्ष्यी चिन्तवन होता है, वह आर्तध्यान है। रौद्रध्यान के दो भेदों की बात हो गयी है। अब, दूसरे दो भेदों की बात करते हैं।

आत्मा, पर की सामग्री का हरण नहीं कर सकता और अपनी सामग्री को रख नहीं सकता, फिर भी उसमें आनन्द मानना, वह मिथ्यादृष्टि का रौद्रध्यान है। यहाँ दो बातें की हैं – एक चोरी करने का भाव और रक्षा करने का भाव – इन दोनों भाव में तल्लीन है, वह रौद्रध्यान है और उससे संसार में भटकता है। कोई चोरी कर सकता है या परवस्तु की रक्षा कर सकता है, उसकी बात नहीं है परन्तु ऐसा भाव करता है कि मैं हूँ तो रक्षा होती है – ऐसी लीनता में चिदानन्द की लीनता चूक जाता है। पैसा कैसे बढ़े, और कैसे नहीं घटे? इसका चिन्तवन, वह पाप है, फिर भी यह मानता है कि मैंने अच्छा काम किया है, वह रौद्रध्यान है।

अज्ञानी, पाप के परिणाम करके आनन्द मानता है; ज्ञानी, आनन्द नहीं मानता है। हम होशियार थे और चतुराई की तो यह बाहर की व्यवस्था ठीक हुई – ऐसा मानकर जो प्रसन्न होता है, वह धर्म का उपदेश सुनने योग्य भी नहीं है। पैसे की, मान–प्रतिष्ठा की, मोटर की, घोड़ागाड़ी की, मकान इत्यादि की व्यवस्था में आनन्द मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह जीव – 'आत्मा, पुण्य–पाप से रहित है और जगत् की वस्तुओं का आत्मा कुछ नहीं कर सकता' – इस बात को सुनने के योग्य नहीं है। पाँच इन्द्रिय के विषय कैसे रहें? – उसका चिन्तवन करना, वह रौद्रध्यान है। ऐसे रौद्रध्यानी पुरुष, उपद्रव के निमित्त होते हैं। पैसा कैसे रखना और कैसे देना? उसकी व्यवस्था मेरे अतिरिक्त दूसरों को नहीं आती – ऐसा अभिमान करनेवाले जीवों को धर्मोपदेश नहीं लगता है। आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; देह की क्रिया ही तुझसे नहीं होती – यह बात उसे नहीं जमती है। मूर्ख, मूर्खाई करके मूर्खता में आनन्द मानता है। वह अचेतन जड़ जैसा हो गया होने से, उसे धर्म की बात नहीं जँचती

है। मूढ़ जैसा होकर पर में मस्त हो गया है। पर में एकाग्र होकर पर का रक्षण करने की ही जिसे बुद्धि है, वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान करके होशियारी मानता है, वह मिथ्यादृष्टि और पापी है। यहाँ ज्ञानी को कमजोरी के कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, उसकी बात नहीं ली है। ज्ञानी को (आत्मस्वभाव की) डोर हाथ में होने से मिथ्यादृष्टि की तरह आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं होता है।●●

धीर... गुण-गम्भीर मुनिराज

सन्त मुनिराज धीर और गुण-गम्भीर हैं। चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य बल को क्षण में पराजित कर दें, ऐसे ऋद्धि का बल प्रगटा होने पर भी चैतन्य के परमानन्द के अनुभव की धुन में स्थित सन्तों को, उस ऋद्धि के प्रयोग के प्रति लक्ष्य ही नहीं जाता; घोर प्रतिकूलता आ पड़ने पर भी वे ऋद्धि का उपयोग नहीं करते। अहो! मुनिराज ऐसे धीर और गम्भीर हैं।

साधारण प्राणी तो किञ्चित् ऋद्धि प्राप्त होने पर भी उसे झेल नहीं सकता और किञ्चित् प्रतिकूलता आ पड़ने पर ही धैर्य से च्युत हो जाता है, परन्तु चैतन्य के साधक सन्त तो महाधीर और गम्भीर होते हैं। बाह्य में कैसी भी ऋद्धि प्रगट हो परन्तु मेरी चैतन्य ऋद्धि के समक्ष उसकी क्या महिमा? और बाहर में कैसी भी प्रतिकूलता का ढेर आवे परन्तु मेरे चैतन्य में उसका प्रवेश नहीं है। मेरी साधना में, प्रतिकूलता उत्पन्न करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है; इस प्रकार जानते हुए धर्मात्मा, चैतन्य के अवलम्बन से घोर उपसर्ग को भी जीत लेते हैं। इस प्रकार वे धीर और गुण-गम्भीर हैं।

ऐसे गुण-गम्भीर सन्तों को भक्ति क्रिया में कुशल ऐसे हम, भव-दु:ख के अभाव के लिए पूजते हैं। *— रत्न संग्रह, पृष्ठ ४१*

गाथा ४७५

अब, धर्मध्यान को कहते हैं —

विण्णि वि असुहे ज्झाणे, पावणिहाणे य दुक्खसंताणे।
तम्हा दूरे वज्जह, धम्मे पुण आयरं कुणह॥

आर्त रौद्र अशुभ सदा, अरु पापमय दु:ख जनक हैं।
अतः छोड़ो दूर से, अरु धर्म का आदर करो॥

अन्वयार्थ : [विण्णि विज्झाणे असुहे] हे भव्यजीवों! आर्त और रौद्र ये दोनों ही ध्यान, अशुभ हैं, **[पावणिहाणे य दुक्खसंताणो]** (इन्हें) पाप के निधान और दु:ख की सन्तान **[तम्हा दूरे वज्जह]** जानकर दूर ही से छोड़ो **[पुण धम्मे आयरं कुणह]** और धर्मध्यान में आदर करो।

भावार्थ : आर्त-रौद्र, दोनों ही ध्यान अशुभ हैं तथा पाप से भरे हैं और दु:ख ही की सन्तति इनसे चलती है; इसलिए इनको छोड़कर, धर्मध्यान करने का श्रीगुरु का उपदेश है।

गाथा ४७५ पर प्रवचन

अब, धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं।

हे भव्य प्राणियों! यह दोनों - आर्त और रौद्रध्यान, अशुभ हैं। इन्हें पाप के निधानरूप, और दु:ख के सन्तानरूप जानकर दूर से ही त्याग करो तथा धर्मध्यान का आदर करो। हिंसा आदि के पाप करके उनमें आनन्द मानना तो मिथ्यात्वरूपी पाप की खान है और चिदानन्द आत्मा, आनन्द की खान है। उसे भूला, इसलिए आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, वह पाप का निधान है। आनन्द का ध्यान, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है; इसलिए हे भव्य प्राणी! तू उस धर्मध्यान का आदर कर और आर्त-रौद्रध्यान को छोड़।

आर्त और रौद्रध्यान अशुभ हैं, पाप से परिपूर्ण हैं और उनमें दु:ख की परम्परा चलती है; इसलिए उनका त्याग करके धर्मध्यान करने का श्रीगुरुओं का उपदेश है। कोई कहता है कि अभी पैसा इकट्ठा कर लें तो फिर निश्चिन्तता से धर्म होगा।....किन्तु यह बात मिथ्या है। सातवें नरक में तैतीस सागर की स्थिति में पानी की बूँद या अन्न का दाना भी नहीं मिलता, इतने प्रतिकूल संयोग हैं, फिर भी जीव वहाँ धर्म प्राप्त करते हैं। 'निर्धनता, दोष नहीं है और सधनता वह गुण नहीं है।' मैं निर्धन हूँ और धनवान हूँ – ऐसा भाव, वह दोष है और उसकी परम्परारूप वृत्ति में संसार है। बुद्धपुरुष, उस वृत्ति को छोड़ देते हैं। आत्मा, चिदानन्द है, उसकी श्रद्धा; ज्ञान और रमणतारूपी चिन्तवन करते हैं, वह धर्मध्यान है।●●

सन्तों ने खजाना खोल दिया

अहा! समयसार में सन्तों ने अनन्त शक्ति का खजाना खोल दिया... चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ खुल्ली करके बतायीं हैं। ऐसे चैतन्य खजाने को कौन नहीं लेगा? कौन जीव ऐसे निज निधान को नहीं देखेगा। श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं — हे जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभु! आपने केवलज्ञान प्रगट करके दिव्यध्वनि द्वारा जगत को अचिन्त्य चैतन्य निधान बताया है। ऐसा निधान बताया है कि मोक्षार्थी जीव उसके समक्ष विशाल राजपाट को तुच्छ तृणसम समझकर, उसे छोड़कर, मुनि होकर उस चैतन्य निधान को साधने के लिये वन में चल निकले।

अहा! तीर्थङ्करदेवों और सन्तों ने चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ दिखाकर निजवैभव का स्वानुभव कराया है। अरे जीवों! देखो रे देखो... अपने चैतन्य निधान को देखो, जिसे देखते ही अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित हो, ऐसा निधान तुम्हारे अन्तर में ही भरा है। स्वसन्मुख होकर उस आनन्द का स्वानुभव करो। *— रत्न संग्रह, पृष्ठ ५१*

गाथा ४७६

अब, धर्म का स्वरूप कहते हैं —

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

धर्म वस्तु स्वभाव, दशविध क्षमा-आदिक भावमय।
रत्नत्रय भी धर्म अरु, प्राणी दया भी धर्म है॥

अन्वयार्थ : [वत्थुसहावो धम्मो] वस्तु का स्वभाव, धर्म है। जैसे – जीव का स्वभाव, दर्शन–ज्ञानस्वरूप चैतन्यता, सो इसका यही धर्म है। **[खमादिभावो य दसविहो धम्मो]** दश प्रकार के क्षमादिक भाव, धर्म हैं। **[रयणत्तंयं य धम्मो]** रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्र) धर्म है **[जीवाणं रक्खणं धम्मो]** और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

भावार्थ : अभेदविवक्षा से तो वस्तु का स्वभाव, धर्म है। जीव का चैतन्यस्वभाव ही इसका धर्म है। भेदविवक्षा से दशलक्षण उत्तमक्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक, धर्म हैं। निश्चय से तो अपने चैतन्य की रक्षा, विभावपरिणतिरूप नहीं परिणमना है और व्यवहार से परजीव को विभावरूप, दु:ख–क्लेशरूप न करना; उसी का भेद, जीव का प्राणान्त न करना, वह धर्म है।

गाथा ४७६ पर प्रवचन

देखो, यह धर्म की व्याख्या करते हैं। स्वभाव तो त्रिकाल है और धर्म तो वर्तमान क्षणिक पर्याय है, फिर भी यहाँ त्रिकाल स्वभाव का निर्णय करके, उसमें ढलकर अभेद होता है; इसलिए स्वभाव को भी धर्म कहा है। समस्त आत्माओं का त्रिकाल स्वभाव तो है परन्तु वस्तुस्वभाव को धर्म क्यों कहा ? इसलिए कि पर की ओर का लक्ष्य छुड़ाकर, स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है – ऐसा बताकर वस्तुस्वभाव में धर्म की पर्याय, अभेद होती है; इसलिए

उसे धर्म कहा है। धर्म, बाहर की क्रिया में तो नहीं है परन्तु दया, दान, भक्ति, पूजा के शुभभाव होते हैं, उनमें भी धर्म नहीं है। सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता-दृष्टारूप रहना, वह आत्मा का धर्म है। ऐसा निर्णय हुआ, वही धर्म है। अभी अभेद की अपेक्षा से त्रिकाली स्वभाव को धर्म कहा है। पर्याय में धर्म होता है, उस धर्म की बात नहीं है क्योंकि वह भेदविवक्षा में जाता है। जैसे, गुड़ का मिठास, नमक का खारापन, अफीम का कड़वापन, और नींबू का खट्टापन, स्वभाव है; इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है, उसकी बात है।

(२) दश प्रकार के क्षमादिभाव भी धर्म हैं।

(३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है।

(४) जीवों की रक्षा करना, वह भी धर्म है।

— इन चार प्रकार के धर्मों में तीन तो निश्चयधर्म हैं और चौथा, जीवों की रक्षा करना, वह व्यवहारधर्म है। इस बात को जैसा है, वैसा यथार्थ समझे बिना इस मनुष्यभव की पच्चीस -पचास वर्ष की आयु प्राप्त हुई है, वह पूर्ण हो जाएगी तो कहीं अन्त नहीं आयेगा। इस जगत् की कोई वस्तु - पैसा, स्त्री, परिवार, मकान और मान-प्रतिष्ठा कोई साथ नहीं आयेगी; इसलिए समझो और आत्मा का स्वभाव, धर्म है, उसे ग्रहण करो।

अभेदकथन से आत्मा का चैतन्यस्वभाव ही धर्म है, और भेद से कहें तो उत्तमक्षमादि दशलक्षण और रत्नत्रयादि धर्म हैं। निश्चय से तो निज चैतन्य की रक्षा करना और विभाव परिणतिरूप परिणमित न होना, वह धर्म है और व्यवहार से परजीवों को विभावरूप, अर्थात् दु:ख-क्लेशरूप नहीं करना, अर्थात् उसी के भेदरूप अन्य जीवों को प्राणान्त न करना, वह भी धर्म है।

आत्मा की श्रद्धा करके आत्मा में अभेद हुआ, वह धर्म है। जैसे, सोना चाहिए हो, उसे सोने की खान के समक्ष देखे तो मिलता है; वैसे ही आनन्द-सुख चाहिए हो तो उसे आत्मा के आश्रय से प्राप्त होता है, वही धर्म है। वह दशलक्षण तथा रत्नत्रय इत्यादिरूप है। देखो, यहाँ चौथा धर्म जीवों की रक्षा करना कहा है तो जीव में तो अपना जीव भी आ गया; इसलिए अपनी दया करना, वह निश्चय, अर्थात् वास्तविकधर्म है। पर की रक्षा तो कोई भी आत्मा, तीन काल

में नहीं कर सकता। पर की पर्याय, पर के कारण से होती है, उसके बदले मैं उस पर्याय को कर दूँ, यह तो भ्रान्ति है; धर्म नहीं, उसमें तो अपनी हिंसा होती है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है – **'तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है'** – मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ और ऐसी अहिंसा का भाव होता है, वह धर्म है — जो ऐसा मानता है, वह अपने चैतन्यप्राण का घात कर रहा है; वह जीव की रक्षा नहीं करता है। स्त्री-परिवार की रक्षा का भाव करने से अपनी रक्षा जाती है, अर्थात् चैतन्य की रक्षा चूक जाता है। आत्मा चैतन्य, अर्थात् जानने-देखनेवाला है, यह मानना जीवदया है। लोग हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को नहीं जानते हैं। हिंसा-अहिंसा का इसके अतिरिक्त दूसरा स्वरूप ही नहीं है। खरगोश को सींग उगे तो आत्मा, पर की दया पालन कर सके परन्तु ऐसा नहीं होता है। आत्मा, ज्ञाता है; उसका निर्णय करके लीन होना, वह अहिंसा और सच्ची जीवदया है। जगत् के जीवों की, आत्मा रक्षा कर सकता होता तो स्त्री-पुत्र-पिता इत्यादि परिवार में किसी को मरने नहीं देता।

जगत में गोशाला, हास्पीटल, जीवदया मण्डली इत्यादि जो चल रहा है, वह उसके कारण चल रहा है। उसमें आत्मा कुछ नहीं कर सकता – ऐसा जो नहीं मानता, वह महान हिंसा कर रहा है; चैतन्य आत्मा का खून कर रहा है। जगत तो विपरीत मानता आया है। जैसे, व्यक्ति को उल्टी हो, वह बाहर निकलती है और सच्चा आहार होता है, वह अन्दर पेट में जाता है; इसी प्रकार आत्मा में विकार होता है, उसका लक्ष्य बाहर होता है और आत्मा के आनन्दरूपी आहार की पर्याय होती है, वह अन्दर अभेद होती है; उसे त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव, धर्म कहते हैं।

अब कोई यह कहे कि आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप अभेद होना, वही धर्म है; धर्म बाहर में नहीं है तो फिर यह जिनमन्दिर, स्वाध्यायमन्दिर, मानस्तम्भ इत्यादि कैसे? क्यों होते हैं?

यह जिनमन्दिर इत्यादि जगत् के क्रमानुसार उसके काल में उसके कारण से होते हैं, किसी दूसरे ने उन्हें नहीं किया है। उपदेश के कारण भी वे नहीं हुए हैं। जरा धीरजवान होकर सुने तो यह सब समझ में आ सकता है। ज्ञानी, धर्मी को जब तक पूर्णदशा नहीं हुई, तब तक उस प्रकार धर्मानुराग आये बिना नहीं रहता परन्तु उस शुभराग के कारण वे नहीं बने हैं। वीतरागता पूर्ण न हो, तब तक पूजा, भक्ति, दान, प्रभावना इत्यादि का राग नहीं आवे तो

समझना कि उसे धर्म की रुचि ही नहीं है और ऐसा राग आवे, उसे ही धर्म मान ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। धर्म का राग होवे तो बाहर में ऐसा योग उसके स्वयं के कारण होता है – ऐसा निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है। जैसे पुत्र के प्रति राग होता है तो उसके लिए पैसा रखने का, खर्च करने का भाव आता है, तब बाहर में ऐसा मैल दिखाई देता है। इसी प्रकार धर्मी को धर्मानुराग होता है, उसमें बाहर का योग उसके कारण होता है। इस प्रकार जीव की दया का भाव होता है, वह राग है। स्वरूप का भान होने से उसे व्यवहार से अहिंसा कहा जाता है; इस प्रकार उसे भी व्यवहार से धर्म कहते हैं।●●

धन्य उनका जीवन! धन्य उनका वैराग्य!!

दीक्षा के लिए तैयार हुए श्री जम्बूस्वामी अपनी शोकमग्न माता को वैराग्यपूर्वक सम्बोधन करते हैं — हे माता! तू शीघ्र ही शोक को छोड़... कायरता को छोड़.... इस संसार की समस्त अवस्थाएँ क्षणभङ्गुर हैं। जीव ने संसार के इन्द्रियसुख बारम्बार भोगे परन्तु उनसे तृप्ति नहीं हुई; इसलिए उन विषयों से अब बस होओ... अब तो मैं चैतन्य के अविनाशी सुख की साधना करुँगा। माता! तू आनन्दित होकर मुझे जिनदीक्षा की आज्ञा प्रदान कर। क्योंकि —

यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ। बारम्बार महान विभूतिसहित राजा भी हुआ है और बारम्बार कीड़ा भी हुआ है। तरङ्गरूप इस संसार में किसी को सुख अथवा दु:ख स्थिर नहीं रहते। तब फिर हे माता! इसमें हर्ष अथवा शोक क्या? एक चैतन्य तत्त्व ही स्थायी शरणरूप है, मैं अब उसी की साधना करूँगा और इसी भव में जन्म–मरण का अन्त करूँगा।

इस प्रकार वैराग्यरूपी अमृत से माता को सम्बोधन कर, जम्बूकुमार ने वन की ओर प्रयाण किया। सुधर्मस्वामी के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार की और कुछ ही वर्षों में केवलज्ञान प्रगट करके उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। अहो! धन्य उनका जीवन और वैराग्य!

— रत्नसंग्रह, पृष्ठ ७१

गाथा ४७७

अब, धर्मध्यान कैसे जीव के होता है? – वह कहते हैं —

धम्मे एयग्गमणो, जो ण वि वेदेदि पंचहा विसयं।
वेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स॥

पञ्चेन्द्रि विषयों को न वेदे, धर्म में एकाग्र मन।
वैराग्य से भीगा हृदय हो, धर्म ध्यानी वह सुजन॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी पुरुष, **[धम्मे एयग्गमणो]** धर्म में एकाग्र मन हो प्रवृर्त्ते; **[पंचहा विसयं ण वि वेदेदि]** पाँचों इन्द्रियों के विषयों को नहीं वेदै **[वेरग्गमओ]** और वैराग्यमयी हो, **[तस्स धम्मज्झाणं हवे]** उस ज्ञानी के धर्मध्यान होता है।

भावार्थ : ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना है। जो पुरुष, धर्म में एकाग्रचित्त करता है, उस काल इन्द्रिय विषयों को नहीं वेदता है, उसके धर्मध्यान होता है। इसका मूलकारण संसार देह-भोग से वैराग्य है; बिना वैराग्य के धर्म में चित्त रुकता नहीं है।

गाथा ४७७ पर प्रवचन

देखो, यहाँ ज्ञानी शब्द पड़ा है, अर्थात् आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है। पुण्य-पाप, दया-दान, काम-क्रोध के भाव होते हैं, वह विकार है और शरीरादि पर है – ऐसी दृष्टि जिसे हुई हो, उसे ज्ञानी और धर्मी कहते हैं। जिसे पर की अपेक्षा छूट गयी है; पर्याय में विकार होता है, उतना मैं नहीं हूँ; इन्द्रियाँ इत्यादि पर हैं; मैं तो अतीन्द्रिय पदार्थ हूँ – ऐसी दृष्टि होकर वैराग्य जिसे हुआ हो, उसे धर्म होता है।

वास्तव में धर्मी को धर्मध्यान होता है; अज्ञानी को नहीं होता। काम-क्रोधादि के परिणाम होने पर भी, उसकी बुद्धि छूट गयी है; स्वभावबुद्धि हुई है, उसे धर्म होता है। जिसे धर्म करना हो, उसे क्या करना चाहिए? जहाँ से धर्म होता है, उसे सर्व प्रथम समझना चाहिए। उसकी विधि और रीति समझना चाहिए। उसकी रीति तो ऐसी है कि यह आत्मा एक है और इसके अतिरिक्त दूसरी अनन्त आत्माएँ और अनन्त पुद्गल इत्यादि हैं। वे सब भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं। आत्मा अनन्त काल से पर की रुचि नहीं छोड़ता तो अब, पर की रुचि छोड़कर स्व की रुचि कर। पर के कारण सुख होता है - ऐसी बुद्धि छोड़ और स्वभाव के आश्रय से सुख होता है - ऐसी बुद्धि कर। यह धर्म की विधि है।

आत्मा की रुचि छोड़कर पर में सुख और दु:ख मानकर, वहाँ वीर्य रुक गया है, उसे अनन्त संसार का कारण - ऐसा लोभ कहते हैं। बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि पर की रुचि छोड़ने को कहते हो परन्तु पैसे के बिना तो किसी का चलता नहीं, तुम तो उसे धूल कहते हो परन्तु जगत् में पैसे के बिना एक भी काम नहीं होता.... तो उससे कहते हैं कि इस बात का स्पष्टीकरण तो बहुत बार हो गया है कि — इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ ने दूसरे पदार्थ के बिना ही चलाया है क्योंकि एक पदार्थ में, दूसरे पदार्थ का अभाव है। इसी प्रकार आत्मा ने अनादि काल से पैसे के अभाव से ही चलाया है। हाँ, उसके बिना मुझे नहीं चलता - ऐसी ममता के बिना अज्ञानी ने नहीं चलाया है। यदि पर के अभाव से न चलाया होता तो अनन्त पदार्थों के बीच में आत्मा अकेला भिन्न नहीं रह सकता था। प्रत्येक आत्मा, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में है; इसलिए पर के बिना ही अभी तक चलाया है। आत्मा के साथ वे पदार्थ स्थायी नहीं रहते; इसलिए उनके आश्रय के बिना आत्मा टिका रहा है।

देखो, यह दो अँगुलियाँ हैं। उनमें यह एक अँगुली, दूसरी अँगुली के सहारे के बिना टिक रही है। यदि दूसरी अँगुली के कारण यह अँगुली होती तो दो अँगुलियाँ पृथक्-पृथक् नहीं रहती - इस न्याय से समझ में आता है। न्याय ख्याल में आवे तो समझ में आयेगा। व्यापारी को न्याय देने से बात पकड़ में आये बिना नहीं रहती और ग्वाले को पकड़ में नहीं आती। तथापि श्रीमद् राजचन्द्र ने एक बार जंगल में ग्वाले की पात्रता देखकर अपने पास बुलाकर कहा कि भाईयों! आँखें बन्द कर लो.... मैं परमेश्वर हूँ - ऐसा चिन्तवन करो, अन्दर

देखो! ऐसा सुनकर ग्वाले को शङ्का नहीं होती थी कि हम बकरियों को चरानेवाले, भगवान कैसे हो सकते हैं? भगवान तो हजार हाथवाला दूसरा होगा! ऐसी शङ्का नहीं करते थे। इसी प्रकार यहाँ आचार्य कहते हैं कि तू एक बार निर्णय तो कर की मैं पर के अभाव से टिकनेवाला परम शक्तिवाला परमात्मा हूँ।

आत्मा ने अभी तक कभी परपदार्थ को भोगा ही नहीं है; पैसा मकान, स्त्री, कर्म, पुत्र, और शरीर के अभाव से ही चलाया है परन्तु अज्ञानी को यह बात नहीं जमती है। मेरा तत्त्व, दूसरे अनन्त तत्त्वों के कारण नहीं है और अनन्त तत्त्व, मेरे कारण नहीं हैं तथा क्षणिक विकारीपर्याय होती है, उतना मैं नहीं हूँ - ऐसे निर्णयपूर्वक पर की रुचि हटकर, स्वभाव की रुचि होती है, वह सम्यग्दर्शन है और वह ज्ञानी है। लाखों-करोड़ों मन का पानी का प्रवाह समुद्र में होता है, उस प्रवाह के ऊपर घास का छिलका जो तिरने के स्वभाववाला है, इसलिए वह तिरता है; समुद्र की तरङ्गें उसे दबा नहीं सकती, वह तो ऊपर ही ऊपर अकेला पृथक् बहता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव पर से भिन्न पृथक् रहने का है। वह अनन्त पुद्गलों और अनन्त आत्माओं के मध्य होने पर भी, स्वयं से टिकता और तिरता हुआ पृथक् का पृथक् रहता है - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसा जानने से पर की रुचि छूट जाती है और स्वभाव की रुचि होती है, उसे ही सच्चा वैराग्य होता है। ज्ञानी को अस्थिरता का राग होता है परन्तु वह पर के अभावरूप होकर हुआ है। वह अपनी कमजोरी से वर्तमान योग्यता के कारण होने पर भी, वह विकार उत्पन्न करे - ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। यह श्रद्धा-ज्ञान और स्वसन्मुखता-एकाग्रता होती है, उसे ध्यान होता है। जिसे सच्ची रुचि ही नहीं हुई, उसे आत्मा की सबलता का पता नहीं है; इसलिए जो राग होता है, वह कमजोरी का नहीं है परन्तु स्वच्छन्दता से हुआ विपरीतता का राग है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि का राग है।

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् हैं; वे एक-दूसरे को शक्ति नहीं देते हैं और कोई आत्मा या परमाणु दूसरे को शक्ति दे - ऐसा भी किसी का स्वभाव नहीं है। पचास मन का लोहे की जाल, मकान पर पच्चीस व्यक्ति इकट्ठे होकर चढ़ा देते हैं - ऐसा नहीं है। जाल जो चढ़ा है, वह पच्चीस व्यक्तियों के कारण नहीं, क्योंकि जैसे एक व्यक्ति की शक्ति से जाल ऊपर नहीं होता, वैसे ही पच्चीस व्यक्तियों से भी वह नहीं हुआ है क्योंकि पच्चीस

व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं, उनकी शक्ति भी भिन्न-भिन्न है; किसी की शक्ति इकट्ठी होती ही नहीं; इसलिए उन सबकी शक्ति इकट्ठी होकर जाल ऊपर हुआ है, यह बात मिथ्या है। जाल स्वयं के कारण ऊँचा होता है, तब उसमें दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है। वास्तव में जाल के रजकण भिन्न-भिन्न हैं, जाल को जाल कहना, वह व्यवहार का कथन है; निश्चय से तो सभी परमाणु हैं। यह बात लोगों को कठिन पड़ती है क्योंकि वे संयोग को ही देखते हैं और स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को भूलते हैं। लोग, विपरीतरूप से मानते हैं; इसलिए कहीं सत्य है, वह असत्य नहीं हो जाता है। उल्लू इत्यादि ने सूर्य का प्रकाश नहीं देखा हो इससे कहीं सूर्य के प्रकाश का अभाव नहीं होता है। इसी प्रकार स्वतन्त्र वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी नहीं समझे, उससे क्या? जिसे सुखी होना हो, उसे तो सत्य बात समझना ही पड़ेगी।

शरीर, कर्म, पैसा, इत्यादि का व्यवहार से सच्चा ज्ञान कब किया कहलाये? - कि प्रथम तो उन सब स्कन्धों के परमाणु पृथक-पृथक अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से विद्यमान हैं; एक दूसरे में प्रवेश किये बिना पर के अभाव से टिक रहे हैं - ऐसा निर्णय करे, तब स्कन्ध में व्यवहार का आरोप आता है। कर्म, वह कर्म नहीं; शरीर, वह शरीर नहीं; पैसा, वह पैसा नहीं है - ऐसा निश्चय से प्रथम निर्णय करना चाहिए क्योंकि कर्म में विद्यमान एक-एक परमाणु, वह कहीं कर्म नहीं है। शरीर के अनन्त परमाणु हैं, वे एक-एक परमाणु, शरीर नहीं है। यदि एक परमाणु, शरीर या कर्म नहीं है तो सभी इकट्ठे मिलकर कर्म होता है, यह बात ही निश्चय से सत्य नहीं है। इस प्रकार निर्णय करने के बाद व्यवहार से पर्याय का ज्ञान करने पर, परमाणुओं के संयोगरूप स्कन्धपर्याय को कर्म, शरीर आदि कहा जाता है। अब यदि वास्तव में कर्म ही नहीं और शरीर ही नहीं तो कर्म ने आत्मा को हैरान किया - यह बात नहीं रहती है और इंजैक्शन के कारण शरीर का रोग मिट गया - यह बात रहती ही नहीं है। निश्चय के बिना अकेला व्यवहार तो अन्धा है। यह बात सरल और सीधी होने पर भी, स्वतन्त्र वस्तु है, यह ख्याल में न आने से लोगों को कठिन लगती है।

शास्त्र में शरीर, प्राण, कर्म आदि की बहुत बात आती है परन्तु उसके साथ यह बात निश्चित करनी चाहिए। जब एक रजकण को कर्म नहीं कहा जाता तो अनन्त को कर्म कैसे कहा जाएगा? मात्र पर्याय, व्यवहार का ज्ञान करने से कर्म कहलाती है। निश्चयपूर्वक,

व्यवहार का ज्ञान सच्चा है, वह केवलज्ञान का साधन है। यह बात समझे बिना (भव का) अन्त नहीं आ सकता। अद्‌भुत बात है! लोग प्रचलित बात कर रहे हैं, उसकी तुलना में यह अलग बात है। इसलिए प्रथम इस बात को कहनेवाले सर्वज्ञ कौन हैं? गुरु कौन हैं और उनके द्वारा कथित शास्त्र कौन हैं और उन शास्त्रों में कथित तत्त्वार्थ कौन हैं? यह निर्णय किये बिना स्वभावसन्मुखता हो सके – ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जब आत्मा और प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा निर्णय करे, तब धर्म होता है। जो वस्तु, जगत में नहीं है, अज्ञानी उसकी ममता करता है। पैसा, वह जगत् का मूलपदार्थ नहीं है; पैसा, वह व्यवहार से है। अज्ञानी कल्पना करता है कि यह पैसा है और मेरा है। ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान होने से उसकी ममता नहीं है। अज्ञानी, वर्तमान पर्याय जितनी वस्तु मानता है; इसीलिए उसे स्व-पर का भान नहीं है; इस कारण ममता करता है। ज्ञानी, पैसा, स्त्री, मकानादि में ममता नहीं करता क्योंकि उसे द्रव्यदृष्टि होने से क्षणिकपर्याय को देखकर ममता नहीं होती है। यह बात शीघ्र समझ में आ जाए – ऐसा नहीं है; इसे समझने के लिए निवृत्ति लेना चाहिए।

जगत में अनन्त पदार्थ हैं। उन्हें अनन्तरूप से स्वतन्त्र न माने और सबको एकरूप करके माने, उसे स्वतन्त्र द्रव्य की प्रतीति के बिना स्कन्धरूपी पर्याय का सच्चा ज्ञान भी नहीं है। अज्ञानी को रुपये का भी सच्चा ज्ञान नहीं है। दाल, भात, रोटी, शरीर इत्यादि किसी भी पदार्थ का सच्चा ज्ञान, अज्ञानी को नहीं है क्योंकि उस स्कन्ध में रहनेवाला एक-एक परमाणु स्वतन्त्र है, इसका उसे पता नहीं है। इसलिए सर्व प्रथम स्वयं, पर के अभावरूप नित्य ज्ञानस्वभावी है – ऐसा स्वतन्त्र पदार्थ का ज्ञान और निर्णय करके, अपने आत्मा में एकाग्र होता है, उसे धर्मध्यान होता है। उस ज्ञानी को सच्चा वैराग्य होता है, अर्थात् ज्ञान, अपना स्वभाव है; वह पर के अभावरूप है, वह ज्ञान और वैराग्य है। निश्चय से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ हैं ही नहीं – ऐसा जानकर पर से उदास होकर, आत्मा में एकाग्रता होती है, तब इन्द्रियाँ और उनके विषयभूत पदार्थों का ज्ञान, व्यवहार से किया कहा जाता है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। किसी का तत्त्वज्ञान सुनकर, मात्र धारणा करके यह बात कहे; इसलिए उसके घर की हो जाती है – ऐसा नहीं है। सम्प्रदाय में तो उपवास करो, सामायिक

करो, इत्यादि का उपदेश होता है परन्तु इस बात को समझे बिना, सच्चा उपवास या सामायिक नहीं होती है। कोई बुद्धिरहित बाबा होता है तो उसमें कुछ नहीं मिलता। भेड़ को भी छह-छह महीने में मुण्डन करते हैं, कहीं मुण्डन हो जाने से आत्मा का कल्याण नहीं हो जाता है। स्वभाव के सन्मुख वीर्य और उसकी महिमा आये बिना, पर की महिमा नहीं घटती है और आत्मा का लाभ नहीं होता है।

इन्द्रियों के विषय कब छूटे हुए कहलाते हैं ? – कि इन्द्रियाँ मुझमें हैं ही नहीं – ऐसा प्रथम निर्णय करे। तब जगत् में निश्चय से पैसा है ही नहीं तो फिर आत्मा, धनवान है या निर्धन है – यह बात नहीं रहती है। अज्ञानी को शरीर में रोग आया, पैसा न हो, कुटुम्ब अच्छा न हो तो उसके विचार करके चित्त में अशान्ति का वेदन किया करता है, वह उसकी मूढ़ता है। आत्मा में पर का अभाव है; इसलिए परवस्तु के कारण (आत्मा को) अशान्ति नहीं है – इसका उसे पता नहीं है। ज्ञानी ऐसी अशान्ति का वेदन नहीं करता है; वह तो अन्तर में एकाग्र होकर शान्ति का अनुभव करता है।

ध्यान का स्वरूप तो एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना, यह है। जो पुरुष, धर्म में एकाग्रचित्त करता है, उस काल में वह इन्द्रिय-विषयों का वेदन नहीं करता है और उसे ही धर्मध्यान होता है। उसका मूलकारण संसार, देह, भोग से वैराग्य है क्योंकि वैराग्य के बिना धर्म में चित्त नहीं लगता है। आत्मा को स्व में अपेक्षा हुई तो पर की उपेक्षा हुए बिना नहीं रहती है, वह वैराग्य है और इस तरह, पर की उपेक्षा करनेवाले को अन्तर में स्थिरता होती है। धर्मध्यानवाला विकार में एकाग्र नहीं होता, परन्तु अन्दर स्वयं ज्ञानमात्र स्वभाव एक है, उसे लक्ष्य में लेता है। आर्तध्यान, रौद्रध्यानवाला विकार और पर को लक्ष्य में लेता है; इसलिए उसे धर्मध्यान नहीं होता है। ●●

गाथा ४७८

सुविसुद्धरायदोसो, बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो।
एयग्गमणे संतो, जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं॥

रागादि दोषों से रहित, संकल्प बाह्य सभी तजे।
धीर चित् एकाग्रमन हो, चिन्तवे शुभ ध्यान है॥

अन्वयार्थ : [सुविद्धरायदोसो] जो पुरुष, राग-द्वेष से रहित होता हुआ, **[बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो]** बाह्य के संकल्प से वर्जित होकर, धीरचित्त, **[एयग्गयणो संतो जं चिंतइ]** एकाग्रमन होता हुआ जो चिन्तवन करे, **[तं पि सुहज्झाणं]** वह भी शुभ -ध्यान है।

भावार्थ : जो, राग-द्वेषमयी या वस्तु सम्बन्धी संकल्प छोड़, एकाग्रचित्त हो (किसी से चलायमान करने पर चलायमान न हो) चिन्तवन करता है, वह भी शुभध्यान है।

गाथा ४७८ पर प्रवचन

देखो, धर्मध्यान किसे होता है ? जो प्रथम यह निर्णय करता है कि मेरे स्वभाव में राग -द्वेष है ही नहीं, उसे धर्मध्यान होता है। जिनसे रहित होना है, यदि वह स्वभाव में हो तो वह निकल नहीं सकता; एकमेक हो गये हों तो उनमें से छूटा नहीं जा सकता। इसलिए मेरा स्वभाव राग-द्वेष रहित है - ऐसा निर्णय सर्व प्रथम करना चाहिए। ऐसा निर्णय करके अनन्त जीव, पूर्णपद को प्राप्त हुए हैं, उनके समीप श्रवण करना चाहिए (जो स्वयं) परन्तु राग, द्वेष और अज्ञानसहित हो - ऐसे कुदेवादिक का निमित्त नहीं होता। जो वक्ता स्वयं धर्म नहीं समझा हो, वह दूसरे को (धर्म समझने में) निमित्त नहीं हो सकता है। पुरुषप्रमाण से

वचनप्रमाण होते हैं; इसलिए सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरे से धर्म सुनने जाने पर, गुण-ग्रहण नहीं होता है क्योंकि जिसमें गुण नहीं है, उनमें से गुण-ग्रहण करना नहीं रहता है।

आशय यह है कि जिसे धर्मध्यान करना हो, प्रथम उसे, ज्ञानी से धर्म की बात सुनना चाहिए। जैसे, किसी मनुष्य को नौकरी करना हो तो पहले जिसकी नौकरी करना है, उसकी भलीभाँति परीक्षा करता है कि यह व्यक्ति मुझे महीने में पूरा-पूरा वेतन दे सकता है या नहीं ? तत्पश्चात् उसकी नौकरी करता है। इसी प्रकार जिससे धर्म सुनना है, उसे धर्म प्रगट हुआ है या नहीं ? - यह प्रथम जानना चाहिए।

देखो, आगे आचार्य भगवान पाँच ब्रह्मचारी तीर्थङ्करों को नमन करेंगे। आचार्य स्वयं बाल-ब्रह्मचारी थे; इसलिए मुख्यरूप से ब्रह्मचारी तीर्थङ्करों को वन्दन किया है। इससे कहीं तीर्थङ्करों में अन्तर है - ऐसा नहीं है परन्तु उस समय ऐसा विकल्प आया है। श्रीवासुपूज्यस्वामी, श्रीमल्लिनाथस्वामी, श्रीनेमिनाथस्वामी, श्रीपार्श्वनाथस्वामी, और श्रीमहावीरस्वामी - ये पाँच तीर्थङ्कर, बाल-ब्रह्मचारी थे; इसलिए इन पाँच को वन्दन किया है। इससे यह निर्णय होता है कि वीतराग सर्वज्ञ की परम्परा में पाँच तीर्थङ्कर बाल-ब्रह्मचारी थे। यदि ऐसा नहीं माने तो समझना कि वह सच्ची परम्परा नहीं है। जगत में माल खरीदने जाता है तो वहाँ ठीक से परीक्षा करता है और धर्म, जो कि अपूर्व है, उसकी परीक्षा नहीं करे तो नहीं चल सकता। परीक्षा किये बिना ऐसे ही धर्म हो जाए - यह नहीं हो सकता। इसलिए जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे पहले पुरुष का / धर्मात्मा पुरुष का निर्णय करना पड़ेगा। ऐरे-गेरे का यह काम नहीं है। 'रण चढ़ा रजपूत छिपे नहीं।'

एक बार बनियों की बरात में सुरक्षा के लिए एक राजपूत को ले गये। रास्ते में चोर आये, तब राजपूत रखवाला कहने लगा कि इन बनियों ने मुझे गाड़ी में बैठाया है, मैं साथ हूँ, तब तक किसी पर हाथ नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि हम क्षत्रिय हैं; अतः या तो मारेंगे या मरेंगे, बनियों की तरह कायरता नहीं करेंगे; इसी तरह आत्मा राजपूत है, अपने ज्ञानदर्शन की शक्ति से सुशोभित हो रहा है, वह समय आवे तब पुरुषार्थहीनता नहीं करेगा। समय आने पर धर्मी सिर दे देगा परन्तु राग से और निमित्त से धर्म नहीं मानेगा; कुदेवादिक को वन्दन नहीं करेगा। देह जाती हो तो चली जाए परन्तु वह विचलित नहीं होगा, क्योंकि आत्मा कोई बनिया नहीं

है। आत्मा को शरीर नहीं है तो शरीर का नाम दिया, वह आत्मा को कैसे हो सकता है ? इसलिए भलीभाँति परीक्षा करना चाहिए।

कोई कहता है कि अपने को परीक्षा करने से क्या काम है ? जो हो वह मान लो.... परन्तु ऐसा नहीं चल सकता। धर्म, अपूर्व चीज है। धर्म की पर्याय कैसी होती है ? उसमें निमित्त कैसा होता है ? यह पहले जानना चाहिए। जिसने राग, पुण्य, और निमित्त के आश्रय से धर्म मनाया है – ऐसे कुदेवादिक के निमित्त से राग–द्वेषरहित नहीं हुआ जाता, परन्तु वीतरागी –सर्वज्ञ पुरुष ने रागादि से रहित आत्मा है – ऐसा कहा है। ऐसे सच्चे देवादिक के निमित्त से रागादि रहित हुआ जाता है। आत्मा को राग–द्वेष से रहित होना है, यह भी नास्ति का कथन है। स्वभाव शुद्ध है, उसके आश्रय से राग–द्वेष नहीं होते हैं, यह बात यथार्थ है। उस पर्याय को शुभध्यान, अर्थात् शुद्ध–अच्छा ध्यान कहते हैं। जो राग–द्वेषमयी परवस्तु सम्बन्धी सङ्कल्प छोड़कर, किसी के द्वारा विचलित करने पर भी विचलित नहीं होता – ऐसा एकाग्रचित्त होकर चिन्तवन करता है, वह भी शुभध्यान है। यहाँ राग–द्वेषमयी परवस्तु का, अर्थात् राग–द्वेष के निमित्तों का लक्ष्य छोड़ देता है – ऐसा कहना है। स्वभाव में एकाग्र होने से, पर का लक्ष्य छूट जाता है, वह शुभध्यान है, अर्थात् धर्मध्यान है। ●●

सर्वगुणसम्पन्न मुनिदशा

अहा! सर्वार्थसिद्धि के देव सम्यक्त्वी और एकावतारी हैं। उन्हें जो शान्ति है, उसकी अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव को, उसकी अपेक्षा षष्टम् गुणस्थानवर्ती को और उसकी अपेक्षा सप्तम गुणस्थानवर्ती को उत्तरोत्तर अधिक शान्ति होती है। अहा! वे मुनिराज तो शान्ति के झूले में झूलते हैं। धन्य अवतार! धन्य वह मुनिदश! उन्हें तो सर्वगुणसम्पन्न कहा जा सकता है।

— वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७१

गाथा ४७९

ससरूवसमुब्भासो, णट्ठममत्तो जिदिंदिओ संतो।
अप्पाणं चिंतंतो, सुहज्झाणरओ हवे साहू॥

निजरूप का भासन हुआ, ममता रहित हो जितेन्द्रिय।
आत्म चिन्तन करे साधू, लीन हैं शुभ ध्यान में॥

अन्वयार्थ : [ससरूवसमुब्भासो] जिस साधु को अपने स्वरूप का समुद्भास, अर्थात् प्रकट होना हो गया हो, **[णट्ठममत्तो]** परद्रव्य में ममत्वभाव जिसका नष्ट हो गया हो, **[जिदिंदिओ संतो]** जितेन्द्रिय हो, **[अप्पाणं चिंतंतो]** और अपनी आत्मा का चिन्तवन करता हुआ प्रवर्तता हो, **[साहू सुहज्झाणरओ हवे]** वह साधु शुभध्यान में लीन होता है।

भावार्थ : जिसको अपने स्वरूप का तो प्रतिभास हो गया हो तथा परद्रव्य में ममत्व नहीं करता हो और इन्द्रियों को वश में रखता हो; इस तरह से आत्मा का चिन्तवन करनेवाला साधु, शुभध्यान में लीन होता है; दूसरे के शुभध्यान नहीं होता है।

गाथा ४७९ पर प्रवचन

जिसे चिदानन्द आत्मा की ख्याति / प्रसिद्धि हो गयी है, उसे पुण्य-पाप और पर की ख्याति का नाश होता है, वह धर्मध्यान है। आत्मा में जो शक्ति पड़ी हुई है, उसकी रुचि, ज्ञान और रमणता करके प्रगटरूप करता है, वह साधु है और परद्रव्य में से सुखबुद्धि अन्तरङ्ग में से मिट गयी है, उसे शुभध्यान होता है।

जिसे ध्यानरूपी तप का पता नहीं है, वह तो बाहर में तपस्या करके धर्म मानता है और शोभायात्रा निकालता है परन्तु अभी जिसे कुदेवादिक की श्रद्धा नहीं छूटी है, उसे धर्मध्यान

नहीं होता है, अपितु वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। ऐसे जीव को आत्मा, पुण्य-पाप से रहित है। - यह बात नहीं रुचती है और जो आत्मा की धर्म-क्रिया है, वह उसके लक्ष्य में नहीं आती है। वह जड़ की, अर्थात् शरीर की क्रिया में धर्म मानकर वस्तुत: अधर्म का ही सेवन करता है। इसलिए यहाँ तो कहते हैं कि जिसे ऐसी (विपरीत) दृष्टि छूट गयी हो, उसे ही धर्मध्यान होता है। जिसे स्वभावदृष्टि हुई हो, उसे ही धर्मध्यान होता है - ऐसी अस्ति से बात आती है, तब इसके अतिरिक्त अन्य को धर्मध्यान नहीं होता - ऐसी नास्ति की बात भी उसमें समझ लेना चाहिए। ●●

प्रचुर वीतरागता होने पर वस्त्र का एक धागा भी असम्भव

जब आत्मा में लीनता होने का स्वकाल होता है, तब तीन कषाय चौकड़ी के कर्म परमाणु न टलें और वस्त्रादि का वियोग न हो - ऐसा नहीं होता। निर्मल मुनिदशा और वस्तु का ऐसा ही स्वकाल है कि अन्तर में प्रचुर वीतरागता हो और बाह्य में वस्त्र का एक धागा भी न हो। शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी रखने का भाव हो और छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा टिकी रहे - ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं हो सकता।

यह किसी के द्वारा कल्पित मार्ग नहीं है, परन्तु सनातन वस्तुस्वभाव में पर्याय का ऐसा ही स्वरूप है कि आत्मभानपूर्वक लँगोटी रहित नग्नदशा होने पर ही मुनिदशा होती है। जो उस पर्याय को अन्यथा मानता है, वह मुनिदशा अथवा वस्तुस्वभाव को नहीं जानता। यद्यपि आत्मा वस्त्रों के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है, तथापि जब आत्मा में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागी चारित्रदशा प्रगट होती है, तब राग और वस्त्रों का अभाव सहजरूप से हुए बिना नहीं रहता - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यह बात कल्पना से नहीं कही जा रही है, बल्कि भगवान की दिव्यध्वनि में से कही जा रही है। *— महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १६*

गाथा ४८०

वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिरुंधंत्तो।
जं चिंतदि साणंदं, तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं॥

तजकर समस्त विकल्प, आत्मस्वरूप में मन रोककर।
सानन्द चिन्तन जो करे, हो धर्मध्यान उसे प्रवर॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**वज्जियसयलवियप्पो**] समस्त अन्य विकल्पों को छोड़कर, [**अप्पसरूवे मणं णिरुंधंत्तो**] आत्मस्वरूप में मन को रोककर, [**साणंदं चिंतदि**] आनन्दसहित चिन्तवन करता है, [**तं उत्तमं धम्मं ज्झाणं**] वह उत्तम धर्मध्यान है।

भावार्थ : समस्त अन्य विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को रोकने से, आनन्दरूप चिन्तवन होता है, वह उत्तम धर्मध्यान है। यहाँ संस्कृत टीकाकार ने धर्मध्यान का अन्य ग्रन्थों के अनुसार विशेष कथन किया है, उसे संक्षेप से लिखते हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं – (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, (४) संस्थानविचय। जीवादिक छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्त तत्त्व, और नौ पदार्थों का विशेष स्वरूप, विशिष्ट गुरु के अभाव से तथा अपनी मन्दबुद्धि के कारण, प्रमाण-नय-निक्षेपों से साधन कर सके – ऐसा न जाना जा सके, तब ऐसा श्रद्धान करे कि जो सर्वज्ञ वीतरागदेव ने कहा है, वह हमें प्रमाण है – ऐसे आज्ञा मानकर, उसके अनुसार पदार्थों में उपयोग को रोकना सो* आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

---

* सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यन्ते।
आज्ञासिद्धंतुतद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिना:॥

अपाय का अर्थ नाश है; इसलिए जैसे कर्मों का नाश हो, वैसा चिन्तवन करना तथा मिथ्यात्वभाव, धर्म में विघ्न का कारण है, इसका चिन्तवन रखना। इसका अपने न होने का चिन्तवन, दूसरे के दूर करने का चिन्तवन करना, वह **अपायविचय** है।

विपाक का अर्थ, कर्म का उदय है; इसलिए जैसा कर्म का उदय हो, उसके वैसे ही स्वरूप का चिन्तवन करना, वह **विपाकविचय** है। लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना, वह **संस्थानविचय** है।

धर्मध्यान के दश भेद भी होते हैं – (१) अपायविचय, (२) उपायविचय, (३) जीवविचय, (४) आज्ञाविचय, (५) विपाकविचय, (६) अजीवविचय, (७) हेतुविचय, (८) विरागविचय, (९) भवविचय, (१०) संस्थानविचय – ऐसे इन दशों का चिन्तवन, वह इन चार भेदों के ही विशेष भेद किये गये हैं।

पदस्थ*, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत – ऐसे भी धर्मध्यान, चार प्रकार का होता है। पद अक्षरों के समुदाय को कहते हैं; इसलिए परमेष्ठी के वाचक अक्षर, जिनकी मन्त्र संज्ञा है, सो उन अक्षरों को प्रधान कर परमेष्ठी का चिन्तवन करे, उस समय जिस अक्षर में एकाग्रचित्त होता है, वह ध्यान कहलाता है। णमोकारमन्त्र के पैंतीस अक्षर हैं, वे प्रसिद्ध हैं×, उनमें मन लगावे तथा उस ही मन्त्र को भेदरूप करने पर संक्षिप्त सोलह अक्षर हैं – 'अरहन्त सिद्ध आइरिय, उवज्झाय साहू='। इस ही के भेदरूप 'अरहन्त सिद्ध' ये छह अक्षर हैं। इस ही का संक्षेप 'अ सि आ उ सा' ये आदि अक्षररूप पाँच अक्षर हैं। 'अरहन्त' ये चार अक्षर हैं। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' ये दो अक्षर हैं। 'ॐ' यह एक अक्षर है। इसमें पञ्च परमेष्ठी के सब आदि के अक्षर हैं। अरहन्त का अकार; अशरीरी (सिद्ध) का अकार, आचार्य का आकार, उपाध्याय का उकार, मुनि का मकार – ऐसे पाँच अक्षर अ+अ+आ+उ+म्= 'औम्×' – ऐसा सिद्ध होता है। ये मन्त्रवाक्य हैं; इसलिए इनके उच्चारण में मन में चिन्तवनरूप ध्यान करे तथा इनका वाच्य अर्थ जो परमेष्ठी हैं, उनका अनन्त ज्ञानादिरूप स्वरूप विचार कर ध्यान करना। अन्य

* पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तवनं।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनं॥

× णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

= अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

× अरहंता असरीरा, आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥

भी बारह हजार श्लोकरूप नमस्कारग्रन्थ हैं, उनके अनुसार तथा लघु वृहत् सिद्धचक्र प्रतिष्ठा ग्रन्थों में मन्त्र कहे गये हैं, उनका ध्यान करना चाहिए। मन्त्रों का विशेष वर्णन, संस्कृतटीका में है; अतः वहाँ जानना। यहाँ संक्षेप से लिखा है, यह सब **पदस्थध्यान** है।

पिण्ड का अर्थ शरीर है। उसमें पुरुषाकार अमूर्तिक अनन्त चतुष्टयसहित, जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही आत्मा का चिन्तवन करना, वह **पिण्डस्थध्यान** है।

रूप, अर्थात् अरहन्त का रूप, समोसरण में घातिकर्मरहित, चौतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्यसहित, अनन्त चतुष्टयमण्डित, इन्द्रादि से पूज्य, परम औदारिक शरीरसहित – ऐसे अरहन्त का ध्यान करना तथा ऐसा ही सङ्कल्प अपनी आत्मा का करके, अपना ध्यान करना, वह **रूपस्थध्यान** है।

देह बिना, बाह्य के अतिशयादिक बिना, अपना-दूसरे का ध्याता-ध्यान-ध्येय के भेद बिना, सर्व विकल्परहित, परमात्मस्वरूप में लय को प्राप्त हो जाना, वह **रूपातीतध्यान** है। ऐसा ध्यान सातवें गुणस्थान में होता है, तब श्रेणी माण्डता है। यह ध्यान व्यक्तरागसहित चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक अनेक भेदरूप प्रवर्त्तता है।

गाथा ४८० पर प्रवचन

जो समस्त अन्य विकल्पों को छोड़कर, आत्मस्वरूप में मन को रोककर, आनन्दसहित चिन्तवन होता है, वह उत्तम धर्मध्यान है। आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है; ज्ञान के साथ आनन्द बुना हुआ है। ऐसे आत्मा की जिसे प्रतीति हुई है, वह शुभाशुभवृत्ति को छोड़कर, आनन्द में अमृतरस का पान करता है – ऐसे चिन्तवन को धर्मध्यान कहते हैं। आत्मा, त्रिकाल अनाकुलस्वरूप है, उसमें आनन्द और अमृत की घूँट आये, वह आकुलतारहित होता है। ऐसे आत्मा के व्यापार में हानि कभी नहीं होती है; दिन-प्रतिदिन आनन्द की वृद्धि, अर्थात् लाभ होता है परन्तु वह किस प्रकार होता है ? – पहले उसका ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ आनन्दसहित चिन्तवन की बात की है। आनन्दस्वरूपी आत्मा को समझे बिना ऐसे का ऐसे चिन्तवन कर ले, उसकी बात नहीं है तथा शुभध्यान, अर्थात् शुद्धध्यान की बात है। गुड़ का रव हो, उसमें से गुड़ ही निकलता है; काली जीरी नहीं निकलती; इसी प्रकार

आनन्दस्वरूपी आत्मा में से तो आनन्द ही झरता है; उसमें से दु:ख नहीं निकलता है क्योंकि उसमें दु:ख है ही नहीं – ऐसा जानकर आत्मा में एकाग्र होना, वह उत्तमध्यान है।

अन्य समस्त विकल्परहित आत्मस्वरूप में मन स्थिर करने से जो आनन्दरूप चिन्तवन रहता है, वह उत्तम-धर्मध्यान है। जिसे ऐसे धर्मध्यान का पता नहीं है, वह पूछता है कि भाई, धर्मध्यान करते हो? अर्थात्, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि करते हो? यदि इस प्रकार करते हो तो श्रावक को दूसरा कुछ करना नहीं रहता – ऐसा मानते हैं। अब ऐसे सम्प्रदाय के श्रावक फिर प्रश्न करते हैं कि महाराज! आत्मा कितने परमाणुओं का बना होगा? देखो! अभी इतना भी पता नहीं है, उसे कैसा धर्मध्यान होता होगा? अन्धेपन से गाड़ी चलती है। लोग विचार भी नहीं करते हैं – ऐसे जीव तो इस बात को सुन भी नहीं सकते हैं। कदाचित् सत्य बात सुनने मिली हो तो यह बात ऊँची है – ऐसा कहकर निकाल देते हैं। उन जीवों को तो धर्मध्यान नहीं होता, परन्तु वह जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्र भी नहीं है; इसलिए प्रथम, आत्मा का निर्णय करके उसमें एकाग्र होने से, पर का चिन्तवन छूट जाए, उसे उत्तमध्यान होता है – ऐसा कहते हैं।

अब, आनन्दसहित उत्तमध्यान का विशेष कथन, टीकाकार अन्य ग्रन्थों के अनुसार करते हैं। धर्मध्यान के चार भेद कहे गये हैं – (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, और (४) संस्थानविचय।

(१) अपनी साधकदशा का विचार करना, वह आज्ञाविचय है।

(२) अपनी पर्याय में रही हुई बाधकदशा का विचार करके, उसे मिटाने का विचार करना, वह अपायविचय है।

(३) अपने पूर्व कर्म के विपाक का विचार करना, वह विपाकविचय है।

(४) अपनी पूर्णदशा कब प्रगट होगी? – इस बात का विचार करना, वह संस्थानविचय है।

यह ध्यान है। इन आज्ञाविचयादि का वर्णन दूसरे ग्रन्थों के अनुसार किया है, वह यहाँ कहा जायेगा। उनमें प्रथम, आज्ञाविचय की बात करते हैं।

जीवादि छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व, और नौ पदार्थों का विशेष स्वरूप विशिष्ट गुरु के अभाव से तथा अपनी मन्दबुद्धिवश, प्रमाण-नय-निक्षेप से साधा जा सके - ऐसा स्वरूप जानना न हो, तब ऐसा श्रद्धान करे कि 'जो सर्वज्ञ वीतरागदेव ने कहा है, वह मुझे प्रमाण है।' इस प्रकार आज्ञा मानकर, तद्नुसार पदार्थों में उपयोग स्थिर करना, वह **आज्ञाविचय धर्मध्यान** है।

वीतराग की आज्ञा भलीभाँति अन्तरङ्ग में जम गयी है, स्वभाव की रुचि है और पर की रुचि छूट गयी है तथापि वह जीव, वीतराग की आज्ञा का विचार करता है। छह द्रव्यों का पञ्चास्तिकाय और नौ पदार्थों का सामान्य प्रकार से तो ज्ञान हो गया है परन्तु विशेष प्रकार से - सभी पहलुओं से किसी सूक्ष्म बात का ख्याल न होवे तो उसे भगवान की आज्ञानुसार मानता है। शास्त्र में कहा है, वह मुझे प्रमाण है - ऐसा विचार करना, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

सामान्यरूप से देव-गुरु-शास्त्र, छह द्रव्य, नौ तत्त्व इत्यादि प्रयोजनभूत पदार्थों का ज्ञान और श्रद्धान सहीरूप से करना चाहिए। उसमें परीक्षा किये बिना भगवान ने कहा है; इसलिए मान ले, तो ऐसा नहीं चलता है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित शास्त्र हैं, वह आगम है; इसके अतिरिक्त शास्त्र, वह आगम नहीं हैं। इसलिए जैसा है, वैसा पहले यथार्थरूप से जानना चाहिए। इसके बिना, आगम को माने तो भी वह मिथ्यादृष्टि है।

यह दिगम्बरधर्म ही सत्य है, यह बात आज नयी कहते हैं - ऐसा नहीं है। ***संवत १९९१ में पहले ही यह पार्श्वनाथ भगवान का फोटो रखा था। नग्न दिगम्बर कन्दौरारहित वह फोटो है तथा संवत १९९४ वें में श्री कुन्दकुन्दाचार्यरचित श्री समयसार की प्रतिष्ठा हुई है। संवत् १९९७ वें में श्री जिनमन्दिर में श्री सीमन्धरभगवान की प्रतिष्ठा हुई है परन्तु इस बात का कभी विचार करे तो पता पड़े न! वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्यादि ने जिन शास्त्रों की रचना की है, उनके अतिरिक्त अन्य किसी के शास्त्र सत्य नहीं हैं।*** तद्नुसार छह द्रव्य, नौ तत्त्व आदि का विचार करे और अन्दर में आनन्द आवे, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

'अपाय' नाम नाश का है। वहाँ जैसे कर्मों का नाश हो, वैसे चिन्तवन करे। मिथ्यात्वभाव, धर्म में विघ्न का कारण है, उसका चिन्तवन रखे, अर्थात् उसे अपने में नहीं होने देना और पर में भी मिटने का चिन्तवन रखना, वह **अपायविचय** है।

अहो! मेरा आत्मा, ज्ञानानन्द है; पर्याय में विकार होता है, उसमें कर्म, निमित्त हैं। कर्मों का नाश होना, मेरे अधिकार की बात नहीं है परन्तु विकार का नाश कैसे हो? उसका चिन्तवन करना। आत्मा, ज्ञानस्वभावी है, उसमें पुण्य-पाप का विकल्प नहीं है। विकल्प होता है, वह अनर्थ का कारण है - ऐसी विचारश्रेणी चलाना, वह अपायविचय नामक धर्मध्यान है। पापभाव तो अनर्थ का कारण है ही परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पुण्यभाव भी अनर्थ का कारण है - ऐसा चिन्तवन करना।

प्रश्न : यदि शुभभाव, अनर्थ का कारण हो तो किसलिए करना चाहिए?

उत्तर : जब अशुभभाव होता है, तब स्त्री, परिवार, पैसा इत्यादि पर लक्ष्य जाता है। इसी तरह जब तक पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती, तब तक ज्ञानी को भी शुभभाव आये बिना नहीं रहता है; उस समय देव-गुरु-शास्त्रादि के प्रति उसे प्रेम आये बिना नहीं रहता है। धर्मी विचार करता है कि पुण्य और पाप दोनों आत्मा के लिए अनर्थ का कारण हैं। वे चिदानन्द अमृतरस को लूटते हैं; इसलिए उनके नाश का उपाय करता है। कुदेवादिक का चिन्तवन तो गृहीतमिथ्यात्वरूपी पाप का कारण है, वह आत्मा की शान्ति को विघ्नकारक है। जगत् में उसके समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है। सात व्यसन से भी मिथ्यात्व का पाप बड़ा है - ऐसा धर्मी, चिन्तवन करता है और सच्चे देवादिक का अनादर तथा मिथ्यादेवादि का आदर, वह विघ्न का कारण है - ऐसा चिन्तवन करना, अपायविचय धर्मध्यान है। स्वयं को मिथ्यात्व न रहे - ऐसा चिन्तवन तो ज्ञानी करता ही है परन्तु पर का भी मिथ्यात्व कैसे मिटे? - ऐसा विचार भी वह करता है और उसमें आनन्द होना, वह अपायविचय धर्मध्यान है।

विपाक नाम कर्म के उदय का है। वहाँ जैसा कर्म का उदय होता है, उसके वैसे स्वरूप का चिन्तवन करे, वह **विपाकविचय** है। प्रतिकूल संयोग आवे, तब विचार करे कि ऐसा ही कर्म का उदय होगा; आत्मा के आनन्दसहित का ऐसा जो चिन्तवन है, वह विपाकविचय धर्मध्यान है।

लोकस्वरूप का चिन्तवन करे, वह संस्थानविचय है। देव है, नरक है, असंख्यद्वीप समुद्र है और यह लोक है, वह अनादि का है; इसका कोई कर्ता नहीं है, इसका कोई रक्षक नहीं है और इसका कोई नाश करनेवाला नहीं है। इस प्रकार लोकसम्बन्धी विचार करने पर, आत्मा में जो आनन्द होता है, उसे **संस्थानविचय धर्मध्यान** कहते हैं।

यह धर्मध्यान दश प्रकार से भी कहा गया है। (१) अपायविचय, (२) उपायविचय, (३) जीवविचय, (४) आज्ञाविचय, (५) विपाकविचय, (६) अजीवविचय, (७) हेतुविचय, (८) विरागविचय, (९) भवविचय, और (१०) संस्थानविचय। इस प्रकार से इन दशों का चिन्तवन है, वह इन चार भेदों के विशेष भेद हैं।

अपायविचय की बात पहले आ गयी है। उपायविचय में, मोक्ष होता है, उसका उपाय आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रय है - ऐसे आनन्दसहित के चिन्तवन को **उपायविचय धर्मध्यान** कहते हैं। जीवविचय में आत्मा, अनन्त ज्ञानदर्शन की शक्तिवाला है, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परिपूर्ण अस्तिरूप है और पर से भिन्न है - ऐसा चिन्तवन करना, वह **जीवविचय** है। आज्ञाविचय और विपाकविचय की बात आ गयी है। **अजीवविचय** में मेरे आत्मा के अतिरिक्त सब अजीव है; कर्म भी जड़ अजीव है, वे मुझे नुकसान नहीं करते हैं क्योंकि कर्म मुझमें नहीं हैं। शरीर, पैसा इत्यादि अजीवपदार्थ हैं - ऐसे अजीव का विचार करना, वह **अजीवविचय धर्मध्यान** है। हेतुविचय - हेतु, अर्थात् निमित्त और विचय, अर्थात् विचार करना। कर्म, प्रेरक होकर विकार नहीं कराते हैं और सच्चे देवादिक से सम्यग्दर्शन या धर्म नहीं होता है परन्तु आत्मा में धर्म प्रगट होता है, तब वे निमित्त होते हैं किन्तु कुदेवादिक नहीं होते। शुभराग में दया, दान, भक्ति आदि का निमित्त होता है। धर्मी को यात्रा का, जिनमन्दिर बनाने इत्यादि का विचार आता है, उस समय निमित्त भी वैसे होते हैं - ऐसा विचार करना, वह **हेतुविचय धर्मध्यान** है। इस चिन्तवन में भी आनन्द होता है।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र और इन्द्राणी एकावतारी हैं। यहाँ जब तीर्थङ्कर भगवान का जन्म होता है, तब वे स्वयं आते हैं। इन्द्र हजार आँखें बनाकर भगवान का रूप देखता है परन्तु तृप्ति नहीं होती और वह बालक की तरह भक्ति से नाच उठता है। भगवान के माता-पिता से कहता है कि आप सम्पूर्ण जगत् के माता-पिता हो - ऐसा राग, धर्मी को आये बिना नहीं रहता

है। उस राग के समय निमित्त भी ऐसे होते हैं। राग के समय वैसे निमित्त होते हैं – ऐसा विचार करना और पापभाव के समय स्त्री, परिवारादिक का निमित्त होता है – ऐसा विचार करना, वह हेतुविचय धर्मध्यान है।

सर्वज्ञ वीतराग हैं, उन्हें राग नहीं होता, वे तीन लोक के साक्षी हैं और मैं भी वीतरागता प्रगट कर सकूँ – ऐसा हूँ, यह विचार करना और उसमें आनन्द होना, वह **विरागविचय धर्मध्यान** है। अहो, आत्मा ने अनन्तानन्त नरक-निगोद आदि के भव किये हैं, सेठ हुआ, निर्धन हुआ, कौवा हुआ, कुत्ता हुआ, मेंढ़क हुआ और यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ, वह पाँच-पच्चीस वर्ष में पूरा हो जायेगा; इस प्रकार भव का विचार आनन्दसहित करना, वह **भवविचय धर्मध्यान** है। इसमें, यह भव का परिभ्रमण तुझे शोभा नहीं देता है – ऐसा भी विचार करता है। संस्थानविचय की बात पूर्व में आ गयी है। इस प्रकार दश प्रकार के धर्मध्यान का वर्णन हुआ।

पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत – ऐसे चार भेदरूप भी धर्मध्यान होता है। वहाँ पद तो अक्षरों के समूह का नाम है और वे परमेष्ठी वाचक अक्षर हैं। जिनकी मन्त्र संज्ञा है, उन अक्षरों को प्रधान करके परमेष्ठी का चिन्तवन करे, वहाँ उन अक्षरों में एकाग्रचित्त होता है, उसे ध्यान कहते हैं। देखो, यहाँ पञ्च परमेष्ठी के चिन्तवन को पदस्थध्यान कहते हैं परन्तु जिसे अभी अरहन्त आदि परमेष्ठी के स्वरूप का ही पता न हो, उसे यह ध्यान नहीं होता है; उसे तो मिथ्यात्व का ध्यान होता है, इसलिए उनके स्वरूप को पहले जानना चाहिए।

णमोकारमन्त्र के ३५ अक्षर हैं, वे प्रसिद्ध हैं, उनमें मन को जोड़ना.... उसी मन्त्र के भेदरूप संक्षिप्त में सोलह अक्षर हैं। अरहन्त, सिद्ध, आयरिय, उवज्झाय, साहू – ये सोलह अक्षर हैं तथा उसके ही भेदरूप अरहन्त-सिद्ध, छह अक्षर हैं, और उसके ही संक्षेप में अ-सि-आ-ऊ-सा — ये आदि अक्षररूप पाँच अक्षर हैं। अरहन्त, ये चार अक्षर हैं; सिद्ध या अर्हं ये दो अक्षर हैं और ॐ यह एक अक्षर है। उसमें परमेष्ठी के सर्व आदि अक्षर हैं। अरहन्त का अ, अशरीरी जो सिद्ध उनका अ, आचार्यों का आ, उपाध्याय का उ, और मुनियों का म, इस प्रकार अ + अ + आ + उ + म = ॐ ऐसी ध्वनि सिद्ध होती है। इन मन्त्र वाक्यों को उच्चारणरूप करके, मन में उनका चिन्तवनरूप ध्यान है।

अब, मन्त्र वाक्यरूप जो अक्षर, उसका वाच्य अर्थ जो परमेष्ठी, उनका अनन्त ज्ञानादि स्वरूप विचार करके ध्यान करे तथा अन्य भी बारह हजार श्लोक प्रमाण नमस्कारग्रन्थ के अनुसार तथा लघु–बृहद् सिद्धचक्र प्रतिष्ठाग्रन्थों में मन्त्र कहे हैं, उनका ध्यान करे। उन मन्त्रों का कितना ही कथन संस्कृतटीका में है, वहाँ से जान लेना चाहिए। यहाँ तो मात्र संक्षेप में कहा गया है। इस प्रकार पदस्थध्यान है।

देखो, यहाँ पञ्च परमेष्ठी अक्षरमन्त्र का वाच्य पञ्च परमेष्ठी हैं। इन वाचक और वाच्य दोनों का विचार करने को **पदस्थध्यान** कहते हैं। अरहन्त का शरीर छूट जाता है, तब कपूर की गोली की तरह उड़ जाता है; पड़ा नहीं रहता। अरहन्त अठारह दोषरहित होते हैं। जो इससे विपरीत अरहन्त का स्वरूप मानते हैं, वह ठीक नहीं है। इसलिए अरहन्त, सिद्ध का स्वरूप भलीभाँति जानना चाहिए। मुनिराज तो नग्न–दिगम्बर ही होते हैं, उनका स्वरूप पहले भलीभाँति जानकर, उसका चिन्तवन करना। इस प्रकार आत्मा के आनन्दसहित चिन्तवन करना, वह पदस्थध्यान है।

वस्तु का स्वभाव, धर्म है। स्वभाव का भान होने के बाद यह ध्यान होता है। आत्मा का ज्ञान होने के बाद उसमें एकाग्र होने को धर्मध्यान कहते हैं। दया, दानादि शुभभाव और हिंसादि अशुभभाव में एकाग्रता, वह संसार का कारण है। पुण्य–पापरहित आत्मा में एकाग्रता करना, वह धर्मध्यान है। उस धर्मध्यान के चार भेदों में से पदस्थध्यान की बात हो गयी है। अब पिण्डस्थज्ञान की बात करते हैं।

पिण्ड नाम शरीर का है, उसमें रहनेवाला आत्मा, सिद्ध–समान है – ऐसा चिन्तवन करना, वह **पिण्डस्थध्यान** है। संसारदशा में प्रत्येक आत्मा अपने–अपने शरीर में भिन्न–भिन्न रहता है। सभी मिलकर एक आत्मा, माननेवाले को ध्यान नहीं हो सकता है। प्रत्येक का शरीर भिन्न–भिन्न है, उसमें रहनेवाला आत्मा शरीर से भिन्न है – ऐसा निर्णय करना चाहिए। उस आत्मा को सिद्धसमान चिन्तवन करना। कैसे हैं सिद्धभगवान? पुरुषाकार होते हैं। जितने सिद्ध होते हैं, वे पुरुष के आकाररूप होते हैं; कोई स्त्री के आकाररूप नहीं होते, क्योंकि स्त्रीपर्याय में मुक्ति नहीं होती है। जिसे स्त्री का शरीर हो, उसे आत्मा का वीर्य मन्द होता है। स्त्री, मुनि नहीं हो सकती तो फिर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाए – ऐसा नहीं होता है।

मल्लिनाथ भगवान स्त्री थे, और स्त्रीदेह से मुक्ति को प्राप्त हुए थे – ऐसा श्वेताम्बर कहते हैं, उनकी वह बात झूठ है। स्त्री, पाँचवें गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकती है। मल्लिनाथ, स्त्री थे तो मल्लिनाथ भगवान की प्रतिमा स्त्री के आकारवाली क्यों नहीं है ? मल्लिनाथ भगवान की प्रतिमा तो पुरुष की है। अरे.... ! तीर्थङ्कर को पूजनेवाले इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पुरुष होते हैं और उनके द्वारा पूज्य तीर्थङ्कर, स्त्री देह में हों – ऐसा कभी नहीं हो सकता। श्वेताम्बर उसे अछेरा कहते हैं परन्तु असम्भवित वस्तु को अछेरा नहीं कहा जाता है। नीम के वृक्ष को दूध और पानी से सींचा जाए तो भी उस पर आम नहीं पकते। ईश्वर या कोई अन्य उसमें फेरफार नहीं कर सकता है। गेहूँ में से बाजरा नहीं होता है। जैसे, चेतन की पर्याय, जड़ से नहीं होती; उसी प्रकार जो जिसकी जाति होती है, वह बदलती नहीं है। स्त्री के शरीर में से बन्दर जन्म नहीं लेता, परन्तु मनुष्य जन्म लेता है। इसी प्रकार केवलज्ञान, पुरुष की पर्याय में होता है; इसलिए यहाँ पुरुषाकार शब्द का प्रयोग किया है।

कितने ही जीव, सिद्ध को आकाररहित, अर्थात् निराकार कहते हैं, वह भी मिथ्या है। सिद्ध को जड़ का आकार नहीं है, इस अपेक्षा से निराकार कहा जाता है परन्तु उनका अपना आकार तो है ही। आत्मा के भानपूर्वक स्थिरता करके सिद्धदशा प्रगट होती है, तब सिद्ध को अन्तिम देहप्रमाण आकार होता है। अरूपी आत्मा को अरूपी आकार होता है। काशीघाट के लोटे में पानी भरा हो तो पानी का आकार लोटे के आकार जैसा होता है; इसी प्रकार शरीर, काशीघाट के लोटे के आकार से है। चिदानन्द आत्मा का आकार, शरीर से भिन्न है और वह स्वयं के कारण है। यदि आकार अथवा क्षेत्र न हो तो वस्तु कैसी ? प्रत्येक वस्तु में प्रदेशत्व नामक गुण है, उसके कारण उसका आकार प्रत्येक समय होता है। इसी प्रकार सिद्ध में भी प्रदेशत्वगुण के कारण अन्तिम पुरुषशरीरप्रमाण स्वयं का आकार होता है।

सिद्ध, अमूर्तिक हैं, अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित हैं तथा अनन्त ज्ञान–दर्शन –सुख और वीर्ययुक्त हैं। अन्दर जो शक्तियाँ पड़ी हैं, वे पूर्णदशा में व्यक्तरूप हो गयी हैं। जैसे, छोटी पीपल में चौसठ पहरी चरपराहट होती है और उसकी चरपराहट, हरापन आदि प्रगट होते हैं, वे अन्दर में स्पर्श, रस, वर्ण आदि गुण अथवा शक्तियाँ हैं, उनमें से व्यक्त होते हैं। प्राप्त की प्राप्ति है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्दादि शक्तियाँ भरी हैं, उसकी प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता करने से केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं।

इस प्रकार सिद्ध भगवान, पुरुषाकार अमूर्तिक अनन्त चतुष्टययुक्त हैं – ऐसे विदेहयुक्त भगवान जैसा ही मैं हूँ – ऐसा चिन्तवन करना, वह **पिण्डस्थ धर्मध्यान** है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य, और चारित्रमय स्वभाव सन्मुख एकाग्रता करना, वह मुक्ति का उपाय है।

रूपस्थध्यान – अरहन्त के स्वरूप का विचार करके, ऐसा सङ्कल्प अपने आत्मा के सम्बन्ध में करके, स्वयं को ध्याना, वह रूपस्थध्यान है। कैसे हैं अरहन्त भगवान? समवसरण में स्थित अरहन्त भगवान भी पहले संसारदशा में थे। उन्होंने आत्मा का भान करके स्वभाव में स्थिरता द्वारा राग-द्वेष का अभाव करके, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय – ऐसे चार घातियाकर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय प्रगट किया है। शरीर और आयु है, तब तक अरहन्त कहलाते हैं; शरीर और आयु छूट जाने के बाद सिद्ध कहलाते हैं। तीर्थङ्कर भगवान को समवसरण होता है, वहाँ सोने के मानस्तम्भ और स्फटिक के गढ़ होते हैं। भगवान समवसरण में अधर विराजते हैं। इन्द्र, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च इत्यादि भगवान की वाणी सुनने आते हैं। भगवान को चौंतीस अतिशय होते हैं, अर्थात् पुण्य की विशेषताएँ होती हैं। उनकी सभा में चूहा और बिल्ली; सिंह और हिरण वैरभाव भूल जाते हैं। ऐसी उन जीवों की भी योग्यता है और उसमें भगवान के पुण्य का निमित्त है। उनका शरीर, स्फटिक के समान परमौदारिक होता है। वे अष्ट प्रातिहार्यसहित होते हैं – देव चँवर ढोलते हैं, देव दुन्दुभि बजती है, आकाश में से पुष्पवृष्टि होती है, भगवान को दिव्यध्वनि होती है, उन्हें अक्षररूप क्रमिक भाषा नहीं होती; इच्छा के बिना अनक्षरी ॐध्वनि सम्पूर्ण शरीर में से छूटती है। प्रातः, दोपहर, और सायंकाल छह-छह घड़ी तक दिव्यध्वनि खिरती है। मनुष्य, तिर्यञ्च आदि अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। उस ध्वनि में प्रत्येक समय बारह अङ्ग का पूर्ण ज्ञान आ जाता है। ऐसी ॐ की यहाँ (सोनगढ़ में) स्थापना की गयी है।

भगवान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्दसहित हैं; रागरहित अमृतदशा का अनुभव कर रहे हैं। चक्रवर्ती, देवों इत्यादि का सुख, जहर जैसा है क्योंकि उसमें तो राग है; भगवान तो रागरहित अमृतदशा का अनुभव कर रहे हैं।

भगवान सौ इन्द्रों से पूज्य हैं। चक्रवर्ती इन्द्रादि महापुण्यशाली जीव, प्रश्न पूछते हैं तो इच्छा के बिना उनका उत्तर भगवान की वाणी में आ जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कहते हैं

कि किसी साधारण महिला ने प्रश्न पूछा और उत्तर मिला... तो उनकी यह बात मिथ्या है। साधारण व्यक्ति प्रश्न नहीं पूछ सकता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कहते हैं कि समवसरण में अन्धा व्यक्ति जाता है तो यह बात भी ठीक नहीं है। समवसरण में अन्धा जाता है तो वह सूझता हो जाता है, लूला जाता है तो ठीक हो जाता है, रोगी जाता है तो उसका रोग मिट जाता है – ऐसी उनकी योग्यता है और भगवान के पुण्य का निमित्तपना है।

गोशाल ने तेजोलेश्या देकर साधु को समवसरण में घुसा दिया, यह बात सत्य नहीं है; भगवान के समवसरण में ऐसा नहीं हो सकता है।

अरहन्त भगवान को परम औदारिकशरीर होता है। शरीर छूटने पर कपूर की गोली की तरह बिखर जाता है, फिर देव, कृत्रिम शरीर बनाकर अग्नि संस्कार करते हैं। अरहन्त के शरीर में रोग नहीं होता है, क्षुधा-तृषा भी नहीं होती है।

– ऐसे अरहन्त के स्वरूप का ख्याल करना चाहिए। जगत में छह द्रव्य और नौ तत्त्व कहनेवाले आप्तपुरुष कैसे होते हैं? – उनके स्वरूप का भी पता न हो, वह ध्यान नहीं कर सकता है। अरहन्त भगवान के स्वरूप का विचार करके ऐसा ही सङ्कल्प अपनी आत्मा के सम्बन्ध में करके, स्वयं को ध्याना, वह **रूपस्थध्यान** है।

रूपातीतध्यान – अब, सिद्ध भगवान के स्वरूप का विचार करके, अपनी आत्मा चिन्तवन करना, वह रूपातीतध्यान है। सिद्ध भगवान, शरीररहित हैं, वे देहमुक्त हुए हैं, उन्हें अतिशय नहीं होते हैं। मैं ध्याता हूँ, सिद्धदशा ध्येय है, एकाग्र होना ध्यान है – ऐसे भेद और विकल्पों से रहित, सिद्धभगवान हैं। परमात्मस्वरूप में तल्लीनता को प्राप्त हो, वह रूपातीतध्यान है। ऐसा ध्यान, सातवें गुणस्थान में होता है, तब मुनिराज श्रेणी माँडते हैं। यह ध्यान, व्यक्त रागसहित चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक अनेक भेदरूप प्रवर्तता है। ●●

गाथा ४८१

अब, शुक्लध्यान को पाँच गाथाओं में कहते हैं —

जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं॥

सुविशुद्ध गुण हो जहाँ उपशम, क्षय जहाँ हो कर्म का।
लेश्या जहाँ हो शुक्ल भी, है शुक्लध्यान वहाँ कहा॥

अन्वयार्थ : [जत्थ सुविसुद्ध गुणा] जहाँ भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायों के अनुभवरहित) उज्ज्वलगुण (ज्ञानोपयोग आदि) हों, **[जत्थ कम्माणं उवसमखमणं च]** जहाँ कर्मों का उपशम तथा क्षय हो **[जत्थ लेसा वि सुक्का]** और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो, **[तं सुक्कं ज्झाणं भण्णदे]** उसको शुक्लध्यान कहते हैं।

भावार्थ : यह सामान्य शुक्लध्यान का स्वरूप कहा, विशेष आगे कहेंगे। कर्म के उपशम और क्षय का विधान अन्य ग्रन्थों से टीकाकार ने लिखा है, वह आगे लिखेंगे।

गाथा ४८१ पर प्रवचन

अब, धर्मध्यान से उत्कृष्ट, शुक्लध्यान होता है। यह उपशमश्रेणीवाले को साधारण होता है और क्षपकश्रेणीवाले को उत्कृष्ट होता है।

जिस प्रकार कमरे पर चढ़ने के लिए चौदह सीढ़ियाँ होती हैं; उसी प्रकार सिद्धदशा होने के लिए चौदह श्रेणियाँ होती हैं तथा आठवीं श्रेणी में अथवा गुणस्थान में शुक्लध्यान की शुरुआत होती है। वहाँ व्यक्त कषाय नहीं है परन्तु अव्यक्त कषाय है। अल्प राग है परन्तु उसका मुख्यरूप से अनुभव नहीं है। उस गुणस्थान में ज्ञान को शुद्धचैतन्य में जोड़ दिया है,

उसे शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान इस काल में, इस क्षेत्र में नहीं होता है; महाविदेह में होता है। जैसे, पानी में मैल नीचे बैठ गया हो और ऊपर स्वच्छ पानी होता है, वैसे ही आत्मा में पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों के उपशमसहित श्रेणी माँडे, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं और उग्र पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा कर्मों के क्षयसहित श्रेणी माँडे, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। वैसी श्रेणी कि जहाँ शुक्ललेश्या के परिणाम होते हैं, उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

लेश्या छह प्रकार की होती है। उसका दृष्टान्त — आम खाने के लिए वृक्ष को मूल से काटने का भाव करे, वह कृष्णलेश्या है; बड़ी डाल काटने का भाव करे, वह नीललेश्या है; छोटी डाल काटने का भाव करे, वह कापोतलेश्या है और झूमते हुए फलों को काटने का भाव करे, वह पीतलेश्या है; डाठल से तोड़ देने का भाव करे, वह पद्मलेश्या है; और नीचे पड़े हुए आम से सन्तोष मान ले, वह शुक्ललेश्या के परिणाम समझना चाहिए। यहाँ आम खाने के भाव तो अशुभ हैं परन्तु अशुभ और शुभपरिणाम की तारतम्यता बतलाने के लिए दृष्टान्त समझना चाहिए। एक काम करने में छह प्रकार के परिणाम होते हैं। किसी को तीव्र भाव होता है, किसी को मन्द होता है – ऐसा समझ लेना। यहाँ शुक्ललेश्या के परिणाम – बहुत उज्ज्वल परिणाम, शुक्लध्यान के साथ होते हैं – ऐसा समझना चाहिए।●●

मुनिदशा का त्रैकालिक नियम

अहा! आत्मा राग को भी नहीं छोड़ता तो वस्त्रादि परपदार्थों को छोड़े – ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर भी मुनिदशा में वस्त्र का संयोग रहे – ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं है। तीन काल और तीन लोक में पर्याय का ऐसा ही नियम है कि छठवें –सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों को वस्त्र रखने का विकल्प भी नहीं होता।

— महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १७

गाथा ४८२

अब, (शुक्लध्यान के) विशेष भेदों को कहते हैं —

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए।
पढमं सुक्कं ज्झायदि, आरूढो उभयसेणीसु॥

विशुद्धता हो गुण-अनन्त[1], उपशम तथा क्षय प्रति समय।
हो शुक्ल ध्यान प्रथम उसे, आरूढ़ श्रेणी में उभय॥

अन्वयार्थ : [उभयसेणीसु आरूढो] उपशमक और क्षपक, इन दोनों श्रेणियों में आरूढ होकर, **[पडिसमयं]** समय-समय **[अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए सुज्झंतो]** अनन्तगुणी विशुद्धता, कर्म के उपशम तथा क्षयरूप से शुद्ध होता हुआ मुनि, **[पढमं सुक्कं ज्झायदि]** प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान करता है।

भावार्थ : पहले, मिथ्यात्व - तीन, कषाय अनन्तानुबन्धी - चार, प्रकृतियों का उपशम तथा क्षय होने से सम्यग्दृष्टि होता है। फिर अप्रमत्तगुणस्थान में सातिशय विशुद्धतासहित हो, श्रेणी प्रारम्भ करता है, तब अपूर्वकरणगुणस्थान होकर शुक्लध्यान का पहला पाया प्रवर्तता है। वहाँ यदि मोह की प्रकृतियों का उपशम करना प्रारम्भ करता है तो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय - इन तीनों गुणस्थानों में समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से बढ़ता हुआ मोहनीयकर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम कर, उपशान्तकषायगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है अथवा मोह की प्रकृतियों का क्षय करना प्रारम्भ करता है तो तीनों गुणस्थानों में इक्कीस मोह की प्रकृतियों का सत्ता में से नाश कर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। ऐसे शुक्लध्यान का पहला पाया पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रवर्त्तता है। सो पृथक, अर्थात्

भिन्न-भिन्न; वितर्क, अर्थात् श्रुतज्ञान के अक्षर और अर्थ, तथा वीचार, अर्थात् अर्थ का, *व्यञ्जन का और मन वचन काय के योग, इनका पलटना – इस पहले शुक्लध्यान में होता है। सो अर्थ तो द्रव्य-गुण-पर्याय है, सो द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर, पर्याय से पर्यायन्तर होता है और इसी तरह वर्ण से वर्णान्तर तथा योग से योगान्तर होता है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि ध्यान तो एकाग्रचिंत्ता निरोध है, पलटने को ध्यान कैसे कहा ?

इसका **समाधान** – जितने समय तक एक विषय पर रुका, वह तो ध्यान हुआ और पलट गया, तब दूसरे विषय पर रुका, वह भी ध्यान हुआ – ऐसे ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते हैं। यहाँ सन्तान की जाति एक है, उसकी अपेक्षा लेना। उपयोग पलटता है, सो ध्याता की पलटने की इच्छा नहीं है। यदि इच्छा हो तो रागसहित होने के कारण यह भी धर्मध्यान ही रहे। यहाँ, राग का अव्यक्त होना केवलज्ञानगम्य है, ध्याता के ज्ञानगम्य नहीं है। आप शुद्धोपयोगरूप हुआ पलटने का भी ज्ञाता ही है। पलटना, क्षयोपशमज्ञान का स्वभाव है; इसलिए यह उपयोग बहुत समय तक एकाग्र नहीं रहता है; इसको 'शुक्ल' राग के अव्यक्त होने ही के कारण कहा है।

गाथा ४८२ पर प्रवचन

आत्मा, ज्ञानानन्दस्वरूपी है, ऐसी उसमें लीनता जमे कि परमात्मादशा प्रगट करे, उस दशा को श्रेणी कहते हैं। आत्मा, ज्ञाता है, आनन्दस्वरूप है – ऐसा भान है और लीनता भी है, तदुपरान्त विशेष लीनता श्रेणी में जमती है – ऐसी एक धारावाही उपशम तथा क्षपकश्रेणी में आरूढ़ होता हुआ, प्रति समय कर्मों को उपशम तथा क्षयरूप करता है। उसके कारण अनन्त -गुनी विशुद्धता होती है। इस प्रकार शुद्ध होता हुआ मुनि, प्रथम पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान ध्याता है। यह पहला पाया है। शुक्लध्यान का दूसरा पाया बारहवें गुणस्थान में होता है, तीसरा तेरहवें गुणस्थान में और चौदहवें गुणस्थान में चौथा पाया होता है। प्रथम आत्मा का भान होना चाहिए और भ्रान्ति का नाश होना चाहिए। प्रथम, सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व प्रकृति के तीन टुकड़े होते हैं। उन तीन प्रकृतियों का तथा अनन्तानुबन्धीकषाय की

* व्यञ्जन नाम श्रुतवचन का है। जिससे अर्थ विशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतज्ञान के वाक्य को व्यञ्जन कहते हैं। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, पृष्ठ ४२९)

चार प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करके सम्यग्दृष्टि होता है। तत्पश्चात् निर्ग्रन्थ मुनिपना आता है। उन मुनिराज को वस्त्रादि का राग नहीं होता है। उस मुनिदशा में विशेष उग्रता करके अतिशय लीनता करे, तब श्रेणी का आरम्भ होता है और उसमें शुक्लध्यान का पहला पाया वर्तता है।

शुक्ल, अर्थात् श्वेत-उज्ज्वल और ध्यान, अर्थात् आत्मा के स्वभाव में एकाग्रता। शुक्लध्यान की दशा बहुत उत्कृष्ट है। जिसने आत्मा के स्वभाव का निर्णय किया हो, उसे वह दशा प्रगट होती है। आत्मा क्या है? उसका ख्याल किये बिना, उसमें एकाग्रता नहीं जमती है। आत्मा, देहादिक से भिन्न है; ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों से भरपूर है; आदि-अन्तरहित है; किसी संयोग से उत्पन्न हो, वैसा नहीं है। है.... है.... और है - उसे जानकर, उसमें एकाग्र होनेवाले को ध्यान होता है।

जो बाहर में और बाहर से सुख-शान्ति होना मानता है, वह आत्मा से शान्ति और सुख होता है - ऐसा नहीं मानता है। आत्मा है तो वह गुण, शक्तिरहित नहीं होता। जो उज्ज्वलता प्रगट करनी है, वह आत्मा में भरी है - ऐसा पहले निर्णय करे तो उसमें एकाग्रता करेगा। पहले पर की रुचि छोड़ना चाहिए.... परन्तु अनादि से जीवों को आत्मा का विश्वास नहीं आता है। अपनी सावधानी चूककर, पर में सुख मान बैठा है। संयोगों में उत्साह वर्तता है। आत्मा में अनन्त गुण भरे हुए हैं, उनका उत्साह नहीं है, तब तक धर्मध्यान नहीं होता है और धर्मध्यान के बिना शुक्लध्यान तो होता ही नहीं है। जिसे आत्मा का निर्णय तो हो गया है परन्तु बुद्धिपूर्वक का राग होता है, उसे धर्मध्यान होता है और फिर बुद्धिपूर्वक की कषाय न रहे, वह शुक्लध्यान है और वही आत्मा की शान्ति का कारण है।

आत्मा की पर्याय में पवित्रता रूकी हुई है, वह स्वयं के कारण रूकी हुई है परन्तु उसमें निमित्त, पुद्गलकर्म है; जो आत्मा से विपरीत लक्षणवाले हैं। नया विकार करता है, उसमें शरीरादि परपदार्थ भी निमित्त हैं। शरीर अच्छा हो तो ठीक है; शरीर कमजोर होता है तब ख्याल आता है कि अब यह शरीर नहीं रहेगा - ऐसे शरीर की ओर का लक्ष्य करता है, उस समय नये कर्म बँधते हैं परन्तु यदि उस समय आत्मा अपने स्वभाव में एकाग्र होवे तो उन कर्मों का उपशम या क्षय होता है। आत्मा पर में एकाग्र होता है तो कर्म का संग्रह होता है और स्वभाव

में एकाग्र होता है तो कर्म घटते जाते हैं। आत्मा की एकाग्रता से शुक्लध्यान होता है और तब शुक्ललेश्या होती है; कषाय भी एकदम मन्दतम होती है, इस कारण इस ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं।

कोई भी काम करते समय छह प्रकार के परिणाम होते हैं, अर्थात् छह प्रकार की लेश्या होती है।

(१) तीव्रतम कषाय, (२) तीव्रतर कषाय, (३) तीव्र कषाय, (४) मन्द कषाय, (५) मन्दतर कषाय, (६) मन्दतम कषाय होती है। व्यापार में, पुत्र के विवाह में, रुपयों के नुकसान के समय, संसार के किसी भी कार्य में, विवाह करने में, शरीर की अवस्था में, कायाकल्प करने में इत्यादि प्रत्येक कार्य में **तीव्र कषाय** के परिणाम होते हैं, या उससे मन्द परिणाम होते हैं। उसमें जब कषाय की अत्यन्त ही मन्दता होती है, तब शुक्ललेश्या होती है। शुक्लध्यान के समय वह लेश्या होती है।

यह भगवान आत्मा है। उसमें ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त शक्तियाँ और प्रति समय अवस्थाएँ होती हैं, वे आत्मा में बसती हैं; इसलिए उन्हें वस्तु कहते हैं। आत्मा, विकार में बसे, उसे वास्तव में वस्तु नहीं कहते है। गोम्मटसार में कहा है कि जिसमें गुण-पर्याय बसते हैं, वह वस्तु कहलाती है। अनन्त काल से काम-क्रोध, दया, दान, भक्ति आदि में सम्पूर्ण आत्मा को मानकर उसी में बसा है परन्तु वह भ्रान्ति है। मेरा निवास तो मुझमें है - ऐसी श्रद्धा -ज्ञान और रमणता करके अन्तर में बसना, वह वस्तु है। उसमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान होकर सिद्धदशा प्राप्त होती है और जन्म-मरण नहीं होते हैं, वह आत्मा अपने स्वरूप में ही बसता है। पूर्णता हो गयी, उसका नाश नहीं होता है; इसलिए इस शुक्लध्यान से आत्मा का वास्तविक वास्तु होता है।

इस आत्मा का कोई कर्ता या हर्ता नहीं है। किसी को कर्ता माने तो वस्तु नित्य नहीं रहती है और जो वस्तु न हो, उसका भी कोई कर्ता नहीं हो सकता है। आत्मा को स्वयं जाने नहीं तो तिरा नहीं जा सकता। कोई ईश्वर सहायता करे - ऐसा भी नहीं होता है क्योंकि ईश्वर ने अभी तक क्यों नहीं तारा ? ईश्वर को पता नहीं था - ऐसा मानेंगे तो ईश्वर को मूढ़ सिद्ध किया तथा किसी की कृपा से कल्याण माना जाए तो किसी की अकृपा से संसार में परिभ्रमण

करना होता है, अर्थात् अपना तो कोई दोष ही नहीं रहा.... परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। भगवान तो दर्पण की तरह आदर्श हैं। आत्मा स्वयं भगवान के समान है और आत्मा स्वयं भगवान हो सकता है। ऐसा भाव स्वयं में पैदा करने के लिए भगवान में उपचार करके कहते हैं कि भगवान आप मुझे तार दो, परन्तु भगवान किसी को तारते नहीं हैं। इस वस्तुस्वभाव को ठीक से समझकर अन्तरङ्ग में बसे, वह आत्मा का वास्तु कहलाता है। वरना तो लाखों का मकान बनाये परन्तु आत्मा, अनन्त गुण का भण्डार है, उसे नहीं समझे तो वह सच्चा वास्तु नहीं है। आत्मा, देह, मन, वाणी और विकल्पों से पार है तथा अनन्त गुणों का भण्डार है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से धर्मध्यानपूर्वक शुक्लध्यान होता है और उसे सिद्धदशा प्रगट होती है, वह वास्तु है। वह वास्तु लिया, सो लिया; अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, सो हुआ। अब, उसका नाश कभी नहीं होगा, यह वास्तु का वास्तविक स्वरूप है।*

उपशम तथा क्षपक, दोनों श्रेणी में आरूढ़ होता हुआ, प्रति समय कर्मों को उपशम तथा क्षयरूप करके अनन्त गुणी विशुद्धता से शुद्ध होता हुआ मुनि, प्रथम पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान ध्याते हैं। आत्मा की शान्ति की प्रतीति होने से अन्तर में ऐसी जमावट हो जाती है कि नगाढ़े बजें, शरीर को सिंह काटे, तथापि आत्मा का ध्यान नहीं टूटता है - ऐसे ध्यान को धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं।

जैसे विषयासक्त जीव, वेश्या नाचती हो तो उसके प्रेम में तल्लीन हो जाता है; वैसे ही जिसने पैसा, स्त्री, शरीर आदि परपदार्थों में सुख माना है, वह उसमें एकाग्र हो जाता है, उसे स्व की एकाग्रता का पता नहीं है, वह भी वेश्या में लीन होने जैसा है। जैसे, वेश्या दो घड़ी नृत्य करके चली जाती है परन्तु उसकी नहीं होती; उसी प्रकार पैसा, शरीरादि अमुक काल रहकर चले जाते हैं, वे आत्मा के नहीं होते। अत: जो उनमें प्रेम करके लीन होता है, वह वेश्या में ही लीन होने जैसा है। कोई कहता है कि वेश्या तो नखरे करती है, पैसे इत्यादि कहाँ नखरे करते हैं ? इसलिए उसमें अन्तर है। शरीरादि अनन्त बार आकर चले गये हैं, धनादिक भी वेश्या की तरह आया-जाया करते हैं क्योंकि अभी तो पहले की तरह पुण्य भी नहीं है। पर के प्रेमवाला, लक्ष्मी इत्यादि में दृष्टि जोड़ता है, वैसे यदि आत्मा में अन्तरदृष्टि

* सोनगढ़ में किसी साधर्मी के गृहप्रवेश के अवसर पर हुआ प्रवचन होने से इसमें वास्तु की चर्चा की गयी है।

करके लीन होवे तो धर्मध्यान होकर शुक्लध्यान हो जाए। वह शुक्लध्यान होने पर कर्मों का उपशम और क्षय होता है।

प्रथम, मिथ्यात्व की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करके सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ तो कहते हैं कि एक बार कौतुहल तो कर! और स्वतत्त्व की रुचि में प्रवेश तो कर!! ऐसा करने से तेरी भ्रान्ति का नाश हुए बिना नहीं रहेगा। फिर भले ही अल्प राग, दोष, और विषयकषाय के भाव हों, परन्तु उनकी रुचि और उनमें सुख है – ऐसी बुद्धि छूट जायेगी। ऐसे ज्ञानी को मोह की सात प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय हुए बिना नहीं रहता है।

जब आत्मा को प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तब दर्शनमोहनीय के तीन टुकड़े होते हैं। जिस प्रकार चक्की में मूँग दलते हैं तो पूरा मूँग, आधा मूँग और मूँग के छोटे टुकड़े – ऐसे तीन प्रकार होते हैं। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय प्रकृति, तीन भाग में बँट जाती है। आत्मा का भान होने पर उन तीन प्रकृतियों का और अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों का उपशम या क्षय होता है। आत्मा में आनन्द है, उसकी अरुचि करना और पर में आनन्द है – ऐसा मानकर पर की रुचि करना, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है क्योंकि उसमें पर का राग और आत्मा का द्वेष हुआ। आत्मा को चूककर, पर का अभिमान करना – मैंने पर के कार्य किये, हम थे तो यह काम हुआ, यह अनन्तानुबन्धी मान है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा न मानकर, दूसरे प्रकार से मानना, स्वभाव को समझने में आड़ डालना, वह अनन्तानुबन्धी माया, अर्थात् कपट है। आत्मा को भूलकर, पैसे इत्यादि का लोभ करना, 'चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए' यह भाव अनन्तानुबन्धी लोभ का है। जैसे, किसी वस्त्र में कोई पक्का रंग लगाया हो तो वह वस्त्र भले ही फट जाए परन्तु रंग नहीं छूटता है; इसी प्रकार लोभी जीवों को स्वप्न में भी पैसे इत्यादि के विचार आया ही करते हैं। आत्मा का भान होने पर इन चार अनन्तानुबन्धी की प्रकृतियों का तथा दर्शनमोहनीय प्रकृति का उपशम या क्षय होता है।

जैसे, पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण – ये चारों एक साथ होते हैं; उसी प्रकार आत्मा में एक अनन्तानुबन्धी का लोभ हो तो दूसरी तीनों कषायें साथ ही होती हैं। एक छूट जाए और तीन रह जाए – ऐसा नहीं होता है परन्तु यहाँ तो अनन्तानुबन्धी कषाय का

उपशम या क्षय हुआ हो, उसे ही धर्मध्यान होता है और धर्मध्यानपूर्वक शुक्लध्यान होता है – ऐसा कहते हैं।

आत्मा, शुद्ध चैतन्य और आनन्दस्वरूपी है। उसकी पर्याय में विकार है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है और परपदार्थ तो आत्मा से भिन्न हैं – ऐसा ज्ञान होने पर स्वभाव सन्मुख रुचि तथा सम्यग्दर्शन होता है, उसे सात प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय होता है। स्वभाव में आंशिक स्थिरता होने पर पाँचवाँ गुणस्थान, अर्थात् श्रावकदशा होती है। विशेष स्थिरता होने पर मुनिदशा होती है, तब बाहर में नग्नदशा होती है; वस्त्र-पात्रादिक नहीं होते हैं। यह छठी भूमिका / गुणस्थान है और सातवीं भूमिका में मुनिराज को उपदेश, आहार-पानी आदि का भी विकल्प नहीं होता है। वे मुनि तो जंगल में बसते हैं। माता ने जन्म दिया – ऐसी नग्नदशावाले होते हैं। स्वभाव में से अतीन्द्रियरस झरता है, अन्तरलीनता होती है, उसे अप्रमत्त, अर्थात् सातवाँ गुणस्थान कहते हैं। आत्मा के भान बिना, द्रव्यलिङ्गी मुनि होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसकी बात नहीं है। सातवीं भूमिका / गुणस्थान में विशेष निर्मलता होती है, तब आठवीं भूमिका में श्रेणी का आरम्भ करते हैं, केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते हैं, वह अपूर्वकरणगुणस्थान है और फिर नौवाँ अनिवृत्तिकरण तथा दशवाँ सूक्ष्मसम्पराय -गुणस्थान है। इन तीन गुणस्थानों में समय-समय में अनन्त गुनी विशुद्धता से वर्धमान होता हुआ, मोहनीयकर्म की इक्कीस प्रकृतियों को उपशम होने से उपशान्तकषायगुणस्थान, अर्थात् ग्यारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करता है।

यदि मोहनीय की प्रकृतियों को क्षय करना प्रारम्भ करे तो इन तीनों गुणस्थानों में मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों को सत्ता में से नष्ट करके क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस प्रकार बारहवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का पहला पाया प्रवर्तमान है। पृथक्, अर्थात् अलग-अलग; वितर्क, अर्थात् श्रुतज्ञान; और वीचार, अर्थात् (१) अर्थ का, (२) व्यञ्जन, अर्थात् अक्षररूप वस्तु के नाम का तथा (३) मन-वचन-काया के योग का पलटना होता है। यह सब इस पहले शुक्लध्यान में होता है। वहाँ अर्थ को द्रव्य-गुण-पर्याय का पलटना है, अर्थात् द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर, और पर्याय से पर्यायान्तर है। इसी प्रकार वर्ण से वर्णान्तर और योग से योगान्तर है। यह सब

अबुद्धिपूर्वक होता है, वह जीव निर्विकल्पदशा में ही है। इस कारण उसे इस संक्रान्ति का पता नहीं है परन्तु उस दशा में ऐसा पलटना होता है, वह केवलज्ञानी जानते हैं।

प्रश्न : ध्यान तो एकाग्र चिन्ता निरोध है परन्तु पलटने को ध्यान कैसे कहा जा सकता है ? अक्षर, योग इत्यादि पलटा खाते हैं तो वहाँ ध्यान कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान : जितनी बार एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर होता है, वह तो ध्यान है और वहाँ से पलटकर दूसरे ज्ञेय पर स्थिर हुआ, वह भी ध्यान है। इस प्रकार ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते हैं, अर्थात् अपने ही ज्ञेय में बारम्बार पलटे, उसे भी ध्यान कहते हैं क्योंकि स्वयं का ध्यान तो छूटता नहीं है। इस सन्तान की जाति एक है, यह अपेक्षा लेना तथा उपयोग पलटता है, वहाँ ध्याता को पलटाने की इच्छा नहीं है। यदि इच्छा होवे तब तो रागसहित होने से वह भी धर्मध्यान ही ठहरेगा। थोड़ा अव्यक्तराग है परन्तु वह केवलज्ञानगम्य है, उस ध्याता के ज्ञानगम्य नहीं है। स्वयं शुद्धोपयोगरूप होता हुआ, उस पलटने का भी ज्ञाता ही है और पलटना तो क्षयोपशमज्ञान का स्वभाव है। वह उपयोग बहुत समय तक एकाग्र नहीं रहता। उसे 'शुक्ल' ऐसा नाम राग, अव्यक्त होने से ही कहा है। ●●

यह तो उपसर्ग है

प्रश्न – यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाए तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा ?

उत्तर – किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाला जाए, यह तो उपसर्ग है; इससे मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वहाँ तो वस्त्र, ज्ञान का ज्ञेय है अर्थात् ज्ञेय–ज्ञायकपने का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

— *वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ ७०*

गाथा ४८३

अब, (शुक्लध्यान का) दूसरा भेद कहते हैं —

णिस्सेसमोहविलए, खीणकसाए य अंतिमे काल।
ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं ज्झाएदि एयत्तं॥

सब मोह क्षय हो वारखें गुणथान के अन्तिम समय।
निजरूप में हैं लीन, शुक्लध्यान वह एकत्व है॥

अन्वयार्थ : [णिस्सेसमोहविलए] आत्मा, समस्त मोहकर्म के नाश होने पर **[खीणकसाए य अंतिमे काले]** क्षीणकषायगुणस्थान के अन्त के काल में, **[ससरूवम्मि णिलीणो]** अपने स्वरूप में लीन हुआ, **[एयत्तं सुक्कं ज्झाएदि]** दूसरा शुक्लध्यान एकत्ववितर्कवीचारध्यान करता है।

भावार्थ : पहले पाये में उपयोग पलटता था, सो पलटता रह गया। एक द्रव्य तथा पर्याय पर, एक व्यञ्जन पर, एक योग पर रुक गया। अपने स्वरूप में लीन है ही। अब घातिकर्म के नाश से उपयोग पलटेगा, सो सबका प्रत्यक्ष ज्ञाता होकर लोकालोक को जानना, यह ही पलटना शेष रहता है।

गाथा ४८३ पर प्रवचन

प्रथम के प्रथक्त्ववितर्कवीचार के शुक्लध्यान में उपयोग पलटता था, वह यहाँ नहीं पलटता है। एक द्रव्य – एक गुण – एक पर्याय – एक व्यञ्जन और एक योग पर उपयोग स्थिर हो गया है। अपने स्वरूप में लीन तो है ही परन्तु अब घातिकर्म का नाश करके उपयोग पलटायेगा, वहाँ सबका प्रत्यक्ष ज्ञाता होकर लोकालोक का जानना – यही पलटना रहा है। ●●

गाथा ४८४

अब, (शुक्लध्यान का) तीसरा भेद कहते हैं —

केवलणाणसहावो, सुहमे जोगम्हि संठिओ काए।
जं ज्झायदि सजोगिजिणो, तं तिदियं सुहमकिरियं च॥

सयोगी जिन केवली थिर, सूक्ष्म काय योग में।
जो ध्यान करते हैं वही, सूक्ष्म क्रिया है तीसरा॥

अन्वयार्थ : [केवलणाणसहावो] केवलज्ञान ही है स्वभाव जिसका, ऐसा **[सजोगिजिणो]** सयोगीजिन **[सुहमे काए जोगम्हि संठिओ]** जब सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर, उस समय **[जं ज्झायदि]** जो ध्यान करता है, **[तं तिदियं सुहमकिरियं च]** वह तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान है।

गाथा ४८४ पर प्रवचन

देखो, यहाँ तेरहवें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रिया होती है – ऐसा कहते हैं। यह पढ़कर जो (इसका आशय) नहीं समझते, वे लोग आपत्ति उठाते हैं कि क्रिया तो केवली को भी करनी पड़ती है और तुम (क्रिया का) निषेध करते हो, यह ठीक नहीं है तो उनसे कहते हैं कि —

यह जो सूक्ष्मक्रिया कही है, वह देह की क्रिया की बात नहीं है परन्तु आत्मा के प्रदेशों का सूक्ष्म कम्पन होता है, उसकी बात है। आत्मा, देह की क्रिया नहीं कर सकता है और राग की क्रिया से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता है क्योंकि वह धार्मिकक्रिया नहीं है। आत्मा की श्रद्धापूर्वक वीतरागता होती है, वह आत्मा की क्रिया है। यहाँ तो कहते हैं कि केवली को सूक्ष्मक्रिया है, वह योग का कम्पन है, उससे भी बँध होता है और वह नुकसान का कारण है

परन्तु शुक्लध्यान के तीसरे पाये में काया के निमित्त से जो योग का कम्पन है, उसका ज्ञान कराते हैं।

जब घातियाकर्म के नाश से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब तेरहवाँ गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली होता है। वहाँ उस गुणस्थान काल के अन्त में अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब मनयोग-वचनयोग रुक जाते हैं और काययोग की सूक्ष्मक्रिया रह जाती है, तब शुक्लध्यान का तीसरा पाया कहलाता है। यहाँ उपयोग तो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब ही से अवस्थित है और ध्यान में अन्तर्मुहूर्त ठहरना कहा है परन्तु इस ध्यान की अपेक्षा तो यहाँ ध्यान है नहीं; योग के रुकने की अपेक्षा ध्यान का उपचार है। उपयोग की अपेक्षा कहें तो उपयोग रुक ही रहा है, कुछ जानना शेष रहा नहीं तथा पलटानेवाला प्रतिपक्षी कर्म रहा नहीं; इसलिए सदा ही ध्यान है। अपने स्व-स्वरूप में रम रहे हैं; समस्त ज्ञेय, आरसी (दर्पण) की तरह प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मोह के नाश से किसी में इष्ट अनिष्टभाव नहीं हैं – ऐसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रवर्तता है। ●●

केवली के आड़तिया दिगम्बर सन्त!

अहा! जैनदर्शन अलौकिक है और उसमें यह दिगम्बर दर्शन ही सच्चा जैनदर्शन है। इस बात में लोगों को पक्षपात जैसा लगता है, परन्तु भाई! ऐसी बात दिगम्बर सन्तों / केवली के आड़तिया मुनिराजों के अलावा अन्य कहीं है ही नहीं, परन्तु वे सच्चे भावलिङ्गी मुनिवर! मात्र नग्न होकर मुनि हो जाना ही सच्चा मुनिपना नहीं है।

अहो! भावलिङ्गी सन्तों ने पाताल तोड़कर, वस्तु के तल की अर्थात् अन्दर की अजब-गजब की बातें की हैं। *— प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, १/३५०*

गाथा ४८५

अब, (शुक्लध्यान का) चौथा भेद कहते हैं —

जोगविणासं किच्चा, कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं।
जं ज्झायदि अजोगिजिणो, णिक्किरियं तं चउत्थं च॥

योग का क्षय करें, चार अघाति क्षय के लिए जिन।
व्युपरतक्रियानिवृत्ति, चौथे ध्यान में अयोगि जिन॥

अन्वयार्थ : [जोगविणासं किच्चा] केवली भगवान्, योगों की प्रवृत्ति का अभाव करके **[अजोगिजिणो]** जब अयोगीजिन हो जाते हैं, तब **[कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं]** सत्ता में स्थित अघातियाकर्म की पिच्यासी प्रकृतियों का क्षय करने के लिए **[जं ज्झायदि]** जो ध्यान करते हैं, **[तं चउत्थं णिक्किरियं च]** वह चौथा व्युपरतक्रियानिवृति नामक शुक्लध्यान होता है।

गाथा ४८५ पर प्रवचन

देखो, यहाँ चौदहवें गुणस्थान में क्रिया की निवृत्ति होती है – ऐसा कहते हैं; इसलिए अज्ञानी का ऐसा तर्क है कि चौदहवें गुणस्थान तक क्रिया अवश्य करनी पड़ती है और तुम क्रिया का निषेध करते हो, वह ठीक नहीं है। उससे कहते हैं कि यह क्रिया, आत्मा को लाभदायक नहीं है, उस क्रिया द्वारा ऐसा चौदहवाँ गुणस्थान हुआ नहीं है क्योंकि वह तो विकारी क्रिया है और उससे तो आस्रव-बन्ध होता है। उसका अभाव करे, तब चौदहवाँ गुणस्थान प्रगट होता है।

चौदहवाँ गुणस्थान, अयोगीजन है। वहाँ उस गुणस्थान की स्थिति पञ्च लघु अक्षर

प्रमाण है। वहाँ योगों की प्रवृत्ति का अभाव है सो सत्ता में अघातियाकर्म की पिच्यासी प्रकृतियाँ हैं, उनके नाश का कारण यह योगों का रुकना है; इसलिए इसको ध्यान कहा है। तेरहवें गुणस्थान की तरह यहाँ भी ध्यान का उपचार जानना चाहिए, क्योंकि यहाँ कुछ इच्छापूर्वक उपयोग को रोकनेरूप ध्यान नहीं है। यहाँ कर्मप्रकृतियों के नाम तथा और भी विशेष कथन अन्य ग्रन्थों के अनुसार है, उन्हें संस्कृत टीका से जानना। इस प्रकार ध्यान नामक तप का स्वरूप कहा। ●●

अतीन्द्रिय दशा अर्थात् इन्द्रियों को ढाँकना नहीं

अहा! मुनि को देहमात्र परिग्रह होता है अर्थात् एक शरीर ही होता है; परन्तु उस पर वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। उनको वस्त्र का धागा भी नहीं होने का कारण यह है कि पाँच इन्द्रियों की चञ्चलतारूप अस्थिरता भी मिट गई है, इसलिए सम्पूर्ण आत्मा में अतीन्द्रियपना प्रगट हो गया है, उनका नाम मुनि है। जिसे आत्मा का भान न हो और अकेला नग्न होकर घूमता हो, वह मुनि नहीं है।

मुझे अन्दर से यह बात आई थी कि यह नग्नपना अर्थात् क्या? मुनि को वस्त्र का एक भी टुकड़ा क्यों नहीं? अहा! मुनि को अतीन्द्रियदशा हो गई है, इसलिए उनको किसी भी इन्द्रिय के किसी भी भाग को ढाँकना हो ही नहीं सकता। उनकी समस्त इन्द्रियाँ खुल्ली हो गई हैं और ऐसे जैन के साधु होते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

— प्रवचन रत्न चिन्तामणि, २/३५

गाथा ४८६

अब, तप के कथन का सङ्कोच / उपसंहार करते हैं —

एसो वारसभेओ, उग्गतवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खविय कम्मपुंजं, मुत्तिसुहं उत्तमं लहदि॥

बारह तपों का जो करें, उपयोगयुत हो आचरण।
सब कर्म पुञ्ज विनाश करके, मुक्ति सुख उत्तम लहें॥

अन्वयार्थ : [एसो वारसभेओ] यह बारह प्रकार का तप है। **[जो उवजुत्तो उग्गतवो चरेदि]** जो मुनि, उपयोगसहित इस व्रत का आचरण करता है, **[सो कम्मपुंजं खविव]** वह मुनि, कर्मसमूह का नाश करके **[उत्तमं मुत्तिसुहं लहदि]** उत्तम (अक्षय) मोक्षसुख को पाता है।

भावार्थ : तप से कर्म की निर्जरा होती है, संवर होता है; ये दोनों ही मोक्ष के कारण हैं, इसलिए जो मुनिव्रित लेकर बाह्य-अभ्यन्तर भेदरूप तप का विधिपूर्वक आचरण करता है, वह मोक्ष पाता है, तब ही कर्म का अभाव होता है। इसी से अविनाशी बाधारहित आत्मिकसुख की प्राप्ति होती है। ऐसे बारह प्रकार के तप के धारक तथा इस तप का फल पानेवाले साधु चार प्रकार के कहे गये हैं – (१) अनगार, (२) यति, (३) मुनि, (४) ऋषि। सामान्य साधु, गृहवास के त्यागी; मूलगुणों के धारक, **अनगार** हैं। ध्यान में स्थित होकर श्रेणी माण्डनेवाले **यति** हैं। जिनको अवधि, मनःपर्ययज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो, वे मुनि हैं और ऋद्धिधारी हों, वे ऋषि हैं। इनके चार भेद हैं – (१) राजर्षि, (२) ब्रह्मर्षि, (३) देवर्षि, (४) परमर्षि। विक्रियाऋद्धिवाले, राजर्षि; अक्षीणमहानसऋद्धिवाले, ब्रह्मर्षि; आकाशगामी, देवर्षि और केवलज्ञानी, परमर्षि हैं।

गाथा ४८६ पर प्रवचन

बारह प्रकार के तप कहे हैं, उनमें उपयोग लगाकर जो मुनि उग्र / तीव्र तप का आचरण करते हैं, वे मुनि, मोक्षसुख को प्राप्त होते हैं। कैसा है मोक्षसुख? क्षय किया है, कर्मपुञ्ज जिसने तथा अक्षय है–अविनाशी है। जितना काल संसार का है, उससे अनन्त गुना काल मोक्ष का है क्योंकि संसार का अन्त आ जाता है, मोक्ष का अन्त नहीं आता है। भूत काल से भविष्य काल भी अनन्त गुना है। जैसे, मक्खन का घी होता है परन्तु घी का मक्खन नहीं होता; इसी प्रकार मोक्ष में से जीव वापस संसार में नहीं आता। जो मुनि अपने में उपयोग जोड़ते हैं, उन्हें यह मोक्ष होता है – ऐसा कहा गया है; दूसरी किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता है।

आत्मा में उपयोग को लगानेवाले को इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती है, इसका नाम तप है और उस तप से संवर तथा निर्जरा होती है; ये दोनों मोक्ष का कारण हैं। कोई भी मुनिराज ऊपर कहे गये बारह प्रकार के तप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष होता है और तब ही कर्मों का अभाव होता है। उससे ही अविनाशी बाधारहित आत्मिकसुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो इन बारह प्रकार के तप के धारक है तथा इन तप के फल को प्राप्त करते हैं, वे साधु चार प्रकार के कहे गये हैं —

(१) अनगार, (२) यति, (३) मुनि, (४) ऋषि।

(१) गृहवास त्यागी और मूलगुणों के धारक सामान्यसाधु को अनगार कहते हैं। देखो, यहाँ प्रथम गृहवास छोड़े, तब तो मुनिपना होता है; उसके बदले कुर्मापुत्र को घर में केवलज्ञान हुआ है और घर के व्यक्तियों को छुरा हाथ में नहीं आता था, वह केवली ने बताया – ऐसा मानते हैं, वह बात मिथ्या है। ऐसी कथाएँ श्वेताम्बर में आती हैं। ऐलायचीकुमार को नृत्य करते–करते केवलज्ञान हुआ और मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर केवलज्ञान हुआ, – ये सब बातें मिथ्या हैं क्योंकि गृहत्याग के बिना मुनिपना नहीं होता है और मुनिपने के बिना तीन काल में भी केवलज्ञान नहीं होता है।

(२) जो ध्यान में रहकर श्रेणी माँढते हैं, वे यति हैं। अभी जो दवा इत्यादि करते हैं, उन्हें यति नहीं कहते, परन्तु पुण्य–पाप का परिणाम न होने दे और स्वभाव का यत्न करे, उन्हें यति कहते हैं।

(३) जिन्हें अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञान हो, वे मुनि हैं। यहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात करके ज्ञान की विशेषता की अपेक्षा से अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी को मुनि कहा गया है।

(४) जो ऋद्धिधारक होते हैं, वे ऋषि हैं। इन ऋषि के भी चार भेद हैं - (१) राजर्षि, (२) ब्रह्मर्षि, (३) देवर्षि (४) परमर्षि।

जो विक्रियाऋद्धिवाले, राजर्षि हैं। नग्न-दिगम्बर मुनि सन्त हों, और उनको शरीर छोटा-बड़ा जैसा बनाना हो, वैसा बनाने की ऋद्धि प्रगट हुई हो, उन्हें राजर्षि कहते हैं।

अक्षीण महान ऋद्धिवाले, ब्रह्मर्षि हैं। हाथ में स्वयं ग्रास लिया हो, उसमें से हजारों लाखों लोग भोजन कर लें - ऐसी ऋद्धि होती है और जहाँ आहार के लिए गये हों, वहाँ जिसमें से आहार दिया हो, उस आहार में से लाखों-करोड़ों लोग भोजन कर लेने पर भी आहार कम न हो - ऐसी ऋद्धिधारी को ब्रह्मर्षि कहते हैं।

आकाशगामी, अर्थात् चारणऋद्धिवाले, देवर्षि हैं। आकाश में चलने की ऋद्धि जिन्हें प्रगट हुई हो, वे देवर्षि हैं।

केवलज्ञानी, परमर्षि हैं।

ये चार प्रकार की ऋद्धि, मुनिराज को होती हैं। जो मिथ्यादृष्टि, अर्थात् आत्माभानरहित साधु होता है, उसकी बात यहाँ नहीं है; उसे इस प्रकार की ऋद्धि नहीं होती है - ऐसा समझना चाहिए।●●

मुक्ति का राजमार्ग - वस्त्ररहित मुनिदशा

चौदह ब्रह्माण्ड में मुनियों की दशा सदा ऐसी ही होती है, उन्हें वस्त्र या पात्र के परिग्रह की वृत्ति कभी नहीं होती। छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका का ऐसा ही स्वभाव है। अनन्त सन्तों के द्वारा स्वयं पाला हुआ और कहा हुआ यही मुक्ति का राजमार्ग है।

— महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३०

गाथा ४८७

अब, इस ग्रन्थ के कर्ता स्वामी कार्तिकेय मुनि अपना कर्तव्य प्रगट करते हैं —

जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेक्खाओ, चंचलमण-रुंभणट्ठं च॥

जिनवचन की हो भावना, अवरुद्ध चञ्चल चित्त हो।
परम श्रद्धा से रचा, यह ग्रन्थ स्वामी कुमार ने॥

अन्वयार्थ : [अणुवेक्खाओ] यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ **[सामिकुमोरण]*** स्वामिकुमार ने **[परमसद्धाए]** श्रद्धापूर्वक (ऐसा नहीं कि कथनमात्र कर दिया हो। इस विशेषण से अनुप्रेक्षा से अत्यन्त प्रीति सूचित होती है) **[जिणवयणभावणट्टं]** जिनवचन की भावना के लिये (इस वचन से यह बताया है कि ख्याति-लाभ-पूजादिक लौकिकप्रयोजन के लिए यह ग्रन्थ नहीं बनाया गया है। जिनवचन का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, उसकी बारम्बार भावना स्पष्ट करना, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो, कषायों का नाश हो - ऐसा प्रयोजन है) **[चंचलमणरुं भणट्ठं च रइया]** और चञ्चल मन को रोकने के लिए रचा (बनया) है। इस विशेषण से ऐसा जानना कि मन चञ्चल है, इसलिए एकाग्र नहीं रहता है, उसको इस शास्त्र में लगावें तो राग-द्वेष के कारण विषय-कषायों में न जावे, इस प्रयोजन के लिए ये अनुप्रेक्षा ग्रन्थ बनाया है; अतः भव्यजीवों को इस का अभ्यास करना योग्य है, जिससे जिनवचन की श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि हो और चञ्चल मन इसके अभ्यास में लगे; अन्य विषयों में न जाए।

---

* यहाँ कुमार शब्द से ऐसा सूचित होता है कि यह मुनि, जन्म ही से ब्रह्मचारी थे।

गाथा ४८७ पर प्रवचन

अब, ग्रन्थकर्ता स्वामीकार्तिकेय मुनि अपना कर्तव्य प्रगट करते हैं; इसलिए इस गाथा में इस ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बताते हैं।

स्वामीकुमार अथवा स्वामी कार्तिकेय नामक मुनिराज ने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ गाथारूप में बनाया है। वे भावलिङ्गी मुनि थे, उन्हें यह ग्रन्थ रचना का भाव हुआ। वस्तुतः ग्रन्थ तो स्वयं ग्रन्थ के कारण लिखा गया, ताड़पत्र पर जंगल में प्राकृतभाषा में श्लोक लिखे और श्रावक उन्हें ले गये। वास्तव में शब्दों को किसी ने बनाया नहीं है; शब्दों की आम्नाय अनादि की है, उसे किसी ने किया नहीं है। स्वामी कार्तिकेय इस ग्रन्थ के रचयिता हैं – ऐसा कहना व्यवहार का कथन है।

यहाँ कुमार शब्द से ऐसा ज्ञात होता है कि ये मुनिराज, जन्म से ही ब्रह्मचारी थे। उन्होंने यह ग्रन्थ श्रद्धापूर्वक बनाया है; कल्पना से नहीं बनाया है। सर्वज्ञ वीतरागदेव की वाणी की श्रद्धा और ज्ञान हुआ है, इस कारण यह भाव इसमें लिखा गया है। सर्वज्ञ ने जैसा स्वभाव कहा, वैसी प्रतीति हुई है। भगवान सर्वज्ञदेव परिपूर्ण जानने-देखनेवाले हैं; मुझे अल्पज्ञान होने पर भी मेरा स्वभाव सर्वज्ञ होने का है – ऐसी प्रतीतिपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है परन्तु ऐसा नहीं है कि कथनमात्र बना दिया हो। इस विशेषण से अनुप्रेक्षा में अतिप्रीति सूचित होती है।

प्रयोजन कहते हैं कि — जिनवचन की भावना के लिए रचा है। इस वाक्य से यह बतलाया है कि ख्याति, लाभ, पूजादि, लौकिकप्रयोजन के लिए नहीं रचा है। शुभराग है, उसका भी मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ – ऐसी भावना वर्तती है और ज्ञाता-दृष्टापना रहने से सर्वज्ञ-वीतराग हुआ जाता है – ऐसी भावना, मुनिराज को है। जिनवचन का ज्ञान – श्रद्धान हुआ है; इसलिए आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसका लक्ष्य हुआ है। इन अनुप्रेक्षाओं को बारम्बार भाना, स्पष्ट करना कि जिससे ज्ञान की वृद्धि हो, कषाय नष्ट हो – यह प्रयोजन दर्शाया है।

दूसरा प्रयोजन यह है कि चञ्चल मन को स्थिर करने के लिए बनाया है। इस विशेषण से यह समझना कि मन चञ्चल है; वह एकाग्र नहीं रहता है। उसे यदि इस शास्त्र में

लगायें तो राग-द्वेष के कारण जो विषय है, उनमें नहीं जाएगा, अर्थात् आत्मविचार में लगावें तो विषयों की ओर का झुकाव छूट जाता है। इस प्रयोजन के लिए इस अनुप्रेक्षाग्रन्थ की रचना की गयी है। भव्यजीवों को इसका अभ्यास करना योग्य है, इससे जिनवचन की श्रद्धा होती है, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है तथा इसके अभ्यास में जुड़ने से चञ्चल मन अन्य विषयों में नहीं जाता है।●●

वन्दन करने योग्य भावलिङ्गी मुनि

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा पूर्ण स्वभावसन्मुख ढलनेरूप विनय में जो भलीप्रकार-सम्यक्‌रूप से रहते हैं, वे प्रशंसा के योग्य हैं अथवा सम्यक् प्रकार से आत्मस्वभाव में स्वस्थ हैं, जागृत हैं, लीन हैं, गणधर-आचार्य भी जिनका गुणनुवाद करते हैं, वे भावलिङ्गी मुनि वन्दना करने योग्य हैं। अन्दर में अमृत का भण्डार खोलकर एकाग्रता का आनन्द चखनेवाले नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी सन्त होते हैं। उनसे जो विपरीत हैं, वे जैनदर्शन से भ्रष्ट हैं। वे किञ्चित् भी गुणवान नहीं हैं, वे वन्दन करने योग्य नहीं हैं।

नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ परमेश्वर (मुनि) अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द में मस्त हैं। वे अन्दर में अमृत का सागर उछालकर उसमें सिद्ध परमात्मा की जाति का अतीन्द्रिय आनन्द है, उसका अनुभव करते हैं - ऐसे जैनमुनि होते हैं। जो उनकी विनय नहीं करते, मत्सरभाव रखते हैं, वे वन्दन करने योग्य नहीं हैं।

जो सहज उत्पन्न यथाजातरूप जिनमुद्रा है, उसे देखकर उसकी श्रद्धा नहीं करते तथा उसका विनय सत्कार-प्रीति नहीं करते और मत्सरभाव करते हैं, वे स्वयं के माने हुए कुसंयम को प्राप्त है अर्थात् लौकिक दीक्षा ग्रहण की है तो भी वे प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं।

— अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ १८४

गाथा ४८८

अब, अनुप्रेक्षा का माहात्म्य कहकर भव्यों को उपदेशरूप फल का वर्णन करते हैं —

वारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तमं सोक्खं॥

जिनागम अनुसार, अनुप्रेक्षा कही द्वादश अहो।
जो पठन श्रवण करे सुभावे, पाए उत्तम सौख्य को॥

अन्वयार्थ : [वारसअणुपेक्खाओ] ये बारह अनुप्रेक्षाएँ, **[जिणागमाणुसारेण भणिया हु]** जिनागम के अनुसार कही हैं (इस वचन से यह बताया है कि मैंने कल्पित नहीं कही है; शास्त्रानुसार कही है)। **[जो पढइ सुणइ भावइ]** जो भव्यजीव इनको पढ़े, सुने और इनकी भावना (बारम्बार चिन्तवन) करे, **[सो उत्तमं सोक्खं पावइ]** वह उत्तम (बाधारहित, अविनाशी, स्वात्मीक) सुख को पावे। यह सम्भावनारूप कर्तव्य अर्थ का उपेदश जानना। भव्यजीव है सो पढ़ो, सुनो, बारम्बार इनके चिन्तवनरूप भाव करो।

गाथा ४८८ पर प्रवचन

अब, अनुप्रेक्षा का माहात्म्य कहकर भव्यजीवों को उपदेशरूप फल का वर्णन करते हैं। यह बारह अनुप्रेक्षाएँ जिनागम के अनुसार प्रगट की हैं; किसी कल्पना से बात नहीं की हैं परन्तु पूर्व आम्नाय अनुसार कही हैं। जो भव्य जीव इन्हें पढ़ेगा, सुनेगा अथवा भावना, अर्थात् बारम्बार चिन्तन करेगा, वह बाधारहित, अविनाशी, स्थायी उत्तम सुख को प्राप्त करेगा। यह सम्भावनारूप कर्तव्य अर्थ का उपदेश समझना। इसलिए हे भव्यजीवों! इसे जानो, सुनो और बारम्बार चिन्तवनरूप भावना करो।●●

गाथा ४८९

अब, अन्त मङ्गल करते हैं —

तिहुयणपहाणस्वामिं, कुमारकाले वि तविय तवचरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरिमतियं संथुवे णिच्चं॥

बालवय में तप किया, तिहुँ लोक के नायक हुए।
वसुपूज्य सुत अरु मल्लि, अन्तिम तीन जिन को नित नमन॥

अन्वयार्थ : [**तिहुयणपहाणस्वामिं**] तीन भुवन के प्रधान स्वामी तीर्थङ्करदेव, जिन्होंने [**कुमारकाले वि तविय तवचरणं**] कुमारकाल में तपश्चरण धारण किया – ऐसे [**वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं**] वसुपूज्य राजा के पुत्र वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन और अन्त के तीन, अर्थात् नेमिनाथजिन, पार्श्वनाथजिन, वर्द्धमानजिन – इन पाँचों जिनों का मैं [**णिच्चं संथुवे**] नित्य ही स्तवन करता हूँ, उनके गुणानुवाद करता हूँ, वन्दन करता हूँ।

भावार्थ : ऐसे कुमारश्रमण पाँच तीर्थङ्करों को स्तवन–नमस्काररूप अन्तमङ्गल किया है। यहाँ ऐसा सूचित होता है कि आप (श्री स्वामिकार्तिकेय) कुमार अवस्था में मुनि हुए हैं, इसलिए कुमार तीर्थङ्करों से विशेष प्रीति उत्पन्न हुई है; इसलिए उनके नामरूप अन्त मङ्गल किया है।

ऐसे श्री स्वामीकार्तिकेय मुनि ने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ समाप्त किया।

गाथा ४८९ पर प्रवचन

यहाँ तीन भुवन के स्वामी कहे हैं, अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान तीन लोक के ज्ञाता हैं – ऐसा समझना। इन चौबीस तीर्थङ्करों में पाँच बाल–ब्रह्मचारी थे और इस ग्रन्थ के रचनाकार मुनिराज

स्वयं भी बाल-ब्रह्मचारी थे। श्वेताम्बर में मल्लिनाथ तथा नेमिनाथ दो ही तीर्थङ्कर बाल-ब्रह्मचारी थे - ऐसा कहते हैं परन्तु वह बात झूठ है। भगवान को अभी २५०० वर्ष हुए हैं, उसमें इतना बड़ा फेरफार कर दिया है। यह ग्रन्थ तो २२०० वर्ष पहले लिखा गया है। महावीर भगवान ने विवाह किया था और उनके पुत्री-दामाद थे, यह सब बातें कल्पित हैं। समाज को अनुकूल लगे - ऐसी बहुत-सी बातें भी भगवान के नाम से रच दी हैं। अन्तिम तीन तीर्थङ्करों को थोड़ा काल होने से वे ब्रह्मचारी ही होना चाहिए — ऐसी बात न्याय से बैठती है; इसलिए पाँच बाल-ब्रह्मचारी थे, यह बात ही सत्य है।

— ऐसे कुमारश्रमण पाँच तीर्थङ्करों को स्तवन, नमस्काररूप अन्तमङ्गल किया है। यहाँ ऐसा सूचित होता है कि श्री स्वामिकार्तिकेय, कुमार अवस्था में मुनि हुए हैं; इसलिए कुमार तीर्थङ्करों से विशेष प्रीति उत्पन्न हुई है; इसलिए उनके नामरूप अन्तमङ्गल किया है।

इस प्रकार श्री स्वामीकार्तिकेय मुनि ने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ समाप्त किया।

अब, इस वचनिका के होने का सम्बन्ध लिखते हैं —

(दोहा)

प्राकृत स्वामिकुमार कृत, अनुप्रेक्षा शुभ ग्रन्थ।
देशवचनिका तासकी, पढ़ौ लगौ शिव पन्थ॥ १॥

स्वामी कार्तिकेयमुनि इन ४८९ गाथा रचने में निमित्त थे। इस बारह भावना के ग्रन्थ को जानो और इसका चिन्तवन करके शिवपंथ में लग जाओ। आत्मा कल्याणस्वरूप है, उसकी भावना करो।

(चौपाई)

देश ढुँढाहड़ जयपुर थान, जगतसिंह नृपराज महान।
न्यायबुद्धि ताकैं नित रहै, ताकी महिमा को कवि कहै॥ २॥

ताके मन्त्री बहुगुणवान, तिनकैं मन्त्र राजसुविधान।
ईति भीति लोकनिकै नाहिं, जो व्यापै तो झट मिटि जाहिं॥ ३॥

धर्मभेद सब मतके भले, अपने अपने इष्ट जु चले।
जैनधर्म की कथनी तनी, भक्ति प्रीति जैननिकै घनी॥ ४॥

तिनमें तेरापंथ कहाव, धरै गुणीजन करै बढाव।
तिनिके मध्य नाम जयचन्द्र, मैं हूँ आतमराम अनन्द॥ ५॥

धर्मराग तैं ग्रंथ विचारि, करि अभ्यास लेय मनधारि।
भावन बारह चितवन सार, सो हूँ लखि उपज्यो सुविचार॥ ६॥

देशवचनिका करिये जोय, सुगम होय बांचै सब कोय।
यातें रची वचनिका सार, केवल धर्मराग निरधार॥ ७॥

मूलग्रंथतैं घटि बढि होय, ज्ञानी पंडित सोधो सोय।
अल्पबुद्धिकी हास्य न करै, संतपुरुष मारग यह धरैं॥ ८॥

बारह भावनकी भावना, बहु लै पुण्ययोग पावना।
तीर्थङ्कर वैराग जु होय, तब भावै सब राग जु खोय॥ ९॥

दीक्षा धारै तब निरदोष, केवल ले अरु पावै मोष (मोक्ष)।
यह विचारि भावौ भवि जीव, सब कल्याण सुधरौ सदीव॥ १०॥

पञ्च परमगुरु अरु जिनधर्म, जिनवानी भाषै सब मर्म।
चैत्य चैत्यमन्दिर पढ़ि नाम, नमू मानि नव देव सुधाम॥ ११॥

(दोहा)

संवत्सर विक्रमतणू, अष्टादशशत आनि।
त्रेसठि सावण तीज बदि, पूरण भयो सुमानि॥ १२॥

जैनधर्म जयवन्त जग, जाको मर्म सु पाय।
वस्तु यथारथरूप लखि, ध्यायें शिवपुर जाय॥ १३॥

ढूँढाहर देश में जयपुर शहर है, उसमें अभी ३००० जैन परिवार हैं और २०० दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। वहाँ का राजा जगतसिंह था, अभी के जैसे राजा हैं, वैसा नहीं था। उसका मन्त्री गुणवान था। राजा, गुप्त बात हो तो उस मन्त्री से करता था। शहर में लोगों को किसी भी प्रकार का भय नहीं था, कदाचित् किसी समय भय या दुःख होता तो शीघ्रता से दूर करता था। अभी के राजा तो है कि कुत्ते-बन्दर को तीर से मार डालते हैं, मछलियों का भोजन इत्यादि हिंसा

के कुकृत्य करते हैं, वह सब क्रिया तो स्वयं के कारण होती है परन्तु उस कार्य करने में भाव कैसे होते हैं? – यह बात है।

पहले के राजा तो धर्म के काम में सिर नहीं मारते थे। धर्म के भेद बहुत थे परन्तु राजा उनमें विघ्न नहीं करते थे। उन धर्मों में जैनधर्म की प्रसिद्धि थी, बड़े-बड़े बहुत भक्त थे। जैनधर्म में भी तेरहपंथ और बीसपंथ दो भेद हैं। बीसपंथ तो शिथिल है और तेरहपंथ कड़क पंथ है। जैनधर्म में उत्कृष्ट में उत्कृष्ट पंथ हो तो यह तेरहपंथ है और नीचे में नीचा धर्म, जैन के नाम से हो तो स्थानकवासी में से एक तेरहपंथ निकला है, वह है क्योंकि उसके माननेवाले दया, दान आदि में पाप मानते हैं। उस तेरहपंथ की बात यहाँ नहीं है। यहाँ दिगम्बर का कड़कपंथ है, वह तेरहपंथ है। उसमें श्री टोडरमलजी, श्री बनारसीदासजी, श्री जयचन्दजी इत्यादि विद्वान हो गये हैं।

इस तेरहपंथ में पण्डित जयचन्दजी हो गये हैं, उन्होंने धर्मानुराग से इस ग्रन्थ को विचार करके, अभ्यास करके, मन में धारण करके बारह भावनाओं का चिन्तन करने के लिए देशवचनिका लिखी है। यह प्रचलितभाषा में लिखी हुई बारह भावनाएँ, सुलभ हैं। तीर्थङ्कर भी सर्वज्ञ और मुनि होने से पहले इन बारह भावनाओं को भाते हैं और राग घटने पर जिनदीक्षा अङ्गीकार करते हैं। इन्द्रों के पूज्य तीर्थङ्कर भी यह भावनाएँ भाते थे; वे खोटी भावनाएँ नहीं भाते थे।

वर्तमान के पण्डित ऐसा कहते हैं कि इन भावनाओं में-जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जो होना होता है, वह होता है – ऐसा ज्ञानी भावना भाता है, वह आपत्ति के समय आश्वासन के लिए भाता है परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ज्ञानी खोटी भावना भाता है.... परन्तु ऐसा नहीं है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसी ही भावना, ज्ञानी भाता है।

(भाषा वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी कहते हैं कि) मूलग्रन्थ से लिखने में कहीं अन्तर पड़ा हो तो ज्ञानी विद्वानों को भूल सुधार लेना चाहिए..... मेरी अल्पबुद्धि जानकर हँसी नहीं करना चाहिए। बड़े पुरुषों का यह मार्ग है। यह बारह भावनाएँ प्रत्येक को भाना चाहिए। इससे पाप का नाश होकर राग घटकर पुण्य होगा; इसलिए भव्य जीवों को यह भावनाएँ भाने योग्य है।

यहाँ नौ प्रकार के देवों को वन्दन करके, अन्त मङ्गल करते हैं। पञ्च परमेष्ठी, वे देव हैं; जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य, और चैत्य भी देव हैं।

बोधपाहुड़, गाथा २४ में कहा है कि जो धन दे, वह देव है। ये नौ प्रकार के देव आत्मलक्ष्मी प्राप्त कराने में निमित्त हैं, इसलिए वे देव हैं। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष – ऐसा चार प्रकार के लाभ देते हैं; इसलिए वे देव हैं। आत्मा, शुभराग करता है, उसमें ये निमित्त हैं। धर्म, अर्थात् पुण्य; अर्थ, अर्थात् पैसा; काम, अर्थात् विषय; मोक्ष, अर्थात् मुक्ति, वह देव देता है।

वीतराग की वाणी जगत् के समस्त मर्म को खोल देती है; इसलिए शास्त्र भी देव है। भगवान की प्रतिमा भी देव है। पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमा होती है, वह भी देव है। चैत्यमन्दिर स्वयं देव है। जहाँ अरहन्त–सिद्धादि की प्रतिमा विराजमान की है –ऐसे चैत्यमन्दिर को भी यहाँ देव कहा है। इस प्रकार नौ देव के नाम देकर, वे धर्म के धाम हैं – ऐसा कहकर नमन किया है। इस प्रकार अन्त मङ्गल किया है। ●●

इस प्रकार स्वामीकार्तिकेय मुनिराज द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के, तीर्थधाम सोनगढ़ में, शनिवार, २६ जुलाई १९५२ से सोमवार, २३ सितम्बर १९५२ तक हुए गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

(परिशिष्ट प्रवचन)

सर्वज्ञ के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ

[कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१ से ३२३ गाथाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से इन गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री का वस्तुविज्ञानसार ग्रन्थ में उपलब्ध प्रवचन, यहाँ परिशिष्टरूप में दिया जा रहा है।]

वस्तु की पर्याय, क्रमबद्ध ही होती है तथापि सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को ही इसका यथार्थ निर्णय होता है और सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से निर्मल पर्यायें होती हैं; इसके बिना न तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है और न शुद्धपर्याय ही होती है। इस प्रकार इसमें सम्यक् पुरुषार्थ है। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाने के लिए यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित २० विषयों का स्पष्टीकरण आ जाता है —

१. सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना,
२. सर्वज्ञ के निर्णय में पुरुषार्थ,
३. सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा का फल,
४. द्रव्यदृष्टि,
५. जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय,
६. उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता,
७. द्रव्य-गुण-पर्याय,
८. सम्यग्दर्शन,
९. कर्तृत्व और ज्ञातृत्व,
१०. साधकदशा का स्वरूप,
११. कर्म में उदीरणा इत्यादि प्रकार,
१२. मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि,
१३. सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की मान्यता में अन्तर,
१४. अनेकान्त और एकान्त,
१५. पाँच समवाय,

१६. अस्ति-नास्ति,

१७. निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध,

१८. निश्चय-व्यवहार,

१९. सर्वज्ञ और आत्मज्ञ, और

२०. निमित्त की उपस्थिति रहने पर भी उसके बिना कार्य का होना।

सर्वज्ञ के निर्णय में इन सबका निर्णय आ जाता है। इसमें अनेक तरह से बारम्बार पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता सिद्ध की है और इस प्रकार स्वसन्मुखता कराकर आत्मा की पहचान करायी है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर, सर्वज्ञ का निर्णय कर, ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर मोक्ष का सत्य पुरुषार्थ प्रगट करें - यही भावना है।●●

श्री कार्तिकेयस्वामी ने सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा के वर्णन में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तन करता है तथा उसमें मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी किस प्रकार आ जाता है – यह विशेष ज्ञातव्य है।

इन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है? सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिन्तन करता है? – यह बात यहाँ बतायी है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना, झूठा आश्वासन देने के लिए नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है, उसी प्रकार स्वयं चिन्तवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होनेवाली अवस्था, सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, उस काल में वही अवस्था होती है; दूसरी नहीं होती।' इस निर्णय में एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है किन्तु सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक सच्चा अनेकान्तवाद और ज्ञानस्वभाव की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है।

आत्मा, सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, वह अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य, सामान्य है और प्रति समय होनेवाली पर्याय, विशेष है। सामान्यरूप में ध्रुव रहकर, वस्तु का विशेषरूप परिणमन होता है; उस विशेषपर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो प्रति समय विशेष में शुद्धता होती है और यदि उस विशेषपर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि व देहादि है, वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। जिसे स्वरूप की रुचि है, उसे शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और जिसे विकार की-पर की रुचि है, उसे अशुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट

होती है। चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जीव जिस ओर की रुचि करता है, उस ओर की क्रमबद्धदशा होती है।

जिसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व रुचि होती है, उसकी पर्याय, शुद्ध होती है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है; उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो ज्ञानस्वभावी द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है। रुचि के अनुसार पर्याय होती है।

प्रश्न — जगत के पदार्थों की अवस्था, क्रमनियमित होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि में एक के बाद दूसरी अवस्था जैसी श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है, उसी के अनुसार होती है, तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही?

उत्तर — जब आत्मा के ज्ञानस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया जाता है, तब ही सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि पदार्थ में जैसा होता है, मैं वैसा ही जानता हूँ – ऐसे निर्णय में उस पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानना नहीं रहता; इस प्रकार कर्तृत्व छूट कर ज्ञातृत्व ही रहता है। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से विपरीत मान्यता का और अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त परद्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर, अपने ज्ञातास्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो जाती है। इस प्रकार अपनी ओर का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ, सर्वज्ञ की प्रतीति में आ जाता है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था, क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ किन्तु किसी का कुछ नहीं करता – ऐसी मान्यता के द्वारा जीव, मिथ्यात्व का नाश करके, पर से हटकर अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; समस्त पदार्थों की समय-समय पर क्रमनियमित जो अवस्था होनी है, वही होती है – ऐसे निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ किस प्रकार आया? – यह बतलाते हैं।

पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है; मैं पर का कुछ नहीं करता, यह निश्चय करते ही सभी परद्रव्यों के परिणमन के कर्तत्त्व का अभिमान दूर हो जाता है, स्व-पर

की भिन्नता का भाव होता है और मेरी अवस्था पर के कारण नहीं होती; इसलिए पराश्रयबुद्धि मिट जाती है।

पहले विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानकर जो अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष करता था, वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के कर्तृत्व से हटकर, स्वयं राग-द्वेषरहित अपने ज्ञातास्वभाव के सन्मुख आ गया, अर्थात् अपने हित के लिए परसहाय की बुद्धि छूट गयी और ज्ञान, अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो ज्ञानस्वभाव का पिण्डरूप द्रव्य हूँ। वस्तु तो ज्ञाता ही है; विकारी अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह परवस्तु के कारण नहीं, किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है; इस दुर्बलता की भी प्रधानता नहीं रही, किन्तु स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही दृष्टि रही। उस स्वरूप के लक्ष्य से पुरुषार्थ की दुर्बलता का अल्प काल में अभाव हो जाएगा।

मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है; परपदार्थ में से नहीं तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय की ओर देखना नहीं रहा, किन्तु ज्ञातास्वरूपी अखण्डद्रव्य की ओर देखना रहा। जब ऐसी दशा हो जाती है, तब समझना चाहिए कि उसने सर्वज्ञ का और सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न — सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, तभी तो आत्मा की रुचि होती है न?

उत्तर — यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं? जिसने अपनी पर्याय में सर्वज्ञ भगवान की ज्ञानशक्ति का निर्णय किया है, उसकी पर्याय, संसार से और राग से हटकर, अपने ज्ञातास्वभाव की ओर झुक गयी है, तभी सर्वज्ञ का सच्चा निर्णय होता है। जिसकी पर्याय, ज्ञानस्वभाव की ओर हो गयी है, उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थरूप से निश्चय किया कि 'अहो! केवली भगवान, तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं, वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते', उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में जान लिया और उसको तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तत्त्वबुद्धि दूर हो गयी है, अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो

गया है। स्वभाव का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। **क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा, नियतवाद नहीं है किन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद है, सर्वज्ञवाद है।**

प्रत्येक द्रव्य की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है, उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है किन्तु मैं, पर का कर्ता नहीं हूँ और न मेरी अवस्था का कोई अन्य कर्ता है। किसी निमित्तकारण से राग-द्वेष नहीं होते; इस प्रकार निमित्त और राग-द्वेष को मात्र जाननेवाली ज्ञान की अवस्था रह जाती है। वह अवस्था, ज्ञातास्वरूप को जानती है, राग को जानती है और पर को भी जानती है; मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है, वह ज्ञान का ज्ञेय है किन्तु राग, उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है - ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है।

आचार्यदेव ने यहाँ पर इन दो गाथाओं में वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है, वह इसके पहले केवलज्ञान को प्रतीति में लेकर, अपने केवलज्ञान की भावना करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञ ने कैसा वस्तुस्वरूप देखा है? -इसका चिन्तन करता है।

वस्तु की अवस्था, क्रमबद्ध होती है। वस्तु की जो अवस्था होती है, उस अवस्था के लिए अनुकूल निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित रहती है। आत्मा की क्रमबद्धपर्याय की जो योग्यता होती हो, उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय रुक जाएगी - ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही नहीं रहता कि यदि निमित्त नहीं आयेगा तो पर्याय कैसे होगी? उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले को यह प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तु में अपने क्रम से जब जो अवस्था होती है, तब उसका निमित्त भी होता ही है - ऐसा नियम है।

धूप, परमाणुओं की प्रकाशरूप दशा है और छाया भी परमाणुओं की दशा है। परमाणुओं में जिस समय काली अवस्था होती है, उस समय काली अवस्था उनके द्वारा स्वयं होती है और उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित रहती है। परमाणुओं की काली दशा के क्रम को बदलने के लिए कोई समर्थ नहीं है। धूप के बीच में हाथ रखने पर नीचे परछाई पड़ती है, वह हाथ के कारण नहीं पड़ती, किन्तु वहाँ के परमाणुओं की ही उस समय काली अवस्था हुई है।

प्रश्न — अमुक परमाणुओं में दोपहर को तीन बजे काली अवस्था होनी है — ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा हो और यदि उस समय हाथ बीच में न आये तो क्या उन परमाणुओं की तीन बजे होनेवाली काली दशा रुक जाएगी ?

उत्तर — नहीं; ऐसा होता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक तीन बजे काली अवस्था होनी हो तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त स्वयं उपस्थित रहते ही हैं। सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि तीन बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान, गलत ठहरेगा, किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त की उपस्थिति न हो, यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु पर में वह कुछ करता नहीं है।

जिस प्रकार यहाँ पुद्गल की पर्याय का दृष्टान्त दिया गया है; इसी प्रकार अब जीव की पर्याय का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराच संहनन के न होने से केवलज्ञान रुक जाए – ऐसी मान्यता असत्य एवं पराधीनदृष्टिवालों की है। जीव, केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभनाराच संहनन न हो – ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो, वहाँ निमित्त भी होता ही है। जिस समय उपादान, कार्यरूप में परिणत होता है, उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित रहती है। ऐसा होने पर भी निमित्त, उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव, अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो, और निमित्त से कार्य हो – ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था, जब होनी होती है, तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं – ऐसा स्वाधीनदृष्टि का विषय है, उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है। मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उनकी दृष्टि निमित्त पर ही रहती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है; इसलिए वह वस्तु के धर्म में शङ्का करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया है ? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की

प्रतीति नहीं है। ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शङ्का नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में, जिस वस्तु की, जो पर्याय होती है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है; मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ। इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्वस्वभाव की प्रतीति होती है; इसलिए वह सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गए वस्तुस्वरूप का चिन्तन करके, अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि मैं ज्ञायक ही हूँ; अपने ज्ञायकस्वरूप की भावना करते-करते मुझे केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा।

ऐसी भावना, केवली भगवान के नहीं होती, किन्तु जिसे अभी अल्प राग-द्वेष होता है – ऐसे चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है। इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है। यह कोई मिथ्या कल्पना या झूठे आश्वासन के लिए नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण, अपनी दुर्बलता से उसे अल्प रागद्वेष होता है, उस समय सम्पूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है ? – इसका वे इस तरह चिन्तवन करते हैं। यह धर्मभावना है, अर्थात् वस्तुस्वरूप का चिन्तवन है।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुई है, उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थङ्करदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं। देखिए, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की निःशङ्कता का कितना बल है ! 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं' – यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशङ्कता ही है। सर्वज्ञदेव, मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है; पर में कर्तत्त्व की बुद्धि छूट गयी है।

जिस क्षेत्र में, जिस शरीर के जीवन या मरण; सुख या दुःख; संयोग या वियोग; जिस विधि से होना है, उसमें किञ्चित्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ सकता। साँप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि जो संयोग होना है, उसे बदलने को कोई भी तीन काल-तीन लोक में समर्थ नहीं है। इसमें महानतम सिद्धान्त निहित है, जो कि ज्ञानभाव का पुरुषार्थ सिद्ध करता है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य महा सन्त–मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। उन्होंने वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में बारह भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया है। यह शास्त्र, सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है।

स्वामी कार्तिकेय मुनिराज के सम्बन्ध में श्रीमद्राजचन्द्र ने लिखा है कि 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, वैराग्य का उत्तम ग्रन्थ है। उसमें द्रव्य / वस्तु को यथावत् लक्ष्य में रखकर, वैराग्य का निरूपण किया है। गत वर्ष मद्रास तक जाना हुआ था, उस भूमि में कार्तिकेयस्वामी ने बहुत विचरण किया है। इस ओर के नग्न, भव्य, ऊँचे अडोल वृत्ति से स्थित पहाड़ देखकर स्वामी कार्तिकेयादि की अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति बहुत याद आती थी। नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेयादि को! इस महा सन्त–मुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।'

'जिस जीव के', अर्थात् सभी जीवों के लिए यही नियम है कि जिस जीव को, जिस काल में, जीवन–मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख–दु:ख का निमित्त आनेवाला है, वह आएगा ही; उसमें परिवर्तन करने के लिए देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव का यथार्थ वस्तुस्वरूप का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लेने योग्य है।

यहाँ सुख–दु:ख के संयोग की बात की गयी है। संयोग के समय भीतर जो शुभ या अशुभभाव होता है, वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग–द्वेष होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व–लक्ष्य से जानता है; वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से राग–द्वेष होते हैं किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही संयोग–वियोग क्रमश: होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि परसंयोग के कारण राग–द्वेष होते हैं; इसलिए वह संयोग को बदलना चाहता है; उसे वीतरागशासन के प्रति श्रद्धा नहीं है और न उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा है। जो कुछ होता है, वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो, उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है, उसी के अनुसार सब कुछ होता है और ऐसा होने से यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने

में राग-द्वेष होते हैं और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, तो समझना चाहिए कि उसे वीतराग सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है; इसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता' - ऐसी सर्वज्ञ की दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कह सकते; यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। जिसकी दृष्टि, मात्र परपदार्थ पर ही है, उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इसमें ज्ञानस्वभाव की स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ भरा हुआ है।

वस्तु का परिणमन, सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है - ऐसा निश्चय करने पर जीव, समस्त परद्रव्यों से उदास हो जाता है और स्वद्रव्य के सन्मुख हो जाता है; उसी में सम्यक्त्वादि का पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं।

इस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाले हैं; यह भाव, तीन काल और तीन लोक में बदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाए तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा असक्य है। जगत, जगत में रहे; यदि जगत के कुछ जीवों को सर्वज्ञता की यह बात नहीं बैठती तो इससे क्या? जो वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है, वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही होता है। जो इसमें शङ्का करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मैं, निमित्त और संयोग में परिवर्तन कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला, सर्वज्ञ के ज्ञान में शङ्का करता है और इसलिए वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि -अज्ञानी है।

अहो! इस ज्ञानस्वभाव को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है! शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। इसमें अनन्त-वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। कोई जीव, अन्तरङ्ग में पर का कर्तृत्व मानता हो, पर में सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है, सो होगा - यह तो शुष्कता

है; यह बात ऐसी नहीं है। जब जीव, अनन्त परद्रव्यों से पृथक् होकर, मात्र स्वभाव में सन्तोष मानता है, तब यह बात यथार्थ बैठती है; इसकी स्वीकृति में तो सभी परपदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतरागभाव को ही करता है।

जिसको ऐसी प्रतीति है कि नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र, तीन काल और तीन लोक में एक परमाणु को बदलने में समर्थ नहीं हैं, वह ज्ञान की ओर सन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है; वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्प काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है; इसलिए वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है। ज्ञान की एकाग्रता की कमी के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है परन्तु 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' - ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिए 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, परपदार्थों की क्रिया स्वतन्त्र होती है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ; मैं तो ज्ञाता ही हूँ,' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एकमात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

वस्तु में जो कुछ हुआ, होता है, और होगा, वह सब केवली भगवान जानते हैं और जो कुछ केवली भगवान ने जाना है, वह सब वस्तु में होता है; इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल/सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय-ज्ञायक का मेल नहीं माने और किञ्चित्मात्र भी कर्ता-कर्मपना माने तो वह जीव, मिथ्यादृष्टि है।

केवलज्ञानी, सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनको किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तत्त्व या राग-द्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ। मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। यदि अस्थिरता से राग हो जाए तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्धदशा होती है, मैं उसका ज्ञाता हूँ; वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता हुआ।

हे भाई! यह (क्रमबद्धपर्याय), नियतवाद नहीं है, अपितु अपने ज्ञान का व समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब समस्त

पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है तो मैं उसके लिए क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमबद्ध अवस्था, मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है; इसलिए मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता ही हूँ – ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न — जब सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता, तो फिर जीव का पुरुषार्थ परिमित हो गया?

उत्तर — नहीं; सब कुछ क्रमबद्ध है, मैं उसका अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ; कर्ता नहीं – इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। जैसे भगवान, जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं किन्तु वे भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया? नहीं; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है; पर में नहीं। **पुरुषार्थ, जीवद्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य, जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य, पर में नहीं होता।**

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा, आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी, प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनको पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है – ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी स्वसन्मुखदृष्टि से ज्ञानभावरूप परिणमन करने लगा। ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तत्त्व अथवा रागादिक, सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ज्ञानी, इस ज्ञानदृष्टि के बल से और ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करता है। यह भावना, ज्ञानी की है; अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव, पर का कर्तत्त्व मानता है और पर-कर्तत्त्व की मान्यतावाला जीव, ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व मे परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जो देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं, वे अज्ञानी

हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है; अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो – यह हो ही कैसे सकता है? **स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।**

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा होता है' तो वह, मात्र बात करने के लिए कहा है अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्व प्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक यह कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का निर्णय करनेवाले ज्ञान में सम्यक्‌पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है, तथापि उसका इन्कार करके तू कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं रहा! सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की श्रद्धा ही नहीं है और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ है।

केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू, मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ है। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और मोक्ष की शङ्का नहीं रह सकती। यथार्थ निर्णय करे और मोक्ष का पुरुषार्थ न आये – यह हो ही नहीं सकता।

जिस ज्ञान ने अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है, उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की, किन्तु राग से पृथक् होकर, अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। **जिस ज्ञान ने, ज्ञान में स्थिर होकर, भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है; वह ज्ञान, स्वयं भवरहित है और इसलिए उस ज्ञान में भव की शङ्का नहीं है।**

जब पहले ज्ञान में केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी, तब वह अनन्त भव की शङ्का में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शङ्का दूर हो गयी है तथा एकाध भव

में मोक्ष के लिए ज्ञान निःशङ्क हो गया है, उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा ही होता है' – ऐसी सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। सर्वज्ञ के यथार्थ निर्णय के बल से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे, अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती, वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय भी अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्धपर्याय के निर्णय के लिए अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायरूप तो मेरा द्रव्य ही होता है। द्रव्य में राग–द्वेष नहीं है; कोई परद्रव्य मुझे राग –द्वेष नहीं कराता; पर्याय में जो अल्प राग–द्वेष है, वह मेरी कमजोरी के कारण से है; वह कमजोरी भी मेरे द्रव्य में नहीं है। इस प्रकार पर में न देखकर, अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है। वह जीव, स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस, उसी को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है, उस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है और वही जीव, स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, जिसका फल सर्वज्ञदशा है।

द्रव्य में प्रति समय जो विशेष अवस्था होती है, वह वस्तु में से ही आती है। वस्तु में विशेष प्रगट होता है; इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। सामान्य–विशेषरूप वस्तु की यह बात, जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते।

सामान्य में से विशेष होता है – इतना सिद्धान्त निश्चित करने पर, उसका परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी शुद्धपर्याय नहीं होती और एक पर्याय में से भी दूसरी पर्याय होती; इस प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर, जो जीव अपने द्रव्य की ओर झुका है, उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गयी है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होता है – यह निश्चय करनेवाले की बुद्धि परकर्तृत्व से हटकर, निज में स्तम्भित हो गयी है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय, न तो किसी पर में से आयी है

और न विकल्प में से आयी है किन्तु वह निर्णय की शक्ति, द्रव्य में से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है; अतः वह कहीं भी न रुककर, अल्प काल में ही सर्वज्ञ हो जाएगा। इससे विरुद्ध, अर्थात् कोई द्रव्य, अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है – ऐसा माननेवाला, वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को, तथा द्रव्य-पर्याय की स्वतन्त्रता को नहीं मानता।

अपना आत्मा, पर से भिन्न है, तथापि वह पर का कुछ करता है; इस प्रकार मानना, आत्मा को पररूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है।

वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है, उसके बदले यह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, तब निमित्त उसे करता है अथवा निमित्त उसमें कोई परिवर्तन कर डालता है, यह बात कहाँ रही ? निमित्त, पर का कुछ भी नहीं करता, तथापि जो यह मानता है कि मेरे से पर में कोई परिवर्तन होता है, वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

द्रव्य की पर्याय, द्रव्य में से ही आती है; उसके बदले जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है, अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का कर्ता हूँ, वह द्रव्य-पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता। इस प्रकार विपरीत मान्यता में असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु, क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमती है; उसका कर्ता दूसरा नहीं है। जैसे ज्ञान, समस्त वस्तुओं को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है; इसी प्रकार परद्रव्य, निमित्तमात्र होता है, वह उपादान में कुछ करता नहीं है।

जिस समय स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है, उस समय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि ही निमित्त होते हैं।

प्रश्न — जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि निमित्त न मिलें तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है न ?

उत्तर — यह हो ही नहीं सकता कि जीव की सम्यग्दर्शन प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु आदि निमित्त न हों। जब उपादानकारण तैयार होता है, तब निमित्तकारण स्वयमेव आ जाता है किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण, उपादान का कार्य होता है। दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कार्य के कर्ता हैं।

अहो! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है। जो पर्याय होनी है, वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव, ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है, उसकी पर्याय अज्ञानमय होती है और जो ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर, केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

सर्वज्ञदेव ने वस्तु की अनादि-अनन्त समय की पर्यायें जैसी जानी हैं, उनका क्रम नहीं बदलता। अनादि-अनन्त काल का जितना समय है, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। वस्तु स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से प्रत्येक समय की पर्यायरूप परिणमन करती हैं। इस क्रम से जितने समय हैं, उतनी ही पर्यायें हैं। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूँ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन को नहीं मानता है। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान का स्वीकार है; इसमें श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ है। जब अनादि-अनन्त अखण्डद्रव्य को प्रतीति में लेते हैं, तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का मूल तो वही है। जो जीव, स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीति करके, ज्ञानभावरूप परिणत होता है, उसे ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा स्वरूप ख्याल में आता है। मेरी पर्यायरूप, मेरा द्रव्य परिणमता है; इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने से साधकपर्याय का प्रारम्भ हुआ, उसे अब स्वद्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जाएगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है; वस्तु का

स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए बिना, पर्याय में शान्ति कहाँ से आयेगी ? यदि सुखदशा चाहते हो तो यह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा, जिससे सुखदशा प्रगट हो सके।

अहो ! मेरी पर्यायरूप मेरा आत्मा ही परिणमता है – इस प्रकार जिसने निश्चय किया, उसे अपने में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से समभाव-ज्ञाताभाव हो जाता है; उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती, किन्तु जो-जो पर्यायें होती हैं, वह उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है, उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा ? ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है, वह विषमभावरूप है, अर्थात् विकारी है और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है, वह समभाव से विशेष शुद्ध होती जाती है।

जीव का सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट होता जाता है। यदि अपनी पर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि परदृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। शुद्धता-अशुद्धता का पर के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु दृष्टि किस ओर जाती है, इस पर शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का आधार है। कोई जीव, शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र, गुरु, अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव करने से (कोई रुपया-पैसा इत्यादि) परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु, जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है, वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है; वह आत्मा के भाव के कारण नहीं आती।

वस्तु की समस्त पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती है, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतारूप वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर जीव, अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर, मात्र ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप होता है, उसी प्रकार जड़ भी अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप होता है। कर्म की जो-जो अवस्था होती है, उसे आत्मा नहीं करता, किन्तु वे परमाणु ही उस पर्यायरूप होते हैं। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दश

अवस्थाएँ (करण) हैं, वे भी परमाणु की क्रमबद्धदशा है। आत्मा के शुभपरिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा नहीं बदल गयी है किन्तु उन परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी; इसलिए वह दशा हुई है। जीव, अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्धदशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है। परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न — कर्म, यदि परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनों में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं, उनके सम्बन्ध में क्या समझा जाए?

उत्तर — हे भाई! यह सभी शास्त्र, आत्मा के परिणाम को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है, उसका आत्मा के परिणाम के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस-किस प्रकार के होते हैं, यह समझाने के लिए उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न — बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त, और निकाचित — ऐसे दश प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे गये हैं?

उत्तर — इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान करायी गयी है। कर्म के जो दश प्रकार बताये हैं, वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिए ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दश प्रकार से हो सकता है - यह बताने के लिए कर्म के भेद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के अनुरूप, परमाणु भी उसकी योग्यता से स्वयं परिणमन करते हैं, इसमें दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नहीं है कि कर्म, आत्मा का कुछ करते हैं।

कर्म का प्रत्येक परमाणु भी द्रव्य है, वह द्रव्य अपनी तीन काल की पर्यायरूप से स्वयं परिणमन करता है।

प्रश्न — शास्त्र में तो यह कहा है कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर — उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होनेवाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; परमाणु की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया – यह बताने के लिए उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। उदीरणा में भी कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव, अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं, वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया है किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओं को अल्प काल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी, वे कर्म खिर गये। परमाणु की अवस्था के क्रम में भङ्ग नहीं पड़ता। 'बहुत काल के कर्म क्षणभर में नष्ट कर दिये' – इस कथन का तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि जीव ने अपनी पर्याय में बहुत–सा पुरुषार्थ किया है।

छहों द्रव्य, परिणमनस्वभावी हैं और वे अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य, पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही पर के अकर्तृत्व का अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती। अज्ञानी, पुरुषार्थ की सन्मुखता अपनी ओर करने के बदले, पर की ओर करता है। यदि वह स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव की ओर ढले और पर्याय क्रमशः शुद्ध होती जाए।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है; इसलिए इस बात को बहुत विश्लेषण करके समझना चाहिए, सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिए। परम सत् को ढँकना नहीं चाहिए, किन्तु ऊहापोह करके बराबर निश्चय करना चाहिए। **सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तुस्वरूप है।**

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है; दूसरा उसका कर्ता नहीं है। मेरी केवलज्ञान पर्याय, मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी – ऐसी सम्यक्‌भावना से उसका

ज्ञान, स्वसन्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारीपर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है ? जो ऐसे स्वभाव में निःशङ्क है, वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी सन्देह का वेदन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो! वह स्वभाव के आश्रय से ही साधकदशा का प्रारम्भ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। केवलज्ञान सम्पूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा, अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है; उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारम्भ किया है और न बाह्य में कहीं रुकनेवाला है। आत्मा का मार्ग, आत्मा में से निकलकर, आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है, अपितु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यह निश्चय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य है। यह निश्चय करने पर, पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा-बुरा मानकर जो राग-द्वेष होता था, वह सब दूर हो गया; पर का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक रहा था, वह अब अपने आत्मस्वभाव की ओर लग गया है; राग-निमित्त इत्यादि के ओर की दृष्टि छूट गयी और स्वभाव में दृष्टि हो गयी। स्वभावदृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है ? - इसकी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप आदि सब, बिना इकाई के शून्य के समान हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के ये व्रतादि कोई सच्चे नहीं होते। उनसे पुण्य होगा; धर्म नहीं, मोक्षमार्ग नहीं।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है। परमेश्वरता अपनी वस्तु में से ही प्रगट होती है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थ वस्तु को दृष्टि में न ले तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना, जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु को जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है और वस्तु की प्रतीति होने पर, मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है।

भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एक बार हाँ तो कह! तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी; स्वभाव-सामर्थ्य का इन्कार मत कर! सब प्रकार से

अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख!! जिस द्रव्य में से सादि-अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छहों द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमते हैं। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। परद्रव्य, मेरी अवस्था को कर देगा - ऐसी पराधीनदृष्टि के टूट जाने से और निजद्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु जीव, अकर्ता होकर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता -दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर, सम्पूर्ण स्थिर होकर अल्प काल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसमें अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय, प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो, सो हो - इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय वास्तव में तब सच्चा कहलाता है, जब बाह्य वस्तु से उदास होकर, सबका ज्ञातामात्र रह जाए। जो जीव, अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख-दु:ख होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख देखनेवाले को ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा ज्ञान होता है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण हैं। वे गुण, पलटकर समय-समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है; कोई भी समय अवस्था के बिना खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्षदशा भी मेरे गुण में से क्रमबद्धरूप से प्रगट होती है; इसमें कोई भी परवस्तु अंशमात्र भी कारण नहीं है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, अपनी पर्याय प्रगट होने के लिए किसी परवस्तु पर लक्ष्य नहीं रहेगा और इसलिए किसी परवस्तु के प्रति राग-द्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीव, समस्त परपदार्थों में इष्ट -अनिष्टबुद्धि छोड़कर, आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा संशयरूप विकल्प

नहीं रहता कि 'मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी ?' क्योंकि तीन काल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है और प्रतिक्षण मोक्षमार्ग सध ही रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो स्वसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है क्योंकि जिस समय, जिस वस्तु की, जो अवस्था होती है, उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है। बस, वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूप से रहकर वह अल्प काल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का, अर्थात् ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा का फल है।

क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञायकभाव का, अर्थात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ से हो सकता है। सम्यक् पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना, मोक्षमार्ग की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता, वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता; इसलिए पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। ज्ञान के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नहीं होगी, किन्तु विकारी होगी। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो, वह यही है।

प्रश्न — यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो, तब वही होती है तो फिर विकारीभाव भी जब होना हों, तभी तो होते हैं ?

उत्तर — अरे भाई! तेरा प्रश्न विपरीतता को लेकर उपस्थित हुआ है। विकार को जाननेवाले को ज्ञान की रुचि है या विकार की ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य / पुरुषार्थ तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य, विकार से हटकर स्वभाव की ओर जा रहा है। स्वभावसन्मुख ज्ञान, विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता, अपितु स्वभाव के बल से अल्प काल में ही विकार का क्षय करता है। जिसे विकार की रुचि है, उसकी दृष्टि का बल, विकार की ओर जाता है। 'जो होनी होती है, वही होती है; मैं ज्ञाता हूँ' - इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है ? यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में, पर में सुखबुद्धि नहीं होती, किन्तु स्वभाव में ही सन्तोष होता है, ज्ञान की प्रतीति होती है।

जैसे, किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल

निमन्त्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाये; इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमन्त्रण है; 'मुक्ति के मण्डप में' सबको आमन्त्रण है; समस्त विश्व को आमन्त्रण है। मुक्तिमण्डप के प्रीतिभोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं, जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान! जो इस बात को स्वीकार करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। लीजिये! यह है मुक्तिमण्डप का प्रीतिभोज!!

अब, गाथा ३२१-३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसकी विशेष दृढ़ता के लिए ३२३ वीं गाथा में कहते हैं कि जो जीव, पूर्व गाथा में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है, श्रद्धा करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता, शङ्का-सन्देह करता है, वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है-प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर, जिन द्रव्यों और उनकी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है, वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं, वे '**सद्दिट्ठी सुद्धो**', अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि '**जो संकदि सो हु कुदिट्ठी**', अर्थात् जो उसमें शङ्का करता है, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है, अर्थात् सर्वज्ञ को नहीं माननेवाला है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने इन ३२१-३२२-३२३ वीं गाथाओं में जैनधर्म का गूढ़ रहस्य खोल दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव, भलीभाँति जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि में इतना ही अन्तर है कि —

✦ सर्वज्ञदेव, समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय को प्रत्यक्षज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को आगमप्रमाण से प्रतीति में लेता है, अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है।

✦ सर्वज्ञ के वर्तमान राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं; सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में भी राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं।

✦ सर्वज्ञ भगवान, केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं; सम्यग्दृष्टि जीव, यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानते, तथापि वे श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करते हैं; उनका ज्ञान भी नि:शङ्क है।

पर्याय, प्रत्येक वस्तु का धर्म है। वस्तु, स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप होती है। जिस समय जो पर्याय होती है, उसको मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है। जानने के उपरान्त 'यह पर्याय यों कैसे हुई ?' – ऐसी शङ्का करनेवाले को वस्तु के स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' का और ज्ञान के कार्य का पता नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है। जानने में 'यह कैसे हुआ ?' – इस प्रकार की शङ्का को स्थान ही कहाँ है ? शङ्का करना, ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है किन्तु 'जो पर्याय होती है, वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है;' इसलिए जैसी होती है, उसी प्रकार उसे जानना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके, ज्ञानी सबको नि:शङ्करूप से जानता है। ऐसे ज्ञान के बल से वह केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर, अल्प काल में ही केवलज्ञान प्रगट कर लेगा।

जो जीव, वस्तु की स्वतन्त्र क्रमबद्धपर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ, और यह पर मुझे राग-द्वेष कराता है', उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी श्रीमुखवाणी के / दिव्यध्वनि के न्यायों को नहीं मानता, वह अवश्य मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव, तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगटरूप में उसी में स्वयं होती हैं, तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है, अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है, वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी है, मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय, क्रमबद्ध होती हैं किन्तु वे बिना पुरुषार्थ के नहीं होतीं। (जीव) जिस

ओर का पुरुषार्थ करता है, उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियतपर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है ? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है, वह अपने सर्वज्ञस्वभाव को ही निश्चित करता है। जो एकान्त पर के लक्ष्य से नियत की बात करता है, वह एकान्तवादी, बातूनी है और जो अपने स्वभाव के लक्ष्य से स्वोन्मुख होकर, स्वभाव की एकता करके, राग से भिन्न ज्ञायक हो गया है, उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत भी समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है, वहाँ नियम से मोक्ष है, अर्थात् पुरुषार्थ में नियत भी आ जाता है। जहाँ सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महासन्त मुनिश्वरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव, धर्म के स्तम्भ हैं, उन्होंने पवित्र धर्म को सहारा देकर स्थिर रखा है। एक-एक आचार्यदेव ने अद्भुत कार्य किये हैं। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परीषहों को जीतकर, परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गूँज रही है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचनाएँ देखो, कितने गम्भीर रहस्य भरे हैं उनमें! यह तो सत्य की घोषणा है। इसके संस्कार अपूर्व वस्तु है और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है। जो इसे समझ लेता है, उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न — जो होना होता है, सो होता है - ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर — जो होना होता है, वह वैसा होता है, अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है - यह जानकर, पर से हटकर, स्वसन्मुख होने का है, उसमें अनेकान्तस्वरूप है। 'मेरी पर्याय, मेरे द्रव्य में से आती है; मेरी पर्याय पर में से नहीं आती' - इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय, पर के द्रव्य से होती है; मैं, उसकी पर्याय को नहीं करता' - इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है, वही होता है' - यह जानकर, अपने द्रव्य के सन्मुख होना चाहिए परन्तु 'जो होना होता है, सो होता है' - इस प्रकार जो मात्र परसन्मुख देखता है; अपने द्रव्य की पर्याय जहाँ से आती है, उसकी ओर नहीं देखता; परलक्ष्य को छोड़कर स्वलक्ष्य नहीं करता, वह एकान्तवादी है।

प्रश्न — भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप, मात्र पुरुषार्थ... पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर — जहाँ जीव, सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय अवश्य होते हैं।

पाँच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

1. मैं, पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक हूँ। मेरी पर्याय, मेरे द्रव्य में से आती है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके, पर ओर (लक्ष्यी) की दृष्टि को तोड़ना, वह **पुरुषार्थ** है।

2. स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है, वह **स्वभाव** है।

3. स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय प्रगट होनी थी, वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई, वह **नियति** है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी, वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई, वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है, वही प्रगट होती है; बाहर से नहीं आती।

4. स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई, वही उस वस्तु का **स्वकाल** है। पहले पर की ओर झुकता था, उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ, यही स्वकाल है।

5. जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए, तब निमित्तरूप कर्म, उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह **कर्म** है।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति, और काल – ये चार समवाय अस्तिरूप हैं, अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पाँचवाँ समवाय, आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है कि परोन्मुखता से हटकर, स्वभाव की ओर झुकने पर, प्रथम चारों का अस्तिरूप में और कर्म का नास्तिरूप में; इस प्रकार आत्मा में पाँचों समवायों का परिणमन हो गया है, अर्थात् स्वसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तब विकारीभाव के लिए कर्म, निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया, तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव, अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जब जीव, निजलक्ष्य करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष्य करके परिणमित नहीं होता, अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता, तब कर्म की निर्जरा हो जाती है। जब जीव, स्वसन्मुख परिणमित होता है, तब भले ही कर्म उदय में हो, किन्तु जीव के उस समय के शुद्धपरिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं अपने में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया, यही कर्म की नास्ति, अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्वसन्मुखदशा में पाँचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है, तब उसके पाँचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं। स्व की प्रतीति में, पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसे वस्तुस्वरूप की प्रतीति में, केवलज्ञान-सन्मुख का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न — जीव, केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे, किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव को केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

उत्तर — अरे, तेरी शङ्का बड़ी विपरीत है! तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है; इसलिए तेरी दृष्टि कर्म की ओर ढली हुई है। जो ऐसी शङ्का करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट नहीं हुआ तो?', वह मूर्ख है। इसी प्रकार 'मैं मोक्ष का पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो?' जो ऐसी शङ्का करता है, उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है।

कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव, पुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलम्बित हुई है और ऐसी शङ्का करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं? में अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब अपनी केवलज्ञानदशा प्रगट करता हूँ, तब घातियाकर्म रहते ही नहीं - ऐसा नियम है। **जिसे उपादान की श्रद्धा हो, उसे निमित्त की शङ्का नहीं होती और जो निमित्त की**

शङ्का में अटक गया है, उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। उपादान, निश्चय है और निमित्त, व्यवहार है; दोनों की सन्धि है।

निश्चयनय, सम्पूर्ण द्रव्य को लक्ष्य में लेता है। सम्पूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कम की स्वीकृति ही कहाँ है? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान की प्रतीति है; इसलिए क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल, केवलज्ञान ही है।

निश्चय से तो केवलज्ञानी, सम्पूर्ण आत्मज्ञ है; व्यवहार से सर्वज्ञ है। सम्पूर्ण आत्मज्ञ होकर सबके जानने से सर्वज्ञ कहलाते हैं; आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती।

सर्वज्ञ, सभी वस्तुओं की पर्यायों के क्रम को जानते हैं; इसलिए जो साधक यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्याय क्रमबद्ध है' वह जीव, सर्वज्ञता को स्वीकार करता है और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, वह आत्मज्ञ ही है क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव, वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नहीं मानता, वह सर्वज्ञता को नहीं मानता और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं, वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात हैं, उसी प्रकार होती हैं। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव, सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय, प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है, दूसरी ओर जगत के सर्व द्रव्यों की पर्यायें अपने-अपने में क्रमबद्ध परिणमित हो रही हैं। अरे! इसमें एक-दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान, पर के कर्तृत्व से अलग ही रह गया; सब के प्रति राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया; यही धर्म है।

परमार्थ से, निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव, स्वयं ही निजपर्याय से परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय

परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या ? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है; इसलिए जीव की पर्याय, निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है; निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता; इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है, वह तो ज्ञान करने के लिए है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव, निमित्त को जानता भी है परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता। उपादान की क्रिया में निमित्त का अभाव है। *(वीर सम्वत् 2471 मार्गशीर्ष शुक्ला 12)*

गणधरदेव द्वारा वन्दनीय अद्भुत मुनिदशा

अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान समवसरण में विराजमान हैं, उनकी देह पाँच सौ धनुष की है। उनके समवसरण में गणधर विराजते हैं। वे भगवान की दिव्यध्वनि झेलकर दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की अद्भुत सामर्थ्यवाले हैं। तीर्थङ्कर भगवान अर्थात् धर्म के राजा और गणधर अर्थात् धर्म के दीवान; ऐसे गणधरदेव भी जब नमस्कार मन्त्र बोलकर पञ्च परमेष्ठी को भावनमस्कार करते हैं, तब वीतरागी आनन्द में झूलनेवाले सभी मुनि उसमें आ जाते हैं।

अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करें, उन सन्तों की दशा कैसी! उन मुनिराज की महिमा कितनी!! मुनि भी परमेष्ठी हैं। वे मुनि अत्यन्त भवभीरु हैं और रागरहित निष्कर्म परिणतिवाले हैं। बाहर के किसी कार्य का बोझ वे अपने सिर पर नहीं लेते; अन्तर में आनन्द के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है। ऐसे सन्त शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं। अन्तर में रत्नत्रय की आराधना हो और बाह्य में निष्परिग्रही मुद्रा हो - ऐसी मुनि की दशा है। — *सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४४-४५*

(परिशिष्ट-कथा)

उपसर्गजयी कार्तिकेय मुनि

कार्तिकपुर के राजा का नाम अग्निदत्त था। उसकी पत्नी का नाम वीरवती था, दोनों के कृतिका नाम की पुत्री थी। एक बार कृतिका ने अष्टाह्निका महापर्व में आठ दिन का व्रत धारण किया। अन्तिम दिन वह भगवान की पूजा में लगी रही। जब पूजा समाप्त हुई, तब वह प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता के समीप आयी। पुत्री की अनुपम सुन्दरता देखकर उसका पिता अग्निदत्त कामातुर हो गया। राजा अग्निदत्त ने कुछ अन्य धर्मी तथा जैन साधुओं को बुलाकर पूछा – 'हे नरश्रेष्ठ! मेरे घर में उत्पन्न हुए रत्न का उपभोग मैं कर सकता हूँ या अन्य कोई ?' समस्त मनुष्यों ने एक ही स्वर में कहा – 'राजन! उस रत्न के स्वामी आप ही हो सकते हो', किन्तु विशिष्ट प्रज्ञा के धनी जैन साधुओं ने विचार करके कहा – 'राजन्! तुम्हारे घर में उत्पन्न रत्न के स्वामी तो तुम ही हो सकते हो परन्तु कन्यारत्न के स्वामी कदापि नहीं हो सकते।'

राजा तो कामी था ही, उसने अपने अभिप्राय के प्रतिकूल उत्तर पाकर, क्रोधित होकर जैन मुनियों को देश से बाहर निकाल दिया। अरे...रे! इस विषयाभिलाषा को धिक्कार है! जहाँ एक पिता ही अपनी पुत्री को कामवासना की दृष्टि से देखता है! रे संसार!! तत्पश्चात् राजा अग्निदत्त ने अपनी ही कन्या से विवाह कर लिया। सत्य है – कामान्ध मनुष्यों में धर्म, बुद्धि, नीति, सदाचार को स्थान कहाँ ?

कुछ वर्षों के बाद कृतिका के गर्भ से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। पुत्र का नाम कार्तिकेय और पुत्री का नाम वीरमती रखा गया। वीरमती अत्यन्त सुन्दर थी। उसका विवाह राजा क्रौंच के साथ सम्पन्न हुआ। वह रोहड़नगर का अधिपति था। वीरमती वहाँ जाकर सुखपूर्वक रहने लगी। तब तक कार्तिकेय भी चौदह वर्ष का किशोर हो गया था।

एक दिन कार्तिकेय अपने साथी अन्य राजकुमारों के साथ खेल रहा था। उन राजकुमारों ने अपने ननिहाल से आये हुए वस्त्राभूषण पहने हुए थे। जब कार्तिकेय ने पूछा तो पता पड़ा

कि ये वस्त्राभूषण उनके नाना के यहाँ से आये हैं। यह सुनकर कार्तिकेय को दु:ख हुआ। उसने घर जाकर अपनी माँ से पूछा – 'हे माँ! मेरे साथियों के लिए तो उनके नाना–मामा सुन्दर वस्त्र और आभूषण भेजते हैं, तो मेरे नाना–मामा मेरे लिए वस्त्राभूषण क्यों नहीं भेजते ?'

अपने प्रिय पुत्र के मुख से ऐसी बात सुनकर कृतिका का हृदय दु:खी हो गया और उसकी आँखों से आँसूओं की धारा बहने लगी। वह इस कोमल बालक को क्या कहकर सन्तोष दे – यह उसकी समझ में नहीं आया। अत: उसने हारकर सत्य घटना कह सुनाई। रोते–रोते उसने कहा – 'बेटा! इस घोर पाप की बात मैं तुझसे किस प्रकार कहूँ ? कहते हुए भी मेरे हृदय के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं।

हे पुत्र! तेरे जन्म सम्बन्धी एक असम्भव घटना है। जो मेरे पिता हैं, वे ही तेरे भी पिता हैं। मेरे पिता ने कामातुर होकर बलजोरी से मेरे साथ विवाह कर लिया। उन्होंने मेरे पवित्र जीवन में कलंक लगा दिया। तू उसका ही फल है।'

अपनी माता के मुख से यह बात सुनकर कार्तिकेय सुन्न हो गया। लज्जा और ग्लानि से उसका कोमल हृदय क्षोभित हो उठा... परन्तु यह तो बीती हुई घटना थी, जो अब अपरिवर्तनीय है।

खिन्न हृदय कार्तिकेय ने माँ से पूछा – 'माँ! ऐसा अनर्थ करते हुए मेरे पिता का किसी ने विरोध नहीं किया ? क्या सबकी आँखें बन्द थी ?'

माँ ने कहा – 'बेटा! सबने विरोध किया, जैन मुनियों ने विरोध किया, परन्तु मेरे पिता ने मुनियों को देश से बाहर निकाल दिया।

कार्तिकेय फिर पूछने लगा – 'माँ! वे गुणवान जैन महामुनि कैसे होते हैं ?'

माँ ने कहा – 'बेटा! वे शान्तचित्त होते हैं, किसी से लड़ाई–झगड़ा नहीं करते; कोई गाली दे तो भी उन्हें क्रोध नहीं आता। बेटा! वे महान पण्डित होते हैं, उनके पास धन–सम्पत्ति तो क्या ? एक कोढ़ी भी वे नहीं रखते और उनके पास वस्त्र का एक डोरा भी नहीं होता। चाहे सर्दी हो या गर्मी या वर्षा – वे हमेशा एक समान रहते हैं। कोमल आकाश ही उनका वस्त्र है। वे नग्न दिगम्बर होते हैं। स्वप्न में भी कभी किसी को दु:ख नहीं देते। वे जीव–दया के लिए हमेशा मोरपिच्छी रखते हैं, जिससे बैठने के लिए जगह साफ / जीवरहित करते हैं। एक

लकड़ी का कमण्डलु, जिसमें शौचादि के लिए प्रासुक जल रखते हैं। यद्यपि वे भिक्षा (आहार) के लिए श्रावक के घर जाते हैं परन्तु माँगते नहीं। यदि कोई आहार नहीं कराता तो वापस तपोवन में आ जाते हैं। कभी-कभी १५-१५ दिन के उपवास कर लेते हैं। बेटा! मैं उनके आचार-विचार सम्बन्धी बातें क्या कहूँ? तू समझ ले कि संसार के समस्त साधुओं में ये साधु सच्चे हैं।'

अपनी माता द्वारा जैन साधुओं की प्रशंसा सुनकर कार्तिकेय को उनके प्रति अपार श्रद्धा हो गयी। अपने पिता के दुष्कृत्य को जानकर उसे वैराग्य तो पहले ही हो गया था, अब माता का उपदेश सुनकर वह अधिक अटल हो गया। वह समस्त मोह ममता का परित्याग करके उसी समय घर से निकल गया और मुनियों के स्थान तपोवन में जा पहुँचा। वहाँ मुनियों का संघ देखकर उसे अपार प्रसन्नता हुई और उसने मुनियों को प्रणाम करते हुए दीक्षा के लिए प्रार्थना की। संघ के आचार्य ने उसे दीक्षा देकर मुनि बना दिया। थोड़े ही दिनों में तो कार्तिकेय मुनि, विद्याभ्यास करके महाविद्वान् हो गये।

कार्तिकेय की माता ने मुनियों की प्रशंसा तो की थी परन्तु उसे यह पता नहीं था कि उसके पुत्र पर इसका ऐसा असर होगा और वह भी दीक्षा ले लेगा। जब उसे ज्ञात हुआ कि कार्तिकेय मुनि हो गया है तो उसे बहुत दु:ख हुआ। वह कार्तिकेय के पास जाकर बहुत रोई, आँसू बहाये, परन्तु वह उन्हें डगमगा नहीं सकी। पुत्र के वियोग से उसका स्वास्थ्य खराब होने लगा और अन्त में पुत्र-वियोग से उसका मरण हो गया। वह पुत्र के आर्त्तध्यान से मरकर व्यन्तर देवी हुई।

❖ ❖ ❖

एक बार विहार करते हुए कार्तिकेय मुनि रोहड़नगर जा पहुँचे। यहीं उनकी बहन का विवाह हुआ था। ज्येष्ठ का महिना था, अत्यन्त तीव्र गर्मी पड़ रही थी। अमावश्या के दिन कार्तिकेय मुनि, आहारचर्या के लिए नगर में गये। वे राजमहल के नीचे से जा रहे थे कि महल में बैठी वीरमती की नजर मुनि पर जा पड़ी। वह दौड़कर भाई के पास आयी और प्रेमवश उनके चरणों में गिर पड़ी। जब राजा कौंच ने देखा कि रानी एक नङ्गे भिखारी के चरणों में पड़ी है तो वह महाक्रोधित हुआ। वह आकर मुनि को मारने के लिये उन पर प्रहार करने लगा; जिससे

मुनि मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। अरे रे! पापी, मिथ्यात्वी तथा जैनधर्म का विरोधी जीव क्या नीच कर्म नहीं करता?

कार्तिकेय को मूर्च्छित अवस्था में देखकर उनकी माँ, जो इस जन्म में व्यन्तरी हुई है, वह एक मोरनी का रूप धारण करके उनके समीप आयी और उसने अत्यन्त यत्नपूर्वक कार्तिकेय मुनि को उठाकर शीतलनाथ भगवान के मन्दिर में छोड़ दिया। मुनि की अवस्था खराब हो गयी थी। सचेत होने के बाद उन्होंने समाधि ले ली। जब वे शरीर को त्यागकर स्वर्गधाम पधारे तो देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की। उस दिन से उस स्थान का नाम कार्तिकेय तीर्थ रखा। वे वीरमती के भाई थे, अतः 'भाई दूज' के नाम से दूसरा पर्व प्रसिद्ध हुआ। ●●

[धन्य मुनिराज हमारे हैं (कथा संग्रह), भाग-४]

बस! केवलज्ञान लिया.... लेंगे - ऐसी दशा

मुनिवरों को अन्तरस्वभाव के आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय की ही भक्ति होती है। मुनियों की दशा महा अलौकिक होती है। श्रावक की अपेक्षा उन्हें रत्नत्रय की विशेष उग्र आराधना होती है। वे प्रतिक्षण विकल्प से छूटकर चैतन्य-बिम्ब में जम जाते हैं, **बस! केवलज्ञान लिया.... या लेंगे.... ऐसी उनकी दशा है।**

अहो! सन्त मुनि आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दकुण्ड में स्नान करते हैं। उनकी परिणति में वीतरागता बढ़ गयी है और राग अत्यन्त अल्प रह गया है। बाह्य में वस्त्रादि भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकारदशा हो गयी है। ऐसे भवभयभीरु परम निष्कर्म परिणतिवाले परम तपोधन शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

— सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४३

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश–प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल,

खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।

प्रस्तुत ग्रन्थ की न्योछावर राशि कम करने हेतु प्राप्त सहयोग

(1)	स्व० श्री दामोदरदास मूलचन्द मेहता, अमरेली द्वारा श्री दिनेशभाई शाह, बसई	25000/-
(2)	श्रीमती किशोरी जैन धर्मपत्नी श्री आलोक जैन, कानपुर	10000/-
(3)	श्रीमती मन्जू जैन, देहरादून	2100/-
(4)	श्री वीरेन्द्रकुमार जैन, करेरा	1100/-
(5)	श्री धर्मेन्द्र संजीव चौधरी, खनियांधाना	1100/-
(6)	श्री शान्तिबाई बालचन्द कोठादार, खनियांधाना	1100/-
(7)	शिल्पाबेन कल्पेशभाई गाँधी, बोरीबली, मुम्बई	501/-
(8)	श्री अशोक वैद्य, छिन्दवाड़ा	500/-
(9)	श्री कपूरचन्द अजयकुमार वत्सल, खनियांधाना	500/-
(10)	गगराबाई, खनियांधाना	500/-
(11)	श्री सुनील सरल, खनियांधाना	500/-

हमारे यहाँ उपलब्ध वीतरागी सत्साहित्य

श्री समयसार वचनिका...............................	150/–
मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन (भाग 1–4 सेट)...............................	140/–
छहढाला (हिन्दी)...............................	100/–
प्रवचन रत्न चिन्तामणि (नियमसार प्रवचन, भाग–1, 2 व 3 सेट)........................	90/–
प्रवचन सुधा, (प्रवचनसार प्रवचन) (खण्ड 1 से 4 सेट)	80/–
धन्य मुनिराज हमारे हैं – कथा संग्रह (खण्ड – 1 से 4 सेट)	60/–
पञ्चास्तिकाय संग्रह (जयसेनाचार्य कृत टीका)	50/–
कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन (खण्ड–1)...............................	50/–
कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन (खण्ड–4)...............................	50/–
वृहद्द्रव्य संग्रह प्रवचन (भाग – 1 व 2) सेट...............................	45/–
धन्य मुनिदशा प्रवचन (खण्ड – 1)...............................	35/–
जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (हिन्दी/अंग्रेजी)...............................	25/–
अध्यात्म पञ्च संग्रह...............................	25/–
धन्य मुनिदशा (प्रवचन) खण्ड–2 व 3 प्रेस में...............................	
अनुभव प्रकाश प्रवचन...............................	25/–
अष्टपाहुड़ प्रवचन...............................	25/–
समयसार नाटक प्रवचन (भाग–1)...............................	25/–
आतम के हित पन्थ लाग...............................	25/–
भक्तामर रहस्य...............................	20/–
आत्म–साधिका...............................	20/–
स्वतन्त्रता की घोषणा...............................	18/–
स्वाधीनता का शंखनाद...............................	18/–
विषापहार प्रवचन...............................	15/–
दशधर्म प्रवचन...............................	15/–
वस्तु विज्ञान सार...............................	15/–
जैनम् जयतु शासनम्...............................	15/–
जिनप्रतिमा जिनसारखी..............	15/–
वह घड़ी कब आयेगी! (अपूर्व अवसर प्रवचन)	15/–
पञ्च कल्याणक प्रवचन...............................	10/–
बढ़ते चरण (के.जी. 1–2, सेट, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती)...............................	100/–
अकाल की रेखाएँ (कॉमिक्स)...............................	15/–
बलिदान (कॉमिक्स)...............................	15/–
कामदेव प्रद्युम्न (कॉमिक्स)...............................	15/–